दानवीर स्वर्गीय सेठ भानाराम सेकसरिया

# कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्व-विद्यालय की रजत्—जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ-शुगर- फ़ैक्ट्री की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्चकोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में समर्पित होंगे। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी साहित्य के भण्डार की समृद्ध करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

# वक्तव्य

काव्य जीवन का चित्र होता है। जीवन के स्वरूप और आदर्श युग-युग में बदलते रहते हैं। इस नियमानुसार स्वभावतः हमारे हिन्दी-साहित्य और काव्य का स्वरूप और आदर्श भी परिवर्तित हुआ है। हिन्दी साहित्य का आरंभ और विस्तार विदेशी शासन के अन्तर्गत हुआ जिसके कारण उसका पूर्ण स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया और अनुभूति एवं ज्ञान के विविध और विस्तृत विषयों का उसमें समावेश नहीं हो सका; विशिष्ट विचार और भाव-धाराओं का ही उसमें विस्तार हुआ। आज, जब हम स्वतन्त्र हैं, और हमारे साहित्यिक विकास के अवरुद्ध मार्ग खुल गए हैं, तब हमारे साहित्य का रूप और उसमें अंकित आदर्श व्यापक, जीवनोन्मुख और स्वाभाविक होने चाहिए। साहित्य-सृजन और साहित्य-मनन के दृष्टिकोण में उस परिवर्तन की आवश्यकता है जो नवनिर्मित साहित्य में नया जीवन, नयी स्फूर्ति, नई आशा और आकांक्षाएँ तथा उज्वल आदर्श भर सके। नवीन परिवर्तन की आवश्यकता रहते हुए भी प्राचीन साहित्य का ज्ञान आवश्यक है। पूर्ववर्ती साहित्य के विविध रूपों और विशिष्ट भाव धाराओं का अध्ययन इस लिए आवश्यक है कि उनके ज्ञानलाभ से ही हम नवीन मार्गों का अनुसंधान और नूतन विचार-वीथियों का निर्माण कर सकते हैं। इसीलिए आधुनिक विद्यार्थी को हिन्दी साहित्य की विविध भाव-धाराओं का तथा साहित्य-शास्त्र के इतिहास का जानना अपेक्षणीय है।

भारतीय काव्यशास्त्र पर संस्कृत भाषा में बड़ी व्यापक और गम्भीर दृष्टि से विचार हुआ है। रस और ध्वनि सिद्धान्तों तथा शब्दशक्ति का विशद विवेचन भारतीय साहित्य अथवा काव्यशास्त्र की अपनी विशिष्ट और अनुपम देन है। साहित्य-सिद्धान्तों का अध्ययन साहित्य-सृष्टि और साहित्य-ज्ञान के लिए विशेष उपादेय सिद्ध हुआ है। हिन्दी काव्यशास्त्र, संस्कृत के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित रहा। प्राचीन हिन्दी में इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए। परन्तु अभी तक हिन्दी में कुछ बिखरे लेखों को छोड़ कर इस विषय का क्रमिक इतिहास मेरे देखने में नहीं आया; हाँ, संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय तो कुछ आधुनिक लेखकों ने हिन्दी में अवश्य दिया है। डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक, प्रस्तुत ग्रन्थ इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय की ओर से साहित्य, विज्ञान और विविध शास्त्रों के महत्व पूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी योजना के अन्तर्गत प्रथम प्रकाशन है। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० भगीरथ मिश्र हमारे विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यापक हैं। इन्होंने अपने चार पाँच वर्ष के परिश्रम, गम्भीर अध्ययन और मनन के उपरान्त यह ग्रन्थ लिखा है। इसमें हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास के साथ साथ, संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों का मूल्यांकन भी है। आधुनिक काव्य की विविध समस्याओं का भी इस में अध्ययन है। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी, समालोचक और कवि—सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। फिर भी इस ग्रन्थ को काव्यशास्त्र के क्षेत्र में, मैं तो पृष्ठभूमि-मात्र ही कहूँगा। हिन्दी में प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के क्रमिक विकास से सम्बन्धित अध्ययन की अभी आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सर्वमान्य काव्यादर्शों और सिद्धान्तों को निकाल कर उन्हें स्पष्ट करने और साथ ही साथ उठते हुए साहित्य की निजी स्वतन्त्र विचारधाराओं पर सहानुभूति पूर्वक मनन करने से ही आधुनिक काव्य को प्रगति देनेवाला काव्यशास्त्र निर्मित हो सकता है।

हमें आशा है कि डॉ० मिश्र इसी मनोयोग से इस क्षेत्र की अन्य आवश्यक समस्याओं पर भी अपने अध्ययन प्रस्तुत करेंगे और इस प्रकार हिन्दी के भण्डार की पूर्ति करते हुए समुचित गौरव एवं ख्याति प्राप्त करेंगे।

नरेन्द्र देव

आचार्य श्री नरेन्द्रदेव
एम०ए०, एल एल०बी०, डी०लिट्०
वाइस चान्सलर
लखनऊ विश्वविद्यालय

# उपोद्घात

काव्य-साहित्य के गंभीर अनुशीलन के लिए काव्यशास्त्र का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। काव्य का मर्म समझने के लिए यह ज्ञान जितना साहित्य के विद्यार्थी को आवश्यक है उतना ही एक उदीयमान कवि के लिए भी। कवियों का निर्माण नहीं होता वरन्, वे जन्मजात होते हैं, ऐसी साधारण उक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा अथवा स्वाभाविक शक्ति जिस व्यक्ति में होती है, वही कवि होता है। कथन सत्य है, परन्तु बीज रूप में स्थित प्रतिभा को पोषित करने के लिए व्युत्पत्ति के रूप में काव्य-शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है। काव्य का शास्त्र अथवा काव्य के नियमों की समझ, स्वाभाविक प्रतिभा को उभारने और उसके प्रकाश के लिए उसी प्रकार अपेक्षित है जिस प्रकार ठोस भाषा-विवेक के लिए भाषा व्याकरण। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का कहना है कि स्वाभाविक शक्ति, लोक - शास्त्र और काव्यों के निरीक्षण और मनन से प्राप्त निपुणता और किसी काव्य-मर्मज्ञ से प्राप्त शिक्षा-द्वारा अभ्यास ये बातें काव्य-सृजन में हेतु होती हैं —

> शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
> काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

पुष्ट और प्रौढ़ शैली, अभिव्यक्ति की निपुणता और रमणीयता, विचार और भावों का निबन्धन तथा औचित्यानौचित्य का विवेक, ये काव्यगुण, शास्त्र के अध्ययन और लोक-निरीक्षण से ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि के लिए काव्य-शास्त्र का अध्ययन वाञ्छनीय है। उधर काव्यपारखी तथा काव्य-विनोदियों के लिए भी भाव और विचारों के आकलन में तथा अभिव्यक्ति-शैली को समझने में इस शास्त्र के अध्ययन का महत्व है। किसी हुनर या कला के कौशल की प्रशंसानुभूति के लिए उस कला का सम्यक् शास्त्रज्ञान अपेक्षित है। काव्यशास्त्र की यही उपयोगिता है कि वह काव्यसौन्दर्य की कवि-द्वारा सृष्टि में तथा कलात्मक ढंग से कहे हुए भाव और विचारों की स्पष्ट अनुभूति और बोध में सहायक हो।

काव्य किसे कहते हैं, उसकी सत्ता के लिए किस गुण-विशेष में काव्यत्व निहित रहता है, भाव, अलंकार, छंद, गुणदोष, शब्द-प्रयोग आदि इस प्रकार की समस्याओं और विषयों के विवेचन में संस्कृत भाषा में काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र अथवा अलंकार

शास्त्र आदि नामों से बोधित काव्य विद्या पर अनेक मत प्रचलित हुए हैं। और उन विभिन्न मतों के पोषक साहित्याचार्यों ने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। मुख्यतः ये मत रससम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हैं। रस सम्प्रदाय के आदि आचार्य नाट्यशास्त्रकार महामुनि भरत थे तथा इस मत के अन्य प्रमुख पोषक साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ। भामह, उद्भट और रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के प्रचारक हुए हैं। दंडी और वामन गुणसम्प्रदाय के संस्थापक हैं। आचार्य कुन्तक रीतिवाद के व्याख्याता हैं और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वनि सम्प्रदाय का प्रचलन किया है। काव्य की आत्मा रूप में भाव और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को लेकर चलने वाले इन विभिन्न आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के विविध विषयों की सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक दृष्टि से गम्भीर विवेचना की है जो संसार के साहित्य शास्त्र में अपना सानी नहीं रखती।

हिन्दी काव्य-साहित्य का इतिहास ईसा की बारहवीं शताब्दी से ही, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों से अलग, स्वतन्त्र रूप में आरम्भ हो जाता है। बारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी काव्य की विविध विचार और भावमयी धारा उत्कृष्ट गरिमा के साथ रही है, जिसने समस्त उत्तरी भारत को रस से सिक्त और अभिव्यञ्जन सौन्दर्य से मुग्ध किया था। परन्तु काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य शास्त्र विषय का हिन्दी में प्रतिपादन ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से ही आरम्भ होता है। बीसवीं शताब्दी से पूर्व के हिन्दी आचार्यों ने काव्य शास्त्र के समस्त विषयों को लेकर संस्कृत आचार्यों के विभिन्न वादों के समन्वय रूप में अपने ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया। उन्होंने किसी सम्प्रदाय के पूर्व-आचार्य का सहारा लेकर काव्यशास्त्र के कुछ विषयों का ही प्रतिपादन किया है। इन आचार्यों में विशेष महत्ता की बात एक यह रही है कि काव्यशास्त्र विषयक लक्षणों के प्रतिपादन के साथ, काव्य-उदाहरण उनके स्वनिर्मित हैं।

हिततरंगिणीकार कृपाराम हिन्दी अलंकार-शास्त्र के आदि आचार्य हैं। केशवदास, मतिराम, चिन्तामणि, महाराज जसवन्तसिंह, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, भूषण, देव, भिखारीदास, रसलीन तथा दूलह मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के प्रमुख काव्यशास्त्राचार्य हुए हैं। वास्तव में हिन्दी साहित्य के भक्तियुग के बाद साहित्य शास्त्र विषयों पर लिखने वाले इतने आचार्य कवि हुए कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की लगभग दो शताब्दियाँ 'काव्यरीतिकाल' अथवा 'अलंकारशास्त्रकाल' ही कहलाने लगी हैं।

हिन्दी के रीतिकालीन युग के बाद आधुनिक काल में हिन्दी का सम्पर्क पाश्चात्य यूरोपीय साहित्यों से हुआ और काव्यशास्त्र की परम्परागत समस्याओं के साथ नवीन समस्याओं और नवीन दृष्टिकोणों का हिन्दी में समावेश हुआ। इस युग के आलोचक के समक्ष सस्कृत के काव्य-लक्षण और मध्यकालीन हिन्दी काव्य के कुछ स्वतन्त्र काव्यादर्श तो थे ही, साथ ही अँग्रेजी, फ्रासीसी, रूसी आदि विविध विदेशी साहित्यों के आदर्श भी थे। इन दोनों के समन्वय रूप में काव्य शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन करनेवाले हिन्दी के कुछ आधुनिक आचार्य भी हुए हैं। इन मे स्व० प० रामचन्द्र शुक्ल, स्व० डॉ० श्यामसुन्दरदास, श्री गुलाबराय आदि प्रमुख आचार्य हैं। कला, काव्य में रागतत्व, काव्य में कल्पनातत्व, काव्य की दार्शनिकता, अभिव्यजना, जीवन और काव्य का सम्बन्ध, काव्य म युग चेतना, आदि अनेक काव्य समस्याओं पर विद्वानो के मौलिक लेख भी प्रस्तुत हो रहे हैं।

काव्य शास्त्र के विविध अगो का क्रमिक विकास, काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की विश्लेषणात्मक समालोचना, काव्यशास्त्र के आचार्यों का परिचय तथा उनके रचना-काल, ऐसे विषयों में प्रतिपादित काव्यशास्त्र के इतिहास की कमी, बहुत समय से हिन्दी ससार मे खटक रही थी। हर्ष का विषय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डॉ० भगीरथ मिश्र ने इस कमी की पूर्ति का श्रीगणेश किया है। 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', इस ग्रन्थ का विषय है। लेखक ने हिन्दी के काव्यशास्त्र आचार्यों का कालक्रमानुसार परिचय, उनके ग्रन्थों का विवरण और उनकी आलोचना दी है। हिन्दी के काव्य-शास्त्राचार्यों का विवरण और विवेचन प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की एक शास्त्रीय धारा का इतिहास लेखक ने सामने रख दिया है। यह ग्रन्थ, काव्य के विविध अगों के विकास का इतिहास नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसका रूप एक क्रमिक इतिहास का सा न रहता। हिन्दी काव्यशास्त्र चाहे वह मध्यकालीन हो, चाहे आधुनिक, उसमें स्वतन्त्र नवीन सिद्धान्तों का समावेश, न्यून है। आधुनिक हिन्दी में प्रचलित अनेक विचारात्मक वाद काव्यशास्त्र की समस्याओं से सम्बन्धित नहीं हैं। वे सामाजिक और राजनीतिक भावधारा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों पर भी लेखक ने इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला है। ग्रन्थ का वह भाग जिसम लेखक ने आरम्भ से लेकर आज तक के कवियों की रचनाओं के आधार पर उनके काव्यादर्श और काव्य सौन्दर्य धारणा को स्पष्ट किया है, मेरी दृष्टि म सबसे अधिक मौलिक और विशेष रूप से रोचक एव महत्वपूर्ण है। छन्द प्रयोग के सम्बन्ध में भी लेखक के विचार नवीन हैं।

काव्यशास्त्र का यह विषय वास्तव में बहुत विस्तृत था। इसलिये लखनऊ विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि के लिये प्रस्तुत किये गये इस थीसिस में मुझे इसका विषय सीमित कराना पड़ा। काव्यांगों के अलग-अलग विषयों को लेकर उनके क्रमिक-विकास का इतिहास डॉ० मिश्र की लेखनी आगे प्रस्तुत करेगी, ऐसी मुझे आशा है। प्रस्तुत ग्रन्थ, डॉ० मिश्र के परिश्रम, विस्तृत अध्ययन और गम्भीर मनन का प्रतिफल है जिस पर उन्हें पीएच० डी० की उपाधि मिली है। सफलता के लिये डॉ० मिश्र मेरी बधाई के पात्र हैं। इनकी सबल लेखनी से अन्य महत्वपूर्ण तथा गवेषणात्मक ग्रन्थों का सृजन हो, ऐसी मेरी मंगल कामना है।

दीनदयालु गुप्त

डॉ० दीनदयालु गुप्त
एम्० ए०, एल एल० बी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

# प्राक्कथन

साहित्य के इतिहास एक प्रयास में निर्मित नहीं होते। युगों के बीच अनवरत रूप से प्रयत्न करने वाले खोजियों की सकलित सामग्री के आधार पर इतिहास बनते हैं और फिर फिर नया रूप ग्रहण करते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास निर्माण में अभी अधिक प्रयत्न नहीं हुए, इसलिये अभीतक जो इतिहास हैं वे अधिकाश नीव की ही सामग्री प्रस्तुत करते हैं और यह भी पूरी नहीं। हिन्दी का साहित्य बहुत अधिक विस्तृत है, और ऐतिहासिक रूप में उसको समेटने का प्रयत्न तब किया गया है जब कि दश शताब्दियों के बीच निर्माण के साथ साथ उसका अधिकाश नष्ट, विलीन और लुप्त भी हो गया। और अब भी यदि कुछ सामग्री मिल सकी है तो इसका श्रेय, जनता और जनशासकों की, इस साहित्य की ओर अभिरुचि को ही दिया जा सकता है। आधार के लिए उपयोगी, कच्ची सामग्री देने वाले साहित्य के इतिहास ग्रन्थों मे महत्वपूर्ण, शिवसिंह 'सरोज' और मिश्रबन्धु 'विनोद' हैं, तथा अधिकाश इनके आधार पर कुछ पक्की सामग्री देने वाले ग्रन्थ, डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० रामकुमार वर्मा के इतिहास हैं। इस, शताब्दियों मे विस्तृत साहित्य के साथ एक बार के प्रयत्न मे पूर्ण न्याय कर सकना असम्भव है, जब कि आधारभूत प्राचीन सामग्री दिनोंदिन क्षीण होती जाती है। ऐसी दशा मे मुझे यह आवश्यक जान पड़ा कि हिन्दी साहित्य की एक-एक धारा अथवा उसके एक-एक युग के इतिहास निर्माण का कार्य जितनी शीघ्र हो सके प्रारम्भ कर देना चाहिये, और इसी धारणा का प्रतिफल, हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास पर, प्रस्तुत निबन्ध है।

यह कह देना भी यहाँ पर आवश्यक है कि मुझे इस बीच में यह निश्चय होगया है कि प्राचीन साहित्यिक सामग्री जितनी शीघ्रता से क्षीण तथा 'आधुनिकों' की दृष्टि मे अनावश्यक सिद्ध हो रही है उतनी शीघ्रता से साहित्य के प्रेमी और विद्वान् उसका उपयोग और नवनिर्माण नहीं कर रहे हैं, अत. मुझे इस निबन्ध में निश्चिन्त स्वाभाविक गति को छोड़कर, द्रुतगति ग्रहण करनी पड़ी जिससे प्राचीन सामग्री के महत्व को समझ कर उसका उपयोग अन्य दिशाओं मे भी किया जाय। साथ ही जैसा पहले कहा जा चुका है, यह भी प्रथम प्रयास है, अत इस निबन्ध मे 'काव्य शास्त्र के इतिहास' की पूर्णता का भी दावा नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य है कि इसमे इस विषय पर

सभी उपलब्ध और आवश्यक सामग्री का परिचय एवं उसके महत्त्व को अंकित करने का एक प्रयास किया गया है जिसके द्वारा हिन्दी साहित्य प्रेमियों के सामने कुछ नितान्त नवीन लेखक और उनके ग्रन्थ तथा कुछ अपरिचित अथवा अर्द्धपरिचित ग्रन्थों के विवरण आ सकेंगे।

इस विषय को लेकर विशेष रूप से इस दिशा में लिखा जाने वाला प्रथम ग्रन्थ डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का "हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास" (Evolution of Hindi Poetics) है, पर उसमें काव्य शास्त्र का इतिहास कुछ ही पृष्ठों में है और वह भी पृष्ठभूमि के रूप में। उसका मुख्य विषय अलंकारों के विकास का अध्ययन है, जिसमें डॉ० रसाल ने एक-एक अलंकार को लेकर भिन्न भिन्न हिन्दी आचार्यों के मत से उसके लक्षण लिखे हैं; अतः उनका ग्रन्थ, प्रस्तुत निबन्ध के विषय से नितान्त भिन्न है। दूसरा ग्रन्थ जो इस विषय से सम्बन्धित है वह डॉ० छैलबिहारी का "आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से रस की व्याख्या" (Interpretation of Rasa from the point of view of Modern Psychology) है; पर इसका भी विषय 'हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास' से भिन्न है। तीसरा ग्रन्थ जिसमें काव्य शास्त्र से सम्बन्धित एक अंग का अध्ययन किया गया है वह डॉ० जानकीनाथ सिंह का 'हिन्दी पिंगल' है, पर इसमें भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रधान नहीं है और फिर पिंगल के ग्रन्थों का अध्ययन इस निबन्ध में इस लिये छोड़ दिया गया है कि यह विषय काव्य के व्याकरण से सम्बन्धित है और काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में पिंगल का विषय नहीं लिया गया। इसके और कारण निबन्ध की भूमिका में दिये गये हैं[1]। इस प्रकार यत्र तत्र ग्रन्थों की भूमिका में पायी जाने वाली अधूरी काव्यशास्त्र के इतिहास की सामग्री के अतिरिक्त और कोई सामग्री एक साथ एक ग्रन्थ में क्रम से उपलब्ध न थी। साथ ही साथ हिन्दी की उच्च कक्षाओं में 'काव्यशास्त्र' का विषय लगभग सभी विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम में है, अत हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास की बड़ी आवश्यकता थी। अँग्रेजी में जार्ज सेंट्सबरी का आलोचना का इतिहास (History of Criticism by G Saintsbury) तथा 'लोसाई क्रिटिसी' (Loci Critici) और 'डे' का संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास (Studies in the history of Sanskrit Poetics by S K. De) ऐसे ग्रन्थ हैं जो अँग्रेजी भाषा में पाश्चात्य काव्य शास्त्र तथा संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास क्रमशः प्रस्तुत करते हैं। अतएव हिन्दी काव्यशास्त्र

---

१. विषय प्रवेश, पृ० ७

का इतिहास लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई, क्योंकि काव्य शास्त्र के कोरे सिद्धान्त जान लेना और भाषा मे उन सिद्धान्तों की चर्चा किस प्रकार से होती रही है, यह न जानना विषय का अधूरा और अव्यवहारिक ज्ञान ही प्राप्त करना है। अपनी भाषा के काव्य-शास्त्र के इतिहास के पढ़ने पर हम काव्य शास्त्र की समुचित व्याख्या और उसके लिये आवश्यक दृष्टि प्राप्त करते हैं। अत. इस कमी की पूर्ति करना भी आवश्यक था।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के लेखकों पर कुछ प्रकाश हिन्दी साहित्य के इतिहासों में डाला गया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास मे ५७ रीतिग्रन्थकार कवियों एव उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय है, पर है वह समस्त साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ही। उसके अन्तर्गत वर्ण्य विषय का नाम मात्र ही पाया जाता है। विवेचन तो दूर रहा, परिचय भी पूरा नहीं है। 'मिश्रबन्धु विनोद' के चारों खण्डों मे १०० के लगभग कवियों के नाम मिलते हैं, जिनमें से २०-२५ के विवरण को छोड़कर शेष का तो नामोल्लेख मात्र है। उनके वर्णन में नाम, रचना-काल, ग्रन्थ, वर्ण्य विषय के परिचय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि अधिकाश लेखकों के नाम इसमे मिल जाते हैं। शुक्ल जी के इतिहास मे रीतिग्रन्थकार के रूप मे एक साथ क्रमबद्ध वर्णन रीतिकालीन काव्य शास्त्र के लेखकों का मिलता है, पर 'मिश्रबन्धुविनोद' में काव्यशास्त्र के लेखकों का विवरण अलग नहीं है; अन्य लेखकों के साथ ही बीच बीच में ये विवरण आये हैं। हाँ, द्वितीय भाग में पूर्वालकृत और उत्तरालकृत प्रकरणों के रूप मे इस काल के नाम दिये हैं, पर वर्णन मे सभी प्रकार के कवि आये हैं। अत. यहाँ भी एक साथ क्रमबद्ध तथा पूर्ण विवरण नहीं प्राप्त होता। प्रस्तुत निबन्ध म इन इतिहासों और खोज रिपोर्टों के आधार पर तथा अन्य व्यक्तिगत एव राज पुस्तकालयों से प्राप्त सूचना के सहारे, १५७ ग्रथों के नाम और अधिकाश के अपनी आँखों देखे विवरण प्राप्तकर, ऐतिहासिक क्रम से उनके वर्णन दिये गये हैं।

प्रस्तुत निबन्ध मे दिये गये ग्रन्थों मे से बारह तो ऐसे हैं जिन ग्रन्थों के अथवा लेखक और ग्रन्थ दोनो के, नामों तक का उल्लेख अभी तक के किसी साहित्य के इतिहास मे नहीं है और न कोई अन्य विवरण कहीं से मिलता है। उदाहरण के लिये गोप के 'रामचन्द्र भूषण' और 'रामचन्द्राभरण' ग्रन्थों का विवरण कहीं नहीं मिलता। इनके 'रामालकार' ग्रन्थ का उल्लेखमात्र ही मिश्रबधु 'विनोद' मे हुआ है। लेखक को ये ग्रन्थ दतिया और टीकमगढ़ के राज पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप मे देखने को प्राप्त हुए। कृष्णभट्ट देवऋषि की 'शृंगार रस माधुरी', रगखाँ का 'नायिकाभेद,' उजियारे कवि के 'रसचन्द्रिका' और 'जुगुलरस' प्रकाश, जनराज का 'कविता रस विनोद' तथा सेवादास का

'रघुनाथ अलंकार' एवं 'रस दर्पण' ग्रन्थों का उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक को ये ग्रन्थ डॉ० भवानीप्रसाद याज्ञिक के सौजन्य द्वारा 'याज्ञिक संग्रहालय' से प्राप्त हुए, और उन्हीं हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर ही इनका विवरण दिया गया है। आचार्य चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'काव्य विवेक', 'रस मंजरी' आदि ग्रन्थों का तो उल्लेख मात्र मिलता है, पर उनके ग्रन्थ 'शृंगार मंजरी' का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं है। लेखक ने दतिया राज पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में इस ग्रन्थ को देखा और उसी के आधार पर इसका विवरण प्रस्तुत निबन्ध में दिया गया है। इसी प्रकार काव्यशास्त्र पर लिखे गये एक बृहत् और महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ "रामदास कृत कविकल्पद्रुम" का भी विवरण अप्राप्य है; इसका भी विवेचन लेखक ने दतिया-राज पुस्तकालय में देखी प्रति के आधार पर किया है। नारायण कवि की "नाट्य दीपिका" हिन्दी में लिखी, नाटक पर प्रथम पुस्तक है, पर इसका भी कहीं उल्लेख नहीं है। लेखक ने दतिया के किले में स्थित पुस्तकालय से इसकी प्रति प्राप्त की और इसका विवरण दिया है।

इन नवीन ग्रन्थों के अतिरिक्त सात आठ ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी हैं, जिनका हिन्दी के इतिहासों में नामोल्लेख मात्र तो मिलता है, पर महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उनका विवरण नहीं मिलता है। अतः लेखक ने मुद्रित या हस्तलिखित रूप में इन ग्रन्थों को देखकर इनका आवश्यक विवरण उपस्थित किया है। ये ग्रन्थ हैं— चिन्तामणि का कविकुल कल्पतरु, याकूबखाँ का रसभूषण, राय शिवप्रसाद कृत रसभूषण, रणधीरसिंह का काव्यरत्नाकर, जगतसिंह का साहित्यसुधानिधि, रसिकसुमति का अलंकारचन्द्रोदय, शोभ कवि का नवलरस चन्द्रोदय और लछिराम का रावणेश्वर कल्पतरु। ये ग्रन्थ भी दतिया और टीकमगढ़ के राज पुस्तकालयों, याज्ञिक संग्रहालय तथा पं० कृष्णबिहारी जी के पुस्तकालय से प्राप्त हुए। इनमें कविकुलकल्पतरु तथा रावणेश्वर कल्पतरु तो मुद्रित हैं अन्य ग्रन्थ हस्तलिखित हैं।

इसके साथ ही प्राप्त ग्रन्थों की प्रतियों में और इतिहासकारों के लेखों में दिये हुए रचना काल में कहीं कहीं भेद मिला है जैसे समनेश कृत 'रसिक विलास' का रचनाकाल 'मिश्रबन्धु विनोद'[1] में सं० १८४७ दिया हुआ है, जब कि हस्तलिखित प्रति में, जो दतिया में प्राप्त हुई थी, रचनाकाल सं० १८२७ वि० दिया हुआ है (संवत् ऋषि जुग वसु ससी) इसी प्रकार रतनेश या रतन कवि के 'अलंकार दर्पण' का रचना काल, शुक्ल जी के

१. देखिये मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ८३०।

इतिहास में[१] सं० १८२७ दिया हुआ है, जब कि प्राप्त प्रति में वही १८४७ वि० है। इस प्रकार जहाँ भी सम्भव हो सका है वहाँ पर ग्रन्थ को स्वयं देखकर तब उसपर कुछ लिखा गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सामग्री नितान्त नवीन है जिसकी सूचना इतिहास ग्रन्थों में या तो है ही नहीं और यदि है भी तो अधूरी है या त्रुटि-पूर्ण है।

जिस सामग्री का उल्लेख या विवरण इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है, उसका भी विवरण प्रस्तुत निबन्ध में उन्हीं इतिहास ग्रन्थों से नहीं ले लिया गया; वरन्, मूल ग्रन्थों का—मुद्रित या हस्तलिखित रूप में जैसे भी वे प्राप्त हो सके हैं—लेखक ने आद्योपान्त पूर्ण अध्ययन करने के उपरान्त ही, उनका विवेचन या विवरण उपस्थित किया है। हाँ, जो ग्रन्थ कहीं से भी नहीं मिल सके, उनका विवरण अवश्य इतिहासों के आधार पर है। पर ऐसे ग्रन्थ बहुत कम हैं और जहाँ से विवरण लिया गया है उसका यथास्थान उल्लेख उस पृष्ठ के नीचे दी गई टिप्पणी में कर दिया गया है। अतः इस भाग में भी अध्ययन के अधिकांश आधार, मूल ग्रन्थ हैं, उनकी अन्य ग्रथों में प्राप्त व्याख्या या आलोचना ही केवल नहीं। सहायकग्रन्थों के अतिरिक्त १५७ मूलग्रन्थों की प्राप्ति और अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन में क्या कठिनाई हो सकती है, यह प्रत्येक विद्वान् और खोजी समझ सकता है। पर इतना कथन आवश्यक है कि लेखक को इस सामग्री के जुटाने में दतिया, टीकमगढ़, चरखारी, छतरपुर, रीवाँ के राज-पुस्तकालयों तथा पं० वासुदेव (दतिया), श्री रिछोरियाजी (बरुआसागर), डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक (लखनऊ), प० कृष्णबिहारी मिश्र (सीतापुर) आदि सज्जनों के निजी पुस्तकालयों के द्वार खटखटाने पड़े हैं; और इसके लिये लेखक राज-पुस्तकालय के अधिकारियों तथा उपरोक्त साहित्य-प्रेमी सज्जनों का हृदय से आभार मानता है।

सामग्री की नवीनता और मौलिकता के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। अब सामग्री के उपयोग और विवेचन के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख आवश्यक है। प्रस्तुत निबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश के रूप में भूमिका है। इसके अन्तर्गत पाश्चात्य तथा संस्कृत ग्रथों में प्राप्त काव्यशास्त्र-विषयक धारणा के द्वारा विषय की सीमा और स्वरूप निश्चय करने का प्रयत्न है। अतः इस

---

१. देखिये शुक्ल जी का इतिहास, पृ० ३५२।

भाग में तो अंग्रेजी और संस्कृत में पाये जाने वाले अनेक ग्रन्थों के आधार पर विषय को स्पष्ट किया गया है। हाँ, इसके बीच पाश्चात्य और संस्कृत की धारणाओं की जो तुलना की गई है, वह लेखक का मौलिक प्रयास है और उसमें किसी भी ग्रन्थ से सहायता नहीं ली गई।

द्वितीय अध्याय, हिन्दी काव्यशास्त्र के 'प्रारंभ और विकास' पर है। इसके अन्तर्गत हिन्दी में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा और उनके आधारों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है, और इसके पश्चात् ही ग्रन्थों की विषयानुसार कालक्रम से सूची उपस्थित की गई है। इन काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन को हिन्दीसाहित्य के इतिहास के कालों में विभक्त कर उनका अध्ययन किया गया है। प्राचीन हिन्दी के ग्रन्थों में काव्यशास्त्र की सामग्री पर भी प्रकाश डाला गया है जिसका उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहासों में नहीं हुआ। इसके लिखने में श्री राहुल सांकृत्यायन की हिन्दी काव्यधारा, गुलेरी जी के पुरानी हिन्दी पर लेख तथा श्री रामसिंह तोमर के 'वीर' साप्ताहिक में छपे लेखों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है, लेखक इन सबका परम कृतज्ञ है। इसके पश्चात् भक्तिकालीन विषय, विशेष कर केशवदास का विवेचन है। (केशव का विवेचन लेखक का अपना और मौलिक विवेचन है, इसमें थोड़ी सहायता 'केशव की काव्य कला' से प्राप्त हुई है, पर वहाँ भी केशव का विवेचन इस विषय पर इतना विस्तृत नहीं मिलता, जितना इस निबन्ध में दिया गया है।

रीतिकालीन ग्रन्थों का अध्ययन दो अध्यायों में विस्तृत है। द्वितीय में प्रारम्भ और विकास का अध्ययन है और तृतीय में उत्कर्ष का। देव के समय (सं० १७५० के लगभग) तक इसका विकास, और इसके पश्चात् सं० १९०० वि० तक काव्यशास्त्र का उत्कर्ष रहा और जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस भाग में भी विवेचन लेखकों के मूल ग्रन्थों के आधार पर ही है जिसमें ग्रन्थ के रचनाकाल, विषय विवरण, विवेचन तथा महत्त्व पर अपना मत प्रकट किया ग

'सुधांशु' जी के काव्यशास्त्र-संबंधी सिद्धान्तों को लेखक ने विस्तृत व्याख्या कर यथाशक्ति उन्हें स्पष्ट करके रखने का प्रयत्न किया है।

पंचम अध्याय की आधारभूत सामग्री पूर्वपरिचित है, पर इस सामग्री के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष नवीन हैं। इसके भी दो भाग हैं। रीति परम्परा के ग्रन्थों में तो अधिकांश संस्कृत के आधार पर हिन्दी के उदाहरणों से युक्त हिन्दी में लक्षणों के अनुवाद से ही पाये जाते हैं, अतः उनके द्वारा हिन्दी लेखकों के काव्य संबन्धी मौलिक और निजी विचार कम स्पष्ट हो पाये हैं। इस अध्याय के प्रथम भाग में हिन्दी कविता के प्रारम्भ से लेकर अब तक कवियों की अपनी रचनाओं में पाये जाने वाले काव्यशास्त्र पर क्या विचार हैं और कविता के विषय में उनके क्या सिद्धान्त हैं—इन बातों का अध्ययन उपस्थित किया गया है। प्राचीन हिन्दी के काव्यों, तथा जायसी, सूर, तुलसी, सेनापति, घनानन्द आदि के कविता सम्बन्धी अपने विचारों को उनकी कविता के बीच से ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया गया है। और मेरा विश्वास है कि हिन्दी काव्य-शास्त्र के बीच इन विचारों का अधिक महत्व है। इसके पूर्व किसी के द्वारा ऐसा प्रयत्न मेरी समझ से नहीं किया गया है। इस विकास को एक व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करना, काव्य सम्बन्धी युग-युग में बदलते आदर्शों के विकास को सामने रखना है। रीति काल तक के काव्यादर्शों का अध्ययन प्रथमखण्ड में करने के उपरान्त, द्वितीय-खण्ड में आधुनिक कालीन काव्यादर्शों के स्वरूप का अध्ययन है। इसमें काव्य-शास्त्र के विविध प्रसंगों को लेकर उनपर आजकल के कवियों की जो धारणायें हैं उनको स्पष्ट करने का अपना प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय का यह अंश आधुनिक कविता में काव्यशास्त्र के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

छठवें अध्याय में काव्यशास्त्र सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इन समस्याओं को लेकर विद्वान् यदि अपने अपने विचार प्रकट करें, तो काव्य-शास्त्र का आधुनिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो सकता है। लेखक ने अपने विचार इन समस्याओं पर प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ ही साथ आधुनिक काव्य में प्रचलित अनेक वादों का काव्यशास्त्र के साथ जो सम्बन्ध है उसे भी बतलाने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के मत से ये 'वाद' प्रवृत्तियाँ हैं, काव्यशास्त्र के पूरे सिद्धान्त नहीं। इसके अतिरिक्त काव्य के प्रकार और उनकी परिभाषायें भी दी गई हैं और सबके अन्त में उपसंहार के रूप में काव्यशास्त्र पर तथ्यपूर्ण ग्रन्थों की आवश्यकता तथा काव्यशास्त्र के महत्व को सामने रखकर इस निबन्ध की समाप्ति हुई है।

चतुर्थ और पंचम अध्यायों में यत्रतत्र आवश्यक उदरणों की सामग्री के अतिरिक्त जिसका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है, लेखक ने विवेचन, वर्गीकरण, सिद्धान्त और निर्णय आदि में किसी का आधार न लेकर स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किये हैं। अतः ये अध्याय विस्तृत न होकर संक्षिप्त ही हैं। प्रस्तुत निबंध की मौलिकता और नवीनता पर मुझे इतना ही कहना है। विशेष जो कुछ है सब सामने है।

इस प्रकार प्रथम, दूसरे और तीसरे अध्याय में यत्र तत्र बिखरी सामग्री के आधार पर काव्यशास्त्र का हिन्दी साहित्य के आदि से आधुनिक काल तक का इतिहास उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ अध्याय में हिन्दी काव्य में स्वच्छन्द ग्रन्थों में पाये जाने वाले काव्यादर्शों का विकास दिखाते हुए, उसी की पृष्ठभूमि देकर, और आधुनिक कालीन काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर कवियों के विचार प्रस्तुत कर, वर्तमान काव्यशास्त्र का स्वरूप देने का प्रयास किया गया है। (प्रथम तीन अध्याय सूचनात्मक अधिक हैं तो अन्तिम तीन अध्याय विवेचनात्मक। उनमें यदि इतिहास की सामग्री सुरक्षित होती है, तो इनमें आधुनिक साहित्य की गति विधि, प्रवृत्ति और काव्यशास्त्र सम्बन्धी धारणा स्पष्ट होती हैं और साहित्य के रचयिताओं को एक ऐसा दृष्टिकोण मिलता है जो काव्यशास्त्र के महत्व को स्पष्ट करे। अतः इस निबन्ध के अन्तर्गत इन छहों अध्यायों की आवश्यकता थी। इस निबन्ध का प्रारम्भ यद्यपि सं० १९९८ में ही कर दिया गया था पर सामग्री की प्राप्ति में कठिनाई और विलम्ब के कारण ही इतने दीर्घ काल में यह पूरा हो सका। लेखक का यह प्रयत्न, लघु और अपूर्ण ही है, पर उसे आशा है कि अन्य लेखक एक एक काल या धारा का इतिहास लिखकर शीघ्रातिशीघ्र प्राचीन सामग्री का उपयोग करेंगे।

इस ग्रंथ के लिखने में अनेक सज्जनों, लेखकों और विद्वानों से सहायता प्राप्त हुई है, लेखक उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है। विशेष रूप से वह लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर, डॉ दीनदयालु जी गुप्त का आभार मानता है जिनके पथ प्रदर्शन और प्रोत्साहन से ही यह ग्रंथ पूरा हुआ है, साथ ही साथ वह डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० धीरेन्द्रवर्मा और मिश्रबन्धुओं का भी कृतज्ञ है जिन्होंने अपने सुझावों विवेचनों, विचारों और सम्मतियों से इस ग्रंथ को मूल्यवान् बनाया। अन्त में सबसे अधिक वह लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी का ऋणी है जिन्होंने न केवल अपने वक्तव्य से इस ग्रंथ का गौरव बढ़ाया है, बरन् इसे लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रथम हिन्दी-प्रकाशन के रूप में स्थान देकर, हिन्दी साहित्य के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया है।

पुस्तक में मुद्रण-सम्बन्धी भूलों के लिए लेखक विद्वानों और पाठकों का क्षमा प्रार्थी है। पुस्तक के इस रूप में प्रकाशित होने का मूल भूत श्रेय सेठ श्री शुभकरन सेकसरिया, तथा श्री दधीचि जी को है, जिनके दान और प्रयत्न से ही यह प्रकाशन सुलभ हो सका है। लेखक इनका हृदय से आभारी है। आशा है वे इसी प्रकार विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रकाशन को सहायता देते रहेंगे। यदि इस ग्रंथ से साहित्यिकों को कुछ परितोष हो सका, तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

भगीरथ मिश्र

# विषय-सूची

## प्रथम अध्याय

### विषय-प्रवेश ( ३—३३ )



## द्वितीय अध्याय

### हिंदी काव्यशास्त्र का प्रारम्भ और विकास ( ३७—१०७ )

## तृतीय अध्याय

### रीति-ग्रन्थों का विस्तार और उत्कर्ष ( १११—१७५ )



## चतुर्थ अध्याय

### आधुनिककालीन ग्रंथों का अध्ययन (१७६—३२४)

१—रीतिकालीन परम्परा का विस्तार

## पंचम अध्याय

### कवियों की स्वच्छन्द रचनाओं में प्राप्त काव्यादर्शों का अध्ययन (३३७-३४०)

१—पूर्व कालीन कवियों के काव्यादर्श

२—काव्यशास्त्र-सम्बन्धी आधुनिक धारणाएँ



## षष्ठ अध्याय

### १—काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्याएँ (४०७–४२१)



### २—काव्य में प्रचलित आधुनिक वाद और काव्यशास्त्र (४२२-४३२)



## परिशिष्टः सहायक-ग्रंथ—सूची



## अनुक्रमणिका

गुणादानपर कश्चिद्दोषादानपरोऽपर ।
गुणदोषाहृतित्यागपर कश्चन भावक ।।

—राजशेखर ।

यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्र ।।

—केशवदास ।

यदपि दोष बिनु गुनसहित, अलकार सो लीन ।
कविता बनिता छवि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन ।।

—श्रीपति ।

सरस कबिन के चित्त को, बेधत द्वै सो कौन ।
असमझवार सराहिबो, समझवार की मौन ।।

—लोकोक्ति ।

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।

—तुलसीदास ।

# प्रथम अध्याय

# १

# विषय-प्रवेश

## काव्यशास्त्र का स्वरूप, विषय और सीमा

संस्कृत भाषा में काव्य और साहित्य शब्द बहुधा समान अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।[1] साहित्य-दर्पण में काव्य के दृश्य और श्रव्य भेदों के पश्चात्, श्रव्य के गद्य एवं पद्य दो भेद बताकर गद्य को भी काव्य की सीमा में रक्खा गया है। वह गद्य रसात्मक वाक्य अवश्य है किन्तु विस्तृत विवेचन, विश्वनाथ तथा अन्य आचार्यों के द्वारा, पद्य काव्य का ही किया गया है; क्योंकि काव्य के लक्षण पद्य काव्य में ही विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं। काव्य के विविध स्वरूपों का व्यापक विवेचन करने वाले नाट्य शास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश प्रभृति ग्रन्थों को अलंकार ग्रन्थों

---

१—साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्नखादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥

में साहित्य शब्द व्याकरणाचार्य भर्तृहरि द्वारा काव्य के अर्थ में ही लिखा गया है क्योंकि जन साधारण के लिये साहित्य-शास्त्र के ज्ञान की सम्पन्नता असम्भव है जबकि काव्य का आस्वाद सभी के लिये सम्भव है। अतः साहित्य का अर्थ यहाँ काव्य ही हो सकता है। इसी प्रकार साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों के नामों से भी इस बात की पुष्टि होती है।

डा० भगवानदास अपने लेख 'रस मीमांसा' में इस प्रकार लिखते हैं —

"हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्," । तथा
"सह एव सहितम् तस्य भावः साहित्यम् ॥

साहित्य शब्द का अब रूढ़ अर्थ है —ऐसा वाक्य समूह, ऐसा ग्रन्थ जिसको मनुष्य

के नाम से ही निर्दिष्ट किया जाता है और इन सभी के विषय को अलंकार शास्त्र की संज्ञा दी जाती है। किन्तु कुछ ध्यान पूर्वक देखने से यह विदित हो जाता है कि अलंकार शास्त्र से अलंकार के विशेष विवेचन का ही अभिप्राय निकलता है। काव्य के स्वरूप एवं उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्यशास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है क्योंकि इसके अन्तर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी हैं। साहित्य शास्त्र से भी काम चल सकता है,[1] किन्तु आजकल साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अन्तर है। साहित्य शब्द को बहुधा हम शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं रमणीय सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। अतः साहित्य शास्त्र से काव्यशास्त्र हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक स्पष्टता के साथ करता है।

इस प्रकार हम काव्यशास्त्र का प्रयोग उस वैज्ञानिक निरूपण के लिये कर सकते हैं जिसमें काव्य अथवा कविता के स्वरूप, भेद, समस्याओं आदि पर व्यापक रूप से

---

दूसरों के सहित, गोष्ठी में अथवा अकेला ही सुने, पढ़े तो उसको रस आवे, स्वाद मिले आनन्द हो, तृप्ति तथा आप्यायन भी हो। बिना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य साहित्य ही समझा जाता है।"

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ३

नोट—साहित्य कहीं कहीं काव्यशास्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

(१) "साहित्य—(सहित + य–भावे इत्यादि) सं० को संसर्ग, मिलना, शब्दशास्त्र, काव्यशास्त्र, सम्बन्ध विशेष, एक क्रियान्वयित्व।'

—प्रकृतिवाद (बंगला शब्दकोष साहित्य शब्द के अर्थ)।

(२) "राजशेखर के समय (९०० वर्ष पूर्व ईसा) इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के अर्थ में होने लगा था।"

—अलंकार पीयूष उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ६

पर अधिकांश यह काव्य का ही पर्याय है देखिये काव्य प्रभाकर, ११ मयूख पृ० ६५६, में निम्नलिखित वाक्य—

"बहुधा साहित्य और काव्य ये दोनों शब्द एकार्थवाची ही देखने में आते हैं।"

१—'जिस शास्त्र से काव्य का तत्व, रहस्य, मर्म मूल रूप तथा उसके अवांतर अंग सब परस्पर व्यूढ रूप से जान पड़ें और जिससे कविता के गुण दोष के विवेक की शक्ति जागे तथा अच्छी कविता करने में सहायता मिले, वह साहित्य शास्त्र है।'

डा० भगवानदास के 'रस मीमांसा' लेख से, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३

विचार किया गया हो। इसमें किसी भी भाषा की कविता के आधार पर उसका स्वभाव निरूपण, प्रवृत्ति निर्धारण आदि से लेकर ऐसे सर्वकालीन सिद्धांतों तक का समावेश हो सकता है जो कि भविष्य में होने वाली रचनाओं के पथ-प्रदर्शक बन सकें। और यथार्थ में काव्यशास्त्र के उद्देश्य भी दो ही होते हैं:—एक तो उपस्थित काव्य के सौन्दर्य को स्पष्ट करके उसके द्वारा सामान्य से अधिक आनन्द प्राप्त कराना, दूसरा, दोषों से बचाते हुए उत्तम काव्य-सृष्टि की प्रबल प्रेरणा भर देना। पहला उद्देश्य तो पाठक के लिए है और दूसरा लेखक या कवि के लिए। काव्यशास्त्र का प्रारम्भ भी इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर हुआ है। अब हम पाश्चात्य साहित्य और संस्कृत साहित्य में प्राप्त इसके स्वरूप, विषय एवं समस्याओं का संक्षेप में अध्ययन कर विषय का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे।

पाश्चात्य साहित्य में काव्यशास्त्र का समानार्थी शब्द 'पोइटिक्स' ( Poetics ) है। 'पोइटिक्स' की परिभाषा भी बहुत स्पष्ट नहीं है और उसके अन्तर्गत विषयों का ही निर्देश किया गया है; किन्तु प्राप्य परिभाषाओं से ऊपर कहे गये काव्यशास्त्र के दो उद्देश्यों की ओर ही लक्ष्य स्पष्ट होता है। काव्यशास्त्र की यह परिभाषा[1], कि 'पोइटिक्स' काव्य कला के नियमों व सिद्धांतों पर विचार करने वाला विज्ञान है, जहाँ पर कवि की दृष्टि से काव्यशास्त्र का उद्देश्य बताती है वहाँ पर दूसरी यह परिभाषा, कि[2] 'पोइटिक्स' साहित्यिक आलोचना की वह शाखा है जो कविता पर विचार करती है, पाठक की दृष्टि से इस पर प्रकाश डालती है।

अभीतक ज्ञात काव्यशास्त्र पर लिखे ग्रन्थों में सबसे प्राचीन 'अरिस्टॉटिल' की 'पोइटिक्स' समझी जाती है और सम्भवत 'पोइटिक्स' शब्द का उद्गम भी वहीं से है।

---

1 'Poetics A treatise on poetry as an art, A theory of poetry''

—Webster's New International Dictionary

'Poetics or Alankarashastra, means the science of Poetry It embraces in its sphere, theory of poetry, the origin form and variety of poet's work, its faults and merits and a description of several embellishments which distinguish poetic from unpoetic composition

—Foreword (by Dr M Krishnamachariar, M A M L Ph D M R A S.) of Bhamaha's Kavyalankar

2 "Poetics That part of literary criticism which treats of poetry, also a treatise on poetry

—The Oxford English Dictionary Vol VII

इसमें 'अरिस्टॉटिल, अपने पूर्व लिखे गये, विशेष रूपसे 'होमर' के, काव्य के आधार पर काव्य की व्यापक विशेषतायें, वर्गीकरण, तुलनात्मक महत्त्व एवं प्रभाव पर विचार करता है। अलंकार-शास्त्र पर लिखी गई 'रिटरिक', ( Rhetoric ) उसकी 'पोइटिक्स' ( Poetics ) से अलग पुस्तक है जिसमें वह केवल गद्य पर ही विचार करता है और जिसमें मुख्य विषय, शैली, भाषा, गति, अलंकार आदि हैं। इस प्रकार उसके विचार से काव्यशास्त्र ( Poetics ) का विषय, अलकार-शास्त्र ( Rhetoric ) के विषय से भिन्न है क्योंकि इस अलंकार-शास्त्र का सम्बन्ध कविता से न होकर गद्य से ही था और काव्यशास्त्र कविता ( पद्य ) के स्वरूपों पर ही विवेचन करने वाला शास्त्र माना गया है।

यथार्थ में काव्यशास्त्र और अलंकार-शास्त्र के सम्बन्ध में ही नहीं, वरन् काव्य-शास्त्र और छन्द-शास्त्र ( Metrics ) तथा काव्यशास्त्र व शैलीशास्त्र ( Stylistics ) के सम्बन्धों पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इस पर भी विभिन्न मत मिलते हैं और एक दूसरे के सम्बन्ध में तथा प्रत्येक की सीमा में अस्पष्टता ही रही है।

कुछ विद्वान्, शैलीशास्त्र को शैली-विषयक व्यापक सिद्धात के रूप में मानते हैं।[1] उनके विचार से शैली, भाषा में भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया है और इस प्रकार वे भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर विचार करने वाले शास्त्र को शैली शास्त्र मानते हैं। यह दो प्रकार का है:—प्रथम, जो गद्य की शैली पर विचार करता है उसको अलंकार-शास्त्र और द्वितीय जो पद्यकी शैली पर विचार करता है उसे काव्यशास्त्र कहते हैं। इस दृष्टि से काव्यशास्त्र में काव्यके अभिव्यक्ति सम्बन्धी बाह्य अंग पर ही केवल विचार हो सकता है, काव्य के विषय,

---

1. "Stylistic is the general theory of style and this general theory divides itself into theory of prose style (rhetoric, or if that have an oratorical or any special significance Prosaics) and the theory of poetic style (poetics)"

"The definition and classification of disputed terms may be stated some what as follows:—"Stylistic, is the general theory of style, the discussion of it should precede that of Rhetoric and Poetics, and should cover the various elements and qualities of style common to and belonging to both. Rhetoric (or Prosaics) is that division of the theory of style which treats of the expression of thought addressed to the understanding, as opposed to Poetic which treats of the expression of thought addressed to the imagination."

—Methods and Materials for Literary criticism by C M Gayley. pp 245-247.

उद्देश्य, सौन्दर्य इत्यादि पर कुछ विचार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों[1] के द्वारा अलंकार शास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों समान महत्व के माने गये हैं और शैली का विचार दोनों के अन्तर्गत होता है। यथार्थतः काव्यशास्त्र में अन्य समस्याओं के साथ-साथ भाषा और प्रकाशन-प्रणाली पर भी विचार किया जाता है जिसे हम शैली कहते हैं किन्तु शैली शास्त्र जब हम एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में मान लेते हैं तो वह गद्य एवं पद्य दोनों की शैलियों को समाविष्ट कर सकता है, पर उसके अन्तर्गत प्रतिपादित पद्य शैली को हम सम्पूर्ण काव्यशास्त्र नहीं मान सकते, क्योंकि इसके भीतर काव्य की आत्मा, रस, भाव, चमत्कार के रहस्य आदि पर भी विचार हुआ है, जो शैली से भिन्न है।

छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में भी मतभेद है। कुछ विद्वान्[2] छन्दशास्त्र को काव्यशास्त्र से नितान्त भिन्न मानते हैं और उसको इसका समकक्ष शास्त्र समझते हैं। साथ ही कुछ के मत से छन्दशास्त्र, काव्यशास्त्र के क्षेत्र से बाहर नहीं है क्योंकि यह काव्य क्षेत्र के अन्तर्गत शब्दों के गति विधान का अध्ययन करता है। हम इस सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए छन्दों के कार्य को, दो रूपों में देख सकते हैं। छन्दशास्त्र कविता की छन्द-सम्बन्धी गति का विवेचन करता है। यह विवेचन दो रूपों में हो सकता है। पहला तो मात्रा, गण, स्वराघात इत्यादि के आधार पर विविध छन्दों के स्वरूप निर्णय करने वाला है और दूसरा मात्रा अथवा गणों के विशेष समन्वय के द्वारा सम्पादित प्रभाव पर विचार करके यह निर्धारित करने वाला है कि अमुक प्रकार के छन्द का, भाव के समझने और अनुभूति को उकसाने में, किस प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। उपर्युक्त स्वरूपों में से पहला तो स्वभावतः कविता के व्याकरण से सम्बन्धित है और वह काव्यशास्त्र के क्षेत्र से बाहर है पर उसका दूसरा स्वरूप न्यायतः काव्यशास्त्र का एक आवश्यक अंग हो सकता है। अतः यदि छन्दशास्त्र मात्रा व गणों के विविध स्वरों के, अनुभूति पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार करता है तो वह काव्यशास्त्र के अन्तर्गत है, अन्यथा नहीं।

अभी तक छन्दशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ—विशेषतया, संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थ—केवल मात्रा और गणों की संख्यानुसार निर्धारित विभिन्न स्वरूपों और उनके नामकरण पर ही आश्रित हैं अतः वे स्पष्टतया काव्यशास्त्र के क्षेत्र से अलग हैं। पर अलंकार विषयक

1 Poetik Rhetorik and Stilistik by W. Wackernagel

2 See Methods and Meterials for literary criticism by C. M. Gayley pp. 45-216

धारणा, संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में, पाश्चात्य धारणा से भिन्न है। अलंकार शास्त्र का सम्बन्ध यहाँ पर सदा ही कविता से ही समझा गया है, गद्य से नहीं; वरन् प्राचीन काल में तो अलंकार-शास्त्र ही पूरा काव्यशास्त्र समझा जाता था। अलंकार, काव्य के आभूषण हैं उसकी आत्मा नहीं[१]; काव्य की आत्मा ध्वनि या रस है, यह तो परवर्ती विद्वानों ने निश्चय किया है। हम यह कह सकते हैं कि ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त के ही विस्तार या विकास के रूप में आये हैं।

इस प्रकार काव्यशास्त्र की सीमा पर विचार कर लेने के उपरान्त उसके विषय और स्वरूप को समझने के लिए कुछ प्राचीन पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आचार्यों के ग्रन्थों और उसके पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

प्राचीन काल में काव्य और काव्यालोचना के बीच बहुत लम्बा व्यवधान नहीं रहा होगा। काव्य जब से श्रव्य अथवा दृश्य रूप में आया, तभी से उसकी आलोचना भी प्रारम्भ हुई होगी, क्योंकि सौन्दर्य की प्रशंसा करना, रमणीयता में आत्मविभोर होने की स्थिति का विश्लेषण करना, मानव-स्वभाव के अन्तर्गत है। हम भरत के नाट्यशास्त्र को संस्कृत काव्यशास्त्र का सबसे प्रथम प्राप्य ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु उसमें भी इस बात का उल्लेख है[२] कि अमुक विचार पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुसार हैं। इससे पता चलता है कि उसके भी बहुत-पूर्व दृश्यकाव्य अथवा काव्यशास्त्र पर विचार हो चुका था। 'बोसेनके' ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ् ईस्थेटिक्स' में 'होमर' के 'इलियड'

---

१—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥ —काव्यालंकारसूत्र।

२—नाट्यशास्त्र के अनुवंश्य श्लोक, गुरु शिष्य परम्परा के रूपमें आनेवाले अनुष्टुप या आर्या छन्दों में प्राचीन पद्य में हैं, अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये भरत से भी पूर्व आचार्यों के हैं, जैसा नीचे के उद्धरण से प्रगट है—

"ता एता ह्यार्या एक प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।—अभिनव भारती अध्याय ६।

भरतमुनि (समय ई० शताब्दी का प्रारम्भ) से भी पहले पाणिनि (ई० पू० छठी-शताब्दी) ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा रचित नट सूत्रों का उल्लेख किया है। पर उसका अधिक विवरण अप्राप्य है।

—लेखक

ग्रन्थ से एक उदाहरण[1] देकर बताया है कि यह सौन्दर्यानुभूति पर प्राचीनतम समीक्षाओं में से एक है। सौन्दर्यानुभूति का प्रकाशन काव्य है और काव्य के सौन्दर्य का प्रकाशन आलोचना, जिसका प्रादुर्भाव मौखिक तथा लिखित रूप में काव्य के समान ही प्राचीन है; किन्तु इसे हम शास्त्र के अन्तर्गत नहीं रख सकते। शास्त्र के अन्तर्गत व्यापक रूप से ही विचार होता है। विद्वानों के द्वारा यही मान्य है कि काव्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ ग्रीक साहित्य में ही है।

प्राचीन ग्रीक साहित्य में कहीं कहीं काव्य सौन्दर्य की समीक्षा सम्बन्धी वाक्य ईसवी पूर्व ६ वीं शताब्दी में मिलते हैं किन्तु वे ऐसे ही हैं जैसे कि कोई कवि अपना भाव काव्यात्मक ढंग से प्रगट करे। उन वाक्यों में कोई भी गवेषणापूर्ण सिद्धांत हमें नहीं मिलते। यथार्थ में छठवीं शताब्दी[2] पूर्व तक काव्य-रचना का ही प्रयत्न दिखलाई पड़ता है, सिद्धान्त समीक्षा का नहीं। ५ वीं शताब्दी पूर्व के लगभग अलंकारशास्त्र का प्रचार प्रारम्भ हुआ और 'सोफिस्ट' को ही कुछ विद्वानों के विचार से पहला[3] अलंकार

---

1 'Natural commonsense expressed this truth in one of the earliest aesthetic judgments that Western literature contains, when on the shield of Achilles, the Homeric poet says —

'That earth looked dark behind the plough and like to ground that had been ploughed, although it was made of gold, that was a marvellous piece of work (Il 17 598)'

History of Aesthetic by Bosanquet p 12

2 'We find as might be expected some isolated remarks which may be called 'critical' as implying an aesthetic judgment But when Simonides for example defined poetry as vocal painting and painting as silent poetry, or when Corinna gave her pupil Pindar the advice to sow (myths) with the hand, not with the whole sack, these criticisms do not of course imply any reasoned or systematic theory of art, they are simply deductions which any poet might easily draw from his own experience In general the great lyric[is]ts of the 6th century B C were too busy with their own magnificent practice to feel the need for theoretic effort'.

Greek view of poetry by E E Sikes p 11

3 'That the Sophist was the first Rhetorician would be allowed by his accusers as well as his apologists, and though Rhetorics long followed wandering fires before it recognised its star and became literary criticism, yet nobody doubts that we must look to it for what literary criticism we shall find in these times'

A History of criticism by George Saintsbury p 14

शास्त्री रहा जा सकता है। अलङ्कारशास्त्र यूनानी लोगों के व्यावहारिक जीवन में काम आनेवाला शास्त्र था। अपनी बात को प्रभावशाली ढंग पर रख कर दूसरे को अपना पक्षपाती बना लेना, सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर देना, शब्द की शक्ति पर विश्वास करना इत्यादि ही इस शास्त्र के उद्देश्य थे। काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनकी व्यापक धारणा यह है कि अलङ्कारशास्त्र का प्रादुर्भाव सिसली द्वीप में हुआ था और [1] 'एम्पीडॉक्लिज' उसका आविर्भावक था। वह कवि और दार्शनिक दोनों था और, 'अरिस्टॉटिल' का विचार है कि, वह सबसे अधिक होमर के सदृश था। 'सोफिस्ट' के प्रभाव से अलङ्कारशास्त्र के व्यावहारिक रूप का खूब प्रचार हुआ, क्योंकि मुकदमेबाज यूनानी इसके द्वारा मुकदमे जीतते थे। धीरे धीरे यही शास्त्र, गद्य-शैली निर्माण की ओर मुड़ा और इस प्रकार काव्यशास्त्र का प्रतिद्वन्द्वी होकर रहा। आलोचना के दृष्टिकोण से 'प्लेटो' और 'अरिस्टार्कस' का भी महत्व है किन्तु जहाँ तक काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और काव्य की व्यापक मीमांसा का सम्बन्ध है, इनका स्थान महत्व का नहीं हो सकता है। और इस प्रकार काव्यशास्त्र का सबसे प्रथम लेखक 'अरिस्टॉटिल' ही है जिसके ग्रन्थ से ही पश्चिमीय मीमांसा में इस शास्त्र का आरम्भ होता है।

### अरिस्टॉटिल

पाश्चात्य साहित्य में काव्य के अनेक अङ्गों पर वैज्ञानिक रीति से विचार करने वाला पहला विद्वान् 'अरिस्टॉटिल' है। 'पोइटिक्स' विषय का इसी से सम्बन्ध है और इस विषय पर पश्चिमीय साहित्य में सबसे लेकर अब तक यह काव्यशास्त्र अवगाहन के लिये परमोच्च प्रकाशगृह का काम देता है। 'अरिस्टॉटिल' का महत्व इस अध्ययन में दुहरा है। प्रथम तो इस विचार से कि उसकी धारणा का आधार लेकर ही 'पोइटिक्स' का विषय पश्चिम में पनपा और विकसा है, दूसरे इस विचार से कि वह न केवल पाश्चात्य साहित्य में वरन् संस्कृत साहित्य के आचार्यों से भी [2] पूर्वकालीन ठहराया

1 "Empedocles, according to some tradition was the inventor of Rhetoric—who certainly was a native of the island where Rhetoric arose—the chief speaker among the old philosophers''

A History of criticism of George Saintsbury p 13

2 "But all these details cannot lead to any certain result as to the age of the Natyashastra They however, make its highly probable that the Natyashastra is not much older than the beginning of the Christian era''

P IX Introduction to Sahitya Darpana by P V Kane

गया है। 'अरिस्टॉटिल' का समय ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी[1] है। काव्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, राजनीति, धर्म और विज्ञान पर भी उसकी पुस्तकें हैं। काव्यशास्त्र पर लिखी पुस्तक 'पोइटिक्स' दो भागों में निर्मित है। पहले भाग में नाटक और महाकाव्य और दूसरे मे प्रहसन तथा अन्य रचनाओं का विश्लेपण है पर अब पहला भाग ही मिलता है। 'अरिस्टॉटिल' की दूसरी पुस्तक 'रिटरिक' अलकार पर और है, जो शैली-अलकार समझाने की कला आदि का विवेचन करती है। कविता के सबध की बातें उसमे नहीं हैं। काव्य कला पर उसकी पुस्तक 'पोइटिक्स' है।

इस पुस्तक में वह केवल काव्य कला पर ही नहीं, वरन् काव्य की अनेक शाखाओं उसकी शक्ति, निर्माण विधान, कविता के अङ्ग तथा अन्य आवश्यक विषयों की व्याख्या करता है।[2] 'अरिस्टॉटिल' के मत से कविता, नाटक और सगीत सभी अनुकरण के ढग हैं और एक दूसरे से अपने विषय, साधन और अभिव्यक्ति के ढग के कारण इनमे भिन्नता है। उसके मतानुसार काव्य का प्रादुर्भाव दो कारणों से है एक अनुकरण की प्रवृत्ति और दूसरा अनुकरणात्मक कार्यों व रचनाओं मे मनुष्य की अभिरुचि। ये दोनों ही बातें मनुष्य के स्वभाव के अन्तर्गत हैं इसी में काव्य का महत्व एव उसकी आवश्यकता अमर है। इसके अनतर वह काव्य के तीन स्वरूप, दुःखान्त नाटक ( Tragedy ) प्रहसन, ( Comedy ) और महाकाव्य, ( Epic ) की व्याख्याएँ भी करता है। ट्रेजडी के छः भाग हैः—कथावस्तु ( Plot ) चरित्र ( Character ) भाषा ( Diction ) विचार (Thought) अभिनय (Spectacle) और सगीत (Melody)। इन भागों में से प्रत्येक पर विस्तार से विचार किया गया है। ये विभाग निर्माण की दृष्टि से हैं। इनके साथ ही साथ कवि के उद्देश्य और दुःखान्त नाटक की अवस्थाओं पर भी 'अरिस्टॉटिल' विचार करता है। प्रबन्ध काव्य और महाकाव्य के प्रसग मे भी वह इन्हीं अङ्गों पर प्रकाश डालता है। 'अरिस्टॉटिल' के मत से महाकाव्य का नाटक से भेद विस्तार और छन्द-

---

'He has been variously assigned to periods ranging from the 2nd century B C to the 2nd century A D That he is the oldest writer on dramaturgy, music, and kindred subjects whose work has survived, is generally admitted" —

S. K De s Sanskrit Poetics Part I P 23

1. "Aristotle, philosopher, psychologist, logician, moralist, political thinker, biologist, the founder of literary criticism—was born at Stagira, a Greek Colonial town on the north western shores of the Aegaeon in 384 B C

Encyclopaedia Britannica the 14th Edition, Vol 2 P 349

2 Aristotle on the Art of Poetry By I Bywater. P. 1

प्रयोग में ही[1] रहता है। आगे काव्य के कार्य व प्रभाव पर विचार करने के उपरान्त वह नाटक और महाकाव्य की तुलना करता है। महाकाव्य इस बात में नाटक से बढ़कर है कि वह शिष्ट, एवं शिक्षित समाज को ही सम्बोधित करता है जिन्हें अभिनय व भाव प्रदर्शन इत्यादि की आवश्यकता नहीं, किन्तु नाटक सब प्रकार के समाज के लिये हो सकता है, वह पढ़ा भी जा सकता है और देखा भी जा सकता है और इस प्रकार 'अरिस्टॉटिल' के विचार से भावों की यथार्थता, कार्यसिद्धि की सङ्क्षिप्ति, और अनुकरण की विशेषता आदि बातें नाटक को महाकाव्य की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करती हैं।

इस प्रकार नाटक और महाकाव्य का कुछ विस्तृत विवेचन और काव्य कला-सम्बन्धी व्यापक विचार अरिस्टॉटिल की 'पोइटिक्स' में हमें मिलते हैं। अरिस्टॉटिल के ये प्राचीन तम लेख पश्चिमीय काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक वैज्ञानिक रूप हैं। इस विचारक का अनुकरण का सिद्धान्त, कला पर विचार, और काव्य के वर्गीकरण एवं उनकी विशेषताएँ कहाँ तक सत्य और स्थायी हैं, यह गम्भीर प्रश्न है? इसमें मतभेद सम्भव है। पर उसकी मान्यताओं का महत्त्व इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमीय साहित्य अब भी उसको आधार स्तम्भ मानता है। यह विवेचना यद्यपि पूर्ण और व्यापक नहीं फिर भी एक विद्वान्[2] के इन शब्दों में–कि यह सम्भवतः काव्यशास्त्र का सबसे पहला ऐसा प्रामाणिक रूप है कि जिसने अनेक संशोधन और परिवर्धन उसे उससे अच्छा नहीं कर पाये— हम इसका महत्त्व दिखलाई देता है। उसी विद्वान् के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वह आलोचना के क्षेत्र में विजयी सिकन्दर है, और उसकी अपने क्षेत्र की विजय जो यद्यपि उसके शिष्य के दूसरे क्षेत्र की विजय से समानता नहीं रखती, आज दिन तक व्यावहारिक रूप से, विस्तृत होकर भी अक्षुण्ण है।[3]

'अरिस्टॉटिल' के उपरान्त भी काव्यशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र अलग अलग विषय

---

1 "There is however, a difference in the Epic as compared with Tragedy, (1) in its length and (2) in its metre

Aristotle on the Art of Poetry By I Bywater P 91

२—जार्ज सेंट्सबरी।

3 "He is the very Alexander of criticism and his conquests in this field, unlike those of his pupil in another, remain practically undestroyed though not unextended to the present day"

—A History of Criticism by G Saintsbury Vol I P 59

रहे। काव्यशास्त्र सम्बन्धी 'अरिस्टॉटिल' के विचार भी पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि एक तो उसकी दूसरी पुस्तक अप्राप्य है और दूसरे उसके सामने ग्रीक साहित्य को छोड़कर दूसरा साहित्य न था जिसके आधार पर वह लिखता, किन्तु उसके बाद भी विद्वानों ने काव्य-शास्त्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया। ईसवी सम्वत् के प्रारम्भ के बाद हम ग्रीक साहित्य तथा आलोचना के इतिहास में बड़े बड़े नाम—जैसे 'पॉरफायरी' 'अरिस्टॉर्कस' 'डायोनीसियस' 'टैसिटस' 'कैसियस' 'लांजीनियस' और 'प्लूटार्च' इत्यादि, सुनते हैं, किन्तु इनमें किसी में भी हमें विशेष व्यापक काव्य शास्त्र के सिद्धांतों का दर्शन नहीं होता। व्यावहारिक रूप से और इधर उधर एकाध काव्य के सम्बन्ध के उपयोगी कथनों के अतिरिक्त विशेष महत्व का विवेचन प्रायः अप्राप्य है।

इन सबमें 'लांजीनियस' ही एक ऐसा लेखक है जो 'अरिस्टॉटिल' के बाद काव्य को आनन्दानुभूति की दृष्टि से देखता है। वह 'प्लेटो' के समान न केवल आदर्शवादी नैतिक दृष्टिकोण ही रखता है और न 'अरिस्टॉटिल' की भाँति दार्शनिक दृष्टिकोण ही। 'अरिस्टॉटिल' की भाँति वह गद्य और पद्य में कोई मौलिक विभेद नहीं मानता। उसके विचार से रमणीय शब्द ही विचार को विचित्र प्रकाश देते हैं। उसका यह विचार अभिव्यंजनावाद के अत्यन्त निकट है। अपने ग्रन्थ 'ऑन दी सब्लाइम' '(On the sublime)' में वह काव्यशास्त्र पर विचार करता है। वह कला के स्वभाव की परीक्षा करता है और फिर किस प्रकार से हमारे मन में उच्च भाव आते हैं इस बात पर विचार करता है। 'प्लेटो' के समान ही वह यद्यपि विश्वास करता है कि कविता का सम्बन्ध आवेश से होता है तथापि वह उसके समान न कवि को अनभिप्रेत व्यक्ति समझता है और न उसके आवेश पर अविश्वास ही करता है। वह यह मानता है कि कविता मनोभावों पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार से 'अरिस्टॉटिल' के विचारों को 'लांजीनियस' ने कुछ और अधिक स्पष्ट और विस्तृत ही किया है।

## 'लैटिन' का काव्य-शास्त्र

ग्रीक साहित्य का पूरा भण्डार सामने रखकर 'लैटिन' के विद्वानों के लिए और अधिक व्यापक और सुदृढ़ काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त निर्माण करने का अवसर था, क्योंकि अनेक साहित्यों को सामने रखकर हम जिस निर्णय पर पहुँचते हैं वह अपने गर्भ में सार्वभौम एवं सार्वकालिक सत्य धारण करने की क्षमता रखता है। किन्तु रोमन लोगों ने ग्रीक साहित्य को नये और मौलिक साहित्य के रूप में ग्रहण न करके उसे एक पथप्रदर्शक साहित्य के रूप में ग्रहण किया। 'जार्ज सेंट्सबुरी' ने लिखा है कि भाषा की दृष्टि से 'लैटिन'

ग्रीक से बहुत ही निकट से सम्बन्धित है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से उसकी बेटी और शिष्या दोनों ही एक साथ है'। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'लेटिन' में भी नितान्त स्वच्छद-रूप से काव्यशास्त्र पर विचार बहुत कम हुआ है। अधिकांश ग्रीक साहित्य ने ही विचारों का दोहन है। 'सिसरो' ने भी, जो कि एक प्रसिद्ध विचारक और आलोचक होगया है, काव्यशास्त्र को अपने विचार का विषय नहीं बनाया। वह एक वक्ता था और वक्तृत्व कला का विकास उसके लिये विशेष महत्व का था। व्यावहारिक जीवन के लिये भी वक्तृत्वकला का महत्व था अतः उसके द्वारा भी अलंकार शास्त्र ( Rhetoric ) पर ही विशेष विचार रहा और उसका सम्बन्ध काव्य से कुछ भी नहीं माना गया। 'सुनेका', 'प्लाइनी', 'मारशल' यहाँ तक कि 'क्विन्टिलियन' भी जिसने 'लैटिन' साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बनाया है और जिसने अलंकार, शब्दों की गति, इतिहास, व्याकरण पर भी लिखा है, काव्यशास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों पर मौन है[२]।

हाँ 'होरेस' अपने ग्रन्थ 'डे आर्ट पोइटिका' में काव्यालोचना-सम्बन्धी कुछ महत्व पूर्ण बातों पर विचार करता है और यही अकेला रोमन है जिसने काव्य सिद्धान्तों पर पूर्णतया विचार किया है। 'होरेस' एक शिक्षक की दृष्टि से लिखता है। उसका कथन है कि यदि वह स्वयं बहुत बड़ा कवि नहीं हो सकता, तो वह दूसरों को बड़ा कवि बना सकता है। वह काव्यशास्त्र के अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करता है जैसे—कला का सामंजस्य के साथ निरूपण, प्रकृति चित्रण, लेखक की प्रतिभा और शैली के अनुकूल विषय निर्वाचन, शब्द भण्डार का महत्व, शब्दों की शक्ति, भाषा की स्वाभाविकता, छन्द इत्यादि। 'अरिस्टॉटिल' नाटक में घटनाओं पर जोर देता है किन्तु 'होरेस' कार्य पर अधिक जोर देता है। इस विषय में यद्यपि भारतीय नाट्य शास्त्र से अधिकांश में, उसका मत भिन्न है किन्तु वह भारतीय विचारधारा के साथ भी आ जाता है जब वह नाटक को पाँच अङ्कों में विस्तृत करने के लिये कहता है और अरोचक व कुरूप वस्तुओं का रंगमंच पर प्रदर्शन वर्जित करता है। वह शिष्टता और सौन्दर्य पर अधिक ज़ोर देता है। 'होरेस' का अधिकांश लेख नाटकीय काव्य पर ही है परन्तु उसका पूर्ण विवेचन उसने नहीं किया है। इसलिये सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से उसका भी विशेष महत्व नहीं है। 'होरेस' के

1. 'Latin as a language was an extremely close connection of Greek, and as a literature was daughter and pupil in one''

—A History of criticism by G. Saintsbury Vol 1 P 355

२—'हिस्ट्री आव् क्रिटिसिज़्म' प्रथम भाग। ले० जार्ज सेंट्सबरी, पृ० ३५१

पश्चात् 'डाँट' के पूर्व कोई भी ऐसा महत्व का लेख नहीं हुआ जिसने काव्य के सिद्धान्ता पर प्रकाश डाला हो।

'डाँटे' एक बहुत बड़ा कवि और विचारक तो था ही साथ ही-साथ वह बहुत बड़ा खोजी भी था। वह सर्वोत्कृष्ट कविता से ही सन्तुष्ट न होकर यह भी जानना चाहता था कि सर्वोत्कृष्ट कविता किन बातों पर निर्भर है, कौन बातें उसे उत्कृष्ट बनाती हैं और उसके आकर्षण व सौन्दर्य के मूलस्रोत क्या हैं?[१] इन सभी उलझनों के फलस्वरूप ही हमें 'डाँटे' में कुछ मौलिक विश्लेषण प्राप्त होते हैं। यद्यपि उसके ग्रन्थ 'डे वल्गरी एलोकुओ' (De vulgari Eloquio) में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का बहुत पूर्णता से विवेचन नहीं मिलता, फिर भी उसमें बहुत सी आवश्यक तथा महत्व की बाता पर विचार है। पहली पुस्तक में (वह काव्य की भाषा पर विचार करता है। 'डॉटे' के विचार से काव्य की उत्कृष्टता उसके अर्थ में नहीं वरन् अभिव्यक्ति में रहती है।) अत उसके विचार से काव्य में सबसे सुन्दर और चुने हुए साहित्यिक शब्दों का प्रयोग करना चाहिये, किन्तु उत्कृष्ट भाषा का प्रयोग तभी करना चाहिए जब कि विषय भी उच्च और उदात्त हो क्योंकि (एक कुरूप स्त्री रेशम और सोना पहन कर और भी कुरूप लगती है।

उत्कृष्ट भाषा के लिये उत्कृष्ट विषय हो। युद्ध, प्रेम, चारित्रिक सौन्दर्य, शील इत्यादि ऐसे ही विषय हैं। (प्रेम को काव्य के विषयों में सम्मिलित करके 'डॉटे' ग्रीक और 'लेटिन' परम्परा के विरुद्ध ही जाता है क्योंकि अधिकांश प्राचीन आलोचक इसे काव्य के लिये उपयुक्त विषय नहीं समझते थे। इसके साथ ही साथ वह, किस प्रकार की भाषा और छन्द एवं विशेष शैली के लिये उपयुक्त होते हैं, इस पर भी अपने विचार प्रकट करता है। इस प्रकार वह लगभग काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर कुछ न कुछ कहता है। रचना के ढंग और कवि का उद्देश्य भी उसकी व्याख्या से अछूते नहीं हैं। 'डॉटे' उत्तम काव्य के लिये नियम भी निर्धारित करता है। यद्यपि वह गद्य पर भी कुछ विचार प्रकट करता है पर अधिकाश उसका विषय कविता ही है। इस प्रकार से 'डाँट' का महत्व काव्यशास्त्र मे केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं है वरन् अपने मौलिक विवेचन के कारण भी वह उच्च स्थान प्राप्त करता है। उसने कविता के सम्बन्ध की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाला है पर उसका प्रयत्न 'अरिस्टॉटिल' के दार्शनिक विवेचन से भिन्न है। 'जार्ज सेंट्सबरी' भी

---

१—'हिस्ट्री आव् क्रिटिसिज़्म' प्रथम भाग। ले० जार्ज सेंट्सबरी, पृ० ४४३

उसके ग्रन्थ 'डि वल्गरी एलोकुओ' की बड़ी प्रशंसा[1] करता है और कहता है कि उसके पश्चात् मध्ययुग में कोई भी बड़ा लेख काव्यशास्त्र पर नहीं हुआ। इतना गम्भीर विवेचन काव्यशास्त्र के विषयों का फिर नहीं मिलता है[2]।

ऊपर दिये हुए पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के प्राचीन इतिहास के संक्षिप्त परिचय का तात्पर्य यही है कि हम काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आनेवाले विषयों को पश्चिमीय साहित्य के विचार से भी हृदयगम कर सकें और उसकी सीमा एवं स्वरूप का निर्धारण कर सकें। व्यापक सैद्धान्तिक दृष्टि से काव्यशास्त्र पर पश्चिम में कम विचार हुआ है। स्वतन्त्र रूप से एकाध विषयों पर ही अधिकांश लिखा गया है किन्तु संस्कृतसाहित्य में काव्यशास्त्र पर बड़ा ही गम्भीर और व्यापक विवेचन हुआ है जिसका परिचय हम आगे पायेंगे। उपर्युक्त परिचय से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाश्चात्य दृष्टि से काव्यशास्त्र, छन्द शास्त्र, अलकार शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र से भिन्न है। उसके मुख्य विषय हैं:— काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, काव्य की प्रेरणा, काव्य की उत्कृष्टता का रहस्य, काव्य के साधन, काव्य के उद्देश्य व काव्य के विभिन्न भेदों के स्वरूप निर्णय आदि।

इनमें से ही हम एक या अधिक विषयों पर विचार पाश्चात्य साहित्य के परवर्ती विचारकों व लेखकों जैसे —क्रोचे, हीगेल, कालरिज, स्पेंसर, टॉल्सटाय इत्यादि के ग्रन्थों में पाते हैं पर इन विद्वानों ने पूर्ववर्ती सिद्धान्त को लेकर उसका खण्डन मण्डन कर आगे बढ़ाने का प्रयत्न विशेष नहीं किया और सम्पूर्ण काव्यशास्त्र पर एक साथ विचार भी वैसा नहीं किया है जैसा हमें संस्कृत में मिलता है।

---

1 "For myself I am prepared to claim for it not merely the position of the most important critical document between Longinus and Seventeenth century at least, but one of the intrinsic importance on a line with that of the very greatest critical documents of all the history There is no need at all to lay much stress on the mere external attractiveness, unusual as that may be of the combination in one person of the greatest poet and the first, if not the sole great critic of the Middle Ages. The tub can stand on its own bottom"

—A History of Criticism by G Saintsbury Vol I P 441

2 "We shall see nothing like this in the rest of the present book Some useful work on prosody, a little contribution of the useful Rhetoric, some interesting indirect critical expression, will meet us But no, next to no such criticism properly so called, no such explanation and exposition of secrets of literary craft, no such revelation of the character of the literary bewitchment "

—A History of criticism by George Saintsbury, Vol I P 440

## संस्कृत का काव्यशास्त्र:—

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र पर बहुत व्यापक रीति से गम्भीरता पूर्वक विचार हुआ है। यद्यपि आचार्यों तथा विचारकों की सैद्धान्तिक धारणायें संस्कृत साहित्य के ही अधिकाश आधार पर हैं फिर भी उनकी खोजो में सार्वकालिक और सार्वभौम तथ्यो के दर्शन होते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र एक अलग ही विषय है जिसका सम्बन्ध न तो अधिक दर्शन से ही है और न राजनीति से और इस प्रकार हम एक एक कर सुन्दर सिद्धातों का विकास पाते हैं। अधिकाश आचार्यों का प्रयत्न पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का विश्लेषण तथा उसका खडन कर अपना नवीन मत स्थापित करता है अथवा उसका मडन कर उसका स्पष्टीकरण, प्रतिपादन और विकास करता रहा है। इस प्रकार के काव्यशास्त्र के प्रत्येक पहलू को दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। हमे यहाँ सिद्धान्तों का विकास स्पष्ट तया प्राप्त होना है।

अब प्रश्न सामने यह आता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ कौन है? यह अब तक अनिश्चित है कि कविता की उत्कृष्टता, मूल्य, विभेद और काव्य रचना के महत्व इत्यादि विषयो पर तर्क वितर्क कब प्रारम्भ हुआ। हमें ऐसा लगता है कि इसका प्रारम्भ ईसवी सन् के शताब्दियो पूर्व हुआ होगा, क्योकि हम प्राचीनतम प्राप्य ग्रन्थो में उनसे पूर्ववर्ती लेखकों के नाम तथा ग्रन्थो[1] का उल्लेख बराबर पाते हैं। कुछ विद्वान् अग्निपुराण के साहित्य भाग को काव्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन विवेचन के रूप मे मानते है। इसमें काव्य के भेद, अलकार, रस, रीति, गुण, दोष और ध्वनि इत्यादि विषयो पर विचार है। पर अब अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया गया है

1 "As a cognate branch of study, however, which probably supplied Poetics with a model and the poetic theory with the important content of Rasa, Dramaturgy (Natyasastra) appears to have established itself a little later Comparatively early texts, both Brahmanical and Buddhistic, speak of some kind of dramatic representation, and we have a very early reference in Panini to Krsasva and Silalin as authors of Natyasastra (IV, 3 110 111) The early existence of treatises on the Dramatic art is also evidenced by the fact that all the early authors on Poetics Bhamaha, Dandin and Vaman, omit a discussion of this subject and refer their readers for information to such specialised work"

Studies in the history of Sanskrit Poetics by S K De

Vol I, 1923 Ed, P 21

See also P CXXXIX Introduction to Sahitya Darpana by P V Kane

कि यह बहुत बाद की रचना है।[1] अतः सबसे प्रथम् आचार्य जिनका काव्यशास्त्र पर विवेचन प्राप्य है और जिनका उल्लेख और सिद्धांत की व्याख्या आगे के आचार्यों ने भी की है, भरत मुनि हैं। उनका नाट्यशास्त्र सर्व प्रथम ग्रन्थ है। भरत के परवर्ती महत्वपूर्ण लेखकों की भी एक लम्बी सूची है। कुछ विशेष प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं:—भट्टि का अलंकार, भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का अलंकारसार संग्रह, वामन का अलंकारसूत्र, रुद्रट का काव्यालंकार, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर की काव्यमीमांसा, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवितम्, धनञ्जय का दशरूपक, भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण, मम्मट का काव्यप्रकाश, रुय्यक का अलंकारसर्वस्व, जयदेव का चन्द्रालोक, भानुदत्त के रस-मञ्जरी एवं रस-तरङ्गिणी, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, केशवमिश्र का अलंकारशेखर और पंडितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर। इनमें से अधिकतर लेखकों ने काव्यस्वरूप, काव्य का महत्व, कवि के साधन, काव्यकी उत्कृष्टता, शब्द शक्ति, काव्य के गुण दोष, अलंकार, रस आदि सिद्धांतों पर अपना विचार प्रगट किया है। काव्य के सिद्धांतों के विचार से ये लेखक पाँच वर्गों में समाविष्ट किये जा सकते हैं:—रसवर्ग, अलंकारवर्ग, रीति वर्ग, वक्रोक्तिवर्ग तथा ध्वनिवर्ग। इन वर्गों के अतिरिक्त कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो निर्विशेषतः किसी एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित नहीं हैं, किन्तु उन्होंने काव्यशास्त्र के विषयों का सभी सिद्धांतों के प्रकाश से विवेचन किया है।

यथार्थतः उक्त सिद्धांतों के विकास का मूल कारण संस्कृत आचार्यों का काव्य की उत्कृष्टता का रहस्य अथवा काव्य की आत्मा खोजने का प्रयत्न है।[2] कोई भी आचार्य

---

१—देखिये साहित्य दर्पण की भूमिका पृ० ३। लेखक पी० वी० काने।

2 'Perhaps the most Important question which the Alankarasastra discusses is 'what is essence or soul of Poetry ?' On the answer which a rhetorician gives to this question, depends the definition of poetry.

Out of these discussions, which were carried on regarding the essence of poetry five schools of thought emerged viz the Rasa School, the Alankara School the Riti school, the Dhwani school and the Vakrokti school The names of great Rhetoricians are associated with the five schools of Poetics as either the founder or the chief promulgators These names respectively are Bharata (Rasa), Bhamaha (Alankara), Vamana (Riti), Anand Vardhan (Dhwani) and Kuntala (Vakrokti) These five schools are not strictly speaking mutually exclusive. But they are differentiated on account of emphasis which they lay on this or that aspect of poetry '

I III Introduction to Kavya Prakash of Mammata by A B Gajendra Gadkar, Professor of Sanskrit, Elphinstone College, Bombay

जिसने अपना नया मत या नवीन सिद्धांत स्थापित किया है अपने पूर्ववर्ती आचार्य के पूर्ण विरोधीरूप में नहीं खड़ा होता। उसका मुख्य उद्देश्य यही प्रतिपादन करना होता है कि काव्य की आत्मा यथार्थ में अमुक वस्तु में है; काव्य के सौन्दर्य का रहस्य उसमें छिपा है। इसके अतिरिक्त और बातें तो उसके बाह्य स्वरूप और आभूषण हैं अथवा काव्य का शरीर मात्र हैं, आत्मा नहीं। उदाहरणार्थ ध्वनि-सिद्धांत का उद्देश्य रस अथवा अलंकार को अप्रतिष्ठित या अपदस्थ करना नहीं है परन् यह बतला देना है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' अर्थात् ध्वनि ही काव्य की आत्मा है, अन्य बातें उसके बाह्य अङ्ग हैं, आत्मा नहीं।

*रस-सिद्धान्त*

रस पर सबसे पहले प्रमुख लेखक भरत मुनि हैं, जो काव्यशास्त्र के भी सर्व प्रथम आचार्य हैं और उनका नाट्य-शास्त्र, काव्यशास्त्र का (विशेषतया नाटक और रस पर) सर्व प्रथम प्राप्य और महत्व का ग्रन्थ है; किन्तु भरत के पूर्व भी रस की चर्चा थी ऐसा भरत के ग्रन्थों से भी प्रकट है। लोग भरत के द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक और काव्य-शास्त्रीय महत्व के अतिरिक्त रस से परिचित थे।[1] भरत के नाट्यशास्त्र में अधिकांश नाटकोपयोगी अनेक बातों का विशेष वर्णन है। उसमें नाट्य मण्डप, अभिनय के प्रकार, गति, मुद्रा, रस, विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव, नायक-नायिका-भेद, प्रेम की विभिन्न अवस्थायें इत्यादि अनेक बातों का वर्णन है। नाटक में भरत आठ ही स्थायी भावों को मानते हैं क्योंकि नवें भाव 'शम' का, जो काव्य में बाद को मान्य हुआ है, अभिनय सम्भव नहीं है। 'नाटकीय प्रदर्शन की परिस्थितियाँ स्थायी भाव 'शम' के विरोध में पड़ती हैं।'[2] 'नाट्यशास्त्र' इस बात पर जोर देता है कि नाटक का प्रमुख ध्येय

---

1. "That the rasa doctrine was older than Bharata is apparent from Bharata's own citation of *several verses* in the arya and the anustubh metres in support of or in supplement to his own statements, and in one place appears to quote two arya verses from an unknown work on rasa.

The idea of rasa, apart from any theory thereon, was naturally not unknown to old writers, and Bharata's treatment would indicate that some system of rasa, however undeveloped, or even a RasaSchool particularly in connection with the drama must have been in existence in his time"

History of Sanskrit Poetics By S K. De Vol II (1925) P. 21, 22

2. 'The environment of a dramatic representation is antogonastic to the Sthayibhava Sham (tranquility)" (P. CXLVIII Int. to S. by P. V. Kane.)

रस का अनुभव कराना है। आगे चलकर यह स्वीकृत हुआ कि काव्य का भी मुख्य उद्देश्य रस का अनुभव कराना है। कविता का प्रभाव भावात्मक ही है, विचारात्मक नहीं। हमारे अन्तर्गत कुछ स्थायी वृत्तियाँ हैं जो कि अपनी सुप्तावस्था में उपस्थित रहती हैं किन्तु जब कुछ बाह्य परिस्थितियों के द्वारा उन पर आघात पहुँचता है तो वे सजग हो जाती हैं। ये परिस्थितियाँ जब सांसारिक न होकर काव्य के रूप में आती हैं तब हमें रसानुभूति होती है। रसानुभूति का ढङ्ग मनोवैज्ञानिक है। स्थायी वृत्तियाँ स्थायी भाव कहलाती हैं। काव्यगत परिस्थितियाँ जो स्थायी भावों को जगा देती हैं विभाव कहलाती हैं। 'आलम्बन' के द्वारा भाव जाग्रत होते हैं और 'उद्दीपन विभाव' के द्वारा उत्तेजित होते हैं। स्थायीभावों के अतिरिक्त अन्य भाव जो कि हमारी रसानुभूति के सहायक होकर आते जाते रहते हैं 'सञ्चारी भाव' कहलाते हैं और जिन चेष्टाओं, क्रियाओं या चिह्नों से आन्तरिक 'स्थायीभाव' का प्रकाशन होता है उन्हे 'अनुभाव कहते हैं। संक्षेपतः रस के यही अङ्ग हैं।

भरत ने नाट्य शास्त्र में कहा है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"[१]।

अर्थात् विभावानुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के इसी सूत्र को लेकर आगे रस की अनुभूति के विषय में अनेक सिद्धान्त खड़े हुए हैं। रुद्रट[२] सबसे पहले लेखकों में से हैं जिन्होंने काव्यालङ्कार ग्रंथ में काव्यशास्त्र के विवेचन के अन्तर्गत रस रक्खा है और चार अध्याय इसमें ही लगाये हैं। उनके विचार से दस रस हैं। भरत के गिनाये आठ रसों में उन्होंने प्रेयस् और शान्त और अधिक जोड़े हैं किन्तु रसानुभूति के व्यापार को स्पष्ट करने के सिद्धान्त पर इसमें विचार नहीं है। भट्ट लोल्लट ही सबसे पहले व्यक्ति, अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र की व्याख्या के अनुसार, जान पड़ते हैं जिन्होंने इस व्यापार को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु अभिनव गुप्त के द्वारा निर्दिष्ट उद्धरण के अतिरिक्त उनका कोई ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। उनके अनुसार विभाव और रस में कारण कार्य सम्बन्ध है। विभाव इत्यादि कारणों से रति इत्यादि

---

"Bharat mentions eight different moods or rasas in the drama, of which a detailed account is given in Chapter vi, which is the authoritative source drawn upon by later writers."

Sanskrit Poetics by S. K. De. Vol II. P 20.

१. भरत नाट्यशास्त्र अध्याय ६।

२. डा० सुशीलकुमार दे की "हिस्ट्री आव् संस्कृत पोइटिक्स" भाग २ पृष्ठ १२३।

भाव उत्पन्न होते हैं[1] और अनुभावों के द्वारा वे प्रतीति योग्य होते हैं और इस प्रकार अभिनेता में भी रस की प्रतीति होती है।

इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि अभिनेता में वह भावानुभूति कैसे होती है और फिर उनको देखने से दर्शक के हृदय में रसानुभूति किस प्रकार आती है? विभाव और रस का सम्बन्ध भी लोल्लट के द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है। कारण और कार्य के उदाहरण में तो कारण के नष्ट होने पर भी कार्य की सत्ता रहती है, पर रस के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। विभाव के विलीन होते ही रस भी विलीन हो जाता है। अत यह लौकिक रूप में कार्य नहीं हो सकता। फिर कार्य कारण की एक साथ प्रतीति भी नहीं हो सकती। जब कार्य की प्रतीति होती है कारण की प्रतीति नहीं, पर विभाव और रस के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है।[2]

अब शकुक ने इसका खंडन किया है। उनके विचार से रस कार्य स्वरूप नहीं है वरन् दर्शक उसके अभिनय के द्वारा स्थायीभाव का अनुमान लगा लेता है। इस प्रकार से भरत की 'निष्पत्ति' 'अनुमति' के रूप में ग्रहण की गई है और विभाव एव रस का सम्बन्ध अनुमापक अनुमाप्य अथवा गमक गम्य का है। प्रतीति के विषय में यह 'राम' है अथवा यह 'राम' नहीं है या 'राम' के समान है इन शकाओं में दर्शक, अभिनेता में राम की प्रतीति उसी प्रकार कर लेता है जैसे कि चित्र के घोडे मे, घोडे की प्रतीति होती है। यह सब कुछ होने पर भी उस प्रतीति के अनुसार हम मान भी लें कि अभिनेता के सुन्दर अभिनय के कारण हम नायक की भावना का अनुमान कर लेते हैं, पर वे भावनायें दर्शक की अपनी नहीं हो सकतीं अत रसानुभूति का मुख्य प्रश्न कि अभिनेता के द्वारा दर्शक कैसे आनन्द प्राप्त करता है वैसा ही रह जाता है। ये लोल्लट और शकुक के मत क्रमश मीमासा और न्याय के अनुसार हैं।[3]

इसके पश्चात् भट्टनायक इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं इनका विश्लेषण डा० सुशील कुमार 'डे' के अनुसार सांख्य-सम्मत है।[4] भट्टनायक के विचार से काव्य पढ़ने या नाटक के देखने से पाठक या दर्शक पर प्रभाव पडता है जिसकी तीन अवस्थायें हैं। पहले तो अभिधा

---

१. मम्मट, काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास।

२. देखिये "डे की हिस्ट्री आफ् सस्कृत पोइटिक्स 'भाग २, पृष्ठ १४१।

३ देखिये 'डे की हिस्ट्री आफ् संस्कृत पोइटिक्स "भाग २, पृष्ठ १२७।

४—देखिये 'डे की हिस्ट्री आफ् सस्कृत पोइटिक्स" भाग २, पृ० १५७

के द्वारा अर्थ स्पष्ट होता है। फिर भावकत्व या रस-भावना के द्वारा साधारणीकरण होता है अर्थात् भाव और विभाव व्यक्ति विशेष के न रहकर सर्वसाधारण के होजाते हैं और नायक के स्थायीभाव और विभाव दर्शकों के अपने स्थायी भाव व विभाव बन जाते हैं। उसके पश्चात् तीसरी अवस्था भोजकत्व की आती है जिसमें विभावों के द्वारा रसानुभूति होती है। इस प्रकार भट्टनायक के विचार से स्थायीभाव जब अभिधा और भावकत्व या भावना शक्तियों के द्वारा भोग की आनन्दावस्था को प्राप्त होता है तभी वह रस कहलाता है। यह अलौकिक आनन्द है और ब्रह्मानन्द की कोटि का होता है।

अभिनव गुप्त, भट्टनायक के साधारणीकरण को मानते हैं पर उनका विचार है कि भोजकत्व और भोगीकरण दो शक्तियों को मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि रस-व्यञ्जना और रसास्वाद में दोनों बातें क्रमशः आजाती हैं। भरत के सूत्र "काव्यार्थान् भावयन्तीति भावः" के अन्तर्गत ही भाव की भावकत्व शक्ति छिपी हुई है। इस प्रकार से वे कुछ अंश में भावना या भावकत्व को मानते हैं किन्तु उसकी व्याख्या दूसरे रूप में करते हैं,[1] और रस की प्रतीति ही रस की अन्तिम अवस्था मानते हैं। भोग की अवस्था उसके पश्चात् कोई है, यह वे नहीं मानते हैं। अभिनवगुप्त के विचार से भट्टनायक का भोग, रसास्वाद या रसानुभूति से भिन्न दूसरी वस्तु नहीं। इस प्रकार से दर्शकों के हृदय में जो मनोविकार वासना के रूप में उपस्थित रहते हैं वही, जब विभाव के संयोग से व्यञ्जना-वृत्ति के साधारणीकरण या विभावन व्यापार से जाग्रत होते हैं तभी रसास्वाद की अवस्था होती है। अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। अभिनवगुप्त, विद्वान्, दार्शनिक और विचारक थे और इनके द्वारा रससिद्धान्त इस प्रकार पूर्ण प्रतिपादित होकर काव्य और नाटक पर समान रूप से लागू हुआ[2]। इसके बाद प्रमुख लेखक भानुदत्त और विश्वनाथ हैं। विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते

---

1. "Thus partially admitting bhavana or bhavakatwa but explaining it somewhat differently Abhinava gupta turns to the power assumed as bhoga or bhogikarana by Bhatta Nayaka". History of Sanskrit Poetics by S. K. De. vol II. P. 165.

2. "In other words, what was already well established in drama by Bharata and others thus found its way into poetry, profoundly modifying, as it did, the entire conception of Kavya."

"Rudrabhatta states (1,5) in the same way that Bharata and others have already discussed rasa in connection with the drama, while his own object is to apply it to the case of poetry."

History of Sanskrit Poetics by S. K. De Vol I. P. 160.

हैं। ("वाक्य रसात्मक काव्य" पर विश्वास करते हुए ये रस के पूर्ण पक्षपाती हैं इनके अतिरिक्त मम्मट और जगन्नाथ अपने 'काव्य प्रकाश और 'रसगगाधर' म रस को चाहे सर्वोपरि न मानें, पर रसध्वनि को उत्तम काव्य मे परिगणित करते हैं। इस प्रकार रस की काव्य मे महत्व-वृद्धि स्पष्ट है।

रसों म भी कुछ लोगों ने शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट मानकर उसी को लेकर लौकिक शृगार का वर्णन किया है। सयोग वियोग दो अङ्गो म बाँटकर शृगार के रूप का विश्लेषण एव नायक नायिका भेद भी लिखे गये ह जिसका बहुत कुछ हिन्दी के आचार्यों पर भी प्रभाव पड़ा है।

इसके साथ ही साथ इस सिद्धात का एक नया रूप हम रूपगोस्वामी की 'उज्वल नीलमणि' मे मिलता है जिसमे वैष्णव भक्ति सिद्धातो के आधार पर रस को व्याख्या की गई है और भक्ति की व्याख्या भी रस सिद्धात के अनुसार हुई ह। इसम भक्ति को रस मानकर उसके पाँच प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गये हैं, किन्तु ये सभी भाव कृष्ण के प्रति ही होते हैं। इस माधुर्य भाव को 'भक्ति-रसराट्' कहते हैं, इस भक्ति रस के विभिन्न स्वरूपा का आगे चलकर हिन्दी काव्य की कृष्ण भक्ति शाखा क कवियों पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

### अलकार

अलकार-वर्ग भी बहुत पुराना है। बात तो यह है कि भरत ने भी अपने 'नाट्य शास्त्र में अलकारों का वर्णन किया है, किन्तु उनकी सख्या केवल चार मानी है। वे हैं—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यों तो बाद के आचार्यों ने रस और ध्वनि क साथ सभी अलकारों को लिया है जैसे मम्मट, विश्वनाथ, पडितराज जगन्नाथ, आदि, पर अलकार वर्ग से तात्पर्य उन लेखकों का है जिन्होने रस और ध्वनि सिद्धातों के प्रतिष्ठित हो जाने से पहले अथवा बाद मे भी अलकार को ही काव्य की उत्कृष्टता का प्रमुख साधन माना है। अलकार का भी काव्य म अपना महत्व है यह तो सभी मानते हैं पर अलकार ही काव्य का मुख्य आकर्षण है, इसको भी बहुतेरे आचार्यों ने माना है। यथार्थ म प्रारम्भ म रस नाटक का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हो जाने पर अधिकाश आचार्य काव्य की मुख्य शोभा अलकार को ही मानकर चले और इसलिए अलकार शास्त्र के नाम से संस्कृत काव्यशास्त्र प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि उसको अलकारों का विवेचन लेकर ही आरम्भ किया गया। काव्य शरीर के लिये अलकारा का बहुत बड़ा महत्व अवश्य है पर वे काव्य का सर्वस्व नहीं।

(अलकार वर्ग के सबसे पहले आचार्य भामह हैं। पर भामह से अलकार का विवेचन

प्रारम्भ नहीं होता है। 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में भामह ने यथार्थ में काव्यशास्त्र का ही वर्णन किया है किन्तु अलंकार पर विशेष ज़ोर दिया है, क्योंकि भामह ने अलंकार वक्रोक्ति कथन का बाँकपन ही काव्य का सौन्दर्य है। 'काव्यालंकार' के प्रथम परिच्छेद में काव्य का उद्देश्य, कवि के लिये आवश्यक गुण, काव्य की परिभाषा, अनेक आधारों पर काव्य के वर्गीकरण, जैसे गद्य और पद्य संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश ; वृत्तदेवादिचरितशंसि, उत्पाद्यवस्तु, कलाश्रय, शास्त्राश्रय तथा सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा, अनिबद्ध इत्यादि का वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों की चर्चा है तथा कुछ अलंकार भी आये हैं, पर अलंकारों का वर्णन तीसरे परिच्छेद में जाकर समाप्त होता है। चौथे और पाँचवें परिच्छेद में काव्य दोष और छठे में कवि शिक्षा पर विवेचन है।[1]

भामह के बाद दूसरे आचार्य दण्डी हैं। ये कविता का मुख्य गुण, अलंकार मानते हैं। काव्यादर्श' अलंकारों को विशेष महत्व देनेवाला ग्रन्थ है। 'काव्यादर्श' में वे कहते ही हैं—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' यथार्थ में दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अलंकार व रीति दोनों ही का विवेचन है और रीति का ही प्रधान रूप से।[2] भामह और दण्डी में बहुत से वाक्य ऐसे हैं जो दोनों में पाये जाते हैं, फिर भी भामह और दण्डी के विवेचन में बड़ा अन्तर है।[3] दण्डी का 'काव्यादर्श' भी बहुत महत्व का ग्रन्थ रहा है। जिसका आश्रय आगे के लेखकों ने ग्रहण किया।

उद्भट इनके बाद हुए। उनका 'अलंकारसारसंग्रह' अलंकारशास्त्र का बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। भामह से भी उद्भट की बढ़कर ख्याति रही और इसमें पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का विकास देखने में आता है तथा नवीनता भी है। अलंकार विषय को लेकर रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर अप्पय दीक्षित प्रभृति अनेक आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे जिनसे संस्कृत साहित्य भरा है किन्तु उनमें विकास अधिकांश अलंकारों की संख्या का अथवा परिभाषा का ही देखने में आता है अलंकार का काव्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस बात पर गहरा विवेचन नहीं हुआ है। इस विषय पर विचार, कुन्तल, रुय्यक और जयरथ के द्वारा किया गया है और जिसके

१—देखिये भामह का काव्यालंकार—( स० शैलताताचार्य शिरोमणि )

2 Dandin's Kavyadarsa is to some extent an exponent of the Riti school of Poetics and partly of the Alankara school "

P XXI Introduction to Sahitya Darpan by P V Kane

३—भामह और दण्डी के विशेष विवेचन के लिये, काणे की साहित्य दर्पण की भूमिका देखिये।

कारण ही अलंकार हमारे यहाँ केवल वक्तृत्व की कला न रहकर, अलंकार-शास्त्र के रूप में है किन्तु यह स्वरूप अलंकार-शिक्षा में न आकर वक्रोक्ति-सिद्धान्त के आचार्यों के विवेचन में ही विशेष दर्शनीय है। अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग सिद्ध करने के लिए ही स्वभावोक्ति को भी अलंकार में परिगणित किया गया किन्तु स्वभावोक्ति का अलंकारों में स्थान ठीक नहीं।

*रीति-सिद्धान्त*

रीति का अर्थ है शैली; कथन या अभिव्यक्ति का ढंग। इसके लिये दण्डी ने मार्ग शब्द का भी प्रयोग किया है। डा० सुशीलकुमार डे के अनुसार[1] रीति का प्रारम्भ भामह के भी पहले से है क्योंकि बाणभट्ट भी गौड़ियों की "अक्षराडम्बर" के रूप में विशेषता बताते हैं। किन्तु रीति को काव्य की आत्मा मानकर पूरा रीति सिद्धान्त खड़ा करने का श्रेय सबसे पहले आचार्य वामन को ही प्राप्त है जोकि 'विशिष्टा पदरचना-रीतिः; रीतिरात्मा काव्यस्य, विशेषो गुणात्मा'[2] इत्यादि का निरूपण अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' में करते हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य का प्रयोग, काव्य की आत्मा, रीति और उसके विविध रूप-वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली आदि-का वर्णन है। वैदर्भी में दश गुण हैं अतः यह सर्व श्रेष्ठ मानी गई है। उसके पश्चात् दूसरे अधिकरण में दोष और तीसरे में गुणों का वर्णन है। चौथे अधिकरण में कुछ अलङ्कारों का वर्णन है। पाँचवें में कवि की परम्परागत रूढ़ियों का वर्णन है। छठे अधिकरण में अलङ्कारों के लक्षण व उदाहरणों का वर्णन किया गया है जो संख्या में ३३ हैं। वामन ने गुण और अलङ्कारों के व्यापार की भिन्नता स्पष्ट की है। उनका कथन है कि:—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'[3]

अर्थात् काव्य की शोभा को उत्पन्न करनेवाले धर्म गुण हैं और उसकी वृद्धि के कारण अलङ्कार हैं।

दण्डी यद्यपि अलङ्कारवादी हैं फिर भी वामन के ही मत से विशेष सम्मत जान पड़ते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष में अलङ्कारों का वर्णन 'काव्यादर्श' में है पर सैद्धान्तिक रूप में[4] वह परवर्ती वामन के विचारों की ही आधारभूमि मानों बनाते हैं।

---

1 History of Sanskrit Poetics Pt. II by S K. De. P. 91

२. 'काव्यालंकार सूत्र', अधिकरण १, अध्याय २ ( ६—८ ).

३. 'काव्यालंकार सूत्र' अधिकरण ३, अध्याय २, छन्द १—२.

4. "Dandin is influenced to some extent by the teaching of Alankara school,

रीति सिद्धान्त काव्यशास्त्र के विकास का पदन्यास है। आगे चलकर यद्यपि रीति की संख्याओं में रुद्रट, भोज, वाग्भट्ट, राजशेखर के ग्रन्थों में भिन्नता है फिर भी इनके द्वारा काव्यशास्त्र का सिद्धान्त खड़ा करके एक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ[1] और काव्यशास्त्र का अधिक गवेषणापूर्ण अध्ययन प्रारम्भ हुआ। काव्य के अनेक अंगों को एक पूर्ण सुगठित स्वरूप में बाँधने का यह पहला प्रयत्न जान पड़ता है। चाहे हम वामन के द्वारा प्रतिष्ठापित रीति के पद को मान्य न समझें फिर भी विचारात्मक गम्भीरता का काव्यशास्त्र के अंगों से अधिक सम्बन्ध होगया और आगे चलकर ध्वनि ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त खड़े किये गये।

*वक्रोक्ति-सिद्धान्त*

यह सिद्धान्त मानों अलंकार-सिद्धान्त पर सूक्ष्म विचार करके स्थिर किया गया है। 'कथन' या अभिव्यक्ति का चमत्कार पूर्ण ढंग ही वक्रोक्ति है। जिसमें कोई बाँकपन हो जो कि हमारे हृदय या मन पर प्रभाव डाल सके वही कथन, कविता है। यह कविता का एक स्वरूप अवश्य है। अभिव्यक्ति का बाँकपन एक विशेष आभा या चमक से शब्दों को भर देता है और कभी कभी हृदय की अनुभूति चाहे उससे न उकसे पर मन प्रसन्न होता है। अतः जहाँ पर अनुभूति को जगाना रस का काम है वहाँ मन का रंजन वक्रोक्ति द्वारा ही सम्भव है। अलंकारिकों के द्वारा भी वक्रोक्ति एक अलंकार के रूप में मान्य है पर इसे एक अलंकार न मानकर यदि हम सभी अलंकारों के मूल में देखें तो अधिकांश वक्रोक्ति ही मिलती है। अतः कुन्तल ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ में वक्रोक्ति को इसी व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त किया है; और कविता के क्षेत्र में उसको उपयोगी ठहराया है।

---

and as such stands midway in his view between the Alankara system of Bhamaha and the riti system of Vamana. At the same time, there can be no doubt that in Theory he allies himself distinctly with the view of Vamana.

History of Sanskrit Poetics by S K. De P. 96

*1. "Vamana was the first writer to enunciate a definite theory which befo the Dhvanikara, must have lead a great influence on the study of poetics"

History of Sanskrit Poetice by S. K De. P. 96.

See, also.

"The riti school marks a very real advance over the alankara school".

PCL. III. Introduction to Sahityadarapan by P. V. Kane.

प्रथम उन्मेष में वक्रोक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कुन्तल कहते हैं कि वक्रोक्ति ही कथन का चमत्कार है यथा:—

शब्दोविवक्षितार्थैक वाचकोन्येषु सत्स्वपि ।
उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृति ॥
अर्थं सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्द सुन्दर ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ।

इस प्रकार कुन्तल वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा[1] [ वक्रोक्ति ही 'जीवितम्' अर्थात् जीवन या आत्मा है ] मानकर ध्वनि को भी इसी के अन्तर्गत लाते हैं और स्वभावोक्ति को अलकार के रूप मे नहीं मानते । दूसरे उन्मेष म वे वर्ण विन्यास-वक्रत्व, तीसरे में वाक्य-वैचित्र्य-वक्रत्व और वस्तु-वक्रत्व तथा चौथे मे प्रकरण वक्रत्व एव प्रबन्ध-वक्रत्व पर विचार करते हैं।[2] इन सभी मे लेखक की मौलिक विचारधारा बडे महत्व की है, किन्तु यह काव्य को पाठक या दर्शक के दृष्टिकोण से ही देखती है। जो कथन पाठक के लिए काव्य में वक्रोक्तिपूर्ण होता है वह कवि के लिये काव्य निर्माण की अवस्था में स्वाभाविक होता है, इसलिये वक्रोक्ति को काव्य का मुख्य अङ्ग मानना काव्य को आलोचक की दृष्टि से देखना ही है।

इतना होते हुए भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ कुन्तल की गहरी मौलिकता और सूझ पर प्रकाश डालता है। जेसा कि पी० वी० काणे ने भी कहा है यह ग्रन्थ बडे महत्व का है,[3] किन्तु वक्रोक्ति को अलकार शास्त्र की ही एक शाखा समझनी चाहिये। एक अलग पूर्ण सिद्धान्त के रूप मे यह सम्मानित नहीं हो सकता,[4] क्योंकि रस से पूर्ण अधिकाश वाक्य स्वाभाविक उक्तियों को भी लेकर चलते हैं। रुय्यक ने कुन्तल के वक्रोक्ति सिद्धान्त को मानकर ही अलकारों की परीक्षा की है। इस दृष्टि से रुय्यक का प्रयत्न सराहनीय है।

---

1 The central idea in Kuntala is that the Vakrokti is the essence (Jivita) of poetry"

—History of Sanskrit Poetics by S K De P 2.6

2 Introduction to Sahitya Darpan by P V Kane P LXXIX and after

3 Introduction to Sahitya Darpan by P V Kane P LXXXV

4 The Vakrokti School is really an offshoot of the Alankara school and need not be separately recognised"

—P CLV Introduction to Sahitya Darpan by P V. Kane

Also see De's History of Sanskrit Poetics foot note on page 2?9

*ध्वनि-सिद्धान्त*

काव्य की आत्मा ध्वनि है, इसको स्थिर करनेवाला [illegible] ध्वनि सिद्धान्त है। ध्वनि सिद्धान्त को सबसे पहले प्रकाश में लानेवाले आनन्दवर्धनाचार्य हैं किन्तु ध्वनि सिद्धान्त उनके पहले भी प्रतिपादित और मान्य था यह उनके ध्वन्यालोक के प्रारम्भ के कथन से ही स्पष्ट है:—

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व
> स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
> केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीय
> तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥ १
>
> (ध्वन्यालोक १ उद्योत)

ध्वनि के स्वरूप को सबसे पहले वृहद् योजना के साथ आनन्दवर्धन ने ही स्पष्ट किया है।[1] इसके अन्तर्गत ध्वनि-प्रधान-काव्य को सर्वोत्तम काव्य माना गया है। और अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामी ध्वनि के दो भेद किये गए हैं (शब्द के दो अर्थ, एक वाच्य (प्रकट) दूसरा प्रतीयमान (अप्रकट) हैं। प्रतीयमान तीन प्रकार का है—वस्तु, अलंकार और रस। प्रतीयमान अर्थ शब्द के द्वारा नहीं समझा जा सकता है किन्तु यही प्रतीयमान ही कविता का प्रधान अर्थ है। जब यह अधिक प्रधान होता है तब ध्वनि-काव्य रहता है। कुछ अलंकारों जैसे—समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्ति इत्यादि में प्रतीयमान अर्थ रहता है पर वाच्य अर्थ ही प्रधान है, इसलिये वह ध्वनि काव्य नहीं कहा जा सकता।

ध्वनि दो प्रकार की मानी गई है—अविवक्षित वाच्य (जहाँ पर वाच्यार्थ को समझाने का उद्देश्य नहीं होता और वह व्यर्थ रहता है), तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ उद्दिष्ट रहता है और वह दूसरे अर्थ की भी व्यंजना करता है)। उसके पश्चात् पहले प्रकार के दो भेद हैं, अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत और दूसरे के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य एवं संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत ही रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि आते हैं। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत अलंकार और वस्तु ध्वनियाँ हैं। काव्य का दूसरा प्रकार है गुणीभूतव्यंग्य—जिसमें व्यंग्य प्रधान नहीं वरन् अप्रधान रहता है। तीसरा स्वरूप चित्र काव्य का है जो शब्द चित्र

1 काणे की साहित्य दर्पण की भूमिका पृ० ६५।

और वाक्यचित्र उपस्थित करता है। इसमें कवि के द्वारा व्यंग्यार्थ उद्दिष्ट नहीं होता। कवि की प्रतिभा पहले दो प्रकार के काव्यों में ही देखी जाती है।

'ध्वन्यालोक' दो उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वे दो उद्देश्य हैं—ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन और रस, अलकार, रीति, गुण, दोष आदि का ध्वनि के सम्बन्ध से विवेचन। इन दोनों उद्देश्यों को 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ में बड़ी सफलतापूर्वक पूरा किया गया है।[1] इस प्रकार काव्यशास्त्र का एक बड़ा ही पूर्ण और व्यापक सिद्धान्त, ध्वनि के रूप में खड़ा किया गया। आनन्दवर्धनाचार्य के पश्चात् मम्मट ने ध्वनि सिद्धान्त का और भी व्यापकता से विवेचन किया और उदाहरणों से पुष्ट कर स्पष्ट किया। अलकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति इत्यादि सभी इसी ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आ गये। मम्मट ने नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त सभी काव्य सिद्धान्तों का इसमें समावेश किया है। काव्य-प्रकाश, काव्यशास्त्र पर सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है।

मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' भी लगभग सभी अङ्गों पर प्रकाश डालता है और रस सिद्धान्त को ही विशेष मान्य समझता है। ये दोनों ग्रन्थ ऐसे हैं, जो यद्यपि किसी एक सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर चले हैं फिर भी काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों एवं समस्याओं का पूर्णता के साथ विवेचन करते हैं। 'रसगंगाधर' के वृहत् विवेचन के पश्चात् कोई भी ऐसा बड़ा महत्व का ग्रन्थ नहीं लिखा गया जो कि इन महिमाशाली आचार्यों और उनके ग्रन्थों के सम्मुख स्थान प्राप्त कर सके और न ध्वनि के पश्चात् और कोई नवीन काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त ही खड़ा किया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र पर बड़ी ही गहराई और विस्तृत व्यापकता के साथ विवेचन हुआ है और काव्य की चारुता के रहस्य का उद्घाटन तो बहुत ही पूर्ण रीति से किया गया है। केवल भाषा, छन्द, काव्य का वर्गीकरण इत्यादि पर बाह्य रूप से विचार न होकर यहाँ पर काव्य की आत्मा की खोज की गई है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अनेक सिद्धान्त इसी खोज के फलस्वरूप प्रतिपादित हुए हैं। काव्य के वर्गीकरण, भाषा, प्रकृति इत्यादि के साथ ही साथ काव्य क्या है, उत्तम, मध्यम, अधम, काव्य के क्या लक्षण हैं, काव्य की चारुता किस वस्तु में रहती है, काव्य के गुण दोष क्या हैं, अलकारों का क्या महत्व है, रस ध्वनि वक्रोक्ति-रीति का क्या स्थान है, इसके अतिरिक्त कवि के लिये क्या-क्या वस्तुएँ आवश्यक हैं, कविता का क्या

१. देखिये डॉ० सुशीलकुमार डे की 'संस्कृत पोयटिक्स' भाग २, पृ० १८३

उद्देश्य है, इत्यादि अनेक सार्वकालिक प्रश्नों पर विचार कर यथार्थ उत्तर पाने का प्रयत्न किया गया है।

अब हम संस्कृत सिद्धान्तों के प्रकाश में देख सकते हैं कि पाश्चात्य साहित्य में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विचार इतने गवेषणापूर्ण नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि वहाँ पर कुछ लेखकों को छोड़कर अधिकांश लेखकों ने एक या दो अंगों पर ही विचार किया है सभी अंगों पर नहीं। जो उनका विवेचन है वह भी विश्व के सभी काव्यों पर पूर्ण रीति से लागू नहीं हो सकता है। अधिकांश विवेचन व्यक्तिगत दृष्टि लिये हुए हैं वैज्ञानिक एवं विचारक की दृष्टि नहीं। तीसरी बात यह है कि संस्कृत की भाँति यहाँ पर पहले के आचार्यों के विचारों को लेकर उनका खण्डन अथवा मण्डन करके यथार्थ सिद्धान्त को और अधिक वृद्धि एवं विकास देने का प्रयत्न बहुत कम देखने में आता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से संस्कृत के समान उनका महत्व नहीं।

इसके अतिरिक्त चौथी बात यह है कि बहुत काल तक पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत 'रेटरिक' (अलंकार) को काव्य विवेचन के अन्तर्गत नहीं लाया गया क्योंकि वहाँ उसका सम्बन्ध अधिकांश गद्य भाषणों, वक्तृत्व कला अथवा काव्य व्याकरण से ही रहा, पर संस्कृत में अलंकार को काव्य की शोभा का प्रधान अंग मानकर काव्यशास्त्र का आरम्भ ही अलंकारशास्त्र के रूप में हुआ है। केवल इतना ही नहीं, अलंकार का—काव्यालंकार का—बोलचाल या वक्तृता की शैली या अलंकार व्याकरण से भिन्न महत्व भी है क्योंकि उसके अन्तर्गत कविप्रतिभा और आगे चलकर कुन्तल के द्वारा काव्य की आत्मा खोजी गई[1]।

पाँचवीं बात यह है (जैसा कि ग्रीक साहित्य से प्रारम्भ हुआ) कि पाश्चात्य काव्य में अनुकरण पर जोर है। 'अरिस्टॉटिल' ने स्वयं ही काव्य का स्रोत अनुकरण माना है, क्योंकि अनुकरण और अनुकरण के कार्य दोनों में मनुष्य आनन्द प्राप्त करता है। इसी कारण से पाश्चात्य काव्य में कार्य पर विशेष जोर है, पर यहाँ पर ऐसी बात नहीं।

---

1 This view would be entirely omitted in a treatise on rhetoric merely, and with this point of view it is misleading to describe the theory of Alankara as a theory of rhetorical categories only Originally it might have been more or less a theory of external but the problem was complicated by the appearance of this new factor of thought first introduced by Kuntala and then elaborated in the sphere of individual figures by Ruyyaka, Jagannath and others ''

De's History of Sanskrit Poetics Vol II P 94

संस्कृत काव्य में रसानुभूति पर ज़ोर है। नाटक में भावाभिनय प्रधान है, कार्याभिनय नहीं, रस का परिपूर्ण निरूपण यहाँ मुख्य लक्ष्य है। संस्कृत साहित्य में काव्य का उद्देश्य जीवन का अनुकरणमात्र नहीं, परन् मनोविनोद और आनन्द की सृष्टि है अतः कविता का प्रधान ध्येय बात को प्रभावशाली नये ढंग से कहने का ही रहा है जब कि पश्चिम में प्रधान ध्येय जीवन का यथार्थ चित्रण। आनन्दात्मक उद्देश्य होने के कारण ही संस्कृत में दुःखात्मक नाटकों का अभाव है। मृत्यु इत्यादि अप्रिय वस्तुओं का अभिनय नहीं होता और यही आदर्श काव्य का भी है। रस, करुण हो सकता है पर काव्य के नायक एवं प्रिय पात्रों की मृत्यु दिखाना सुरुचि के विरुद्ध समझा गया है; किन्तु पाश्चात्य साहित्य में दुःखान्त नाटक सर्वोत्कृष्ट काव्य के अन्तर्गत हैं और उसका प्रभाव परिष्कारक समझा गया है। काव्य-रस का अनुभव अलौकिक समझकर यहाँ पर अनुकरण पर विशेष महत्व नहीं दिया गया क्योंकि यहाँ काव्यानन्द के अनुभव पर बहुत विवेचन हुआ है और उसको ब्रह्मानन्द के समान माना है। काव्य की यथार्थ परिभाषा का प्रयत्न यहाँ हुआ है जब कि यहाँ पर काव्य की काव्यात्मक परिभाषायें ही विशेष मिलती हैं शास्त्रीय व वैज्ञानिक नहीं।[१]

इसके अतिरिक्त अलंकार और रस कविता का उद्देश्य होने के कारण यहाँ का काव्य अधिकांश आदर्शात्मक है और जीवन का सच्चा चित्र होने के कारण पश्चिम का काव्य यथार्थवादी। आदर्शात्मक शृङ्गारिक काव्यों में नायक-नायिका भेद, अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्य, बात को टेढे ढंग से कहने का विशेष प्रचलन हो गया जो कि इन संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के फलस्वरूप था। किन्तु यहीं एक और विशेषता आती है। पश्चिमीय[२] विचारों से कविता मानव कार्यों की अनुभूति है उसका उद्देश्य मनुष्य

---

1 'Poetry is the articulate music' 'Poetry is the best words in their best order' 'Poetry is the criticism of life' आदि परिभाषायें ऐसी ही हैं जो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं, रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यं' आदि परिभाषाओं के सामने व्यक्तिगत एवं संकीर्ण ही कही जा सकती हैं। लेखक।

2 Tasso defines poetry as, "immitation of human action made for direction of life."

"Poetry was founded for the delight of the ignorant mob of the common people and not for the delight of the learned."

(La poesia fu trovata per delletto della moltitudine ignorante, edel popolo, commune, e non per deletto degli scientiate. —Castelvetro P. 679

को शिक्षा देना अथवा कार्य के लिये प्रेरित करना है। 'कासेलवेट्रो' के अनुसार "कविता का उद्देश्य मूर्ख और साधारण लोगों को आनन्द देने का है विद्वानों को नहीं।" किन्तु संस्कृत काव्य के विषय में—( विशेष रूप से जो काव्य सिद्धान्तों के निरूपण के बाद में आया ) कहा जा सकता है कि वह विद्वानों के लिये ही है साधारण जनों के लिये नहीं।

कथन का ढंग, विषय, शब्दावली, कल्पना सभी ऐसी हैं कि साधारण लोगों की पहुँच काम नहीं करती। हाँ, इस अन्तर के साथ यह कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार के सिद्धान्तों व उद्देश्यों में अन्तर हो सकता है। और संस्कृत कविता भी इस विशेषता की प्राप्ति के साथ साथ हम देखते हैं वह काव्यशास्त्र की दृष्टि से उन्नति करती करती जीवन से दूर होती गई। जीवन का जो स्पन्दन हम प्रारम्भिक कवि वाल्मीकि और कालिदास आदि की कृतियों में पाते हैं उसका परवर्ती आचार्य लेखकों की कृतियों में सर्वथा अभाव है। कविता हृदय से दूर होकर मस्तिष्क के पास पहुँचती गई।

किन्तु, जहाँ तक संस्कृत काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है, उसका विवेचन बड़ी गम्भीरता से हुआ। जिस प्रकार कवि व्यक्तिगत जीवन को विश्व से सम्बन्धित करके व्यक्ति को विश्वात्मा के सूत्र में बाँधता है, वैसे ही काव्यशास्त्र में अनेक सिद्धान्तों का निर्माण और उनको एक दूसरे से सम्बन्धित करने का प्रयत्न सराहनीय है। पश्चिम में ऐसा नहीं हुआ। उसका कारण विचार पद्धति की भिन्नता एवं संस्कृति का अन्तर कहा जा सकता है। 'हीगेल' ने इसी प्रकार की विचार पद्धति की भिन्नता पर अपनी पुस्तक 'फिलासफी आव् फाइन आर्ट्स' में प्रकाश डाला है, और प्राच्य चेतनता को, विशेष काव्यात्मक तथा विचार-पद्धति को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करनेवाली कहा है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत और पश्चिमीय काव्य शास्त्र के स्वरूप में अन्तर

---

1 "Among these national characteristics or views and opinions peculiar to particular epochs some have closer affinity with the poetic impulse than others The oriental consciousness is for example in general more poetic than the western mind if we exclude Greece In the East the principle predominant is always that of coherence solidity unity substance

For the oriental nothing persists as really substantive, but everything appears as contingent discovering its supreme focus stability and final justification in the One, the Absolute to which it is referred "

The Philosophy of Fine Arts by Hegel IV P 2?,

अवश्य है। संस्कृत में काव्य पर अधिक शास्त्रीय ढंग से विचार किया गया है। अतः काव्य शास्त्र के लगभग सभी विषयों पर प्रकाश संस्कृत अलंकार ग्रन्थों में मिलता है। (पश्चिमीय ग्रन्थों में शैली, प्रवृत्तियों, भाषा, कला आदि पर अधिक और व्यक्तिगत ढंग पर विचार मिलता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह बात प्रकट हो जाती है कि संस्कृत काव्य शास्त्र के विषयों के अन्तर्गत सभी बातें आ जाती हैं। इनमें काव्य की आत्मा, स्वरूप, प्रयोजन, कारण, गुण, अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, दोष, भाषा, तथा कवि शिक्षा का विवरण है।) अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या में समयानुसार अन्तर पड़ता गया है। प्रवृत्तियाँ भी यथार्थ में कवि शिक्षा और रीति के अन्तर्गत आ ही जाती हैं। इस प्रकार से उपर्युक्त विषयों में से कुछ या सभी पर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थ काव्य शास्त्र के अन्तर्गत समझने चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ के आगे आनेवाले पृष्ठों में इन्हीं विषयों पर हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

हम इस अध्ययन के द्वारा काव्य शास्त्र के ग्रन्थों का यथार्थ मूल्य समझकर, उनकी रक्षा या उपयोग करने के साथ-साथ काव्य शास्त्र सम्बन्धी अनेक अछूते और अपूर्ण विषयों को लेकर नवीन दृष्टि से इस विषय के उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन कर सकते सकते हैं। यह कार्य बिना प्राचीन ग्रन्थों के यथार्थ ज्ञान के सफल और पूर्ण नहीं हो सकता। हिन्दी के इतिहासों में भी सभी ग्रन्थों का परिचय तक नहीं है और बहुत से बड़े आवश्यक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी यथार्थ और पूर्ण विवरण नहीं मिलता, केवल नाम भर सुनते चले आये हैं। अतः हिन्दी में काव्य शास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थों के यथार्थ परिचय की आवश्यकता थी। हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास पर कुछ प्रकाश डा० 'रसाल' के प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य शास्त्र के विकास' में डाला गया है। पर उसमें आठ दस पृष्ठों में ही इतिहास का प्रसंग समाप्त है और अधिकांश ग्रन्थ में अलंकारों का विकास दिखाने का प्रयत्न है जिसका रूपान्तर 'अलंकार पीयूष' है। प्रस्तुत निबन्ध में यह इतिहास यथासम्भव अधिक विस्तार एवं पूर्णता के साथ देने का एक प्रयत्न किया गया है। यहाँ पर यह बात कह देनी आवश्यक है कि हिन्दी के ग्रन्थों में काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के विकास करने का प्रयत्न नहीं हुआ है।

---

# द्वितीय अध्याय

२

# हिंदी काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ और विकास

## १. प्रेरणा आधार, और सामग्री

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में काव्य शास्त्र सम्बन्धी अधिकांश सिद्धान्तों के निरूपित हो जाने पर संस्कृत जाननेवाले हिन्दी के कवियों ने हिन्दी में भी उन सिद्धान्तों के लाने का विचार किया। संस्कृत-साहित्य की परम्परागत, शास्त्रीय एवं काव्यात्मक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होनेवाले कवियों ने, न तो देववाणी में लिखित विचारों, सिद्धान्तों एवं नियमों का विरोध ही उचित समझा और न इतना सम्पन्न उत्तराधिकार प्राप्त हो जाने पर हिन्दी काव्य के आधार से काव्यशास्त्र के नये नियमों और सिद्धान्तों के खोजने का ही प्रयत्न किया। हिन्दी के कवि संस्कृत के प्रकाण्ड आचार्यों के सामने नये नियम हिन्दी काव्य के लिए बनाते और देववाणी के काव्य सिद्धान्तों को न अपनाते यह उपहासास्पद था। ऐसा करना तो दूर की बात थी, हिन्दी में काव्य-रचना करना भी संस्कृत का सम्पर्क रखनेवाले कवियों के हृदय में कुछ हेयता की भावना भर देता था, क्योंकि संस्कृत काव्य, विद्वानों के बीच समादृत था और हिन्दी काव्य को पढ़ने सुननेवाले तब तक कुछ वर्ग के अथवा संस्कृत ज्ञान विहीन साधारण जन ही थे तभी तो केशव ने लिखा है —

> भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
> भाषा कवि भो मन्द मति, तेहि कुल केशवदास॥
>
> (कविप्रिया)

अत संस्कृत के ज्ञान के आधार पर भाषा के आचार्य बनने की प्रेरणा अधिकांश कवियों में जाग्रत हुई। साथ ही साथ उस समय गुरु शिष्य-परम्परा का प्रचलन था ही। जो प्रसिद्ध कवि हुए, कुछ नौसिखिये कवियों के लिए उनका चेला हो जाना भी स्वाभाविक था। अत उन कवि-गण—लोभी कवियों को शिक्षा देने के लिए भी कुछ अलंकार, छन्द, रस, काव्य आदि के नियमों की बात समझाना आवश्यक हो गया। और इसी लपट में धीरे धीरे जब एक-दो ग्रन्थ निकलने लगे तो हिन्दी साहित्य के रीतिकाल ( सं० १७०० १६०० वि० ) के प्रारम्भ में एक बड़े कवि के लिये अनिवार्य हो गया कि वह अपना काव्यशास्त्र के अंगों का परिज्ञान दिखाने। अत यह आवश्यक हो गया कि संस्कृत काव्यशास्त्र का अध्ययन और उसके आधार पर हिन्दी काव्य शास्त्र का प्रणयन किया जाने।

इन प्रेरणाओं को प्राप्त कर हिन्दी में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथों का निर्माण हुआ और इतना निर्माण हुआ कि हिन्दी-साहित्य के रीति युग में इस प्रकार के ग्रंथों की बाढ़ हीं आ गई। 'रीति' शब्द ही काव्यशास्त्र या लक्षण-ग्रंथ के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया। रीति, काव्यशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में अथवा काव्य शैली के रूप में संस्कृत में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि हम पहले देख आये हैं, पर हिन्दी में यह शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्य लक्षण के विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ, यहाँ तक कि हिन्दी के इतिहासकारों ने इस काल का नाम ही 'रीतिकाल' रख दिया।

## आधार

रीति के ग्रंथ अधिकांश प्रारम्भ में ज्ञान प्रदर्शन और अल्पज्ञों को शिक्षा के साथ साथ उन पर प्रभाव डालने के रूप में विरचित हुए। इनकी रचना में न तो लेखकों के सामने काव्यशास्त्र सम्बन्धी समस्यायें ही थीं और न सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन कर सत्यान्वेषण की लगन ही। अतएव संस्कृत के ग्रंथों के समान इनका महत्त्व नहीं है। इनमें नवीन सिद्धान्त निरूपण तो है ही नहीं, प्राचीन सिद्धान्तों की पूर्णतया व्याख्या भी नहीं है। संस्कृत में निरूपित काव्यशास्त्र के उन नियमों को हिन्दी में रखकर उसके उदाहरण उपस्थित करना ही इनका उद्देश्य है। अत इन ग्रंथों का सारा आधार संस्कृत काव्यशास्त्र ही है। जहाँ कहीं भिन्नता है वहाँ पर संस्कृत के मूल को ठीक से हृदयंगम न कर सकने के कारण ही प्राय है। हाँ, कुछ ही लेखक ऐसे हैं कि जिन्होंने भाषा की भी एक आध छोटी-मोटी समस्याओं पर विचार किया है।

आधार के विषय में यह तो कहा ही जा सकता है कि संस्कृत के काव्यशास्त्रपर

लिखे गये प्रायः सभी ग्रंथ हिन्दी काव्यशास्त्र में लक्षण और उदाहरण तक में आधार-स्वरूप उपयोग में लाये गये ; पर कुछ ग्रंथ ऐसे हैं कि जिनका आधार विशेष रूप से लिया गया है। जिन ग्रंथों का अधिकांश आधार लिया गया है वे ये हैं.—भरत का 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालंकार', दंडी का 'काव्यादर्श', उद्भट, का 'अलंकार-सारसंग्रह', केशव मिश्र का 'अलंकारशेखर', अमरदेव की 'काव्यकल्पलतावृत्ति', जयदेव का 'चन्द्रालोक', अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', भानुदत्त के 'रसमंजरी' एवं 'रस-तरंगिणी' इत्यादि। इन ग्रंथों में से केशव तथा कुछ अन्य उनके समकालीन लेखकों ने तो प्रायः पहले छः ग्रंथों का आधार लिया है ; पर केशवदेव के उपरान्त तत्काल रीति ग्रंथों की परम्परा चली नहीं। केशव की कविप्रिया ( रचनाकाल सं० १६५८ ) के ५० वर्ष पीछे उसकी अखंड परम्परा का आरम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाये पुराने मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार अलंकार्य का भेद हो गया था। हिन्दी अलंकार ग्रंथ अधिकतर 'चन्द्रालोक', और 'कुवलयानन्द', के अनुसार निर्मित हुये। कुछ ग्रंथों में 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' का भी आधार पाया जाता है।* काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया इस प्रकार 'दैव योग से संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास के एक भाग की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई'।[१]

शैली का आधार 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द' प्रभृति ग्रंथों से विशेष रूप से लिया गया है जिनमें कि एक ही छन्द में लक्षण उदाहरण अथवा पद्य में ही लक्षणों और उदाहरणों को प्रकाशित किया गया है। 'काव्य प्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'साहित्यदर्पण' एवं 'रस-गंगाधर' की ऐसी व्याख्या युक्त शैली को बहुत कम लोगों ने अपनाया। इस शैली को अपनानेवाले चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, सोमनाथ इत्यादि हैं। अधिकांश ने लक्षणों को दोहों में और उदाहरणों को कवित्त, सवैया अथवा अन्य छन्दों में लिखा है। कुछ लेखकों ने सोरठों और 'बरवै' में उदाहरण दिये हैं और कुछ दोहे के ही एक चरण में

---

* अलग अलग ग्रंथों के आधार का विवरण आगे आनेवाले ग्रंथों के अध्ययन में दिया जायगा।

१ देखिये 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'— रामचन्द्र शुक्ल

पृष्ठ २८१, संस्करण १९६७।

लक्षण और दूसरे चरण में उदाहरण देते गये हैं। यह बात स्पष्टतया कही जा सकती है कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों का, जो विशेषकर कविता को लक्ष्य करके चले हैं, लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है और वह उदाहरण द्वारा ही स्पष्ट होता है। उदाहरण अधिकांशतः सुन्दर बन पड़े हैं और लेखकों की काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा और भाषा पर उनके अधिकार के द्योतक हैं, किन्तु अधिक संख्या में लेखक आचार्यत्व के सर्वथा अयोग्य ही हैं। वे कवि ही प्रधान रूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।

कुछ भी हो, काव्यशास्त्र पर लिखे गये हिन्दी ग्रंथों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रारम्भ से लेकर अब तक लिखे गये इन सभी ग्रंथों का लेखा उपस्थित करना कठिन है, क्योंकि, प्रथम तो बहुत से ग्रंथ ऐसे हैं, जो प्रसिद्ध हुए, यहाँ तक कि एक-आध बार प्रकाशित भी हुए, किन्तु उसके पश्चात् लुप्त हो गये और द्वितीय बहुतेरे ग्रंथ केवल हस्तलिखित रूप में ही रहे। वे कभी छपे नहीं और महत्वपूर्ण होने पर भी अब देखने को नहीं मिलते। वे ग्रंथ कहीं निज पुस्तकालयों या राजपुस्तकालयों में पुराने बस्तों की ही शोभा बन रहे हैं और मनुष्य की आँखों से अधिक उनका सम्पर्क दीमक और चूहों से ही होता है। तीसरे कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका हल्दी मिर्च की पुड़िया बन कर रूपान्तर हो गया है और हो रहा है। वे इस व्यापारिक युग में अपने आश्रयदाताओं की गुणग्राहकता पर उन्हें धन्यवाद देते हैं। चौथे, कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं, जो हैं तो सुरक्षित—पलटे और पढ़े भी जाते हैं—पर ऐसी सम्पत्ति समझे जाते हैं जिस पर संसार की और विशेषकर समालोचकों की आँख पड़ते ही नजर लग जाने का भय है। अतः वे घर के कोनों या तहखानों में अचल, अडिग और स्थान मोही देवताओं की भाँति ही पूजा पाते हैं। वे भाग्यशाली अवश्य हैं, पर एकान्त भाग्यशालियों का संसार दर्शन कैसे करे, यह समस्या है। इस प्रकार इस प्रचुर सामग्री का, जिसका कि खोज रिपोर्टों के द्वारा पता भी लगाया जा चुका है, उपयोग करना कठिन और किन्हीं किन्हीं दशाओं में असम्भव है।

अस्तु, अब तक इतिहासकारों द्वारा सूचित तथा प्राप्त सामग्री को हम निम्नलिखित चार भागों में रख सकते हैं:—

(क) अलङ्कार-ग्रंथ—वे ग्रंथ जो केवल अलङ्कार पर लिखे गये हैं।

(ख) रस ग्रंथ—वे ग्रंथ जिनमें केवल रसों का वर्णन मिलता है।

(ग) शृङ्गार एवं नायिका भेद ग्रंथ—वे ग्रंथ जो केवल शृङ्गार-रस या नायिका भेद अथवा दोनों का वर्णन करते हैं।

(५) काव्यशास्त्र।—इन ग्रंथ विविध काव्यशास्त्र के रस, अलंकार या इत्यादि अंगों का वर्णन मिलता है।

---

## २. विषयानुसार, कालक्रम से प्रत्येक वर्ग की सूची आगे दी जाती है—

### क—अलंकार-ग्रन्थ

नीचे लिखे ग्रन्थ केवल अलंकार पर लिखे गए हैं।

| लेखक | ग्रंथ | रचनाकाल |
|---|---|---|
| १. गोप | अलंकार चन्द्रिका | सं० १६१५ सं० १६७२ वि० |
| २. करनेस | कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण | सं० १६३७ के लगभग |
| ३ क्षेमराज | काव्यप्रकाश | सं० १६८५ के लगभग |
| ४. जसवन्तसिंह | भाषाभूषण | सं० १६९५ के लगभग |
| ५. मतिराम | ललितललाम | सं० १७१६ और १७४५ के बीच |
| ६ भूषण | शिवराजभूषण | सं० १७३० के लगभग |
| ७ गोपालराय | भूषणविलास | सं० १७३६ के लगभग |
| ८ नारीग | उपमालंकार | सं० १७४१ के लगभग |
| ९ सूरति मिश्र | अलंकारमाला | सं० १७६६ वि० |
| १० श्रीपति | अलंकारगंगा | सं० १७७० के लगभग |
| ११. गोप | रामचन्द्राभरण, रामचन्द्रभूषण | सं० १७७३ वि० |
| १२ रसिक सुमति | अलंकार चन्द्रोदय | सं० १७८६ वि० |
| १३ भूपति, (गुरुदत्तसिंह) | कंठाभूषण | सं० १७९१ के लगभग |
| १४ यशोदर | अलंकार रत्नाकर | सं० १७९२ वि० |
| १५. रघुनाथ | रसिकमोहन | सं० १७९६ वि० |
| १६ गोविन्द कवि | कर्णाभरण | सं० १७९७ वि० |
| १७ दूलह | कविकुलकंठाभरण | सं० १८०० वि० के लगभग |
| १८ शम्भुनाथ मिश्र | अलंकार दीपक | सं० १८०६ के लगभग |

टिप्पणी—रचना-काल मिश्रबन्धुविनोद, खोजरिपोर्टों, शुक्ल जी के इतिहास तथा स्वयं ग्रंथों के आधार पर दिये गये हैं जिनका उल्लेख आगे आने वाले विवरण में यथास्थान किया गया है।

—लेखक

| लेखक | ग्रंथ | रचनाकाल |
|---|---|---|
| १९. गुमान मिश्र | अलकारदर्पण | स० १८१८ वि० |
| २०. नैरीसाल | भाषा भरण | स० १८२५ वि० |
| २१. नाथ (हरिनाथ) | अलकारदर्पण | स० १८२६ वि० |
| २२. रतनेश या रतन कवि | अलकारदर्पण | स० १८२७ वि० (शुक्ल<br>१८४३ वि० (लेखक |
| २३. दत्त | लालित्यलता | स० १८३० वि० |
| २४. महाराज रामसिंह | अलकारदर्पण | स० १८३० के लगभग |
| २५. ऋषिनाथ | अलकारमणिमजरी | स० १८३१ वि० |
| २६. सेवादास | रघुनाथअलकार | स० १८४० वि० |
| २७ चंदन | काव्याभरण | स० १८४५ वि० |
| २८ भान कवि | नरेन्द्रभूषण | स० १८५५ वि० |
| २९ ब्रह्मदत्त | दीपप्रकाश | स० १८६१ वि० |
| ३० सग्रामसिह | काव्यार्णव | स० १८६६ के लगभग |
| ३१. पद्माकर | पद्माभरण | स० १८६७ के लगभग |
| ३२ बलवानसिंह | चित्र चन्द्रिका | स० १८८९ वि० |
| ३३ प्रतापसिंह | अलकार चिन्तामणि | स० १८९४ वि० |
| ३४. चतुर्भुज | अलकार आभा | स० १८९६ वि० |
| ३५. लेखराज | लघुभूषण | स० १९०० के लगभग |
| ३६. ग्वाल | अलकार भ्रमभजन | सं० १९०० के लगभग |
| ३७. शालिग्राम शाकद्वीपी | भाषाभूषण की समालोचना | स० १९२० के लगभग |
| ३८ कन्हैयालाल पोद्दार | अलकारप्रकाश | स० १९५३ वि० |
| ३९. भगवानदीन | अलकारमजूषा | स० १९७३ वि० |
| ४०. कन्हैयालाल पोद्दार | अलकारमजरी | स० १९९३ वि० |
| ४१ जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' | अलकारदर्पण | स० १९९३ वि० |
| ४२. रामशकर शुक्ल 'रसाल' | अलकारपीयूष | स० १९८६ वि० |
| ४३. अर्जुन दास केडिया | भारतीभूषण | स० १९८७ वि० |

## ख— रसग्रन्थ

रसों पर लिखे गए हिन्दी के निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

| लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|
| १. केशवदास | रसिकप्रिया | सं० १५४८ वि० |
| २ व्रजपति भट्ट | रंगभावमाधुरी | सं० १६८० वि० |
| ३ तोष | सुधानिधि | सं० १६९१ वि० (मिश्रबंधु) |
| ४. मंडन | रसरत्नावली और रसविलास | सं० १८वीं शताब्दी का प्रारम्भ |
| ५. तुलसीदास | रसकल्लोल तथा रसभूषण | सं० १७११ वि० |
| ६ कुलपति | रसरहस्य | सं० १७२४ वि० |
| ७ गोपालराम | रससागर | सं० १७२६ वि० |
| ८ सुखदेव मिश्र | रसार्णव तथा | सं० १७३० वि० |
| | फाजिलअली प्रकाश | सं० १७३३ वि० |
| ९ श्री निवास | रससागर | सं० १७५० वि० |
| १०. लोकनाथ चौबे | रसतरंग | सं० १७६० वि० |
| ११. सूरतिमिश्र | रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, रसग्राहकचंद्रिका | सं० १७६० वि० के लगभग |
| १२. देव | भवानीविलास, रसविलास और कुशलविलास | सं० १७८३ वि० के लगभग |
| १३. बेनी प्रसाद | रसशृंगार समुद्र | सं० १७६५ वि० के लगभग |
| १४ श्रीपति | रससागर | सं० १७७० वि० |
| १५. याकूब खां | रसभूषण | सं० १७७५ वि० |
| १६ वीर | कृष्णचन्द्रिका | सं० १७७९ वि० |
| १७ भिखारीदास | रससारांश | सं० १७९९ वि० (शुक्ल) |
| १८ गुरुदत्तसिंह | रसरत्नाकर, रसदीप | सं० १८वीं शताब्दी का अंत |
| १९ रसलीन | रसप्रबोध | सं० १७९८ वि० |
| २०. रघुनाथ | काव्यकलाधर | सं० १८०२ वि० |
| २१ उदयनाथ | रसचन्द्रोदय | सं० १८०४ वि० |
| २२ शम्भुनाथ मिश्र | रसकल्लोल, रसतरंगिणी | सं० १८०६ वि० |
| २३ समनेस | रसिकविलास | सं० १८२७ वि०, १८४७ (शुक्ल) |

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| २४. | दौलतराम या उजियारे कवि | रसचन्द्रिका | सं० १८३७ वि० के लग० |
| | ,, ,, | जुगलप्रकाश | ,, १८३७ वि० |
| २५. | रामसिंह | रसनिवास | ,, १८३९ वि० |
| २६ | सेवादास | रसदर्पण | ,, १८४० वि० |
| २७. | बेनी बन्दीजन | रसविलास | ,, १८४९ वि० |
| २८. | पद्माकर | जगतविनोद | ,, १८६७ वि० |
| २९. | बेनी 'प्रवीन' | नवरसतरंग | ,, १८७८ वि० |
| ३०. | करन कवि | रसकल्लोल | ,, १८८५ वि० |
| ३१. | ग्वाल | रसरंग | ,, १९०४ वि० |
| ३२. | नन्दराम | शृंगारदर्पण | ,, १९२९ वि० |
| ३३ | लेखराज | रसरत्नाकर | ,, १९३० वि० |
| ३४. | महाराजा प्रतापनारायण | रसकुसुमाकर | ,, १९५१ वि० |
| ३५. | बलदेव (द्विजदेव) | प्रमदा-पारिजात | ,, १९५७ वि० |
| ३६. | हरिऔध | रसकलश | ,, १९८८ वि० |
| ३७ | कन्हैयालाल पोद्दार | रसमंजरी | ,, १९९१ वि० |

## ग—शृंगार और नायिका-भेद के ग्रन्थ

| | लेखक | ग्रंथ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| १. | कृपाराम | हिततरंगिणी | सं० १५९८ वि०, (मि० व०) |
| २. | सूरदास | साहित्य लहरी | ,, १६०७ वि० |
| ३. | नन्ददास | रसमंजरी | ,, १७वीं शताब्दी का प्रारंभ |
| ४. | मोहनलाल | शृंगार-सागर | ,, १६१६ वि० |
| ५. | सुन्दर कवि | सुन्दरशृंगार | ,, १६८८ वि०, (मि० व०) |
| ६. | चिन्तामणि | शृंगारमंजरी | ,, १८वीं शताब्दी का प्रारंभ |
| ७ | शम्भुनाथ सुलंकी | नायिकाभेद | ,, १७०७ वि० |
| ८ | मतिराम | रसराज और साहित्यसार | ,, १७०० वि० के लगभग |
| | | | ,, १७४० वि० के लगभग |
| ९. | सुखदेव मिश्र | शृंगारलता | ,, १७३१ ,, के आसपास |
| १०. | कृष्णभट्ट देवऋषि | शृंगाररसमाधुरी | ,, १७६६ वि० |

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| ११. | देव | सुखसागरतरंग, | सं० १८वीं शताब्दी का मध्य |
| | | जातिविलास | ,, ,, |
| १२. | कालिदास | वधूविनोद | ,, १७४६ वि० |
| १३. | कुन्दन | नायिकाभेद | ,, १७५२ वि० |
| १४. | केशवराय | नायिकाभेद | ,, १७५४ वि० |
| १५. | बलवीर | दंपतिविलास | ,, १७५६ ,, (खी०रि० १६०२) |
| १६. | रघुराम | नायिकाभेद | ,, १७६५ वि० |
| १७. | श्राज़म | शृंगाररसदर्पण | ,, १७८६ वि० |
| १८. | भिखारीदास | शृंगारनिर्णय | ,, १८०७ वि० |
| १६. | शोभाकवि | नवलरसचन्द्रोदय | ,, १८१८ वि० (याज्ञिक सं०) |
| २०. | रंग खाँ तथा हितकृष्ण | नायिका भेद | ,, १८४० |
| २१. | देवकीनन्दन | शृंगारचरित | ,, १८४१ वि० |
| २२. | लालकवि | विष्णुविलास | ,, १८वीं शताब्दी का मध्य |
| २३. | भोगीलाल दुबे | बखतविलास | ,, १८५६ वि० |
| २४. | यशवन्तसिंह द्वितीय | शृंगारशिरोमणि | ,, १८५६ वि० |
| २५. | माखनलाल पाठक | वसन्त मंजरी | ,, १८६० वि० |
| २६. | यशोदानन्दन | बरवैनायिका-भेद | ,, १८७२ वि० |
| २७. | दयानाथ दुबे | श्रानन्दरस | ,, १८८६ |
| २८. | जगदीशलाल | ब्रजविनोद नायिका भेद | ,, बीसवीं शताब्दी |
| | | परमानन्द-रस-तरंग श्रादि | ,, |

## घ—काव्यशास्त्र-ग्रन्थ

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| १. | केशवदास | कविप्रिया | स० १६५८ वि० |
| २. | चिन्तामणि | कविकुल-कल्पतरु, | ,, १७०७ वि०, १७०७ वि० |
| | | काव्यप्रकाश | ,, १७०० वि० के लगभग |
| ३. | कुलपति | रसरहस्य | ,, १७२७ वि० |
| ४. | देव | भावविलास और | ,, १७४६ वि० |
| | | काव्यरसायन या शब्दरसायन | ,, १७६० वि० के लगभग |

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| २४. | दौलतराम या उनियारे कवि | रसचन्द्रिका | सं० १८३७ वि० के लगभग |
| | ,, ,, | जुगुलप्रकाश | ,, १८३७ वि० |
| २५. | रामसिंह | रसनिवास | ,, १८३६ वि० |
| २६. | सेवादास | रसदर्पण | ,, १८४० वि० |
| २७. | बेनी बन्दीजन | रसविलास | ,, १८४६ वि० |
| २८. | पद्माकर | जगतविनोद | ,, १८६७ वि० |
| २९. | बेनी 'प्रवीन' | नवरसतरंग | ,, १८७८ वि० |
| ३०. | करन कवि | रसकल्लोल | ,, १८८५ वि० |
| ३१. | ग्वाल | रसरंग | ,, १९०४ वि० |
| ३२. | नन्दराम | शृंगारदर्पण | ,, १९२६ वि० |
| ३३. | लेखराज | रसरत्नाकर | ,, १९३० वि० |
| ३४. | महाराजा प्रतापनारायण | रसकुसुमाकर | ,, १९५१ वि० |
| ३५. | बलदेव (द्विजगग) | प्रमदा पारिजात | ,, १९५७ वि० |
| ३६. | हरिऔध | रसकलश | ,, १९८८ वि० |
| ३७. | कन्हैयालाल पोद्दार | रसमजरी | ,, १९९१ वि० |

## ग— शृंगार और नायिका-भेद के ग्रन्थ

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| १. | कृपाराम | हिततरंगिणी | सं० १५९८ वि०, (मि० बं०) |
| २. | सूरदास | साहित्य लहरी | ,, १६०७ वि० |
| ३. | नन्ददास | रसमजरी | ,, १७वीं शताब्दी का प्रारंभ |
| ४. | मोहनलाल | शृंगार सागर | ,, १६१६ वि० |
| ५. | सुन्दर कवि, | सुन्दरशृंगार | ,, १६८८ वि०, (मि० बं०) |
| ६. | चिन्तामणि | शृंगारमञ्जरी | ,, १८वीं शताब्दी का प्रारंभ |
| ७. | शम्भुनाथ सुलकी | नायिकाभेद | ,, १७०७ वि० |
| ८ | मतिराम | रसराज और साहित्यसार | ,, १७०० वि० के लगभग<br>,, १७४० वि० के लगभग |
| ९ | सुखदेव मिश्र | शृंगारलता | ,, १७३३ ,, के आसपास |
| १०. | कृष्णभट्ट देवऋषि | शृंगाररसमाधुरी | ,, १७६६ वि० |

| लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|
| ११. देव | सुखसागरतरंग, | सं० १८वीं शताब्दी का मध्य |
| | जातिविलास | ,, ,, |
| १२. कालिदास | वधूविनोद | ,, १७४६ वि० |
| १३. कुन्दन | नायिकाभेद | ,, १७५२ वि० |
| १४. केशवराय | नायिकाभेद | ,, १७५४ वि० |
| १५. बलवीर | दम्पतिविलास | ,, १७५६ ,, (खो०रि० १६०२) |
| १६. परशुराम | नायिकाभेद | ,, १७६५ वि० |
| १७. आजम | शृंगाररसदर्पण | ,, १७८६ वि० |
| १८. भिखारीदास | शृंगारनिर्णय | ,, १८०७ वि० |
| १९. शोभाकवि | नवलरसचन्द्रोदय | ,, १८१८ वि० (याज्ञिक सं०) |
| २०. रस खाँ तथा हितकृष्ण | नायिका भेद | ,, १८४० |
| २१. देवकीनन्दन | शृंगारचरित | ,, १८४१ वि० |
| २२. लालकवि | विष्णुविलास | ,, १८वीं शताब्दी का मध्य |
| २३. भोगीलाल दुबे | बखतविलास | ,, १८५६ वि० |
| २४. यशवन्तसिंह द्वितीय | शृंगारशिरोमणि | ,, १८५६ वि० |
| २५. माखनलाल पाठक | वसन्त मंजरी | ,, १८६० वि० |
| २६. यशोदानन्दन | बरवैनायिका भेद | ,, १८७२ वि० |
| २७. दयानाथ दुबे | आनन्दरस | ,, १८८६ |
| २८. जगदीशलाल | ब्रजविनोद नायिका भेद | ,, बीसवीं शताब्दी |
| | परमानन्द रस-तरंग आदि | ,, |

## घ—काव्यशास्त्र-ग्रन्थ

| लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|
| १. केशवदास | कविप्रिया | सं० १६५८ वि० |
| २ चिन्तामणि | कविकुल-कल्पतरु, | ,, १७०७ वि०, १७०७ वि० |
| | काव्यप्रकाश | ,, १७०० वि० के लगभग |
| ३. कुलपति | रसरहस्य | ,, १७२७ वि० |
| ४. देव | भावविलास और | ,, १७४६ वि० |
| | काव्यरसायन या शब्दरसायन | ,, १७६० वि० के लगभग |

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| ५. | सुरति मिश्र | काव्यसिद्धान्त | सं० १८वीं शताब्दी का प्रारंभ काल |
| ६. | कुमारमणि | रसिकरसाल | सं० १७७६ वि० |
| ७ | श्रीपति | काव्यसरोज तथा | „ १७७७ वि० |
| | | काव्यकल्पद्रुम | „ १७८० वि० |
| ८. | गंजन | कमरुद्दीनखाँहुलास | „ १७८६ वि० |
| ९. | सोमनाथ | रसपीयूषनिधि | „ १७९४ वि० |
| १०. | भिखारीदास | काव्यनिर्णय | „ १८०३ वि० |
| ११. | रूपसाहि | रूपविलास | „ १८१३ वि० |
| १२. | रतन कवि | फतेहभूषण | „ १८३० वि० के आसपास |
| १३. | जनराज | कवितारसविनोद | „ १८३३ वि० |
| १४. | मानकवि | दलेल प्रकाश | „ १८४० वि० |
| १५. | गुरुदीन पांडे | बागमनोहर | „ १८६० वि० |
| १६. | करन | साहित्यरस | „ १८६० वि० |
| १७. | प्रतापसाहि | व्यंग्यार्थ कौमुदी | „ १८८२ वि० |
| | | काव्यविलास तथा | „ १८८६ वि० |
| | | काव्यविनोद | „ १८६६ वि० |
| १८. | भवानीप्रसाद पाठक | काव्यशिरोमणि और काव्यकल्पद्रुम | „ अज्ञात |
| १९. | रणधीरसिंह | काव्यरत्नाकर | „ १८६७ वि० |
| २०. | ग्वाल | साहित्यदर्पण तथा | „ १९०० वि० |
| | | साहित्य दूषण | „ १९०० वि० के लगभग |
| २१ | रामदास | कविकल्पद्रुम (साहित्यसार) | „ १९०१ वि० |
| २२. | सालिग्राम शाकद्वीपी | काव्य प्रकाश की समालोचना | „ १९२० वि० |
| २३. | बल्देव | प्रताप विनोद | „ १९२६ वि० |
| २४. | लछिराम | कमलानन्द कल्पतरु | „ १९४० वि० |
| | | तथा रावणेश्वर कल्पतरु | „ १९४७ |
| २५. | नारायण | नाट्यदीपिका | „ २० शताब्दी का प्रथम चरण |
| २६ | मुरारिदान | जसवन्तजसोभूषण | „ १९५० |
| २७ | जगन्नाथप्रसाद 'भानु' | काव्यप्रभाकर | „ १९६७ वि० |

| | लेखक | ग्रन्थ | रचनाकाल |
|---|---|---|---|
| २८ | सीताराम शास्त्री | साहित्यसिद्धान्त | सं० १९८० वि० |
| २९ | कन्हैयालाल पोद्दार | रसमंजरी | ,, १९९१ वि० |
| ३० | बिहारीलाल भट्ट | साहित्यसागर | ,, १९९४ वि० |
| ३१ | मिश्रबन्धु | साहित्यपारिजात | ,, १९९७ |
| ३२ | रामदहिन मिश्र | काव्यालोक, काव्यदर्पण | ,, २००१ वि० तथा २००४ वि० |

## ३. ग्रन्थों का अध्ययन

### अ—प्राचीन हिन्दी-काव्यशास्त्र की परम्परा

यदि हम हिन्दी-काव्य की प्राचीन परम्परा पर विचार करें, तो हमें विदित होगा कि विषय, शैली, प्रवृत्तियों, छन्दों आदि में हिन्दी की प्राकृत और अपभ्रंश-काव्य में अपनी परम्परा का पूर्व रूप स्पष्ट मिलता है। कबीर तथा निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों की विषय और शैली की परम्परा सिद्धों के साहित्य में प्राप्त होती है, जायसी तथा प्रेमाख्यानक कवियों की कहानी और प्रेमवर्णन का मूल जैनाचार्यों द्वारा लिखी प्राकृत और अपभ्रंश कथाओं जैसे भविष्यदत्त कथा, रयणसेहरी नरवइ कहा (रत्नशेखर-नृपति कथा) आदि में मिलता है। छन्द, प्रयोग, लोकोक्तियाँ भी अपभ्रंश-काव्य की हिन्दी-काव्य में बराबर मिलती हैं। इसके अतिरिक्त, जायसी तुलसी आदि की दोहा-चौपाई वाली शैली जो हिन्दी में इतनी सफल सिद्ध हुई है, अपभ्रंश से ही प्रारम्भ हुई है। इस शैली का प्रयोग जैनाचार्यों ने प्रथम ही किया है। पुष्पदन्त के 'जसहर चरिउ' और णायकुमार चरिउ' में यही शैली मिलती है। पद शैली का भी अपभ्रंश में बराबर सम्मान था। और अनेक-छन्द शैली भी प्रचलित थी जैसे सुदर्शन चरित्र में देखने को मिलती है।[1]

पर जितनी स्पष्टरीति से हम हिन्दी-काव्य के विषयों और शैलियों की परम्परा अपभ्रंश में देख लेते है, उतनी स्पष्टता से हमें हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा देखने को नहीं मिलती। सत्य तो यह है कि हिन्दी-साहित्य की रीति-परम्परा की प्रधान प्रेरणा संस्कृत काव्यशास्त्र ही रहा है। प्राकृत या अपभ्रंश-साहित्य नहीं, फिर भी खोजने पर हमें एक गौण एवं अप्रसिद्ध धारा ऐसी मिलती है जिससे हम कह सकते हैं कि यह रीतिकालीन प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में एक दम एक नवीन वस्तु के रूप में नहीं आयी। इसकी भी कहने के लिए कुछ परम्परा अवश्य है। शुद्ध शास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में तो इस परम्परा के भीतर रखे जाने वाले ग्रन्थ, सिद्ध शान्तिपा या रत्नाकर शान्ति ( सन् १००० ई० ) का छन्द शास्त्र पर लिखा 'छन्दोरत्नाकर' तथा आचार्य हेमचन्द्र सूरि (सन् १०८८,

---

१—देखिये दिल्ली से निकलने वाले जैन साप्ताहिक पत्र 'वीर' के १२ जून, सन् ४६ के अंक में, "जैन साहित्य द्वारा हिन्दी साहित्य में श्रीवृद्धि" नामक, श्री रामसिंह तोमर एम० ए० ( शान्तिनिकेतन ) द्वारा लिखा हुआ लेख।

११७६ ई० ) के 'प्राकृत व्याकरण' 'छन्दोनुशासन' तथा 'देशी नाममाला कोश' हैं।[1] इनके अन्तर्गत उदाहरण के रूप में आयी अपभ्रंश रचनाएँ लक्षणों को स्पष्ट करती हैं। इनको लेकर ही धीरे धीरे यह प्रवृत्ति जाग्रत हुई कि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में लोकभाषा के भी उदाहरण होने चाहिए और अन्त में वह समय आया जब विवेचन, लक्षण और उदाहरण सभी बोलचाल की भाषा में हों संस्कृत में नहीं, यह धारणा सर्वसाधारण की हो गई। अतः इन ग्रन्थों को हम परम्परा नहीं, तो प्रेरणा के रूप में ले ही सकते हैं।

जैनाचार्यों ने धार्मिक दृष्टिकोण से ही प्रायः अपभ्रंश ( लोकभाषा या प्राचीन हिन्दी) में रचना की थी अतः रस, नायिका भेद, शृंगार आदि पर सीधे सापेक्ष ढंग से उनका लिखना असम्भव था। फिर भी इन धार्मिक ग्रन्थों के बीच प्रसंगवश कहीं कहीं हमें काव्यशास्त्र की बातों का ऐसा भी संकेत मिलता है जिससे हम कह सकते हैं कि रीति कालीन प्रवृत्ति की भी परम्परा अपभ्रंश से होकर आती है। उदाहरणार्थ विक्रमीय ग्यारहवी शताब्दी में जैन मुनि 'नयनंद' का लिखा हुआ 'सुदर्शन चरित' नामक अपभ्रंश ग्रन्थ है। इसमें पंच नमस्कार फल तथा अन्य धार्मिक बातों के अतिरिक्त बीच में ऋतु, विवाह, नखशिख, रति, शृंगार आदि का वर्णन भी आता है।

इस ग्रन्थ में नायिका भेद भी देखने को मिलता है। नायिकाओं के भेद पहले विशेष इंगितों के आधार पर दिये गये हैं, फिर भिन्न भिन्न वर्गों के आधार पर जैसे, ऋषिपत्नी, विद्याधरी, यक्षिणी इत्यादि। इसके पश्चात् प्रान्तों तथा देशों के अनुसार भी नायिकाओं का वर्गीकरण है और उसी प्रकार से उनके स्वभावों का भी वर्णन है। फिर वात, पित्त, कफ की प्रधानता के अनुसार भेद किये गये हैं। इन सब का पुनः शुद्ध-गुणवाली, अशुद्धगुणवाली तथा मिश्रगुणवाली नायिकाओं में विभाजन है। और सबमें अन्त में इन नायिकाओं को वश में करने के उपायों का भी वर्णन है। इसके साथ ही पूर्वराग तथा संयोग वियोग का भी वर्णन है। पर यह सब वर्णन प्रसंगवश ही आया है।[2] इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि इस रस नायिका भेद आदि पर भी कुछ न कुछ वर्णन हम प्राचीन हिन्दी के ग्रन्थों में मिल जाता है और यह संकेत मिलता है कि (हिन्दी रीति परम्परा की एक क्षीण धारा अपभ्रंश-काव्य में भी अवश्य ही रही होगी जिसका अभी पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सका।

१—हिन्दी काव्यधारा ( राहुलसांकृत्यायन, ) की अवतरणिका पृष्ठ ४३।

२—देखिए देहली से निकलने वाले साप्ताहिक 'वीर' के १८ जून, १९४६ ई० के अंक में "जैन साहित्य द्वारा हिन्दी साहित्य में श्री वृद्धि' नामक श्री रामसिंह तोमर एम० ए० ( शान्ति निकेतन ) द्वारा लिखा हुआ लेख।

# आ—भक्ति-कालीन ग्रन्थों का अध्ययन

## केशवदास के पूर्व-वर्ती लेखक

यों तो हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार, शिवसिंह 'सरोज' के आधार पर स० ७७० वि० के लगभग होने वाले भोज के पूर्व पुरुष राजा मान के दरबार में एक कवि पुन्ड या पुष्य का उल्लेख करते हैं[1], किन्तु उसका अन्य कोई विवरण अप्राप्य है। 'सरोज' में उल्लेख यह है[2] कि पुंड नामी बन्दीजन के द्वारा दोहों में हिन्दी भाषा में संस्कृत अलंकारों का अनुवाद लिखा गया था। सरोजकार ने उसे कर्नल टाड के 'राजस्थान' के आधार पर लिखा है किन्तु ग्रन्थ अभी तक किसी के देखने में नहीं आया। यदि उस समय ऐसे ग्रन्थ का प्रमाण मिल सके तो न केवल अलंकार शास्त्र का ही वह पहला ग्रन्थ होगा वरन् वह हिन्दी के भी सबसे प्राचीन ग्रन्थों में से होगा; किन्तु उसका कोई भी प्रमाण प्राप्य नहीं है और न उसके बाद ही कोई इस नाम का कवि मिलता है।

इस अवस्था में काव्यशास्त्र पर सबसे प्रथम लेखक 'कृपाराम' ही ठहरते हैं। कृपाराम की 'हिततरंगिणी'* रस-रीति पर सर्व प्रथम ग्रन्थ है। इसको उन्होंने दोहे छन्द में कवियों के हितार्थ लिखा था। इनके उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं, और उदाहरण सुन्दर बनाने का उनका प्रयास भी स्पष्ट है:—

> रच्यौं ग्रंथ कविमत धरे, धरे कृष्ण को ध्यान।
> राखे सरस उदाहरन, लच्छनजुत सज्ञान॥ ३॥

इनके कुछ दोहे तो किन्हीं किन्हीं संग्रहों में 'बिहारी सतसई' में मिले भी शोभित हैं।

---

१. देखिये, १. 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १, पृ० ७३, (सं० १९९४ वि०)
   २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३ (सं० १९९७ वि०)

२. देखिये, शिवसिंह 'सरोज' पृ० १, (भूमिका)।

* टिप्पणी—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' अपने "एवोल्यूशन आव् हिन्दी पोइटिक्स" में करनेस बन्दीजन की 'हिततरंगिणी' का उल्लेख करते हैं और उसका समय स० १२०० ई० के लगभग बताते हैं। सम्भवतः उनका अर्थ इसी कृपाराम की ही 'हिततरंगिणी' से है; क्योंकि करनेस ने कोई भी 'हिततरंगिणी' नहीं लिखी।

कृपाराम के वर्णन से तो ज्ञात होता है कि उनके समय तक और ग्रंथ भी रस रीति पर लिखे जा चुके थे जैसा कि उनके निम्नलिखित दोहों से प्रकट है:—

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतीयासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु ॥ २ ॥
बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यो दोहानि बिच, याते सुघर विचारि ॥ ४ ॥
अछर थोरे भेद बहु, पूरन रस कौ धाम।
हिततरगिनी नाम कौ रच्यौ ग्रन्थ अभिराम ॥ ५ ॥

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कृपाराम की 'हिततरगिणी' की रचना तिथि सं० १५९८ वि० की माघ शुक्ल ३ थी और उस समय बड़े छन्दों में अन्य कवियों की रचनाएँ भी इस विषय पर होती थीं, पर उनकी अप्राप्ति में 'हिततरगिणी' ही सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ रस रीति पर ठहरता है। यह ग्रंथ पाँच तरगों में समाप्त हुआ है। यद्यपि नायिका भेद का पूर्ण विवरण है, पर सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से यह ग्रंथ साधारण है।[1] कृपाराम का आधार प्रमुखतः भरत का नाट्य शास्त्र है जैसा कि उनकी पंक्ति—"कृपाराम यों कहत है, भरत ग्रंथ अनुमानि।"—से ज्ञात होता है; पर अन्त में स्वाधीन-पतिका आदि नायिका के दस भेदों से स्पष्ट होता है कि उसमें भानुदत्त का भी आधार है, क्योंकि भरत ने केवल आठ भेद किये हैं, दस नहीं।

इसके पश्चात् गोपा का 'रामभूषण' सम्भवतः राम के यश वर्णन के साथ अलंकार ग्रन्थ है और इनकी 'अलंकार-चन्द्रिका' में स्वतन्त्र रूप से अलंकारों का विवेचन है,[2] किन्तु इनका भी विवरण विशेष उपलब्ध नहीं। इनका समय मिश्रबन्धुओं के अनुसार सं० १६१५ वि० है पर इनका यथार्थ समय सं० १७७३ है, और जैसा खोज रिपोर्ट से पता चलता है गोपा और गोप एक ही हैं। सं० १६१६ में मोहनलाल मिश्र का 'शृङ्गार-सागर' रचा गया जो कि रस और नायिका भेद का ग्रन्थ है।

कृष्ण भक्त और अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास की लिखी 'रसमंजरी' भी नायिका-भेद का ग्रंथ है जिसमें नायक नायिका भेद, हाव, भाव, हेलादिक का वर्णन है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है—

---

१. देखिये, 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १, पृ० २४७।

२. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १ पृ० ३०१ (द्वितीय संस्करण) खोज रि० ११०१।

एक मीत हमसों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं सुन्यों।
अरु जो भेद नाइक के गुने, तेहू मैं नहिं नीके सुने॥

— — — — —

हाउ भाउ हेलादिक जिते, रति समेत समझावहु तिते।[1]

इस नायिका भेद के वर्णन में नन्ददास ने एक 'रसमंजरी' का ही आधार लिया है जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है—

रसमंजरि अनुसारि कै नन्दसुमति अनुसार।
बर्णत बनिता भेद जहँ, प्रेमसार विस्तार॥

यह रसमंजरी, जैसा कि नन्ददास-ग्रंथावली के सम्पादक पं० उमाशंकर शुक्ल का मत है, भानुदत्त की 'रसमंजरी' ही है क्योंकि इनके उदाहरणों में भानुदत्त की 'रसमंजरी' के पद्य उदाहरणों का रूपान्तर मात्र ही दीख पड़ता है,[2] इसमें शास्त्रीय विवेचन का अभाव है। गद्य-व्याख्या का, जो भानुदत्त की 'रसमंजरी' में निरूपण के उद्देश्य को लेकर लिखी गई, कोई स्थान इस ग्रन्थ में नहीं। उद्देश्य केवल प्रेम-रस निरूपण ही है, जैसा कि कवि के नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है—

बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।
चरनहीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय॥

इसके पश्चात् करनेस के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक अलंकार[3] पर लिखे गये ऐसे ग्रंथ हैं जिन्हें हम केशवदास के पूर्व की काव्य शास्त्र पर उपलब्ध सामग्री के अन्तर्गत रख सकते हैं। करनेस बन्दीजन 'मिश्रबन्धु विनोद' के अनुसार नरहरि के साथ दरबार में जाया करते थे।[4] इनके ग्रंथों का और विवरण अलभ्य है। इन सभी लेखकों का काव्य शास्त्र के दृष्टिकोण से अथवा प्रभाव के विचार से कोई विशेष महत्व नहीं है। यद्यपि इन्होंने रीतिकालीन शास्त्रीय ग्रंथों की शृङ्खला को कुछ और प्रारम्भिक कड़ियों से जोड़ दिया है किन्तु यथार्थतः सबसे पहले और महत्वपूर्ण आचार्य केशवदास ही हैं और ये सब ग्रंथ बहुत ही साधारण हैं।[5]

---

१ देखिये 'नन्ददास ग्रन्थावली' प्रथम भाग पृ० ३६ ( सं० उमाशंकर शुक्ल )

२ देखिये पं० उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित 'नन्ददास-ग्रन्थावली' प्रथम भाग पृ० ६३ ( प्रथम संस्करण )।

३ देखिये पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २४१।

४ देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १ पृष्ठ ३२४ सं० १६१४

५ ,, ,, ,, भाग १ ,, ३४७ ,,

## आचार्य केशवदास

हिन्दी काव्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण लेखकों में केशवदास का नाम अग्रगण्य है। वे सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्रधानतया काव्यशास्त्र पर लिखा। अपने समय में और सम्पूर्ण रीतिकाल भर में केशव का स्थान एक आचार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। न केवल आचार्य, वरन् कवि के रूप में भी केशव की प्रसिद्धि हिन्दी-साहित्य के रसिकों के बीच आधुनिक काल के प्रारम्भ तक रही। अतः उसी प्रभाव और प्रसिद्धि की परम्परा को स्थापित रखनेवाली जनता के लिये यह एक आश्चर्य की बात हुई कि हिन्दी-साहित्य के आचार्य की ख्याति में वर्तमान समय की आलोचना के द्वारा इतना बट्टा लगे। यथार्थ में केशव का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण कविता करना और कवियों को शिक्षा देना था, गम्भीर शास्त्रीय रीति से काव्यांगों का विवेचन कर कोई सिद्धान्त खड़ा करना नहीं। उसका कारण यह था कि केशव का उद्देश्य न तो काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों का गहराई के साथ विवेचन करना ही था और न रस को बहानेवाली कविता लिखना ही, वरन् संस्कृत के ज्ञान भंडार को सामने रखना ही उन्हें अभीष्ट था।

केशव चमत्कार को माननेवाले आलंकारिक सिद्धान्त पर श्रद्धा रखते थे अतः इन्होंने प्राचीन संस्कृत के आलंकारिकों भामह, दण्डी, उद्भट आदि को ही अपने विवेचन का आधार बनाया। आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रंथ आधार नहीं बन सके। किन्तु केशवदास के पश्चात् चिन्तामणि के साथ-साथ जो परम्परा, रीति-ग्रंथकारों की चली उनके लिये आधार 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि ही थे। अतः प्रधानतया रीति परम्परा ने केशव के द्वारा ग्रहण किया हुआ आधार स्वीकृत नहीं किया।[1]

इसका यह अर्थ नहीं है कि केशव का समकालीन और परवर्ती कवियों पर प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ विद्वान् मानते हैं कि केशव की आचार्यता को किसी भी लेखक ने नहीं माना और श्रीपति इत्यादि ने उनके शास्त्रीय विवेचन में दोष तक निकाले हैं।*

---

१. देखिये पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २८१

* It also a fact that Keshava a great Master or writer of poetics with sufficient originality could not attract people to follow him There is hardly to be found any poet or scholar of Hindi who is ready to recognise the authority and accepts his view on Poetics (not to say this, scholars like Sripati have criticised him and have tried to show his work on poetics as faulty)

However he has been allowed a very high place in the field of Hindi literature"

Evolution of Hindi Poetics"

by Dr Ram Shanker Shukla

हमें इस कथन पर विचार कर लेना चाहिए। केशव के काव्यशास्त्र पर विचार, जो 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में मिलते हैं, अधिकांश तो संस्कृत ग्रन्थों के ही हैं। उनका कोई मौलिक विचार और सिद्धान्त इस विषय में नहीं बताया जा सकता। अतः उनके मत से सहमति और विरोध की बात नहीं उठती। केशवदास का महत्व संस्कृत के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्र के विषयों पर लक्षण-उदाहरण पूर्ण ग्रन्थ लिखने की परम्परा डालने में है और इसमें वे सफल हुए। आगे कम से कम २०० वर्ष तक उसका बड़ा प्रचार रहा और परवर्ती लेखकों ने केशव के यथार्थ विचारों को चाहे मान न लिया हो परन्तु उनकी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' को कवि लोग और बड़े-बड़े आचार्य तक पढ़कर ही ग्रन्थ लिखने का साहस करते थे। चिन्तामणि ने अपनी 'शृंगार मंजरी' ग्रन्थ में स्वयं अनेक संस्कृत ग्रन्थों के साथ-साथ 'रसिक प्रिया' को उन ग्रन्थों की सूची में रक्खा है जिनको पढ़कर, जिनका आधार लेकर उन्होंने ग्रन्थ रचना की। और भी अनेक लेखकों ने ऐसा ही किया है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' को पठनाधार स्वीकृत करना, आचार्यत्व का एक अंग समझा जाता था। अतः केशव को प्रसिद्ध आचार्यों में परिगणित करने में सभी सहमत थे।

फिर भी यह हमें मानना पड़ता है कि केशव का कार्य अधिक गम्भीरता से हुआ नहीं था। संस्कृत-साहित्य केशव का पढ़ा हुआ था, किन्तु वे उसके गम्भीर विद्वान् नहीं थे। संस्कृत के ज्ञान के आधार पर हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने का उनका उद्देश्य था और राज्याश्रय प्राप्त कर कवि और आचार्य दोनों ही बनने का ध्येय था। इस प्रकार एक साथ दो घोड़ों की सवारी ने केशव को एक का भी अधिकारी न होने दिया। लक्षण लिखने में भी वे चमत्कारमय शब्दों का प्रयोग करते हैं। कवि के कार्य पर वे कहते हैं:—

'चरण धरत चिन्ता करत, नींद न भावत शोर।
सुबरण को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर॥'

—(कविप्रिया)

काव्यशास्त्र के अनेक नियमों को केशव ने स्पष्ट रूप से नहीं कहा है उनका यथा तथ्य अनुवाद भी नहीं किया है, और उदाहरण भी प्रायः निर्दोष हो जाते हैं। लक्षण लिखते समय उनके मन में यह भावना रहती है कि स्पष्ट न लिखकर उन्हें काव्य-चमत्कार से पूर्ण बनावें और उदाहरण लिखते समय एक से अधिक अर्थ या एक से अधिक उद्देश्य सिद्ध करें। इसीलिये कोई भी काम पक्का नहीं बन पाया।

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत दो प्रकार की बातें रहती हैं :—एक तो काव्य सिद्धान्त सम्बन्धी, दूसरी काव्य कला सम्बन्धी। दूसरी प्रकार की बातों के आधार पर काव्य सिद्धान्त बनते हैं और काव्य के सिद्धान्त काव्य कला के उदाहरणों द्वारा पुष्ट और प्रमाणित भी होते हैं। रीतिकालीन शास्त्रीय ग्रन्थों में हम पहले प्रकार की वस्तुओं की अपेक्षा दूसरे प्रकार के उदाहरण ही अधिक पाते हैं।

केशवदास का महत्व वस्तुतः इस बात में है कि उन्होंने सबसे पहले काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला। केशवदास ने, चाहे उनकी रचना कितनी ही अपूर्ण हो, संस्कृत आचार्यों के द्वारा प्रमाणित काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर विचार किया है। और संक्षेप में लक्षण कहकर उनको अपने द्वारा ही हिन्दी में बनाये उदाहरणों से युक्त किया है। केशव की मौलिकता बहुधा उदाहरणों में और कहीं-कहीं नये वर्गीकरण में देखी जा सकती है।[1]

केशवदास का उद्देश्य बहुत कुछ हिन्दी का प्रचार करना कहा जा सकता है और जैसा कि 'कविप्रिया' ग्रन्थ से पता चलता है उनका स्पष्ट ध्येय यह था कि काव्य का आनन्द शास्त्रीय ढंग से सभी लोग प्राप्त कर लें। इसलिये 'कविप्रिया' का प्रणयन हुआ। इस प्रकार से 'कविप्रिया' के अन्तर्गत सामग्री आलोचक और विचारक के काम की उतनी नहीं जितनी साधारण लेखकों के। स्पष्ट है :—

समुझै बाला बालकहु, बर्णन पन्थ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध।
—( कविप्रिया, प्रभाव ३ )।

अपनी दो परम प्रसिद्ध पुस्तकों, 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में केशव, काव्य शास्त्र के इन अंगों पर प्रकाश डालते हैं :—भाषा का काव्य और कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उसका उद्देश्य, कवियों के प्रकार, काव्य रचना के ढंग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्यदोष, अलंकार, रस, विभिन्न वृत्तियाँ इत्यादि। इन सब विषयों के अन्तर्गत केशवदास कविता कला अर्थात् कविता लिखने की चतुराई का विश्लेषण करते हैं और लिखने की इच्छा वालों को हिकमतें बताते हैं। सरस्वती का वर्णन वे शब्दशक्ति के रूप में पौराणिक ढंग पर करते हैं जिसके द्वारा हम केशव के विचारों को समझ लेते हैं, पर उसे हम काव्य मीमांसा के अन्तर्गत नहीं रख पाते। केशव

१—देखिये 'कविप्रिया' में दोषों का वर्गीकरण।

का विचार है कि वाणी के दो वर्ण, ह्रस्व और दीर्घ सुकवि के मुख में आकर काव्य भवनों को खड़ा करते हैं :—

'बानी जू के बरन जुग, सुबरन कन परमान।
सुकवि सुमुख कुरुखेत परि, होत सुमेर समान।'

दो वर्णों का अर्थ यदि ह्रस्व और दीर्घ है तो छन्दशास्त्र की ही भवनावली निर्मित हो सकती है किन्तु सुकवि के मुख के सम्पर्क से तात्पर्य संगीत और अर्थ दोनों का गौरव भी हो सकता है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि शब्दों की शक्ति है किन्तु कवि की प्रतिभा की शक्ति भी विचित्र है। केशव के विचार से कविता दोषहीन होनी चाहिए जिस प्रकार गंगा का पवित्र पानी थोड़ी सी मदिरा के संसर्ग से अपवित्र हो जाता है इसी प्रकार मित्र, स्त्री और कविता भी किंचितमात्र दोष आजाने पर आकर्षण और प्रभाव को खो देते है।[1]

कविया के प्रकार पर विचार करते हुए केशव कहते हैं कि तीन प्रकार के कवि, और तीन प्रकार की मति, भावना के आधार पर होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम कवि हरि-रस में मग्न रहते हैं, मध्यम मनुष्यों में और अधम दोषों में तल्लीन रहते हैं।[2] इस प्रकार प्रथम प्रकार के कवि परमार्थ की प्रेरणा करते हैं, और अधम प्रकार के स्वार्थ की। मध्यम प्रकार की कविता क्रिया में दोनों प्रकार का सामंजस्य रहता है। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक होगा कि केशव का यह कथन हिन्दी काव्य के लिये अधिकांश उपयुक्त बैठता है। तुलसीदास ने भी काव्य के यथार्थ उद्देश्य के विषय में ही यह कहकर अपना मत प्रकट किया हैं—

कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

हिन्दी काव्य में यथार्थ में अन्य और गुणों के साथ यही कविता का मापदण्ड रहा है।

1. देखिये कविप्रिया ( प्रियाप्रकाश, प्रकाश ३, छन्द १-२ )
2. केशव तीनहुँ लोक में त्रिविध कविन के राय।
मति पुनि तीन प्रकार की पर्वत सब सुख पाय॥
उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥
—कविप्रिया, चतु० प्रभाव, छन्द १२

वर्णन के ढंग पर केशवदासजी कहते हैं कि अधिकांश तीन प्रकार के वर्णनों का समावेश काव्य में होता है। प्रथम तो वह जिसमें कुछ विरोधी सच्ची बातों का वर्णन नहीं किया जाता जैसे चन्दन के फलफूल का वर्णन कवि नहीं करते और कृष्ण पक्ष के प्रकाशयुक्त भाग और शुक्ल पक्ष के अन्धकार का वर्णन नहीं करते यद्यपि दोनों का परिमाण बराबर रहता है।[1] दूसरे वह जिसमें असत्य सत्ता का वर्णन होता है जैसे जहाँ भी समुद्र-वर्णन कवि करते हैं वहाँ सभी को रत्नाकर कहते हैं और छोटे-छोटे तालाबों में भी हंसों का वर्णन करते हैं[2] और तीसरे कुछ परम्परा से आनेवाली रूढ़ियों या कवि-प्रसिद्धियों का वर्णन होता है चाहे उन्हें किसी ने देखा हो चाहे न देखा हो।[3] इन तीनों के निर्देश द्वारा केशव का विचार यह कदापि नहीं था कि कवि को अपने मन से सत्यता का वर्णन करना चाहिये। उनका यथार्थ उद्देश्य यही है कि कविता में इस प्रकार की बातें भी कवि स्वतन्त्रता के अन्तर्गत हैं फिर भी केशव के द्वारा इन बातों को सामने रक्खी जाने से उन पर विचार किया जा सकता है और कोई भी व्यक्ति इससे यह भी ग्रहण कर सकता है कि इनको छोड़, नये कवियों को नये पथ को ग्रहण कर चलना चाहिये। केशव के विचार से प्रतिभा या कवि की कल्पना पर ही काव्य का सौन्दर्य निर्भर करता है।

---

१. केशवदास प्रकाश बहु, चन्दन के फल फूल।
   कृष्ण पक्ष की जोन्ह ज्यों, शुक्ल पक्ष तम मूल॥

२ जहँ जहँ बरनत सिन्धु सब, तहँ तहँ रतननि लेखि।
   सूधन सरवरहू कहैं केशव हंस विशेषि।

३. देखिये कविप्रिया प्रभाव ४, ११वें दोहे के आगे।

टिप्पणी—कविप्रिया का यह चौथा प्रभाव केशवमिश्र के 'अलंकारशेखर' तथा अमरचन्द्र की 'काव्य कल्पलतावृत्ति' के आधार पर है। विशेष विवरण के लिये देखिये—अलंकारशेखर पष्ट रत्न, काव्यकल्पलतावृत्ति प्रतान १, स्तबक-५, पृ० ६१-११० तथा 'केशव की काव्यकला' ले० कृष्णशंकर शुक्ल पृ० १८६-१८७, सं० १९९० संस्करण।

यथार्थ में 'अलंकारशेखर' और 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के क्रमशः कविसम्प्रदाय और कवि-समय वाले प्रसंगों की तुलना करने पर ऐसा जान पड़ता है कि कुछ शब्दों के हेरफार को छोड़कर दोनों एक हैं। 'काव्यकल्पलता', 'अलंकारशेखर' से पुराना ग्रंथ है और कविशिक्षा

केशव के विचार से वस्तुएँ केवल यथार्थ रूप में मन पर सौन्दर्य युक्त नहीं होतीं। वस्तु का यथार्थ सौंदर्य काव्यगत सौन्दर्य नहीं होता वरन् कल्पना की आँखों से देखी जाने पर ही और कवि की प्रतिभा का संसर्ग प्राप्त कर ही उनमें अद्भुत सौंदर्य जग जगती है। बहुतेरी वस्तुएँ जो कि देखने में इतनी सुन्दर नहीं, कवि के कोमल, कल्पनायुक्त वर्णन की छाया में अपूर्व शोभाशालिनी हो जाती हैं। इसीलिये केशव ने अनेक स्थानों पर बाहुल्य के साथ उत्प्रेक्षालंकार का प्रयोग करके इसका प्रकट किया है। 'रामचंद्रिका' में सीता के मुख का वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

"देखे मुख भावै अनदेखे ही कमलचन्द्र ताते मुख मुखै सखी कमलौ न चंद री'

यहाँ पर केशव का स्पष्ट विश्वास यही है कि चन्द्र और कमल प्रत्यक्ष इतने सुन्दर नहीं हैं जितना कवियों की कल्पना ने उन्हें सुन्दर बना दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि केशव कवि कल्पना का अधिक महत्त्व देते थे और वक्रोक्ति अर्थात् कथन की विशेषता ही कविता का प्राण समझते थे (जैसा कि रामचंद्रिका की नई नई सूझों युक्त वर्णनों से स्पष्ट है ) और वस्तुओं का स्वाभाविक और यथातथ्य वर्णन नहीं। हमें सर्वत्र ही केशव की कविता के विवेचन में उनके उपर्युक्त काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त को ध्यान में अवश्य रखना चाहिये।

*काव्य-दोष:*—

'कविप्रिया' के तीसरे प्रभाव में केशव ने काव्य दोषों का वर्णन किया है। इसमें उन्होंने दोषों की संख्या १८ मानी है। उनके नाम हैं:—

| | | |
|---|---|---|
| अंध, | बधिर, | पगु, |
| नग्न, | मृतक, | अगन, |
| हीनरस, | यतिभंग, | व्यर्थ, |
| अपार्थ, | हीनक्रम, | कर्णकटु, |
| पुनरुक्ति, | देशविरोध, | कालविरोध, |
| लोक विरोध, | न्याय विरोध | और आगम विरोध। |

---

पर महत्त्व का भी। अतः सम्भव है कि 'अलंकारशेखर' और 'कविप्रिया' दोनों के रचयिता केशवों का 'काव्यकल्पलता' ही एक स्रोत या आधार रही हो 'काव्यकल्पलता' स्वयं राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से आधार प्राप्त करती जान पड़ती है। 'काव्यकल्पलता' के सूत्र, अरिसिंह द्वारा और वृत्ति, अमरचन्द यति द्वारा रची गई थी —लेखक

दोषों की सख्या भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न मानी है और वे, हो भी अनेक सकते हैं। केशव के अधिकाश दोष[1] दडी के 'काव्यादर्श' के आधार पर हैं। पहले के पाँच दोषों के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये केशवद्वारा की अपनी उपज हैं किन्तु ये सभी काव्य दोष नहीं जान पड़ते।

इस सम्बन्ध में 'केशव की काव्यकला' में प० कृष्णशकर शुक्ल ने लिखा है कि—"मृतक दोष केशव ने वहाँ माना है जहाँ वास्तव में कोई अर्थ न हो परन्तु जब तक शब्दों का कुछ अर्थ न निकले तब तक काव्य की सज्ञा ही नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में मृतक दोष काव्य का दोष नहीं है। अलकाररहित कविता को केशव ने नग्नदोषयुक्त माना है। सस्कृत के प्राय' अधिक आचार्यों की सम्मति है कि अलकार, काव्य की शोभा वृद्धि में सहायक तो अवश्य होते हैं परन्तु ये काव्य के अनिवार्य धर्म नहीं हैं। अलकारों की योजना के बिना भी काव्य हो सकता है। यही बात मम्मट ने 'अनलकृती पुन' क्वापि' के द्वारा व्यक्त की है। दडी ने भी अलकारों को काव्य का अनिवार्य अग नहीं माना है। उनकी अलकारों की साधारण परिभाषा से ही यह ध्वनि निकलती है। वे कहते हैं—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते।' ऐसे ही आचार्य वामन की सम्मति है। ऐसी अवस्था में केशव का नग्नदोष भी व्यर्थ हो जाता है। पगुदोष के

1. व्यर्थ, अपार्थ, कालविरोध, आगम विरोध इत्यादि के लक्षण और उदाहरण दंडी के काव्यादर्श के यही दोष, तथा गतिभग दडि का यतिभग, लोकविरोध कलाविरोध एव अगन, वृत्तभग है। देखिये तुलना के लिये काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद तथा 'केशव की काव्य कला' पृ० १८४—१८९।

आचार्य दडी द्वारा निर्धारित 'काव्य दोष' नीचे के श्लोकों में व्यक्त है —

"अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससशयम प्रक्रमम्।
शब्दहीन यतिभ्रष्ट भिन्नवृत्तं विसधिकम्॥ १२५
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इतिदोषा दशैवेते वर्ज्या काव्येषु सूरिभि ॥ १२६
तथा —काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद।

अध बधिर अरु पग तजि नग्न मृतक मति शुद्ध।
अध विरोधी पथ को, बधिर सु शब्द विरुद्ध॥ ७
छदविरोधी पंगु गनि, नग्न जु भूषण हीन।
मृतक कहावे अर्थ बिनु, केशव सुनहु प्रवीन॥ ८

अन्तर्गत, छन्दोभंग यतिभंग इत्यादि दोष आ जाते हैं। केशव का बधिर-दोष दंडी के ग्राम्यता-दोष से मिल जाता है। अन्ध-दोष वहाँ माना गया है, जहाँ कवि को, कवि-सम्प्रदाय में एक प्रकार से मान ली गई बातों का ज्ञान नहीं होता।" [१]

यहाँ पर यदि विचारपूर्वक देखें तो अंध-दोष, बधिर-दोष और नग्न-दोष तो ठीक हैं पर मृतक व्यर्थ है और पंगु का समावेश यतिभंग के अन्तर्गत हो सकता है। नग्न-दोष केशव के विचार से दोष है। यह बात दूसरी है कि विद्वानों के अधिकांश ने अलंकार को आवश्यक न माना हो जैसे मम्मट, विश्वनाथ इत्यादि; पर पूर्ववर्ती आचार्य जैसे दंडी जब कहते हैं कि 'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' तब अलंकार से हीनता काव्य की शोभा-हीनता तो अवश्य है और शोभाहीनता, जिसके लिये शोभा ही जीवन हो, उसके लिये दोष अवश्य है। केशव का विश्वास तो था ही कि—

'भूषन बिना न शोभहीं कविता वनिता मित्त'

अतः यह काव्य-दोषों के अन्तर्गत आ जाता है। यह दूसरी बात है कि इस अलंकार से हीन काव्य को काव्य की संज्ञा दे सकते हैं। अतः अलंकार न होना एक कमी हो सकती है। फिर जब रसहीनता एक दोष है तो केशव की दृष्टि से अलंकारहीनता भी। हाँ, अर्थहीन शब्दों को हम काव्य ही नहीं कह सकते इसलिये दोष काहे का।

'कविप्रिया' में वर्णित इन दोषों के अतिरिक्त केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस-दोषों

---

अगन न कीजै हीनरस, अरु केशव यतिभंग।
व्यर्थ अपारथ हीन क्रम, कवि कुल तजो प्रसंग॥ १०
देश विरोध न बरनियै, कालविरोध निहारि।
लोक न्याय आगमन के, तजौ विरोध विचारि॥ ११

—कविप्रिया तीसरा प्रभाव।

*व्यर्थ का उदाहरण*

केशव :—एक कवित्त प्रबन्ध में अर्थ विरोध जु होय।
पूरब पर अनमिल सदा, व्यर्थ कहैं सब कोय॥

दंडी.—एके वाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापर पराहतम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेसु पठ्यते॥ १२॥

—काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद।

केशव का उदाहरण दंडी के व्यर्थ-दोष का अनुवाद ही है। इसी प्रकार और भी।

१. देखिये कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्यकला' पृ० १८३-१८४

का भी वर्णन किया है जिसको केशव ने 'अनरस' की संज्ञा दी है। ये हैं - प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट।[1] इनमें केशव के अनुसार 'प्रत्यनीक' वहाँ होता है, जहाँ पर विरोधी रस जैसे शृङ्गार बीभत्स, रौद्र करुणा आदि एकत्र हों। 'नीरस' वहाँ होता है जहाँ प्रेम का प्रकाशन केवल मौखिक रूप में हो हृदय में प्रेमानुभूति न हो, 'विरस' वहाँ होता है जहाँ पर शोक के वायुमंडल में आनन्द विलास का वर्णन हो, 'दुःसंधान' वहाँ होता है जहाँ पर एक की अनुकूलता और दूसरे की प्रतिकूलता का वर्णन हो, और 'पात्रादुष्ट' वहाँ होता है जहाँ पर जैसा समझे वैसा न वर्णन करके अनसमझे कुछ का कुछ वर्णन करे। उपर्युक्त वर्गों पर विचार करने से जान पड़ता है कि यह रस दोष के प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नहीं हैं। ध्यान से देखें तो प्रत्यनीक, विरस, दुःसंधान आदि विरोधी भावों के आधार पर ही हैं।

*केशव का अलंकार-वर्णन*

केशवदास काव्य में अलंकार को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि चाहे कितनी ही अच्छे लक्षणवाली क्यों न हो कविता, स्त्री की भाँति बिना भूषणों के सुशोभित नहीं होती।

> यद्यपि जाति सुलच्छणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
> भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥
>
> —( कविप्रिया ९ ५ )

वर्तमान काल में चाहे वनिता और कविता, दोनों के ही लिए केशव का विचार मान्य न हो पर उनके समय इसकी धूम थी। अलंकारों को केशव, दो रूपों में विभाजित करते हैं—१. साधारण और २. विशिष्ट; किन्तु वे इन दोनों की न परिभाषा देने का कष्ट करते हैं और न व्याख्या ही करते हैं, केवल इसे परम्परागत मान्यता के रूप में ही ग्रहण कर लेते हैं—

> कविन कहे कवितान के अलंकार द्वै रूप।
> एक कहैं साधारणै एक विशिष्ट स्वरूप ॥

साधारण अलंकार को हम प्रचलित अर्थ में अलंकार नहीं मान सकते यह कवि-

---

[1] प्रत्यनीक, नीरस, विरस, केशव दुःसंधान।
पात्रादुष्ट, कवित्त बहु, करहिं न सुकवि बखान ॥

—रसिकप्रिया प्रकाश १६-१।

लिखा है। यह यथार्थ में काव्यगत वस्तु वर्णन का ही स्वरूप है, जिसके कारण आवश्यक वस्तु का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जावे। केशव ने इसके चार भेद किये हैं[1] :— वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री। जिनका वर्णन क्रमशः कविप्रिया के पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें प्रभावों में है।

१. वर्ण के अन्तर्गत सात रंगों का वर्णन है। एक रंग विशेष के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ यथार्थ या कथित मानी गई हैं उन सबका केशव निर्देश करते हैं और कविता में उनके उदाहरण भी देते हैं।

२. वर्ण्य के अन्तर्गत केशव ने एक गुण—विशेष रखनेवाली वस्तुओं के नाम गिनाये हैं। कुछ गुण ये हैं—

सम्पूर्ण, आवर्त, मंडल, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त, तीक्ष्ण, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, शीतल, तप्त, सुरूप, क्रूर, मधुर, अबल, बलिष्ठ, अगति, सदागति, दानी आदि। इन गुणों को रखनेवाली जो वस्तुएँ हैं उनका निर्देश केशव ने उदाहरणों में किया है।[2]

३. भूमिश्री के अन्तर्गत वस्तु तथा देश, प्रान्तर आदि का वर्णन आता है। जैसे देश, नगर, उपवन, पर्वत, आश्रम, नदी, पोखर, तड़ाग, सरोवर, प्रभात, चन्द्र, समुद्र तथा छः ऋतुएँ आदि। लेकिन इनके उदाहरण वस्तुओं के यथार्थ वर्णन नहीं बन पाये हैं। उनमें भी सामान्यालंकार न रहकर श्लेष इत्यादि अनेक विशेषालंकार भरे पड़े हैं।

४. राज्यश्री वर्णन में आने वाली वस्तुओं की एक सूची केशव देते हैं जिनका उल्लेख राज्यश्री के अन्तर्गत होना आवश्यक है वे हैं:—

राजा, रानी, राज-सुत, प्रोहित, दलपति दूत।
मंत्री, मंत्र, प्रयान हय, गय संग्राम अभूत।
आखेटक जल केलि पुनि, बिरह स्वयंबर जानि।
भूषित सुरतादिकनि करि राजश्रीहि बखानि॥

—कविप्रिया ८

---

१. सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण वर्ण्य भू राजश्री भूषन केशवदास॥

—कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव

किन्हीं ग्रंथों में सामान्यालंकार के आधार 'काव्यकल्पलतावृत्ति' का प्रथम प्रतान (पंचम स्तवक) और अलंकारशेखर के षष्ट रत्न की २, ३, ४ मरीचियाँ हैं।—लेखक

२. देखिये कविप्रिया षष्टम् प्रभाव।

इन सभी को हम कवि शिक्षा के अन्तर्गत रख सकते हैं। इनके आधार स्वरूप ग्रन्थ अमरचन्द की 'काव्यलता वृत्ति' के प्रथम व चतुर्थ वितान तथा अलंकार शेखर के सोलहवें सत्रहवें प्रकरण विशेष रूप से हैं।[1] वास्तव में जैसा पहले लिखा जा चुका है अलंकारशेखर भी अधिकांश 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर ही है।

अलंकारों का यथार्थ वर्णन 'विशिष्टालंकार' के अन्तर्गत ही आता है जो कविप्रिया के ९-१५ प्रभावों में विस्तृत हैं। सर्व प्रथम अलंकारों का कार्य बताने की दृष्टि से केशवदास उनके नाम गिनाते हैं और कहते हैं कि इतने अलंकारों का प्रयोग भाषा को सजाने के लिये करना चाहिए। इन अलंकारों की संख्या ३७ हैं। प्रायः इनके अलंकारों का वर्गीकरण और नाम, यहाँ तक कि इनकी परिभाषा भी आगे आने वाले आचार्यों से भिन्न है। ९ वें प्रभाव में ६ अलंकारों—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष और उत्प्रेक्षा—का वर्णन है। स्वभावोक्ति का लक्षण और उदाहरण वही है जो औरों का। केशव ने इसके दो भेद—रूपवर्णन और गुणवर्णन—माने हैं। केशव के विचार से, वस्तु

---

१. अलंकार शेखर— शैलेमहौषधी धातु वंश किन्नर निर्झरा।
शृंगपादगुहारत्न बनजीवाद्युपत्यका॥ ६-२

कविप्रिया तुंग शृंग दीरघदरी सिद्ध सुन्दरी धातु।
सुर नर युत गिरि बरनिये औषध निर्झरपातु॥

अलंकार शेखर देव्याः सौभाग्यलावण्य शील शृंगार मन्मथा।
त्रपाचातुर्यं दाक्षिण्यप्रेममानव्रतादयः॥ ६ २

कवि प्रिया सुन्दरि सुखद पतिव्रता, सुचि रुचि शील समान
यहि विधि रानी बरनिये सलज सुबुद्धि निधान॥

काव्य कल्पलता—(१) शैलेमहौषधी धातु वंश किन्नर निर्झरा।
शृंगपाद गुहारत्नवनजीवाद्युपत्यका॥ ६६
—का० वृ० प्रतान १ स्तवक ५

(२) देव्यां विज्ञान चातुर्यं त्रपाशीलव्रतादय।
रूपलावण्य सौभाग्य प्रेमशृंगारमन्मथा॥ २७
—का० वृ० प्र० १ स्तवक ५

टिप्पणी—ये प्रसंग काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर—दोनों में लगभग एक ही शब्दावली में वर्णित हैं।

की सुन्दरता और गुणों का, जैसे वे किसी वस्तु मे हैं वैसे ही वर्णन करना स्वभावोक्ति है। 'विभावना' जो कार्य व कारण के सम्बन्ध पर निर्भर रहने वाला अलकार है, केशव ने दो भेदों मे वर्णित किया है प्रथम जब कि कारण की अनुपस्थित में कार्य हो और दूसरा जब कारण दूसरा और कार्य दूसरा हो। इसी अध्याय में आने वाला 'विशेषालंकार' जिसका लक्षण केशव ने यह दिया है:—

साधक कारनै विकल जहँ, होय साध्य की सिद्धि।
केशवदास बखानिये, सो विशेष परसिद्धि।

अर्थात् अपूर्ण कारण से कार्य-सिद्धि हो, वहाँ विशेष अलंकार है। ध्यान से देखो तो यह 'विभावना' का ही एक भेद लगता है। 'विशेष' अलंकार यथार्थ में जहाँ पर बिना आधार के ही आधेय रहे[1] उसे कहते हैं अथवा अचानक एक वस्तु में अनेक हों अथवा कुछ काम करते हुए, दैववश किसी आवश्यक कार्य की सिद्धि हो जाय। अतः यह केशव का 'विशेष', 'विशेषालंकार' से भिन्न ही जान पड़ता है।

'हेतु' के केशव ने दो भेद दिये हैं—

१. सभाव और २. अभाव

जो दंडी के 'कारक' और 'ज्ञापक' हेतु के दो भेदों में 'कारक' के दो उप-भेदों के आधार पर दिये गये जान पड़ते हैं।[2] उसका उदाहरण भी 'विभावना' का सा है। केशव ने 'विरोध' और 'विरोधाभास' दोनों को कहा है। परन्तु 'विरोध' के प्रथम उदाहरण में पहली और तीसरी पंक्तियों मे जहाँ 'विरोध' है वहीं तीसरी और चौथी पंक्तियों में 'विरोधाभास' है। 'विरोध' का दूसरा उदाहरण भी विभावना' का सा ही हो गया है। 'उत्प्रेक्षा', केशव के विचार से वहाँ होता है जहाँ कवि, किसी वस्तु को कुछ दूसरी वस्तु होने की कल्पना करता है। उनके उदाहरणों में उत्प्रेक्षा से अधिक अन्य अलंकार प्रमुख है।

---

१. देखिये साहित्य दर्पण ( विश्वनाथ कृत )

यदाधेयमनाधारमेकंचानेकगोचरम्।
किंचित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्यवा
कार्यस्यकरणंदवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः॥

—१० परि० १३-७४।

२ देखिये काव्यादर्श—द्वितीय परिच्छेद, २४६ वाँ छन्द।

इसके पश्चात् 'आक्षेपालंकार' के वर्णन में कविप्रिया का पूरा १०वाँ प्रभाव लगा दिया गया है। इसको उन्होंने बारह भेदों में रखा है। इनमें से ६ भेदों के नाम दंडी के अनुसार हैं। दंडी ने इसके २४ भेद किये हैं। भावी, भूत वर्तमान के अतिरिक्त केशव के विचार से—

प्रेम, अधीरज, धीरजहु, संशय, मरण, प्रकास।
आशिष, धरम, उपाय कहि, शिक्षा केशवदास।

ये आक्षेप के भेद हैं। केशव ने वास्तविक निषेध को ही 'आक्षेप' अलंकार मान लिया है जबकि अलंकार निषेधोक्ति की चमत्कृता पर निर्भर रहता है।

११वें प्रभाव के अन्तर्गत केशवदास ने क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वि, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक तथा अपह्नुति अलंकारों का वर्णन किया है। 'क्रम' और 'गणना' अलंकारों की परिभाषायें स्पष्ट नहीं हैं। 'क्रम' अलंकार दंडी और मम्मट के 'क्रम' से भिन्न होकर अधिकांश आचार्यों के 'शृङ्खला' अथवा 'एकावली' अलंकार से साम्य रखता है। 'गणनालंकार' तो विशिष्टालंकार न रहकर साधारण वस्तु वर्णन सा हो गया है। आशिष, प्रेम, ऊर्जस्वि, रसवत् अलंकारों में प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत आचार्यों के मतों में भिन्नता है। केशव ने प्राचीन अर्थात् दंडी, भामह आदि के अनुसार इनके लक्षण उदाहरण दिये हैं।

'श्लेष' केशव का बहुत प्रिय अलंकार है। संस्कृत साहित्य में भी श्लेषालंकार अधिकांश कवियों की रचना में विशेष महत्व रखता है। 'राघवपाण्डवीय' नामक काव्य पूरा श्लेष में ही लिखा गया है। केशव के उदाहरण अपने आश्रयदाता रामसिंह की प्रशंसा के लिये भी उपयुक्त हैं और उदाहरण भी हैं। केशव ने इसके भिन्न-पद अभिन्न-पद, अभिन्न क्रिया, विरुद्धकर्मा, नियम श्लेष, विरोधी श्लेष, भेद किये हैं। केशव का काव्य भी श्लेषालंकार से भरपूर है। 'सूक्ष्मालंकार' चतुराई के साथ इङ्गिता से बात करने में माना गया है। 'श्लेषालंकार' के लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। यह अधिकांश आगे के लेखकों के 'युक्ति' अलंकार से मिलता जुलता है। निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक अपह्नुति अलंकार भी केशव के प्रिय अलंकारों में से हैं। 'अर्थान्तरन्यास' के तीन भेद और 'व्यतिरेक' के दो भेद केशव ने किये हैं।

बारहवें प्रभाव में उक्ति का वर्णन है। उक्ति, कथन का ढंग विशेष है, जो सभी अलंकारों के मूल में है, पर केशव ने इसे एक अलग अलंकार माना है। यह पाँच प्रकार की है। केशव ने लिखा है—

वक्र, अन्य, अधिकरण कहि और विशेष समान।
सहित सहोक्ति में कही, उक्ति सु पंच प्रमान॥

इनमें व्यधिकरण-उक्ति, असंगति अलंकार से साम्य रखता है। इनके अतिरिक्त व्याज-स्तुति, अमित, पर्यायोक्ति आदि अलंकार भी इसी 'प्रभाव' में वर्णित हैं।

अगले प्रभाव में समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका और परिवृत्ति अलंकारों का वर्णन है। उदाहरण ही लक्षणों को स्पष्ट करते हैं। 'विपरीतालंकार' में उदाहरण कुछ त्रुटिपूर्ण हैं क्योंकि दूती को साधन के रूप में पहले नहीं दिखाया। 'विरुद्ध' अलंकार 'रूपकातिशयोक्ति' की भाँति जान पड़ता है। दीपक को केशव दो भेदों—मणि दीपक और माला दीपक—में वर्णित करते हैं। जैसा आगे के आचार्यों ने नहीं किया है। इस प्रकार केशव के अलंकार वर्णन में अपनी विशेषता है।

१४वाँ प्रभाव, 'उपमालंकार' में ही समाप्त होता है। केशव ने २२ प्रकार की उपमाओं का वर्णन किया है जिसमें से अधिकांश कुछ हेरफार से दंडी की ३२ उपमाओं से मिलती-जुलती हैं।[1] इनमें से मोहोपमा भ्रान्ति से; संशयोपमा सन्देह से; अतिशयोपमा अनन्वय से; संकीर्णोपमा ललितोपमा से तथा विपरीतोपमा वक्रोक्ति से साम्य रखती हैं। कुछ में तुलना का आधार न होने हुए भी केशव ने उपमा माना है जैसे विपरीतोपमा।

१५वें प्रभाव में 'यमक' का विस्तृत वर्णन है। यमकालंकार के भेद केशव ने दो आधारों पर किये हैं। प्रथम तो उसके प्रभाव और बुद्धि-ग्राह्यता के आधार पर भेद हैं—सुखकर और दुखकर। सुखकर वह है जो सरलता से ही समझा जा सके और दुखकर जो कठिनता से, इसके पश्चात् दूसरा आधार यमक में पदों के क्रम पर है। इसका प्रथम भेद 'अव्ययेत' वह है जहाँ यमकपूर्ण पद एक दूसरे के बाद आते हैं, और दूसरा 'सव्ययेत' वह है जहाँ पर और शब्द इस प्रकार के पदों के बीच आ जाते हैं। फिर पंक्तियों के आधार पर जिनमें यमकपूर्ण पद आते हैं, अन्य और भी भेद किये गये हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण आगे के लेखकों में अप्राप्य है। ये भेद दंडी के अनुसार हैं पर केशव उनको भाषा में नहीं अपना सके।

---

१. देखिये केशव की काव्य कला पृ० २०२, २०३

तथा

"उपमा के जो २२ भेद केशव ने रक्खे हैं उनमें से १२ ज्यों के त्यों दंडी के हैं ८ के केवल नाम और भेद बदल दिये हैं शेष रहे दो भेद संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनमें विपरीतोपमा को तो उपमा कहना ही व्यर्थ है।"

—रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५२

१६वें प्रभाव में 'चित्रालंकार' का विवरण दिया है। इसमें एक मस्तिष्क का व्यायाम सा ही है। केशव का कथन है कि 'चित्रालंकार' से समुद्र में बड़े-बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति गोता खाने लगते हैं; इसलिये वे कुछ का ही वर्णन करते हैं और अन्त में केशव इस बात की चेतावनी देते हैं कि चित्रालंकार रसहीन होता है। इसमें यति, अन्ध, बधिर, अगन आदि दोष नहीं गिने जाते। इनमें ब के स्थान पर व और य के स्थान पर ज ग्रहण किया जा सकता है। 'चित्रालंकार' के अनेक भेदों पर केशव ने लिखा है।

केशव की 'कविप्रिया' में हमें अलंकारों के वर्गीकरण की बात विशेष रूप से मिलती है। उक्ति, उपमा, तुलना, यमक ( शब्द की आवृत्ति, ) श्लेष ( बहुअर्थता ) विरोध, कार्य-कारण का सम्बन्ध आदि आधार हैं जिनपर केशव ने उन्हें रक्खा है। केशव शायद उसका वर्गीकरण और सुदृढ़ आधार पर कर सकते, यदि उनके सामने 'कवि प्रिया' पुस्तक को एक स्त्री के रूप में १६ प्रभाव रूप, १६ शृङ्गारों में विभक्त करने की काव्यात्मक कल्पना विद्यमान न होती।

*केशव का रस-विवेचन —*

केशव का रस वर्णन कृष्ण और राधा का रस वर्णन है, मनुष्य मात्र के अन्तर्गत होने वाली रसानुभूति का विश्लेषण नहीं है जैसा कि उनके कथन "नवरस में ब्रजराज नित" से प्रकट होता है। इस प्रकार पाठक की दृष्टि से नहीं मानों रस में मग्न राधा और कृष्ण के ही रसानुभव को वे प्रकाशित करते हैं। केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस को विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव कहा है।[1] यथार्थ में 'रसिकप्रिया' का उद्देश्य 'कविप्रिया' से भिन्न है। 'कविप्रिया' साधारण लोगों एवं नौसिखियों के लिए है किन्तु 'रसिकप्रिया' काव्य रसिकों के लिए। जैसा कि नीचे के दोहे से स्पष्ट है —

अति रति गति मति एक करि विविध विवेक विलास।
रसिकन को रसिकप्रिया, कीन्ही केशवदास॥

इसी कारण आगे आने वाले विद्वानों ने भी 'रसिकप्रिया' का ही उल्लेख विशेष किया है 'कविप्रिया' का कम।

केशव ने भावों और हावों की परिभाषा एवं विवरण ६ठे प्रकाश में दिया है। उन्होंने पहिले नवरसों के नाम दिये हैं और उसके पश्चात् सबसे प्रमुख शृङ्गार का वर्णन

---

१. देखिये रसिक प्रिया प्रकाश १ २

किया है। केशव के विचार से शृंगार रस वहाँ होता है जहाँ पर प्रेम का अनुभव और उसका चतुराई से प्रकाशन पाया जावे। संयोग और वियोग के वर्णन के साथ साथ केशव ने लगभग प्रत्येक को 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' दो भागों में बाँटा है। यथार्थ में प्रच्छन्न को तो रस की संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती क्योंकि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों द्वारा व्यक्त होता है तभी रस की दशा में पहुँचता है। अतः यह भेद उपयुक्त नहीं है। आगे के आचार्यों में हमें यह भेद देव को छोड़कर नहीं मिलता।

दूसरे 'प्रकाश' में नायक के लक्षणों और उसके अनुकूल, दक्ष, शठ, धृष्ट आदि प्रकारों का तथा तीसरे प्रकाश में नायिका-जाति का वर्णन है। इसमें पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी; स्वकीया, परकीया, सामान्या; फिर स्वकीया में मुग्धा के नवलवधू, नवयौवना, नवल अनंगा, लज्जा प्राइ; मध्या के आरूढ़यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा, रतिविचित्रा तथा प्रौढ़ा के समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, अक्रामित-प्रौढ़ा, लब्धापति और धीरा, अधीरा, धीराधीरा आदि प्रकारों का वर्णन है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं। इसी प्रकार से और वर्णन हैं। चौथे प्रकाश में दर्शन, पाँचवें में चेष्टा और सातवें में अष्ट नायिकाओं तथा मान आदि का वर्णन किया गया है।

छठवाँ प्रकाश भावों तथा हावों के वर्णन में लगाया गया है। भाव की परिभाषा केशव ने बड़ी स्वच्छन्दता के साथ की है।'मुख, नेत्र और वचनों के मार्ग से जो मन की बात प्रकट होती है वही भाव है।'[1] यह भाव की बड़ी व्यापक और साधारण परिभाषा है। इसके आधार पर केशव ने पाँच प्रकार के भाव कहे हैं:—विभाव, अनुभाव, स्थायी, सात्विक तथा व्यभिचारी।[2] केशव का विभावों का लक्षण शास्त्रीय नहीं है। केशव कहते हैं कि जिनसे संसार में अनायास ही अनेक रस प्रकट होते हैं उन्हें विभाव कहते हैं।[3] विभावों से रस प्रकट होते हैं यह केशवदास ही कह सकते हैं। रस उत्पन्न है वह जिसका सहारा लेता है उसे आलम्बन और जिससे उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन और उद्दीपन के जो अनुसरण हैं वही अनुभाव हैं, ऐसा केशव का विचार है। यहाँ परिभाषा स्पष्ट नहीं है। अनुसरण का अर्थ बाद में काम करनेवाले ही लिया जा सकता

---

१. देखिये रसिकप्रिया ६ प्र० १

२. ,, ,, ६ प्र० २

३. ,, ,, ६ प्र० ३

है, स्थायी और सात्विक भावों के तो केवल, केशव ने नाम ही गिनाये हैं। व्यभिचारी की भी परिभाषा केशव ने अपने ढग पर दी है—"जो भाव सभी रसों में उपजते हैं और बिना नियम के हैं उन्हें व्यभिचारी कहते है।'[1] हावों की परिभाषा तो और भी अपूर्ण है।

इस प्रकार केशव ने इन सभी के नाम गिनाकर केवल इनका परिचय भर दिया है, विवेचन कुछ भी नहीं है। केशव, अनुभाव और सात्विक भावों के दो वर्ग करते हैं किन्तु उसका स्वय कोई कारण तथा एक का दूसरे से अन्तर स्पष्ट नहीं करते। इस सम्बन्ध मे 'रसिकप्रिया' के प्रसिद्ध टीकाकार सरदार कवि कहते हैं कि दोनों में अन्तर यह है कि सात्विक भाव रस-विशेष के नहीं होते। उनसे हम यह पता नहीं लगा सकते कि क्या रस है, पर अनुभावों से रस विशेष का निर्देश हो जाता है।[2] किन्तु केशव ने अपने लक्षण या वर्गीकरण में कहीं भी यह कारण प्रकट नहीं किया। हावों के वर्णन में १२ हाव, हेला, लीला, ललित, मद, विभ्रम विहित, विलास, किलकिंचित्, विच्छित्ति, बिब्बोक, मोट्टाइत्त और कुट्टमित के अतिरिक्त वे १३वां हाव 'बोध' भी मानते हैं। यह ऐसा ही है जैसा सूक्ष्मालकार है। किसी गूढ भाव का बोध हो वहां यह हाव केशव ने माना है।

वियोग शृगार को केशव ने चार भेदों मे वर्णित किया है:—पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास। वियोग की दश अवस्थायें—अभिलाषा, चिन्ता, आदि केशव ने पूर्वानुराग की ही अवस्थायें मानी हैं, प्रवास की नहीं। करुणा रस और करुणा विरह म अन्तर केशव ने समझाया है। जहाँ पर प्रेम के कारण विरहानुभूति या दुख होता है वहाँ विरह और जहाँ पर किसी विपत्ति या मरण के कारण दुखानुभूति होती है, वहाँ करुणारस होता है। प्रवास-विरह से प्रेम की परिपक्वता प्राप्त होती है। और विरह की यथार्थ अनुभूति इसी में होती है। इसकी चार अवस्थायें केशव ने मानी हैं। प्रथम

---

१. देखिये रसिकप्रिया प्र० ६, ११६

२ देखिये सरदार कवि की ६वें प्रकाश के १४वें छन्द की टीका।

"अरु सात्विक को अनुभाव को इतनो भेद है सात्विक रस को ज्ञापक नहीं जैसे कंप स्तम्भ स्वेद भयो तो या नहीं जानी जात कि भय ते या क्रोध ते है याते न्यारो है अरु अनुभाव ते जान परत याते भयो है याते रस के सब पाँच अंग कहे।"

—रसिकप्रिया पृ० ७१, ७२, नवल किशोर प्रेस।

अवस्था तो वह होती है जब वियोगी अपने प्रिय से अलग होता है परन्तु उसके बिना रहना अच्छा नहीं लगता। दूसरी अवस्था मर्नाभ्रम की है जिसमें प्राकृतिक पदार्थों को देखकर संयोग के दिना की स्मृति आती है और वह दुःख का कारण होती है। कोयल की कूक पागल बना देती है, शीतल वायु विरही को अधीर कर देती है। रात भयानक होती है। तीसरी अवस्था अनिद्रा की होती है। निद्रा में दुःख भुलाया जा सकता है परन्तु इस अवस्था में निद्रा भी छिन जाती है। चौथी अवस्था विरह निवेदन की है जिसमें विरही किसी के द्वारा अपनी विरह-दशा का सदेशा प्रिय के पास भेजता है।

बारहवें और तेरहवें प्रकाश में सखी और उनके कार्यों का वर्णन है और इसके बाद चौदहवें में हास्य, करुणा, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, रौद्र, शान्त—शेष रसों का वर्णन है। हास का केशव ने मद हास, कलहास, अतिहास, और परिहास चार प्रकारों में वर्णन किया है, किन्तु उदाहरणों में हास्य की भावना जाग्रत नहीं होती। प्रिय के अनिष्ट से करुणा रस उत्पन्न होता है यथा "प्रिय के विप्रिय करणते आन करुण रस होत," जिसके दो अर्थ हो सकते हैं प्रिय कोई अनचाही बात करता है अथवा प्रिय का अनिष्ट कोई करता है। कुछ भी हो केशव का विचार इस रस में पूर्णता लिये नहीं है क्योंकि करुणा का प्रभाव केवल प्रिय ही के अनिष्ट से नहीं होता अपरिचित के अनिष्ट से भी करुणा जाग्रत हो जाती है। इसी प्रकार अन्य रसों का वर्णन बड़े ही संक्षेप में है।

पन्द्रहवें प्रकाश में वृत्तियों का वर्णन है। केशवदास के अनुसार जिस शैली में कुछ रसों का वर्णन हो सके, वही वृत्ति है। इन्होंने कैशिकी, आरभटी सात्वती, भारती आदि वृत्तियाँ तो कह डाली हैं पर वृत्ति की परिभाषा नहीं दी है। यथार्थ में नाट्यादि में नायक-नायिका के व्यापार को वृत्ति कहते हैं।[1] केशव ने यह नहीं बताया उन्होंने काव्य की ही वृत्तियों में बाँधा है। नाटक को नहीं।

"बाँधहु वृत्ति कवित्त की कहि केशव विधि चारि।"

केशव के विचार से कैशिकी में करुणा, हास, शृङ्गार का वर्णन, सरल वर्णों में होता है। भारती में वीर, अद्भुत, हास का शुभ अर्थ में वर्णन होता है, आरभटी में रौद्र, भयानक, बीभत्स का यमक इत्यादि में वर्णन होता है, और सात्वती में अद्भुत, वीर, शृङ्गार, शान्त का इस प्रकार वर्णन होता है कि सुनने ही समझ में आ जावे। इस प्रकार भारती जो कि साहित्य दर्पण के अनुसार धर्मी रसों में है यथा—

---

1. देखिये साहित्य दर्पण षष्ठ परि० १२२, १२३

शृंगारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुन ।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ ६, १२१

केशव के अनुसार भिन्न है। वृत्ति केशव के अनुसार रस वर्णन की शैली जान पड़ती है।

१६वें अर्थात् अन्तिम परिच्छेद में रस दोषों का वर्णन है जिन पर दोष के प्रकरण में विचार हो चुका है।

इस प्रकार केशवदास का महत्व सबसे प्रथम आचार्य होने के कारण ही है। केशव बड़े लेखकों में तो हैं ही किन्तु विषय प्रतिपादन की दृष्टि से केशव का काव्य शास्त्र के विषयों का विवेचन भी उतना ही विशृङ्खल है जितनी कि 'रामचन्द्रिका' की प्रबन्ध धारा। (केशव के पश्चात् से रीतिकाव्य की परम्परा भी नहीं चल पाई। हाँ यह सत्य है कि इनके द्वारा उस दिशा की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ और संस्कृत काव्यशास्त्र का अध्ययन चल पड़ा। सम्भवतः उस समय संस्कृत के अधिक विद्वान् हिन्दी-लेखकों में न होने के कारण केशव के ग्रन्थों का आदर अधिक रहा, किन्तु यथार्थ में रीति परम्परा, चिन्तामणि त्रिपाठी से प्रारम्भ होती है[1]। चिन्तामणि त्रिपाठी के ग्रंथों में केशव के ग्रंथों से स्पष्टता विशेष शास्त्रीय विवेचन और वैज्ञानिक आधार के साथ साथ स्पष्टता है। उदाहरण भी सुन्दर और उपयुक्त हैं। चिन्तामणि के साथ के लेखकों के आधार-ग्रंथ केशव की भाँति भामह दंडी उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थ नहीं, वरन् बाद वाले ग्रंथ जैसे काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि हैं जिनमें कि काव्यशास्त्र के अंगों का पूर्ण विस्तार के साथ विवेचन है। इन ग्रंथों तक आते आते काव्य के सिद्धान्त पूर्ण स्पष्ट हो चुके थे। अलंकारों में भी आधार 'काव्यादर्श' न होकर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' हो गये थे। इसलिये अब आचार्यों में स्पष्टता हिन्दी के उदाहरणों को लेकर लिखने का ही ध्येय था और वह चिन्तामणि में हमें पूर्ण रूप से मिलता है।

## सुन्दर कवि का 'सुन्दर शृंगार'

केशव और चिन्तामणि के बीच में एक ग्रंथ आता है जिसका उल्लेख आधार स्वरूप ग्रंथों में चिन्तामणि ने अपनी 'शृङ्गार मञ्जरी' में किया है। वह है 'सुन्दर शृङ्गार'। 'सुन्दर शृङ्गार' के लेखक सुन्दरकवि शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और उन्होंने सं० १६८८ में यह ग्रंथ रचा था।

---

१. देखिये पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास पृ० २८२, १९९७ वि० संस्करण

संवत् सोरह सै बरस बीते अट्ठासीति।
कातिक सुदि षष्ठी गुरुहिं रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति ॥

पुस्तक में केवल शृङ्गार-रस का वर्णन है। शृङ्गार-रस रसों में सर्वश्रेष्ठ है और नायक-नायिका शृंगार के मुख्य अंग हैं, अतः सुन्दर कवि नायिका-भेद को ही लेकर चलते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य शास्त्रीय निरूपण नहीं जान पड़ता, वरन् शृङ्गार-रस को साधारण लोगों को समझाने का ही लक्ष्य है:—

सुरबानी याते करी, नरबानी में ल्याय।
जाते मगु रसरीति को, सब ते समझो जाय ॥ [1]

नायिका भेद में साधारणतः प्रसिद्ध, नायक नायिका भेदों का वर्णन है। इसी के अन्तर्गत अनुराग के प्रसंग में वे दो प्रकार का अनुराग-दृष्टानुराग और श्रुतानुराग वर्णन करते हैं। उसके पश्चात् व्यापक रूप से शृंगार-रस के दो भेदों का वर्णन है। भाव की परिभाषा अधिकांश केशव की भाव की परिभाषा से मिलती जुलती है, जोकि भाव को मुख, आँखों व वचनों द्वारा मन की बात, का प्रकाशन मानते हैं। शृङ्गार विषय होने के कारण सुन्दर कवि लिखते हैं:—

सुन्दर मूरति देखि, सुनि, चित में उपजै चाव।
प्रगट होई दृग भौंह ते ते कहियत हैं भाव ॥ २०२ छन्द

'सुन्दरशृङ्गार' ग्रंथ में आठ सात्विक भावों और १६ प्रकार के हावों का वर्णन है। इसमें भी केशव का 'बोध' हाव नहीं है यद्यपि उनके वर्णन से इसमें ३ हाव तपन, मौग्ध्य और हाव अधिक हैं। विप्रलंभ शृङ्गार का वर्णन भी उसी ढंग का है जैसा केशव का। दश दशाओं में उन्होंने नौ दशाओं का वर्णन किया है और दसवीं मृत्यु का नहीं। उद्दीपन का भी विस्तृत वर्णन है। इसमें विवेचन विशेष नहीं, फिर भी लक्षण और उदाहरण हैं स्पष्ट। लक्षण दोहा या दोहरा ( हरिपद ) छन्द में दिये हैं और उदाहरण कवित्त एवं सवैया में। इसमें शृङ्गार-रस का पूरा वर्णन है पर संचारी छोड़ दिये गये हैं। शृङ्गार-रस के विवेचन करने वाले ग्रंथों में यह अग्रगण्य है। सुन्दर को महाकवि की भी उपाधि मिली थी और इनकी काफी ख्याति थी। अतः प्रारम्भिक कुछ ग्रन्थों में परिगणित होने के साथ ही दरबार के कारण भी इस ग्रंथ की प्रसिद्धि बहुत हो गई थी।

---

[1] देखिये 'सुन्दरशृङ्गार' छन्द १६४

# इ—रीतिकालीन काव्यशास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन

## रीतिपरम्परा का प्रारम्भ और विकास

रीतिकाल, सं० १७०० से १६०० वि० तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने माना है। इसी काल में हिन्दी काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की रचना प्रचुर रूप से हुई है। सुन्दर महाकवि के बाद और कोई कवि ऐसा नहीं मिलता जिसने चिन्तामणि के पहले काव्य-शास्त्र पर लिखा हो। चिन्तामणि का जन्म यद्यपि १६६६ सं० के लगभग माना जाता है पर यथार्थतः उनका रचनाकाल सं० १७०० वि० ही से प्रारम्भ होता है। अतः रीति-काल का प्रारम्भ इन्हीं से मानना उचित है। इसके अतिरिक्त, पद्धति और प्रणाली की दृष्टि से भी केशव की चलाई परम्परा आगे न बढ़ पाई, और चिन्तामणि के बाद ही उन्हीं की पद्धति पर आगे के कवियों ने लिखा। अतः रीतिकालीन काव्यशास्त्र का ही नहीं वरन् रीति-परम्परा का प्रारम्भ चिन्तामणि से ही मानना अधिक उपयुक्त है।

### आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी

चिन्तामणि त्रिपाठी की गणना, केशव के बाद के सबसे पहले आचार्यों में ही नहीं, सबसे पहले बड़े आचार्यों में होनी चाहिए। उनका जन्म हिन्दी के इतिहासकारों ने अनुमानतः सं० १६६६ वि० के लगभग और रचना काल १७०० वि० के लगभग माना है।[1] ये नागपुर के भोंसला राजा मकरन्द शाह के दरबार में थे उनके लिए इन्होंने अपना ग्रन्थ 'पिंगल' जिसमे छन्दों का स्पष्ट रीति से वर्णन है, लिखा जैसा कि नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है :

> चिन्तामनि कवि को हुकुम कियो साहि मकरन्द।
> करौ लच्छि लच्छन सहित भाषा पिङ्गल छन्द ॥[2]

साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इनके 'काव्य विवेक', 'कविकुलकल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'पिंगल', 'रामायण' और 'रसमंजरी' नामक ग्रंथों का उल्लेख किया है। प्रथम पाँच का

---

१. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग २, पृष्ठ ४०८
तथा 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २६२

२. राज पुस्तकालय दतिया में लेखक द्वारा देखी प्रति से।

उल्लेख शिवसिंह के आधार पर है[1]। 'मिश्रबन्धु विनोद' में यह उल्लेख है कि 'कविकुल कल्पतरु' और 'पिंगल' मिश्रबन्धुओं का देखा है और 'रसमंजरी' नामक ग्रंथ नागरी प्रचारिणी की प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट के अनुसार है। अन्य ग्रंथों में 'काव्यविवेक' एवं 'काव्य प्रकाश' के देखे जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। हिन्दी के इतिहासकारों ने शिवसिंह और मिश्रबन्धु के आधार पर उपर्युक्त ग्रन्थों का उल्लेख तो किया है पर कोई विशेष परिचयात्मक अथवा विवेचनात्मक विवरण ग्रन्थों का नहीं मिलता। 'कविकुल कल्पतरु' और 'रसमंजरी' का भी सम्यक् परिचय और विवेचन न तो शिवसिंह 'सरोज' और मिश्रबन्धु 'विनोद' में है और न अन्य इतिहासग्रन्थों में ही।

शुक्लजी के इतिहास में रीतिकालीन कवियों का विवरण अधिकांश मिश्रबन्धु 'विनोद' के आधार पर है और यत्र तत्र कुछ विवेचन को छोड़कर कोई नवीन सूचनायें भी नहीं हैं। इन रीतिकार कवियों का सम्यक् इतिहास लिखने का कष्ट किसी भी लेखक ने अभी तक नहीं उठाया। रीतिकालीन अधिकांश कवियों और विशेषकर काव्य शास्त्र पर लिखनेवाले कवियों के ग्रन्थ आजकल के प्रकाशकों अथवा पुस्तक विक्रेताओं के यहाँ भी नहीं मिलते। ये तो प्रायः नागरी प्रचारिणी सभा जैसे संग्रहालयों और विशेषकर राज पुस्तकालयों में ही मिलते हैं। पर चिन्तामणि के 'काव्यविवेक', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रंथों का पता उनमें भी नहीं मिलता। दतिया के राज पुस्तकालय में इनके तीन ग्रंथ ('कविकुलकल्पतरु' 'शृंगार मंजरी' और 'पिंगल') इस निबन्ध के लेखक ने देखे हुए हैं और उन्हीं के आधार पर इसका अगली पंक्तियों में विवरण है। 'रसमंजरी' जिसका उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की प्र० त्रै० रि० में है, सम्भवतः यही 'शृंगार-मंजरी' हो जो (भानुदत्त कृत) 'रस मंजरी' के आधार पर ही है।

कविकुलकल्पतरु—

कविकुलकल्पतरु[2] का रचना काल सं० १७०७ है। इसमें चिन्तामणि ने २१५ साधारण आकार से बड़े पृष्ठों में काव्य गुण, अलंकार, दोष, शब्दशक्ति आदि प्रमुख

१. देखिए मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृष्ठ ४०१।
तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ११२।

२. दतिया राज-पुस्तकालय में प्राप्त पुस्तक के आधार पर जो जनवरी सन् १८७५ ई० में नवलकिशोर के पत्थर के छापेखाने (पाषाण यन्त्रालय) में पं० महेशदत्त के द्वारा छपी थी।

और महत्व पूर्ण काव्यशास्त्र के अंगों पर प्रकाश डाला है। इसमें लगभग सभी काव्यांगों का वर्णन है। इसका आधार अनेक संस्कृत के ग्रन्थ हैं जिनका सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त चिन्तामणि ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया और उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी काव्य का विवेचन किया जैसा कि नीचे के कथन से प्रकट है :—

जो सुरवानी ग्रन्थ हैं तिनको समुक् विचार।
चिंतामनि कवि कहत हैं, भाषा कवित विचार॥

फिर भी इसका अधिकांश आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' है।

चिन्तामणि की परिभाषायें बड़ी स्पष्ट हैं और बोलचाल की भाषा में हैं। काव्य का लक्षण देने में वे विश्वनाथ के साहित्य दर्पण की 'वाक्य रसात्मकम् काव्यम्' परिभाषा का आधार लेते हुए कहते हैं :—

'बतकहाउ रसमैं जु है कवित्त कहावै सोय'

और इसी दोहा में आगे चलकर कहते हैं कि काव्य दो भाँति का है गद्य और पद्य :—

'गद्य पद्य द्वै भाति को सुरवानी में सोय।'

इससे स्पष्ट है कि चिन्तामणि के समय तक हिन्दी में गद्य काव्य का अभाव तो था ही, जो कुछ हिन्दी में गद्य था उसे काव्य की संज्ञा देना भी स्वीकृत न था। यह भेद संस्कृत के काव्य के आधार पर है। यह बात उनके इसके बाद वाले गद्य व पद्य की परिभाषा बताने वाले दोहे से भी स्पष्ट है :—

'छन्द निबद्ध सुपद्य कहि, गद्य होत बिनु छन्द।
भाषा छन्द निबद्ध सुनि, सुकवि होत सानंद।'

चिन्तामणि का विश्वास है कि भाषा में छन्द-बद्ध काव्य को ही लिखकर और पढ़कर आनन्द प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में उस समय गद्य लेखन का विचार ही अंकुरित नहीं हुआ था। 'कविकुलकल्पतरु' ग्रन्थ में वे छन्द का विचार नहीं करते और यथार्थ में वह काव्य शास्त्र के क्षेत्र से अलग है जैसा कि पहले बताया जा चुका है। उसके लिए वे अपने ग्रन्थ 'पिंगल' के देखने के लिए कहते हैं।

मेरे पिङ्गल ग्रंथ ते समुझै छन्द विचार।
रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुधि अनुसार॥

इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि इनका 'पिंगल' ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' की रचना के पूर्व ही निर्मित हो चुका था ।

भाषा-शास्त्र का विवेचन प्रारम्भ करने के पूर्व वे एक बार फिर काव्य या कविता या कविता की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहते हैं:—

सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ ।
शब्द अर्थ वारौ कवित विबुध कहत सब कोइ ॥

इस परिभाषा में स्पष्टतया मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की परिभाषा[1] की छाया है। केवल इस परिभाषा में अन्तर यह है कि (मम्मट 'अनलङ्कृती पुनक्वापि', अलंकार से हीन भी काव्य मानते हैं परन्तु चिन्तामणि उसे 'अलंकार सहित' ही रखते हैं) इस प्रकार इन्होंने रस व अलंकार दोनों को महत्व दिया है। इसके साथ ही काव्य का स्वरूप पूर्ण रीति से स्पष्ट किया है। कवित पुरुष को लोक रीति के रूप में[2] वर्णित किया गया है और उसी कवित पुरुष के विभिन्न अंगों के वर्णन में काव्य मीमांसा भी है।

गुणों का वर्णन सर्वप्रथम है। गुणों के वर्णन में भी बड़ी स्पष्टता है। चिन्तामणि के विचार से माधुर्य गुण, संयोग शृङ्गार में सुखद और चित्त को द्रवित करनेवाला होता

---

१ 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि' ।
—काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास, सू० १

२. जे रस आगे के धरम ते गुन बरने जात ।
आतम के ज्यों सूरतादिक निहचल अवदात ॥ ८
सबै अर्थ लघु धरियें, जीवित रस जिय जानि ।
अलंकारहारादि ते उपमादिक, मन आनि ॥ ९
श्लेषादिक गन सूरतादिक से माने चित्त ।
बरनौ रीति सुभाव ज्यों वृत्ति वृत्ति सो मित्त ॥ १०
पद अनगुन विश्राम सो सज्जा सज्जा जानि ।
रस आस्वादन भेद जे पाक पाक से मानि ॥ ११
कवित पुरुष की साज सब समझ लोक की रीति ।
गुन विचार अब करत हौं, सुनौ सुकवि करि प्रीति ॥ १२
—श्रीमत्कविकुल भूषण चिन्तामणि विरचित कविकुल कल्पतरु ।

है, किन्तु वही माधुर्य वियोग, करुण, और शांत में भी अधिक विशेषता के साथ प्रकट होता है। अतः यह कविता का सार है—

जो संयोग शृङ्गार में सुखद द्रवावे चित्त।
सो माधुर्य बखानिये, यह ही तत्व कवित्त॥
सो संयोग शृङ्गार तें करुण मध्य अधिकाय।
विप्रलम्भ अरु सांतरस तामें अधिक बनाय॥

इसी प्रकार ओज गुण के लक्षण और उसके आधारभूत रसों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

दीप्ति चित्त विस्तार को हेतु ओज गुन जानि।
सु तौ वीर वीभत्स अरु रौद्र क्रमादिक मानि॥[1]

इसके उपरान्त उन्होंने प्रसाद गुण को बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। जैसे सूखे ईंधन को आग में डालने से आग स्वभावतः प्रवेश करती है और जैसे स्वच्छ जल में अपने आप तरलता झलकती है ऐसे ही प्रसाद गुण में अर्थ, अक्षर के साथ ही झलकता है।[2] चिन्तामणि के विचार में इन्हीं तीन गुणों में से कहीं किसी के छिप जाने से, कहीं दोषों के अभाव से और कहीं एक से अधिक गुणों के आने से दस गुण होते हैं; अतः उन्होंने दस गुणों का वर्णन नहीं किया। इतना ही नहीं, वे कौन अक्षर, कौन मात्रायें, किस रूप में, किस गुण में आवश्यक हैं इसका भी पूरा विवरण देते हैं जहाँ पर जिस आचार्य के विचार से कोई बात कहते हैं उसका भी उल्लेख है। आगे की परिभाषा मम्मट के आधार पर देते हुये वे लिखते हैं—

पद आरोहारोह सो जोग समाधि प्रकार।
ऐसे ओजहिं गनत हैं मम्मट बुद्धि विचार।

('ओज' गुण में संयुक्ताक्षर का विशेष प्राधान्य रहता है उदाहरणार्थ—

इक पक फल खात इक कूदत किलकति भक्ति।
चिन्तामनि बलवन्त इक धावत अद्भुत गत्ति॥

— कविकुलकल्पतरु पृष्ठ ५-२५ छं०

---

१. देखिये दीप्त्यात्म विस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थितिः॥ ६६

—काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास

२. सूखे ईंधन आगि, ज्यों स्वच्छ नीर की रीति।
झलके अक्षर अर्थ जो सो प्रसाद गुन मीति॥

यह पूरा वर्णन मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के ही अधिकांश आधार पर है।

दूसरा अध्याय शब्दालंकारों का है। चिन्तामणि के विचार से शब्द और अर्थ दो प्रकार की गतियों के कारण शब्द और अर्थ दो प्रकार के अलंकार होते हैं।

'शब्द अर्थ गतिभेद सों अलंकार द्वै भाँति।'

इसमें अलंकारों की परिभाषायें और उदाहरण दोनों ही स्पष्ट और सुन्दर हैं। 'वक्रोक्ति' की परिभाषा देखिये—

और भाँति के वचन को और लगावे कोइ।
कै श्लेष कै काकु सों वक्रोक्ति हैं दोइ॥

उदाहरण — गुरु परवस परदेश पिय, आयो ललित बसंत।
अलि कुल कोकिलता बिना, नहिं एहैं सखि कंत॥

इसी अध्याय के अन्तर्गत उन्होंने 'वृत्ति' और 'रीति' का भी वर्णन किया है।

तीसरे अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन है इसमें भी उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। चिन्तामणि इसके पश्चात् चौथे, पाँचवें, छठे अध्यायों में क्रमशः दोष, नायिका भेद, हाव भाव आदि का विवरण देते हैं। सातवें अध्याय में शृङ्गाररस का वर्णन है और आठवें अध्याय में अन्य आठ रसों का। सभी रसों का उनके विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि अंगों के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार इसमें काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों का वर्णन है। विचार की मौलिकता के कारण से इसका महत्व चाहे न हो, पर विषय के स्पष्ट विवेचन और पूर्णता का महत्व इसमें अवश्य है। इसका अधिकांश लक्षणों और उदाहरणों दोनों में, आधारग्रन्थ मम्मट का 'काव्य प्रकाश' है, यद्यपि 'साहित्य दर्पण' और 'दशरूपक' आदि ग्रंथों से भी सहायता ली गई है।

*शृंगारमंजरी*

चिन्तामणि त्रिपाठी का दूसरा प्राप्त ग्रन्थ 'शृङ्गारमंजरी' है।[1] यह नायिका भेद का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने शाहिराज के पुत्र बड़े साहिब अकबर साहि के नाम पर, उन्हीं के लिए बनाया था। ग्रन्थ के अंत या प्रारम्भ में चिन्तामणि ने

---

१. इसकी हस्तलिखित रूप में लेखक ने दतिया के राजपुस्तकालय में देखा था और उसी के आधार पर इसका विवरण है।

अपना नाम नहीं लिखा, वरन् बड़े साहिब का ही नाम लिखा है। पुस्तक का अन्त इस प्रकार है :—

"इति श्रीमन् महाराजाधिराज मुकुटतटघटि मनि प्रभाराजिनी राजित चरन राजीव साहिराज गुरूराज तनुज साहि बडे साहिब अकबर साहि विरचिता शृंगारमजरी समाप्ता।"[1]

किन्तु ग्रन्थ के अन्तर्गत छन्दों मे चिन्तामणि का नाम आता है अत यह निष्कर्ष निकलता है कि चिन्तामणि त्रिपाठी ने इसे बडे साहिब अकबर साहि के नाम से लिखा जिससे यह प्रगट होता है कि चिन्तामणि को अकबर का भी राज्याश्रय प्राप्त था। ये उस के समकालीन थे और 'शृङ्गारमजरी' की रचना सं० १६६२ वि० के पहले हुई होगी। किन्तु यह बात ऐसी नहीं ; बडे साहिब अकबर साहि, गोंड राजा मकरन्दसाह के वंशज, सम्भवत: पौत्र थे।*

कवि चिन्तामणि नाम प्रायः ग्रन्थ के अधिकाश छन्दों मे आया है। उदाहरणार्थ अपने आश्रयदाता की बड़ाई मे वे कहते हैं:—

सहस बदन होहिं जग में सकल जीव बदन बदन जो सहस रसना धरै।
सब रसनानि में जो सारदा बिराजै गुन पारहिं न पावै कोटि कलप करयो करै॥
(?)सीर पातसाहि साहिराज के सूरज गुनगन ना करत कर पानि पूर सों भरै॥
(?) चिन्तामनि कवि सो बड़ाई बडे साहिब की एक रसना सों कौन भाँतिन कही परै।

दूसरा छन्द उनकी ही प्रशंसा का देखिये जिससे कि यह चिन्तामणि की रचना स्पष्ट होती है:—

---

1. 'कविकुल कल्पतरु' के ६ठे प्रकरण के १८१, १८६, १८७ छन्दों में चिन्तामणि 'शृङ्गारमजरी' का उल्लेख करते हैं। अत. यह कविकुल कल्पतरु से पूर्व की रचना है। उदाहरणार्थ—

"प्रोषित भर्तृका को लक्षण। शृङ्गारमंजरी यथा
प्रवत्स्यतभर्तृका और जानि। प्रवत्स्यतप्रिया पुनि और मानि।
प्रोषित भर्तृका और एक। यो तीन भाँति याकों विवेक॥ १८६
बडे साहिब अपने ग्रन्थ माँह। निर्नय कीन्हों करि बुद्धि माह।" ...
—कविकुल कल्पतरु

* देखिये 'हिस्ट्री आफ् सी० पी० एण्ड बरार, जे० जे० एन० सील।

सोहत है सन्तत विबुधनि सों मंडित कवि 'चिंतामनि' कहै सब सिद्धि
पूरन कै लाप अभिलाप सब लोगनि के जाके पंच सास सदा आवत
सुन्दर सरूप सदा सुमन मनोहर है जाको दरसन जग नैननि को
पीर पातसाहि साहिराज रत्नाकर तें प्रकटित भए हैं बड़े साहिब

इस प्रकार प्रशंसा करने के उपरान्त अब अगले छन्द में ।
'शृङ्गारमंजरी' ग्रन्थ का रचयिता माना है किन्तु 'चिन्तामनि' की छाप यहाँ

गुरु पद कमल भगति मोद मगन ह्वै सुबरन जुगत जवाहिर
निज मति ऐसी भाँति थापित करत जाते औरनि के मत लघु लागत
सकल प्रवीन ग्रथ लिखिन विचारि कहै चिंतामनि' रस के समूहनि सब
साहिराज नंद बड़े साहिब रसिक राज शृंगार मंजरी ग्रन्थ रुचिर रचत

इस से यह बात स्पष्ट है कि 'शृंगारमंजरी' बड़े साहिब के नाम ने लिखी है। चिन्तामणि के द्वारा उपर्युक्त छन्दों में मानों भूमिका के का परिचय दिया गया है। यह यहाँ भी ठीक है कि जैसे भूमिका लेखक यथार्थ कर्ता से अधिक प्रसिद्धि का व्यक्ति होता है वैसे ही कम से कम साहित्यिक चिन्तामणि अपने आश्रयदाता से अधिक प्रसिद्धि के हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। पूरा चिन्तामणि का लिखा है। इसका केवल यही तात्पर्य है कि बड़े साहिब साहि के आश्रय में चिन्तामणि ने यह ग्रन्थ लिखा जैसा कि हम अधिकांश के ग्रन्थों में देख सकते हैं। केशव ने भी अपने ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' के अन्त में

'इति श्रीमन्महाराजकुमार [illegible] विरचितायाँ रसिकप्रियायाम् रस अनरस वर्णनो नाम षोडशः प्रकाशः [illegible] 'शृङ्गारमञ्जरी' समाप्त.' ॥ इसी प्रकार प्रत्येक प्रकाश के अंत में भी है अत: यह

'शृङ्गार[illegible]थ भी इसी प्रकार चिन्तामणि त्रिपाठी का लिखा है।

[illegible]' अन्य नायिका भेद ग्रन्थों की भाँति केवल रस-युक्त कविता के नहीं है इसमें [illegible] के लिए और लक्षणों की अपूर्णता व विवेचन हीनता से युक्त ग्रन्थ इसके [illegible] र्ता ने स्वयं ही प्रारम्भिक चर्चा में सभी बातों को स्पष्ट कर दिया है। [illegible] को दूरकर, प्रसिद्ध ग्रथों के आधार पर आवश्यक और पूर्ण [illegible] प्राचीन ग्रथों में कमी है उसे दूर करते हुए लिखने की आयोजना [illegible] छन्दों में स्पष्ट की है :-

[illegible] रसिक शृङ्गारतिलक रसिकप्रिया रसार्णव प्रतापरुद्री व सुन्दर
[illegible] दीपक चिन्तामणि [illegible] काव्यप्रकाश प्रमुख ग्रंथ
[illegible] विचारि लक्षण युक्त [illegible] यदि और होहि

तीनोदाहरनानुसार नायका भेद कलित करि तिनके लच्छन लछि कलि अरु जिनि उदाहरन नाहीं तिनि के उदाहरन बनाई जिनि के नाम नाही तिनके नाम रचि युक्त नाम स्थल विषै युक्त नाम राषि बिस्तार करन स्थल विषे बिस्तार करि संक्षेप न स्थल विषै संक्षेप करि सर्व स्थल साधारन लछन के साधारन उदाहरन करि प्राचीन वीन लछननि में जे उपयुक्त उदाहरन हैं ते ते तत्त् नाइका भेद में लिषि चरचा ग्रन्थ रूप लछन उदाहरन ग्रन्थ पद्यरूप लछन उदाहरन नाइका भेद श्रृङ्गार हास्य करुना र बीर भयानक अद्भुत सात नव रसनि में श्रृङ्गार प्रधान है ताते श्रृङ्गार सालंबन भाव नायिका नायक तिनिके सहाय सख्यादिक अंगरसानुकूल सात्विक भाव पूर्वोक्त ग्रन्थ नेद पद्मिन्यादि जाति संकर भेद ऐसे प्रकार सरस आरोप विशेष निरूपियतु है।"[1]

यह एक प्रकार से प्राक्कथन के रूप में है। यहाँ एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है चिन्तामणि ने यद्यपि संस्कृत तथा हिन्दी-ग्रन्थों का आधार लिया है फिर भी उनका देश्य अपने विषय और विवेचन को पूर्ण बनाने का ही है। जैसा कि ऊपर के उद्धरण प्रकट है। जहाँ लक्षणों में कमी है वहाँ पर उनकी पूर्ति करके और जहाँ उदाहरणों में छ त्रुटि है वहाँ उसे दूर कर विवेचन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न है। अतः यह कहा जा कता है कि चिन्तामणि का प्रयत्न एक कवि की भाँति लक्षणों के आधार पर कविता ाप मारना अथवा केशव की भाँति इधर उधर के संस्कृत ग्रन्थों के हल्के अध्ययन का रिचय देना नहीं, वरन् किसी भी शास्त्रीय विवेचन को पूर्णरूप से स्पष्ट करके उसे सपुष्ट ौर सांग रूप में हिन्दी-प्रेमियों और विद्वानों के सामने रखना है। इसी लगन के कारण ी उनका आचार्यत्व असंदिग्ध है।

'श्रृङ्गारमंजरी' में उपर्युक्त कथन के बाद चिन्तामणि नायिका के लक्षणों का निरूपण रते हैं और फिर उसके उदाहरण देते हैं। इस ग्रन्थ की यह भी विशेषता है, जैसा कि पर्युक्त उद्धरण से भी स्पष्ट है, कि बीच बीच में गद्यात्मक व्याख्या 'चर्चा' के रूप में भी लगी है। चर्चा में पहले 'रसमंजरी' के रचयिता भानुदत्त के अनुसार लक्षण देकर फिर उसको हिन्दी-गद्य में अनेक आवश्यक प्रश्नों को उठाकर, पुनः प्रत्येक शंका का निवारण करते हुए वे आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार चिन्तामणि का ढंग संस्कृत विद्वानों का सा वैदग्ध्य से भरा हुआ, सीधा और व्यावहारिक है जिससे कोई भी बात सीधे समझ में आ जाती है। इस प्रकार लक्षण और उदाहरण के बाद चर्चा का विशेष महत्व है। चर्चा सर्वत्र नहीं मिलती। जहाँ पर विषय सीधा है वहाँ पर कोई भी व्याख्या नहीं, किन्तु जहाँ

1. देखिये चिन्तामणि त्रिपाठी कृत 'श्रृङ्गारमंजरी'।

पर विषय कुछ उलझा और गभीर है वहाँ पर चर्चा भी काफी विस्तृत है। एकाध स्थलों पर तो ग्रथ की ५० पक्तियों तक एक ही चर्चा विस्तृत है। 'शृङ्गारमजरी' मे भानुदत्त की रसमजरी का प्रधान आधार है और इसका निर्देश स्वय चिंतामणि अपने ग्रथ में करते जाते हैं।

इस ग्रथ में शृङ्गार को छोड़कर और रसों का वर्णन नहीं है, किन्तु नायिका भेद विषय पर व्याख्या सहित पूरा प्रकाश डाला गया है। इसका विषय क्रम प्रचलित और वर्गीकरण व्यापक ढग पर है किन्तु व्याख्या ऐसी और ग्रथों मे समान्यत: अप्राप्य है।

यथार्थ में चितामणि त्रिपाठी यद्यपि सैद्धातिक नवीनता को लेकर नहीं चले फिर भी उनका उद्देश्य अपने विषय की उपर्युक्त परिभाषा देना, सुन्दर और उचित उदाहरणों से स्पष्ट करना और आवश्यक व्याख्या से समझाना है। एक आचार्य के लिए ये तीनों बातें उच्च गौरव दायिनी हैं। काव्यशास्त्र के लगभग सभी अगों का विवेचन कर यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि उनका सस्कृत का अध्ययन काफी गम्भीर था। केशव की भाँति वे विषय का केवल परिचय नहीं देते, वरन् उसका पूर्ण निरूपण करते हैं। उनका विषय निरूपण और समझाने का जो अपना ढग है वह भी बड़ा उपयुक्त है। इतना हम उनके विषय मे उनके केवल दो ही प्राप्य[1] ग्रथों के आधार पर कहने का साहस करते हैं। यदि सभी ग्रथ प्राप्य होते तो बहुत सभव था कि उनकी महत्ता सबसे ऊची होती। 'काव्य विवेक' और 'काव्य प्रकाश' ऐसे ग्रथ जिनके नाम से ही बड़ा आकर्षण है वे अवश्य उत्तम ग्रथ होंगे। इसके साथ ही साथ खेद का विषय यह है कि उनके पश्चात् इस प्रकार का उद्देश्य लेकर आने वाले लेखक बहुत कम हुए, अन्यथा यह बहुत कुछ सभव था कि हिन्दी काव्य शास्त्र का यथार्थ विकास महत्व पूर्ण रीति से होता।

## तोष का 'सुधानिधि'

चिन्तामणि के ग्रन्थों का यथार्थ समय क्या था? इसका पता निश्चित रूप से नहीं चलता, किन्तु यह कहा जा सकता है कि सत्रहवीं शताब्दी का अन्त और अठारहवीं का

---

१. चिन्तामणि ने कहीं कहीं अपना उपनाम 'श्रीमणि' और कहीं कहीं 'मनि' भी प्रयुक्त किया है। यथा—

> 'वाच्य अर्थ ते कहत 'मनि', व्यग अधिक जहँ होइ।
> सो जन उत्तम काव्य हैं, यह जानत कवि कोइ॥" ६, २
> "सांझ समै नख ते सिख लौं 'मनि' सुन्दर मंजुल अग सिंगारे॥
>
> —कवि कुल कल्पतरु, पृ० १५८

प्रारम्भ ही उनका रचना काल रहा होगा। इसी समय का लिखा तोष का 'सुधानिधि' ग्रन्थ है जिसका निर्माण काल संवत् १६६१ वि० है :—

संवत सोरह सै बरस गो इकानवे बीति।
गुरु आषाढ़ की पूर्णिमा रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति ॥ ५५२

'सुधानिधि' रस विवेचन का ग्रन्थ है। १८३ पृष्ठों और ५६० छन्दों में इसका निरूपण हुआ है। अयोध्यानरेश के पुस्तकालय में इसकी सुरक्षित एक १६४८ संवत् की प्रति से प्रकट होता है कि ये सिंगरौर के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे[1]। लेखक ने भारत-जीवन प्रेस में सन् १८९२ में मुद्रित तथा भारतजीवन सम्पादक बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित प्रति देखी है जिसका प्रतिलिपि काल संवत् १६८५ है जैसा ग्रन्थ के अन्त में प्रकट होता है:—

सर श्रुति विधि महि माघ बदि तिथि द्वितीया दिन मन्द।
लिख्यो सुधानिधि ग्रन्थ यह सत्त सुकवि सानन्द ॥ ५६०

इसमें मिश्रबन्धुओं द्वारा दिया तोष कवि का यथार्थ परिचय देनेवाला छन्द निम्नाङ्कित है :—

शुक्ल चतुर्भुज को सुत तोष बसै सिंगरौर जहाँ रिखि थानो।
दक्षिन देव नदी निकटै दस कोस प्रयागहि पूरब मानो॥
सोधि कै सुद्ध पढ़ैंगे सुबोध सु हौं न कछू कवितारथ जानौं।
केलि कथा हरि राधिका की पद छेम जथामति प्रेम बखानौं ॥ ५५४

रचना काल का संकेत करनेवाला ५५५ वाँ दोहा है जो ऊपर दिया जा चुका है। अतः इससे स्पष्ट है कि 'विनोद' का रचना काल ही ठीक है, शुक्लजी—द्वारा दिया संवत् १७९१ रचनाकाल ठीक नहीं है। सिंगरौर स्थान शृङ्गीऋषि की तपोभूमि तथा रामायण-प्रसिद्ध शृङ्गवेरपुर ही है।

तोष ने 'सुधानिधि' ग्रन्थ में नवरसों, भावों, भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता, रसाभास, रसदोष, वृत्ति, तथा नायिका भेद का वर्णन किया है। नायिका भेद अंश में विवेचन विशेष नहीं, पर उदाहरण काव्यात्मक है। सखा, सखी भेदों का भी बड़े विस्तार से वर्णन है, हाव-वर्णन भी इनका बड़ा सुन्दर है। वियोग की दश दशाओं के उदाहरण

---

१. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग २, पृ० ४१२

बड़े ही मनोहारी हैं पर विवेचन नहीं। शृङ्गारेतर रसों, सञ्चारियों आदि का विवेचन कम है, पर उदाहरण अच्छे हैं। रस वर्णन की कोई भी बात इन्होंने छोड़ी नहीं है। प्रायः लक्षण दोहों में और उदाहरण, कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि छन्दों में हैं। यह ग्रन्थ है यद्यपि अच्छा, परन्तु अधिकाश प्रयत्न काव्यात्मक ही है।

## जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण'

महाराज जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण' अलंकार पर सबसे प्रसिद्ध और इस विषय पर सबसे अधिक पठित ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें अलङ्कारों का ही वर्णन प्रधान है परन्तु उनका सक्षेप में शुद्ध और उपयुक्त उदाहरणों के साथ बड़ा ही उपयोगी विवरण है जिसको कि लोगों ने कण्ठ करने के लिये भी प्रयुक्त किया है। उन्होंने दोहा में ही एक पद में लक्षण और दूसरे में उदाहरण देते हुए इसे स्मरण योग्य बनाया है। सक्षेप में होते हुए भी शुद्ध और पूर्ण होना इसका प्रमुख गुण है। इसका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। प्रथम प्रकरण में रस का विवेचन है जिसके विषय नायक भेद, नायिका के जाति भेद, अवस्था भेद, परकीया के छः भेद, नायिका के नव भेद, मान, सात्विक भाव, दस हाव, विरह की दश दशायें, रस, स्थायी भाव, उद्दीपन, आलम्बन, विभाव, अनुभाव, तथा सचारी भावों का वर्णन है। दूसरे प्रकरण में भेदों सहित १०८ अलङ्कारों का वर्णन है। अधिकाश उनका वर्गीकरण विद्वानों की दृष्टि से नहीं वरन् विद्यार्थी की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। अर्थालङ्कारों का ही वर्णन विशेष है। शब्दालङ्कारों का वर्णन बड़े सक्षेप में है।

'भाषा भूषण' के रचयिता आचार्य विद्वान् हैं। इसका आधार जयदेव का 'चन्द्रालोक' है और उसी की शैली भी अपनाई गई है[1]। कहीं कहीं जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' मे इतना सक्षेप सकेत किया है कि सस्कृत सूत्रों की भाँति उनकी व्याख्या आवश्यक है। इसी के फलस्वरूप इसकी अनेक टीकायें हुई हैं। प्रसिद्ध तीन टीकायें, वशीधर की अलङ्कार रत्नाकर टीका (सवत् १७९२), प्रतापसिंह की टीका और गुलाब कवि की अलङ्कारचन्द्रिका हैं। इसके अतिरिक्त भी टीकायें हुई हैं। 'भाषाभूषण' में सक्षेप मे अलङ्कार के सभी तत्त्व आगये हैं। इसी से इसका प्रचार काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे अधिक हुआ है।

जसवन्त सिंह के बाद छेमराम का 'फतेह प्रकाश' जो कि अलकार व नायिका भेद का ग्रंथ है, शम्भुनाथ तथा सम्भा जी के 'नायिका भेद', मदन के 'रस रत्नावली' और

---

१. देखिये शुक्लजी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० २६५

'रसविलास' जो रस और नायिका भेद के ग्रंथ हैं, आते हैं, किन्तु इनमें कोई भी शास्त्रीय विवेचन नहीं है। मंडन मिश्र के उदाहरणों के छन्दों से उनकी काव्य-प्रतिभा का तो पता चलता है पर लक्षण नहीं मिलते अतः शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण ये ग्रंथ नहीं कहे जा सकते। इनके बाद हमारे सामने ऐसे कवियों के ग्रथ आते हैं जो कि आचार्यत्व के लिये तो नहीं परन् कवित्व के लिये रीति कालीन सर्व श्रेष्ठ कवियों में हैं और ये हैं आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के बन्धु मतिराम और भूषण। इनके ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन परम्परा का पूरा प्रभाव इनके समय तक हो चुका था।

## मतिराम

स्वच्छन्द कविता की मनोहारी प्रतिभा को लेकर भी मतिराम के अधिकांश ग्रंथ काव्य-शास्त्र के विषयों से ही सम्बन्ध रखते हैं इस विषय के इनके ग्रथ हैं:—'रसराज' 'ललितललाम', 'साहित्यसार', और 'लक्षणश्रृङ्गार' मिश्रबन्धु के अनुसार इनकी 'अलकारपंचाशिका' का भी साहित्य समालोचक में पता चला था[1]। बूंदी के राव भाव सिंह के आश्रय में इनका 'ललित ललाम' ग्रंथ सं० १७१६ और १७४५ के बीच में बना और 'रस राज' इस के पीछे का जान पड़ता है। साहित्यसार और लक्षण श्रृङ्गार ये दोनों छोटे छोटे ग्रंथ हैं। 'साहित्यसार' में नायिका भेद का वर्णन है। ग्रथ १० पृष्ठ में समाप्त हुआ है जिस की प्रतिलिपि स० १८३७ की लिखी दतिया राजपुस्तकालय में है। 'लक्षण-श्रृङ्गार' में भाव और विभावों का वर्णन है। यह केवल १४ पृष्ट का ग्रंथ है। इस की एक सं० १८२२ की लिखी हस्तलिखित प्रति बिजावर राजपुस्तकालय में है।

*अलंकार पंचाशिका :—*

यह पुस्तिका स० १७४७ में कुमायूँ के राजा उदोतचंद के पुत्र ज्ञानचंद के लिए रची गई थी। इसमें अलंकारों का वर्णन है। संस्कृत के ग्रथ 'चंद्रालोक' के आधार पर लक्षण दोहे में और उदाहरण कवितों में लिखे हैं :—

ज्ञान चन्द के गुन घने गने भने गुनवन्त।
वारिधि के मुक्तान को कौने पायो अन्त॥
तदपि यथामति सौं करयो शब्द अर्थ अभिराम।
अलंकार पञ्चाशिका, रची रुचिर मतिराम॥

1. देखिये मिश्रबन्धु 'विनोद' भाग २ पृ० ४४९

संसक्रिति को अर्थ लै भाषा शुद्ध विचार ।
उदाहरण क्रम ए किये लीजो सुकवि सुधार ॥[1]

इस ग्रंथ म लक्षण स्पष्ट और उदाहरण अच्छे हैं ।

मतिराम के 'रसराज'[2] और 'ललित ललाम' दोनों ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं । शुक्लजी हिन्दी साहित्य के इतिहास मे कहते हैं :—"रसराज और ललित ललाम मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं क्योंकि रस और अलकार की शिक्षा म इनका उपयोग बराबर होता चला आया है । वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं । उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलकारों का अभ्यास होता चलता है । 'रसराज' का तो कहना ही क्या है । 'ललित ललाम' में भी अलकारों के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं ।"[3] अत इनका कुछ अधिक विस्तार से विवरण दिया जायगा ।

*रसराज*—

'रसराज' में मतिराम ने शृङ्गाररस का निरूपण किया है । शृङ्गार, नायक और नायिका का आलम्बन प्राप्त करके होता है, इसलिये नायक नायिका भेद का वर्णन पहले और उसके पश्चात् भाव, हाव तथा शृङ्गार के अन्य अगों का विवरण दिया गया है । नायिका की परिभाषा देते हुए मतिराम कहते हैं कि 'उपजत जाहि विलोकि कै चित्त बीच रस भाव' वह नायिका है और उसके पश्चात् उसके उदाहरण देते हैं । उनके नायिका भेद के मुख्य प्रसग हैं :—स्वकीया, परकीया और गणिका, तीन प्रकार की नायिका ; स्वकीया के मुग्धा ( अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना और नवोढ़ा ), मध्या, प्रौढ़ा आदि अनेक प्रकार ; परकीया के सुरतगुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता और अनुशयाना आदि भेद तथा गणिका । अवस्था के विचार से भेद बताते हुए मतिराम ने कहा है :—

"प्रोषित पतिका, खडिता, कलहतरिता जान, विप्रलब्ध उत्कठिता वासक सज्जामान ।
स्वाधिनपतिका कहत हैं अभिसारिका सुनाम, कही प्रवत्स्यत् प्रेयसी आगम पतिका बाम ॥
दशौं अवस्था भेद सो दसौं नायिका जानि ।" इन सबके उदाहरण सुन्दर हैं ।

---

१. देखिये 'मतिराम ग्रन्थावली' कृष्णविहारी मिश्र द्वारा लिखित, भूमिका पृ० २३२, २३३ ( सं० १९८६ वि० )

२. पं० कृष्णविहारी मिश्र के विचार से 'रसराज' 'ललितललाम' से पहले बना । ( देखिये पृ० २४० 'मतिराम ग्रन्थावली' भूमिका )

३ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ३०६ ।

इसके अतिरिक्त उत्तमा, मध्यमा और अधमा आदि भेदों से नायिकाओं का वर्णन है। इन सभी के लक्षण तो अधिकारा जैसे केशव के हैं, वैसे ही हैं क्योंकि इनके भी आधार संस्कृत ग्रंथ हैं पर उदाहरण मतिराम के बड़े ही सरस और रमणीय हैं। उदाहरणों की सुन्दरता में मतिराम की बराबरी शायद ही कोई कर सके। नायिका भेद के पश्चात् ही मतिराम ने नायक भेद और भावों का वर्णन किया है। 'भाव' की परिभाषा यद्यपि है पूर्ववर्ती लेखकों की ही प्रथा पर, परन्तु इन्होंने उसे कुछ और भी विस्तार दे दिया है। वे कहते हैं:—

लोचन बचन प्रसाद मृदु हास बास धृत मोद।
इनते परगट जानिये, बरनत सुकवि बिनोद॥

केशव ने केवल आँखों, मुँह और वचन से ही, मन की बात को प्रकट करना भाव कहा था और चिंतामणि ने भी इसी प्रकार, परन्तु मतिराम ने भाव को प्रकट करने वाले उपकरणों की संख्या को और बढ़ा दिया है।

मतिराम के विचार से कुछ संचारी भाव मिलकर सात्विक अनुभाव को प्रकट करने में सहायक होते हैं। 'अश्रु' सात्विक को प्रकट करते हुए वे उदाहरण की अन्तिम पंक्ति में कहते हैं:—

उमगि हिये ते आयो, प्रेम को प्रवाह,
ताते लाज गिरी परी जैसे तरुवर तीर को।

यह कितना सुन्दर उदाहरण है। इसके पश्चात् दुःख का वर्णन है, और संयोग, वियोग और वियोग की अनेक अवस्थाओं के वर्णन के साथ ग्रंथ समाप्त होता है। उदाहरणों की सुन्दरता और काव्यात्मक उत्कृष्टता के साथ साथ यह कहते ही बनता है कि मतिराम के 'रसराज' में शास्त्रीय विवेचन आचार्यत्व की उच्चकोटि का नहीं है। वे सबसे पहले और प्रमुखतः कवि ही हैं, आचार्य नहीं, जैसे कि उनके भाई चिंतामणि पहले आचार्य हैं, और उनमें आचार्यत्व की ही लगन प्रधान है।

*ललित ललाम*—

यह अलंकारों पर लिखा हुआ ग्रंथ है और इसका उद्देश्य अपने आश्रयदाता बूँदी नरेश भावसिंह की प्रशंसा करना और रिझाना था, जैसा कि प्रारम्भ में उन्होंने दिया है:—

भावसिंह की रीझि को कविता भूषन धाम।
ग्रन्थ सुकवि मतिराम यह कीन्हों ललित ललाम॥ ३२

इस ग्रंथ में लक्षण दोहों में, तथा उदाहरण कवित्त और सवैया छन्दों में दिए गये हैं। इस ग्रंथ में 'रसराज' के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जो कि शृङ्गाररस पर स्वतंत्र ग्रंथ है अर्थात् किसी भी आश्रयदाता के नाम पर नहीं लिखा गया और जो कविता की दृष्टि से 'ललितललाम' से अधिक सुन्दर ग्रंथ है। 'ललितललाम' में भी मतिराम अधिकांश हमारे सामने कवि के ही रूप में आते हैं क्योंकि लक्षण चलताऊ ढंग से लिखे गए हैं, पर उदाहरण सुन्दर हैं। इन दोनों ही ग्रंथों में कहीं भी ऐसा विवेचन नहीं जिससे मतिराम के 'काव्य सिद्धान्त' पर विचार के रूप में कुछ प्राप्त हो। फिर भी इस दृष्टि से 'ललितललाम' अपेक्षाकृत 'रसराज' से अधिक शास्त्रीय है। मतिराम यद्यपि अलग से उत्तम काव्य क्या है, इसका उत्तर नहीं देते, पर उदाहरणों से यह प्रकट है कि उत्तम काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वभाव का उन्हें परिचय था और उसका स्वरूप उनकी रचना में मिल गया है। 'रसराज' में यद्यपि उन्होंने कहा है कि :—

'कवितार्थ जानो नहीं कछुक भयो संतोष'

किन्तु यह कविता सन्तोष उनका बड़ा गहरा है। अलंकार और रस दोनों की दृष्टि से उनकी कविता समृद्ध है। 'ललित ललाम' में १०० अलंकार और उनके भेदों का वर्णन है सभी अधिकांश अर्थालंकार ही हैं। उनके 'चित्र' अलंकार ही को हम शब्दालंकार के अंतर्गत रख सकते हैं। इसका लक्षण उन्होंने यह दिया है—

जहँ बूझत कछु बात को, उत्तर सोई बात,
चित्र कहत मतिराम, कवि सकल सुमति अवदात।

यह चित्रालंकार का बड़ा ही संकीर्ण लक्षण है। दो उदाहरण जो मतिराम ने इसके दिये हैं उनको हम क्रमशः लाटानुप्रास और अन्तर्लापिका के अंतर्गत रख सकते हैं।

इन दो विषयों को छोड़कर मतिराम ने काव्यशास्त्र की अन्य समस्याओं पर प्रकाश नहीं डाला। अतः आचार्यत्व की दृष्टि से इनका कोई अधिक महत्व नहीं है, वे प्रमुखतः कवि ही हैं।

## भूषण

चिन्तामणि और मतिराम के भाई भूषण भी जो हिन्दी के सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ वीररस के कवियों में हैं अलङ्कार पर 'शिवराज भूषण' नामक ग्रन्थ के प्रणेता हैं। इस ग्रन्थ में इन्होंने अलङ्कारों के लक्षण देकर उदाहरण में शिवाजी तथा उनकी वीरता और यश पर कवित्त और सवैया लिखे हैं। किन्तु भूषण के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उनमें

प्रबन्ध काव्य लिखने की भी अद्भुत प्रतिभा थी। मतिराम की भाँति ही उसको उन्होंने लक्षणों के साँचों में ढालकर उसका सदुपयोग नहीं किया। यह उस युग का ही प्रभाव था। इनके दो अन्य ग्रन्थ 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' सम्भवत. अलङ्कारों और दोषों पर लिखे ग्रन्थ हैं परन्तु वे अप्राप्य हैं। उनके नामों का ही उल्लेख मिलता है। अत उनका अलङ्कारों पर लिखा 'शिवराज भूषण' ही उनका प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

मतिराम की भाँति भूषण भी उपमालङ्कार से ही प्रारम्भ करते हैं और अपने ग्रन्थ में १०० अर्थालङ्कारों का वर्णन करते हैं किन्तु इनके साथ ही साथ उन्होंने ५ शब्दालङ्कारों को भी शिवराजभूषण के अन्तर्गत रक्खा है। इसमे सभी अलङ्कारों का वर्णन नहीं और न उनके सभी भेदों का है। केवल अधिक प्रसिद्ध अलङ्कारों को लिया गया है। भूषण का वर्णन क्रम किसी वर्गीकरण के आधार पर चलता नहीं जान पड़ता और मतिराम की भाँति ही लक्षण से अधिक उदाहरणों पर जोर है तथा अधिकाश स्थलों पर तो लक्षण अस्पष्ट और अनुपयुक्त भी हैं। लक्षणों की गड़बड़ी, पञ्चम प्रतीप, सङ्कर, विरोध, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास आदि में तथा उदाहरणों की गड़बड़ी, परिणाम, लुप्तोपमा, भ्रम, निदर्शना, सम, परिकर, विभावना, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास एव निरुक्ति में हैं, इससे स्पष्ट है कि आचार्यत्व की प्रेरणा केवल ऊपरी ही है। कुछ अलङ्कारों के लक्षण उन्होंने दिये हैं परन्तु उदाहरण नहीं हैं। इनके ग्रन्थ से अधिक स्पष्ट लक्षण और उदाहरण 'ललितललाम' के हैं। साथ ही साथ यह भी एक रोचक बात है कि भूषण के 'शिवराज भूषण' और मतिराम के 'ललितललाम' के अलङ्कारों के लक्षण बहुत कुछ मिलते हैं। इसका उल्लेख पण्डित कृष्णबिहारीजी ने भी किया है —

"ललितललाम और शिवराजभूषण दोनों ही अलङ्कार ग्रन्थ हैं। दोनों ही में अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये हुए हैं। दोनों कवियों के लक्षणों का ध्यानपूर्वक मिलान करने से हमें उभय कवियों के लक्षणों म अद्भुत सादृश्य दिखलाई पड़ता है। यह सादृश्य इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि लक्षण दोहा के अन्तिम तुक भी मिल जाते हैं। किसी में तो कवि के नाम भर का भेद रह जाता है[१]।" इसकी पुष्टि के लिए हम 'ललितललाम' और 'शिवराजभूषण' के मालोपमा, उल्लेख, छेकापन्हुति, दीपक, निदर्शना इत्यादि अलङ्कारों को ले सकते हैं। इसी प्रकार उदाहरणों म भी।

---

१. देखिये कृष्णबिहारी मिश्र कृत मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० २२३

इसके अतिरिक्त भूषण के 'शिवराजभूषण' में सामान्य-विशेष और भाविक छवि नाम के दो नये नाम अलंकारों के हैं किन्तु विचार कर देखने से जान पड़ता है कि ये केवल पुराने अलंकारों के ही नये नाम हैं। विशेषनिबन्धना के लिए सामान्य विशेष और भाविक अलंकार के ही एक प्रकार के रूप में भाविक छवि अलंकार है। समय की दूरी भाविक के एक भेद के अन्तर्गत और भाविक छवि की स्थलीय दूरी उसके दूसरे भेद के अन्तर्गत हम रख सकते हैं। इस प्रकार कोई यथार्थ नवीनता इस ग्रंथ में नहीं है।[१] इस प्रकार आचार्यत्व की दृष्टि से कोई विशेषता प्रदान न करते हुए भी 'शिवराज भूषण' ग्रंथ है लक्षण-ग्रंथ ही।

## आचार्य कुलपति मिश्र

भूषण के समकालीन ही आगरे के रहनेवाले माथुर चौबे कुलपति मिश्र काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों में परिगणित होते हैं। कुलपति ने काव्यशास्त्र के विषयों का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। ये आगरे के परशुराम के पुत्र थे और इनके आश्रय-दाता राजा कूर्म-वंशी जयसिंह के पुत्र रामसिंह कुमार थे। काव्यशास्त्र पर लिखे इनके

---

१. भूषण का भाविक छवि एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है। पर वास्तव में है संस्कृत ग्रंथों के भाविक का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप। भाविक का सम्बन्ध कालगत दूरी से है। इसका देशगत से। बस इतना ही अन्तर है।

—शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २८४

और देखिये।

"इस प्रकार भूषण ने दो नये अलंकारों के निकालने का भी प्रयत्न किया है, पर उस में सफलता नहीं मिली है। उन्होंने एक 'सामान्य विशेष' नामक अलंकार माना है जिसमें विशेष का कथन करके सामान्य लक्षित कराया जाता है। यह अलंकार प्राचीन आलंकारिकों के अप्रस्तुत प्रशंसालंकार की विशेष निबन्धना से भिन्न नहीं है। इसके उदाहरण भी वैसे स्पष्ट नहीं हैं जैसे होने चाहिए। एक दूसरा अलंकार है 'भाविक छवि' इसका लक्षण है दूर स्थित वस्तु को संमुख देखना। भाविक अलंकार में समय की दूरी है और भाविक छवि में स्थान की दूरी। वस्तुतः यह भाविक छवि, भाविक का ही एक अंग है उस से भिन्न नहीं।

—भूषण ग्रंथावली का अन्तर्दर्शन पृ० २७
(सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)

दो ग्रंथ 'रसरहस्य' और 'गुणरसरहस्य' प्रसिद्ध हैं। 'रसरहस्य' की रचना वहीं विजयमहल में हुई थी।

रस रहस्य[1]

इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १७२७ वि० है और इसका आधार अधिकतर मम्मट का 'काव्यप्रकाश' है जैसा कि नीचे के छंदों से प्रकट है :—

> अभु मिश्र तिन वंश में परशुराम जिमि राम।
> तिनके सुत कुलपति कियो, 'रस रहस्य सुखधाम। ८-३०
> जिते साज हैं कवित के मम्मट कहे बखान।
> ते सब भाषा में कहे, रस रहस्य में आन॥ ८-३१
> संवत् सत्रह सै बरस बीते सत्ताईस।
> कातिक बदि एकादसि बातु बरन बानीस॥ ८-३२

यद्यपि उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि उनका आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' प्रधानतया है फिर भी अनेक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विचारोपरान्त उन्होंने अपना मत भी निश्चय किया है जिसका विवरण बीच-बीच की 'वचनका' में उन्होंने स्पष्ट किया है। काव्य की या कवित्त की परिभाषा भी वे अलौकिक आनन्द के रूप में करते हुए लिखते हैं :—

> "जग ते अद्भुत सुख सदन सब्दरु अर्थ कवित्त।
> यह लच्छन मैंने कियौ समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥" १-१६

यही बात इसके बाद आनेवाली वचनका अर्थात् टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :—

"जगते अद्भुत लोकोत्तर चमत्कार यह लक्षण मैं कर्यौ अब काव्यप्रकास के लच्छन कहत हैं :—

> "दोष रहित अरु गुन सहित, कछुक अल्प अलंकार।
> सबद अरथ सो कवित है, ताको करो विचार॥" १-१७

इस परिभाषा की पुनः आलोचना करते हुए वे 'साहित्यदर्पण' के आधार पर

1. 'रसरहस्य' की इण्डियन प्रेस में छपी प्रति लेखक ने दतिया राजपुस्तकालय में देखी थी। उसी के आधार पर यह विवरण है।

परिभाषा देते हैं फिर उसपर भी विचार कर अपनी परिभाषा को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार प्रसिद्ध संस्कृत आचार्यों के विचार देकर उनकी समालोचना करते हुए कुलपति अपना मत निर्धारित करते हैं। इससे यह प्रकट है कि काव्य शास्त्रीय विवेचन के बाद जो लक्षण कुलपति ने निर्धारित किये हैं सैद्धांतिक विकास और मौलिकता की दृष्टि से उनमें कोई विशेष महत्त्व व परिवर्तन चाहे न देख पड़े पर यह बात निर्विवाद है कि इस प्रकार से विषय का विवेचन बड़ी ही स्पष्ट रीति से होता है जिसका भी अपना महत्त्व है। इस प्रकार आचार्य कुलपति का अपना सत्य-मत प्रतिपादन का प्रयास प्रशंसनीय है।

काव्य की परिभाषा पर विचार करने के उपरान्त वे काव्य-प्रयोजन को लेते हैं और उसको निर्धारित करते हैं जो अनेक संस्कृत आचार्यों के विचारों का निष्कर्ष सा है। उनके शब्दों में काव्य का प्रयोजन निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट है :—

> "जस सम्पति आनन्द अति दुरितन डारे खोय।
> होत कवित ते चातुरी जगत राग बस होय॥ १-२८
> इन्हें आदि दे और जानिये॥"

इसके पश्चात् वे कविता के तीन वर्ग कहते हैं :—

१. सरस व्यंग्यप्रधान २. मध्यम ३. चित्र। काव्य-कोटियों का वर्णन 'रस-रहस्य' के प्रथम वृत्तान्त में है।

द्वितीय वृत्तान्त में सबसे पहले वे वाचक, लक्षक और व्यंजक को स्पष्ट करते हुए इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शब्द शक्ति पर कविता का प्रभाव अवलम्बित है, अतः उसका कोटि विभाजन भी आवश्यक है। कुलपति इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

> वाचक विंजक लच्छकौ सब्द तीनि विधि होय।
> बाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीनि विधि होय॥

इसके साथ ही तात्पर्य वृत्ति का निर्देश करते हुए उन्होंने टीका में लिखा है :—

'अरु इन तीनौनि के व्यवहार ते न्यारी सी प्रतीत करै सोऊ एक तातपर्जता वृत्ति कहत हैं याको शब्द नाहीं।' इसके पश्चात् वाचक, लक्षक, व्यंजक तथा शब्द शक्तियों के अनेक भेदों की परिभाषायें आती हैं। कुलपति परिभाषाओं को दोहों में देकर उदाहरण देते हैं और उसके पश्चात् अपने विचारों को और स्पष्ट करने के लिये वे गद्य में वार्तिक देते हैं जिसको 'वचनिका' कहा है। 'गूढ़ व्यंग' का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं :—

सज्जन सुख, मीठे बचन कहत न सहज सुभाय।
छैयो कौन सुगन्ध को मौरन देते सिखाय॥

"इहाँ सज्जन की बड़ाई व्यंग ते प्रकट है। यही को शब्दशक्ति ही है।"

तीसरे वृत्तान्त में ध्वनि और काव्य-कोटियों का वर्णन है। ध्वनि के आधार पर ही कवित्त के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं:—

"कवित होत धुनि-भेद ते उत्तम मध्यम और।"

यह सब 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर है। जहाँ पर व्यंजना प्रधान और लक्षणा या अभिधा आधार रहती है वहाँ ध्वनि होती है। पहले लक्षणा के आधार पर खड़ी व्यंजना की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं:—

मूल लक्षना है जहाँ गूढ़ व्यंग परधान।
अर्थ न काहू अर्थ को सो धुनि जानो जान॥

इसके पश्चात् अभिधा-मूला ध्वनि के संलक्ष्यक्रम व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-भेदों का वर्णन है। नौ रस व भावों का वर्णन असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत आता है। आचार्य कुलपति कहते भी हैं:—

जिहि क्रम लखि नहिं जानियें सो धुनि बहुत प्रकार।
नव रस भाव अनेक विधि धुनि जिनके आधार॥

वे रस-ध्वनि की प्रधानता मानते हैं और इसी में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी, स्थायी आदि भावों पर विचार करते हैं। इन सबमें प्रायः 'काव्य-प्रकाश' के ही अनुवाद हैं।

इसके पश्चात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्य पर विचार है। इसमें शब्द, अर्थ, अलंकार आदि उनमें कारणों का वर्णन है।

चौथे वृत्तान्त में मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य का विवेचन है और पाँचवें में काव्य दोषों पर विचार है। काव्य दोषों की परिभाषा देते हुए, वे कहते हैं:—

शब्द अर्थ तें प्रकट है, रस अनुभव नहिं होय।
सो भूषण सब नाम तिया बड़ी जिय को हरि लेय॥
आदि वदन ही कों कहे जिहि देखें चित लाय।
शब्द अर्थ रस दूषण कों पाछें दोष कहाय॥

परिभाषा देते हैं फिर उसपर भी विचार कर अपनी परिभाषा को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार प्रसिद्ध संस्कृत आचार्यों के विचार देकर उनकी समालोचना करते हुए कुलपति अपना मत निर्धारित करते हैं। इससे यह प्रकट है कि काव्य शास्त्रीय विवेचन के बाद जो लक्षण कुलपति ने निर्धारित किये हैं सैद्धांतिक विकास और मौलिकता की दृष्टि से उनमें कोई विशेष महत्त्व व परिवर्तन चाहे न देख पड़े पर यह बात निर्विवाद है कि इस प्रकार से विषय का विवेचन बड़ी ही स्पष्ट रीति से होता है जिसका भी अपना महत्त्व है। इस प्रकार आचार्य कुलपति का अपना सत्य मत प्रतिपादन का प्रयास प्रशंसनीय है।

काव्य की परिभाषा पर विचार करने के उपरान्त वे काव्य-प्रयोजन को लेते हैं और उसको निर्धारित करते हैं जो अनेक संस्कृत आचार्यों के विचारों का निष्कर्ष सा है। उनके शब्दों में काव्य का प्रयोजन निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट है'—

"जस सम्पति आनन्द अति दुरितन डारे खोय।
होत कवित ते चातुरी जगत राग बस होय॥ १-२८
इन्हें आदि दे और जानिये॥"

इसके पश्चात् वे कविता के तीन वर्ग कहते हैं:—

१. सरस व्यंग्यप्रधान २ मध्यम ३. चित्र। काव्य-कोटियों का वर्णन 'रस-रहस्य' के प्रथम वृतान्त म हैं।

द्वितीय वृता त में सबसे पहले वे वाचक, लक्षक और व्यंजक को स्पष्ट करते हुए इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शब्द शक्ति पर कविता का प्रभाव अवलम्बित है, अतः उसका कोटि विभाजन भी आवश्यक है। कुलपति इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:—

वाचक विंजक लच्छकौ सब्द तीनि विधि होय।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीनि विधि होय॥

इसके साथ ही तात्पर्य वृत्ति का निर्देश करते हुए उन्होंने टीका में लिखा है,—

'अरु इन तीनोंनि के व्यवहार ते न्यारी सी प्रतीत करै सोऊ एक तात्पर्जजका मति कहत है याको शब्द नाहीं।' इसके पश्चात् वाचक, लक्षक, व्यंजक तथा शब्द शक्तियों के अनेक भेदों की परिभाषायें आती हैं। कुलपति परिभाषाओं को दोहों म देकर उदाहरण देते हैं और उसके पश्चात् अपने विचारों को और स्पष्ट करने के लिये वे गद्य में वार्तिक देते हैं जिसको 'वचनिका' कहा है। 'गूढ़ व्यंग' का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं:—

सज्जन मुख, मीठे वचन कहत न सहज बनाय।
ठैंचो कौन सुगन्ध को भौंरन देते सिखाय॥

"इयों सज्जन की बड़ाई व्यंग ते प्रकट है। यही को शब्दलक्षक ही है।"

तीसरे वृत्तान्त में ध्वनि और काव्य-कोटियों का वर्णन है। ध्वनि के आधार पर ही कवित्त के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं :—

"कवित होत धुनि-भेद ते उत्तम मध्यम और।"

यह सब 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर है। जहाँ पर व्यंजना प्रधान और लक्षणा या अभिधा आधार रहती है वहाँ ध्वनि होती है। पहले लक्षणा के आधार पर खड़ी व्यंजना की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं :—

मूल लछना है जहाँ गूढ़ व्यंग परधान।
अर्थ न काहू अर्थ को सो धुनि जानौ जान॥

इसके पश्चात् अभिधा-मूला ध्वनि के संलक्ष्मक्रम व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-भेदों का वर्णन है। नौ रस व भावों का वर्णन असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत आता है। आचार्य कुलपति कहते भी हैं :—

जिहि इा क्रम नहिं जानिये सो धुनि बहुत प्रकास।
नव रस भाव अनेक बिधि पुनि तिनके आभास॥

वे रस-ध्वनि की प्रधानता मानते हैं और इसी के साथ रस, विभाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी, स्थायी आदि भावों पर विचार करते हैं। इन सबमें लक्षण 'काव्य-प्रकाश' के ही अनुवाद हैं।

इसके पश्चात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्य पर विचार है इसमें शब्द, अर्थ, अलंकार तथा उनके कारणों का वर्णन है।

चौथे वृत्तान्त में मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य का विवेचन है और पाँचवें में काव्य दोषों पर विचार है। काव्य दोषों की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं :—

शब्द अर्थ में प्रकट है, रस समुझन नहिं देय।
सो दूषन सन मन विथा ज्यों जिय को हरि लेय॥
जाहि रहत ही जो रहे जिहि फेरे फिरि जाय।
सब्द अर्थ रस छन्द को सोई दोष कहाय॥

इस प्रकार यदि कोई शब्दविशेष, अर्थविशेष, छन्दविशेष अथवा रसविशेष अपनी उपस्थिति से दोष ला देता है तो उसको क्रमशः शब्द, अर्थ, छन्द या रसदोष कहेंगे। इनके अतिरिक्त प्रबन्ध-दोष और पद-दोष पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार से 'काव्यप्रकाश' के आधार पर लगभग सभी दोषों के लक्षण एवं उदाहरणों और अन्त में दोष समाधान के अन्तर्गत उन दोषों को दूर करने के उपायों का वर्णन है।

छठे वृत्तान्त में गुणों का विवेचन है। गुण का लक्षण कुलपति आचार्य के शब्दों में है :—

जो प्रधान रस धर्म को निपट बढ़ाई हेतु।
सो गुन कहिये अचल छित सुख की परम निकेत॥

कुलपति गुणों को रस का मुख्य धर्म मानते हैं अतः यही कविता का प्रधान अंग हुआ। औरों की भाँति ये भी तीन गुणों को ही मानते हैं :—

"तीनि भाँति सो मधुरता ओज प्रसादहिं जान।"

सातवें और आठवें वृतान्त क्रम से शब्दालंकार और अर्थालंकार के वर्णन से पूर्ण हैं। इसमें लक्षण अधिकांशतः दोहों और उदाहरण सवैयों और कवित्तों में दिये गये हैं। कुलपति ने अलंकारों का निरूपण भी बड़ी पूर्णता से किया है।

इस प्रकार से कुलपति का 'रस रहस्य' यद्यपि मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर है फिर भी हिन्दी काव्य शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष आदि के विवेचन में बड़ी ही दक्षता और सच्चाई दिखलाई देती है। 'काव्य प्रकाश' के विषयों को पूर्ण रूप से ग्रहण करके ग्रंथकार ने उसको स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। यह विद्वता पूर्ण ढंग से लिखी हुई हिन्दी की विरल पुस्तकों में से है। और काव्य शास्त्र के अनेक अंगों पर विचार करते हुए कुलपति ने अपनी आचार्य की पदवी हिन्दी साहित्य में सुरक्षित करली है। फिर भी इसका स्थान काव्य शास्त्र के विद्वानों में ही है, काव्य शास्त्र के सिद्धान्तकारों में नहीं। हिन्दी के प्राचीन लेखकों में यह कम महत्त्व की बात नहीं।

## सुखदेव मिश्र

कुलपति के बाद सुखदेव मिश्र का समय* (१७२०—१७६० सं०) आता है। उनकी छः पुस्तकें :— 'वृत्त विचार' 'छन्द विचार', 'रसार्णव' 'शृंगार लता', 'पिंगल' और

* शुक्ल जी का इतिहास पृ० ३१३

'फाजिल अली प्रकाश' हैं। 'शृङ्गार लता' के विषय और विवरण ज्ञात नहीं हैं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में इनका जीवनवृत्त देते हुए लिखा था कि यह ग्रंथ इनका नहीं वरन् इन्हीं के किसी वंशज का है। शृंगार लता (संस्कृत) के भी रचयिता एक सुखदेव मिश्र हैं। कहा नहीं जासकता कि दोनों एक हैं या भिन्न भिन्न। इनका ग्रंथ 'फाजिल अली प्रकाश' औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली की प्रशंसा में उसके पूर्वजों के वर्णन के साथ रस और छंदों पर लिखा गया ग्रंथ है। इसका रचना काल सं० १७३३ वि० है। 'वृत्त विचार' (सं० १७२२) 'छंद विचार' और 'पिंगल', ग्रंथ छंदशास्त्र पर हैं। छंद-शास्त्र का वर्णन इनका बड़ा रोचक और पूर्ण है और ये पिंगल के आचार्य माने जाते हैं। 'रसार्णव'[1] मतिराम के 'रस राज' की भाँति की लिखी रस पर पुस्तक है। नायक-नायिका भेदों का वर्णन विशेष विस्तृत हैं। शृंगार रस का वर्णन तो काफी है पर अन्य रसों पर बहुत संक्षेप मे कहा गया है। नायक, नायिका, सखी, उद्दीपन, आलंबन, अनुभाव, इत्यादि का वर्णन बड़े सुन्दर उदाहरणों द्वारा किया गया है। उद्दीपन का एक सुन्दर उदाहरण देखिये :—

> फूलि रहे बन बाग सबै लखि फूलनि फूलि गयो मन मेरो।
> फूलनि ही को बिछावनौं कै गहनो कियो फूलनि ही को घनेरो॥
> लाल पलासन में चहुं ओर तें मैन प्रताप कियो घन घेरो।
> ऐसेहि फूल फैलाइ फैलाइ भयो रितुराज को मानहु डेरो॥

इसी प्रकार शुक्ला अभिसारिका का एक उदाहरण देखिये :—

> जोहैं जहाँ मग नन्दकुमार तहाँ चली चन्द्रमुखी सुकुमार है।
> मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुन्द की डार है॥
> भीतर ही जुलखी सुलखी अब बाहिर जाहिर होत न दार है।
> जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिल जात ज्यों दूध में दूध की धार है॥

इस प्रकार इनके उदाहरण बड़े सुन्दर हैं, इनकी गणना प्रसिद्ध आचार्यों में इनके छन्द विवेचन के कारण है।

सुखदेव के बाद राम जी का 'नायिका-भेद' (सं० १७३०) और गोपालराय का 'रस सागर' और 'भूषण विलास', बलिराम का 'रस विवेक', बलबीर का 'उपमालंकार'

---

१. 'रसार्णव' को लेखक ने टीकमगढ़ के राजपुस्तकालय में देखा था। यह पुस्तक लाइट प्रेस बनारस में गोपीनाथ पाठक द्वारा सं० १८६२ में मुद्रित हुई थी।

और 'दपति विलास', कल्यानदास का 'रसचद' तथा श्रीनिवास का 'रस सागर' आदि ग्रथ भी इसी समय के आस पास की रचनायें हैं। इनम से सभी के ग्रथ, प्रसिद्धि म और तथ्य में भी, साधारण महत्त्व के हैं। और इनको भी हम रीति-कालीन परम्परा निभाने वाले कवियों के अन्तर्गत समझ सकते हैं। इनम से कुछ तो काव्यात्मक गुणों से पूर्ण हैं परन्तु काव्य शास्त्र के हेतु महत्त्व के नहीं हैं। इनके ही समकालीन बहुत प्रसिद्ध कवि और आचार्य देव के ग्रथ आते हैं जिन्होंने कि काव्य शास्त्र के अगों पर काफी स्वछन्दता पूर्वक विचार किया है।

## आचार्य कवि देव

देव का जन्म स० १७३० के लगभग और रचना काल १७४६ से १८०० तक माना जा सकता है। इनके प्रसिद्ध ७२ और देखे गये २५ ग्रथों म बहुतेरे रीति ग्रथ हैं जैसे 'भाव विलास', 'भवानी विलास', 'सुजान विनोद', 'कुशल विलास', 'रसविलास', 'काव्य रसायन', 'सुखसागर तरग' इत्यादि। रस और नायिका भेद तो इन ग्रथों में से अधिकाश का विषय है किन्तु कुछ म अलकार, शब्द शक्ति, वृत्ति आदि काव्य शास्त्र के सभी विषयों का विवेचन किया है। ये जितने ग्रंथ हैं सभी एक दूसरे से पूर्ण स्वतत्र ग्रथ नहीं हैं। एक के लक्षण और उदाहरण दूसरे के लक्षणों और उदाहरणों में बराबर पाये जाते हैं। कारण यह कि उन्होंने कई राज-दरबारों एव राज्याश्रयों का सहारा तका किन्तु सम्भवत कहीं भी सतोषकारी आश्रय प्राप्त नहीं हुआ। अत एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने पर इन्होंने अनेक नामों से ग्रथ लिखे जिन में कि विषय लगभग एक ही है केवल नामों का ही अन्तर है। इनमें से मुख्य चार पर हम विचार करेंगे।

रसविलास

देव ने इसे स० १७८३ म भोगीलाल क लिये बनाया जो इनके आश्रयदाताओं म सबसे अधिक उदार थे। देव ने उनके लिए लिखा है—"भोगीलाल भूप लाख पाखर लवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।" 'रसविलास' का समाप्ति-काल नीचे के दोहे में दिया हुआ है —

सवत् सत्रह सै बरस और तिरासी जानि।
रसविलास दसमी विजय पूरन सकल कलानि॥

इस ग्रंथ में अन्य पूर्वाचार्यों के ग्रथों से विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकार की स्त्री

जातियों तथा दूतियों का वर्णन है, केवल प्रचलित नायिकाओं का ही नहीं। इसका वर्गीकरण और वर्णन क्रम स्वाभाविक और तर्कसंगत है। सबसे पहले देव कहते हैं:—

कोटि कोटि विधि कामिनी तिनके कोटिन भेव।
तिन पै माया मानुषी बरनत हैं कवि देव॥

एक और स्पष्टता है कि देव ने नायिका भेद में वर्गीकरण के नीचे लिखे आठ आधारों का भी वर्णन किया है:—

जाति कर्म गुन देस अरु काल वय क्रम जानि।
प्रकृति सत्य है नायिका, आठों भेद बखानि॥

जाति भेद के अन्तर्गत पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्तिनी, कर्मभेद के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया और सामान्या, गुणभेद के अन्तर्गत उत्तमा, मध्यमा और अधमा, देशभेद के अन्तर्गत मध्यदेश, मागध वधू, कौशल वधू, पाटल वधू, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बंगाल तथा अन्य अनेक प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। वय क्रमभेद के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा, प्रकृति भेद के अन्तर्गत वातगुणी, पितगुणी, कफगुणी तथा सत्वभेद के अन्तर्गत देवसत्व, मानुषसत्व, गन्धर्वसत्व, यक्षसत्व, पिशाचसत्व इत्यादि का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त वह नायिका के अष्टांग: यौवन, रूप, गुण, प्रेम, शीलग, कुल, वैभव, भूषण का विवरण देते हैं और अन्त में नागरी और ग्राम्या अनेक नायिकाओं जैसे:—राजपुत्रनागरी, पूजनहारी, द्वारपालिका, रावल नागरी, धाई, दूती, दासी, दरजिन, जौहरी, पटविन, सुनारिन, गंधिन, तेलिन आदि का बड़ा रोचक एवं मनोग्राही वर्णन देकर नायिकाभेद पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। पुस्तक के अवशिष्ट भाग में हाव, भाव, अनुभाव इत्यादि का वर्णन है परन्तु अन्य रसों का वर्णन नहीं। पुस्तक ७ अध्यायों में समाप्त हुई है।

*भवानीविलासः—*

यह पुस्तक भवानीदत्त के लिये लिखी हुई रस निरूपण से सम्बन्ध रखने वाली है। इसमें देव, रस को राधा और कृष्ण से उद्भूत आनन्द के रूप में मानते हैं। देव के विचारानुसार, यह कहना कि रस नौ हैं असत्य है, यथार्थ में शृंगार ही मूल रस है। उसी के द्वारा उत्पन्न उत्साह, वीर रस का रूप धारण करता है। रति से जो निराशा या निर्वेद

होता है वही शांत रस है।[१] केशव ने भावों को पाँच प्रकार का बताया था। देव के विचार से रस की निष्पत्ति के लिये ६ भाव हैं।[२] स्थायी, विभाव, अनुभाव, सात्विक, सचारी तथा हाव। शृंगार रस के विवेचन में वे कहते हैं कि प्रेम का बीज रति है जो ही शृंगार का स्थायी भाव है यह विभाव के द्वारा उत्पन्न और उत्तेजित होकर अनुभाव के द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार से स्थायी रति, विभाव का सयोग पाकर सात्विक, अनुभाव, सचारी भावों और हावों में अपने को प्रकट करती है। स्थायी रति का अनुभव तब होता है जब हृदय प्रिय की बात सुन या देख कर उसकी ओर आकृष्ट होता है। आलम्बन और उद्दीपन ये दो प्रकार के विभाव हैं जो स्थायी भाव को अनुभावों के रूप में पूर्ण रीति से प्रकट होने के लिए प्रेरित करते हैं।

देव के विचार से[३] कायिक सचारी आठ हैं और यही सात्विक भाव कहलाते हैं क्योंकि इनका प्रभाव शरीर पर दिखलाई देता है, किंतु अन्य सचारी भाव मानसिक हैं और उनका प्रभाव मन और हृदय पर होता है। उन्हें व्यभिचारी या सचारी भाव कहते हैं इनकी सख्या ३३ है ( अध्याय १ . . ३३ . . ३८ )। इस प्रकार सात्विक और सचारी को देव एक ही कोटि में रखते हैं। इसी प्रकार अनुभावों का अलग एक वर्ग है जो रस के अनुभव को प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रसन्नता, मुसकानि आदि भी अनुभाव हैं। अत. देव का विचार दूसरों से कुछ भिन्न है, जो सात्विक भावों को सचारी से भिन्न मान कर अनुभावों के भीतर रखते हैं।

इसके पश्चात् वे शृङ्गार के दो भेद सयोग और वियोग को लेते हैं जिनको वे प्रच्छन्न

---

१. भूषि कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृङ्गार।
तेहि उछाह निरवेद लै बीर सांत सचार॥ ( १-१०वां )

२. थित विभाव अनुभाव अरु कहौ सात्विकौ भाव।
सचारी अरु हाव ये रस कारण षट भाव॥ ( १-१४वां )

३. कायिक वसु सात्विक अपर मानस निरवेदादि।
सचारी सिंगार के भाव कहत भरतादि॥ ( १-३० )

देखिये भावविलास —

रसहिं जनावे बहुरि जो तो तेऊ अनुभाव।
आनन नयन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसुक्यानि।
ये अभिनय सिङ्गार के अग अग पुन जानि॥

और प्रकाश नामक दो विभेदों में बाँटते हैं जैसा कि केशव ने भी किया है। देव पहले वियोग शृङ्गार को लेते हैं जो शोकात्मक है और उसकी चार अवस्थायें बताते हैं[१]— पूर्वानुराग, मान, प्रवास, और सभोग। सयोग सदा आनन्दमय होता है, देव के विचार से सयोग, वियोग के बीच म आता है। प्रथम अवस्था, पूर्वानुराग की होती है जिसके बाद दस वियोग की दशायें आती हैं और उसके पश्चात् सयोग होता है जिसके पश्चात् मान, प्रवास और सयोग की अवस्थायें[१] होती हैं। इस वर्गीकरण और क्रम से यह स्पष्ट है कि देव ने इस पर बड़े ही नवीन, स्वाभाविक, तर्कयुक्त और मनोवैज्ञानिक ढग से विचार किया है। यह स्पष्टता अन्य आचार्यों में दुर्लभ है।

शृङ्गार के आधार नायक और नायिका हैं। स्वकीया मुख्य आधार है। इन दो आधारों मे नायिका अधिक आकर्षक है अत देव नायिका का वर्णन आरम्भ करते हैं। यह देव का समझाने का ढग है। सदैव इनकी प्रणाली तर्कसगत है। इसके पश्चात् 'रस विलास' की भाँति ही नायिका भेद का आठ आधारों मे तथा उनके अष्टागों सहित वर्णन है। ये आठ अग हैं :—"भूषण, यौवन, रूप, गुन, सील, विभव, कुल, प्रेम। (१६)"

देव कहते हैं कि स्वकीया के अधिकार में ये आठों हैं। परकीया, कुलमर्यादा हीन होती है किन्तु सामान्या शील, कुल, प्रेम और विभव सभी से हीन होती है। देव के विचारों से जो नायिकायें भूषण, यौवन, रूप और गुण से युक्त होती हैं, उन्हें उत्तमा कहते हैं। नायिकाओं का प्रयोजन बताते हुए देव कहते हैं कि[२] स्वकीया सुख और सतान के लिए, परकीया प्रेम के लिए और सामान्या उत्सव आदि के लिए होती है। परकीया ने

---

१ रस सिंगार के भेद द्वै हैं वियोग सयोग।
सो प्रच्छन्न प्रकास कहि द्वै द्वै कहूँ प्रयोग॥
सो पूरब अनुराग अरु, मान प्रवास संयोग।
वियोग चौविधि, एक विधि आनन्दरूप संयोग॥
प्रथम होत दम्पतिन के पूर्वऽनुराग वियोग।
अभिलाषादिक दस दसा ता पीछे संयोग।
ते वियोग सयोग तें मान प्रवास ससोग।
यहि विधि मध्य वियोग के होत शृङ्गार संयोग॥ (२-१, २, ३, ४)

२. सुकिया सुख संतान हित प्रेम दरस पर नारि।
सामान्या उत्सव समय मगध रूप निहारि॥

प्रेम में दुःख अधिक सुख कम है। इसके अतिरिक्त और वर्णन वैसा ही है जैसा 'रस विलास' का।

पूर्वानुराग के वर्णन में श्रवण और दर्शन के द्वारा उद्भूत के प्रेमाकुर का वर्णन करते हैं। दर्शन तीन प्रकार का है—चित्र, स्वप्न और साक्षात्। नायक भेद का भी उसी प्रकार का वर्णन है। आठवें विलास में देव रसों का वर्णन करते हैं। देव के विचार से उत्साह स्थायी भाव, इस प्रकार के दृश्यों जैसे युद्ध क्षेत्र में शत्रु को देखकर तथा भिखारी व दुखी को देखकर जाग्रत होकर युद्धवीर, दानवीर और दयावीर के रूप म प्रकट होता है। शान्तरस को उन्होंने प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति, शुद्ध प्रेम तथा शुद्ध शान्त में विभाजित किया है। अन्तिम प्रकार म पूर्ण निर्वेद होता है। हास्य तीन प्रकार का है। उत्तम, मध्यम और अधम (देव शृङ्गार, वीर और शात रसों को ही प्रधान रस मानते हैं। दूसरे रसों को इन्हीं रसों का अग कहते हैं इस प्रकार से रसों का वर्णन पूर्ण है, यह वर्णन नवीन ढग और मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर क्रमबद्ध किया गया है। अतः देव की महत्ता स्पष्टता, सुव्यवस्था और स्वाभाविकता मे औरों से बढ़ जाती है।

*भाव-विलास*

रस और अलकारों पर लिखी यह देव की दूसरी पुस्तक है। रचनाकाल की दृष्टि से 'भावविलास' देव की पहली लिखी पुस्तक है जिसका निर्माण उन्होंने स० १७४६ में 'चढ़त सोरहीं वर्ष' में किया था। रस का विवेचन इसमें लगभग वैसा ही है जैसा कि 'भवानी विलास' मे है किन्तु विशेषता यह है कि इसमें अलकारों का वर्णन भी आ गया है। ५० विलास में सात्विक और सचारी भावों का उदाहरणों द्वारा विशेष पूर्णता के साथ वर्णन है। नायिका भेद और रसों के वर्णन का क्रम इसमें 'भवानी विलास' से भिन्नता रखता है परन्तु बहुतेरी परिभाषायें बिलकुल एक ही हैं। पुस्तक के आरम्भ में देव कहते हैं कि धर्म से धन और धन से काम, काम से सुख और सुख का फल शृङ्गार रस है। उसके कारण भाव हैं। भाव छः प्रकार के हैं जैसा कि 'भवानी विलास' म वर्णित है। विभावों का वर्णन इस ग्रथ म विशेष विस्तार के साथ है। शृङ्गार के उद्दीपन विभाव का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

> गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन घन केलि।
> उद्दीपन शृङ्गार के विधु बसन्त वन बेलि॥

इसी प्रकार अनुभावों का भी वर्णन है। इसकी परिभाषायें 'भवानी विलास' के लक्षणों की सी ही हैं।

दूसरे विलास में संचारी भावों का वर्णन है जिनके वे कायिक और मानसिक दो भेद करते हैं। इसमें उनके नाम शारीर और आंतर हैं। शारीर संचारी आठ हैं। देव कहते हैं कि भरत के अनुसार आंतर संचारी ३३ हैं किन्तु अन्त में वे ३४वाँ 'छल' संचारी भी जोड़ देते हैं जिसे देव अन्य संस्कृत आचार्यों[1] के विचार से सम्मत मानते हैं, पर उनका नाम नहीं लेते। इन कुछ नवीनताओं के विषय में शुक्लजी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहते हैं:—

"कुछ लोगों ने भक्तिवश अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हें कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। ये ऐसे ही लोग हैं जिन्हें तात्पर्यवृत्ति एक नया नाम मालूम होता है और जो संचारियों में एक छल और बढ़ा हुआ देखकर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्यवृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आरही है और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी तात्पर्यवृत्ति वास्तव में वाक्य के भिन्न भिन्न पदों ( शब्दों ) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है। अतः वह अमिधा से भिन्न नहीं, वाक्यगत अमिधा ही है। रहा 'छल' संचारी वह संस्कृत की 'रस-तरंगिणी' से जहाँ से और बातें ली गई हैं लिया गया है। दूसरी बात यह है कि साहित्य के सिद्धान्त-ग्रंथों से परिचितमात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ संचारी उपलक्षण मात्र हैं, संचारी और भी कितने हो सकते हैं।"[2] हम इसमें देव की शास्त्रीय उद्भावना की बात न मानें तो भी ३४वाँ छल अन्य आचार्यों ने नहीं रक्खा इसलिये यह देव के विवेचन की विशेषता तो हुई ही। उन्होंने लिया है प्राचीन आचार्यों से अवश्य, पर उस पर सोचा विचारा भी है और उसके विवेचन में नवीनता भी उपस्थित की है।

तीसरे विलास में रस का विवेचन करते हुए देव कहते हैं कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायी मिलकर रस की उत्पत्ति करते हैं। यह रस दो प्रकार का होता हैः—लौकिक और अलौकिक।

नयनादिक इन्द्रियन के जोगहिं लौकिक जानु।
आतम मन संयोग ते होय अलौकिक ज्ञानु॥

तथा

कहत अलौकिक तीन विधि प्रथम स्वापनिक मानु।
मानोरथ कवि देव अरु औपनायकी बखानु॥

---

१. यह वर्णन भानुदत्त कृत 'रसतरंगिणी' के आधार पर है।

२. देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२०-३२१

अलौकिक रस के तीन भेद स्वाप्निक, मानोरथ और औपनायक तथा लौकिक रस के शृंगार, वीर, करुणा आदि नव भेद हैं। हावों का वर्णन इसके उपरान्त, अलग है। ये शृंगार रस से सम्बन्धित हैं। शेष रूप में शृंगार का वर्णन ऐसा ही है जैसा 'भवानीविलास' में। करुणात्मक वियोग और करुणा रस का अन्तर बताते हुए देव कहते हैं—

जहाँ आस जिय जियन की सो करुनातम जानु।
जीमैं निहचै मरन को करुना ताहि बखानु॥
करुनातम सिंगार जहँ और सोक निदानु।
केवल सोग जहाँ तहाँ मिश्र करुन रस जानु॥

'भाव विलास' में अन्य रसों का वर्णन नहीं है। चौथे विलास में नायक नायिकाओं के भेद हैं। पाँचवें विलास में अलंकारों का वर्णन है। देव के विचार से मुख्य अलङ्कार ३९ हैं।[1] संशय की परिभाषा को इन्होंने उपमा और उपमेय में जहाँ सन्देह हो वहाँ माना है यह संदेह अलंकार ही है केवल लक्षण के शब्दों में भिन्नता है। जो अलंकार नौ रसों में सरसता पहुँचावे देव ने उसे रसवत् माना है। इस प्रकार जो भी परिभाषा है, वह स्पष्ट है।

काव्यरसायन :—

देव के ग्रंथों में 'काव्यरसायन' सबसे अधिक महत्व का है। इस ग्रंथ में शब्दशक्ति, वृत्ति, रीति, गुण, रस और अलंकारों का विवेचन है। इसमें ध्वनि सिद्धान्त का वर्णन है। 'काव्यरसायन' के अन्त में छन्दशास्त्र का भी विवरण है। देव, काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं :—

सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति अलंकार गम्भीर॥

इस प्रकार देव ने शब्द को जीव, अर्थ को मन और रस से युक्त सुन्दर यश वाला काव्य का शरीर माना है। शब्द को जीव मानने का तात्पर्य शब्द शक्ति के विवेचन करने का उद्देश्य ही है। इसके आगे वे कहते हैं :—

---

१. अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहै ये ही पुरानि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और इन्हीं के भेद और विविध बताइये॥

—भाव विलास, ५ वि०, १ छंद।

"सब्द सुमति बुध तें कढ़ै लै पद बचननि अर्थ।
छन्द भाव भूषन सरस सो कहि काव्य समर्थ॥
तातें पहले सब्द अरु कीजै अर्थ विचार।
सुनत रसाङ्ग देव कवि, काव्य श्रुति सुपसार॥"

इसी प्रसग में अभिधा, लक्षणा, व्यजना का वर्णन है। वाचक, वाच्य और वृत्ति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है:—

सब्द बचन ते अर्थ कढ़ि, चढ़े सामुहे चित्त।
ते दोउ वाचक वाच्य हैं, अभिधा वृत्ति निमित्त॥

शब्द वाचक होता है, अर्थ वाच्य और वृत्ति का नाम अभिधा है। इसी प्रकार से लक्षक लक्ष्य लक्षणा, व्यजक-व्यग्य व्यजना का भी वर्णन है। अभिधा वृत्ति के उदाहरण में देव लिखते हैं:—

पाँवरिन पाँवड़े परे हैं पुर पौरि लागि, धाम धाम धूपन की धूम धुनियत है।
कस्तूरी अगर सार चोवा रस घन सार दीपक हजारन अँध्यार लुनियत है॥
मधुर मृदग राग रग के तरंगनि में अग अग गोपिन के गुन गुनियत है।
देव सुखसाज महराज ब्रजराज आजु राधा जू के सदन सिधारे सुनियत है।

इसमें प्रधान अभिधा है, क्योंकि जो कहा गया है वही उद्दिष्ट है। देव के विचार से जिस वृत्ति की प्रधानता होती है उसी शक्ति को वहाँ मानना चाहिये। ऊपर के पद में लक्ष्य और व्यग्य दोनों अर्थ हैं पर प्रधान वाच्यार्थ ही है, किस प्रकार? यह स्पष्ट करते हुए देव कवि कहते हैं:—

जहाँ वाच्य वाचक विवस लक्ष्य सखी मुख गर्व।
व्यंग्य सौतिन को निरादर, अभिधा तहाँ अपर्व॥
तिहूँ शब्द के अर्थ ये तीन्हों ओत प्रोत।
ये प्रवीन ताही कहत जाको अधिक उदोत॥

अतः यहाँ वाच्यार्थ ही प्रधान है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी स्पष्ट किया गया है। लक्षणा के रूढ़ि, प्रयोजनवती और रूढ़ि के व्यग्य और बिन व्यग्य भेदों, प्रयोजनवती के शुद्ध और मिलित, तथा शुद्ध के अजहत, जहत, सारोपा, साध्यवसाना और मिलित के केवल सारोपा और साध्यवसाना आदि भेद विभेदों का स्पष्ट वर्णन है।

इन सभी के लक्षण सुस्पष्ट और उदाहरण सुन्दर हैं। देव ने इन सभी के तथा अभिधा और लक्षणा के भी सम्मिश्रण के उदाहरण दिये हैं। अभिधामध्यलक्षणा का एक उदाहरण देखिये:—

> साँझ से फूलन सेज बनाइ दुकूलनि, फूलनि फैलि सिलौंगी।
> हेली पठाई अकेलिये हौं, सुख सेज के पालक पौढ़ि मिलौंगी॥
> सोऊँगी लाज के साज निवारिकै साजन सौं सपनेहुं हिलौंगी।
> कानन मूंदि मिहीचि के आँखिन चित्त हूँ सौं चुरि मित्त मिलौंगी॥

यहाँ चित्त हू सो चुरि में लक्षणा, सम्पूर्ण अभिधात्मक वर्णन के मध्य शोभित है। *प्रियमिलन वाच्यार्थ और लज्जा लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार व्यजना-मध्य-व्यजना का* उदाहरण देखिये :—

> बानर बीर बसाये अटा रंग मंदिर में सुक सारी चिरैया।
> मोर लौं ऊधिल मीर अथाहन द्वार न कोई किवार भिरैया॥
> कौलौं घिरे घर में रहौं देव बछा बिछुरे कहौं कौन घिरैया।
> भूले न बाग समूले निमूलेऊ सूले खरे उर फूले फिरैया॥

यहाँ पर घर में मिलन नहीं हो सकता इस व्यग्यार्थ के मध्य यह व्यजना है कि बाग मे भेंट होगी। तत्पश्चात् इन तीनों वृत्तियों के सकीर्ण भेदों का वर्णन करते हुए मूल भेद कहे गये हैं। देव के अनुसार अभिधा के जातिभेद, क्रियाभेद, गुनभेद, शास्त्रकथितरूपादि भेद हैं।

'काव्य रसायन' के तीसरे प्रकाश में रस निर्णय है। देव के विचार से रस ही काव्य सार है[1] और काव्य स्वय शब्द और अर्थ का सार है। काव्य के शब्दार्थ, अलकार *आदि अनेक स्वभाव हैं। काव्य की अमरतरु से तुलना करते हुए और इस प्रकार* उस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्हों ने लिखा है :—

> रस लक्षन—चित्त थापित थिर बीज विधि होत अंकुरित भाव।
> चित्त बढ़ति दल फूल फलि बरसत सरस सुभाव॥

---

१. भावनि के बस रस बसत, विलसत सरस कवित्त।
कविता सब्द अर्थ पद तिहि बस सदन विच॥
काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यसार।
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥

खेत बीज अंकुर सलिल साखा दर फल फूल।
आठ अंग रस अमर तरु चुवत अमीरस मूल॥
खेत पाल आरम्भि विधि बीज सुअंकुर योग।
सलिल नेह भाव सु विटप छन्द पत्र परिभोग॥
अलकार रस अर्थ के फल फूलनि आमोद।
मधुर सुजस रस अमरतरु अमर अमीरस मोद॥

देव, नवरसों के नाम कथन करने के बाद उनके स्थायी, सात्विक, सचारी भावों को स्पष्ट करते हैं किन्तु विशेष विवरण के लिये 'भावविलास'[1] और 'भवानीविलास' देखने को कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह उनके बाद का रचा ग्रथ है। देव, शृङ्गार को मुख्य रस मानते हैं और जैसा कि 'भवानीविलास' मे है तीन रसों को प्रमुख और अन्यों को सहायक के रूप मे देखते हैं। इन तीनों मे प्रत्येक के दो आधीन रस हैं।[2] देव के उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। विभाव का उदाहरण देखिये :—

बौरई सी बन बौरई फूलनि भौरई भार बयार की झौंकै।
केरइ ते विष कोरई लीलि रही वही ठौर कठोर हियो कै॥
भोरई सों रई सूझि परी उर रौरई देव रुके नहिं रोकै।
औरई सी भई बाग लौं आवत बौरई सी भई ठौर बिलोकै॥

रसों के वर्णन भी बड़े पूर्ण हैं। हास्य के तीन प्रकार उत्तम, मध्यम, अधम और

१. "सात्विक अरु सचारियो रस को करत प्रकास।
सबको लच्छन उदाहरण, बरनत भावविलास॥"

२ "नौरस सब संसार मय नौरस मय संसार।
नौरस सार सिंगार रस, जुगुल सार सिंगार।
जुग को सर्वस नायका, नायक जुगल सरूप।
जोबन सर्वस जुगल को जोबन प्रेम अनूप॥"

— — — — —

"तीनि मुख्य नौ रसनि में द्वै द्वै प्रथमनिलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिहुन मे दोऊ तिहि आधीन॥
हास्य रु भय सिंगार संग, रुद्र करुन संग बीर।
अद्भुत अरु बीभत्स संग सान्त सुबरनत धीर॥"

इन सभी के लक्षण सुस्पष्ट और उदाहरण सुन्दर हैं। देव ने इन सभी के तथा अभिधा और लक्षणा के भी सम्मिश्रण के उदाहरण दिये हैं। अभिधामध्यलक्षणा का एक उदाहरण देखिये:—

> साँझ से फूलन सेज बनाइ दुकूलनि, फूलनि फैलि खिलौंगी।
> हेली पठाई अकेलिये हौं, सुख सेज के पालक पौढ़ि मिलौंगी॥
> सोऊँगी लाज के साज निवारिकै साजन सौं सपनेहुं हिलौंगी।
> कानन मूंदि मिहीचि के आँखिन चित्त हूँ सौं चुरि मित्त मिलौंगी॥

यहाँ चित्त हूँ सो चुरि में लक्षणा, सम्पूर्ण अभिधात्मक वर्णन के मध्य शोभित है। *प्रियमिलन वाच्यार्थ और लज्जा लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार व्यंजना-मध्य-व्यंजना का* उदाहरण देखिये :—

> बानर बीर बसाये बना रंग मंदिर में सुक सारी चिरैया।
> मोर लौं ऊधिल मीर अथाहन द्वार न कोई किवार भिरैया॥
> कौलौं घिरे घर में रहौं देव बड़ा बिछुटे कहौं कौन घिरैया।
> भूले न बाग समूले निमूखेऊ सूले खरे उर फूले फिरैया॥

यहाँ पर घर में मिलन नहीं हो सकता इस व्यंग्यार्थ के मध्य यह व्यंजना है कि बाग में भेंट होगी। तत्पश्चात् इन तीनों वृत्तियों के सकीर्ण भेदों का वर्णन करते हुए मूल भेद कहे गये हैं। देव के अनुसार अभिधा के जातिभेद, क्रियाभेद, गुनभेद, शास्त्रकथितरूपादि भेद हैं।

'काव्य रसायन' के तीसरे प्रकाश में रस निर्णय है। देव के विचार से रस ही काव्य सार है[1] और काव्य स्वय शब्द और अर्थ का सार है। काव्य के शब्दार्थ, अलंकार आदि अनेक स्वभाव हैं। *काव्य की अमरतरु से तुलना करते हुए* और इस प्रकार उस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्हों ने लिखा है :—

**रस लक्षन—** चित थापित थिर बीज विधि होत अंकुरित भाव।
चित्त बढ़ति दल फूल फलि बरसत सरस सुभाव॥

---

१. भावनि के बस रस बसत, विलसत सरस कवित्त।
कविता सब्द अर्थ पद तिहि बस सज्जन चित्त॥
काव्य सार स दार्थ को, रस तिहि काव्यैसार।
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥

खेत बीज अंकुर सलिल साखा दर फल फूल ।
आठ अंग रस अमर तर सुवत अमीरस मूल ॥
खेत पात्र प्रारब्धि विधि बीज सुअंकुर योग ।
सलिल नेह भाव सु विटप छन्द पत्र परिभोग ॥
अलंकार रस अर्थ के फल फूलनि आमोद ।
मधुर सुजस रस अमरतरु अमर अमीरस मोद ॥

देव, नवरसों के नाम कथन करने के बाद उनके साथी, सात्विक, सचारी भावों को स्पष्ट करते हैं किन्तु विशेष विवरण के लिये 'भावविलास'[1] और 'भवानीविलास' देखने को कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह उनके बाद का रचा ग्रथ है। देव, शृङ्गार को मुख्य रस मानते हैं और जैसा कि 'भवानीविलास' मे है तीन रसों को प्रमुख और अन्यों को सहायक के रूप मे देखते हैं। इन तीनों मे प्रत्येक के दो आधीन रस हैं।[2] देव के उदाहरण बडे सुन्दर हैं। विभाव का उदाहरण देखिये :—

बौरई सी बन बौरई फूलनि भौरई भार बयार की झोंकै।
केरइ ते विष कोरई लीलि रही वही ठौर कठोर हियो कै॥
भोरई सों रई सूझि परी उर रौरई देव रुकै नहिं रोकै।
औरई सी भई बाग लौं आवत बौरई सी भई ठौर बिलोकै॥

रसों के वर्णन भी बडे पूर्ण हैं। हास्य के तीन प्रकार उत्तम, मध्यम, अधम और

---

१. "सात्विक अरु सचारियो रस को करत प्रकास।
सबको लच्छन उदाहरण, बरनत भावविलास॥"

२ "नौरस सब ससार मय नौरस मय संसार।
नौरस सार सिंगार रस, जुगुल सार सिंगार।
जुग को सर्वस नायका, नायक जुगल सरूप।
जोबन सर्वस जुगल को जोबन प्रेम अनूप॥"

— — — — —

"तीनि मुख्य नौ रसनि मैं द्वै द्वै प्रथमनिलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिहुन मे दोऊ तिहि आधीन॥
हास्य रु भय सिंगार संग, रुद्र करुन संग बीर।
अद्भुत अरु बीभत्स संग सान्त सुबरनत धीर॥"

करुना वे, अति करुना, महा करुना, लघु करुना और सुख करुना हैं जिसमें देव ने मिलन समय रोने को भी रक्खा है, इसके बाद रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्भुत और शान्त रसों का वर्णन है। शान्तरस का स्थायी भाव समबुद्धि है। इसी प्रसंग में वे रस दोष[1] और रस शत्रु का भी विवरण देते हैं। देव का कैसिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों आदि का वर्णन पूर्ण नहीं है। 'काव्य रसायन' में नायिका भेद का वर्णन करते हुए वे १३ प्रकार की वय के विचार से और ८ अवस्था के विचार से नायिकाओं का वर्णन करते हैं:—

तेरह विधि वय भेद, अरु कहत अवस्था आठ।
स्वीया परकीया द्विविधि, सर्वं अर्थं तिहि पाठ॥

इसके पश्चात् देव द्वादश रीतियों का वर्णन करते हैं। अर्थ, श्लेष, प्रसाद, सम, मधुर भाव, सुकुमार, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति, ओज, उदार आदि दस गुण हैं और इनमें से प्रत्येक को नागर और ग्रामीण दो भेदों में बाँटकर द्वादश रीति कही गई हैं, जोकि उपयुक्त नहीं। देव, नागर और ग्रामीण दोनों को ही महत्व देते हैं। नागर में रुचि अर्थात् सुघराई अधिक है किन्तु ग्रामीण में रस अधिक है। देव के ही शब्दों में —

नागर गुन आगर द्वितिय रस सागर रुचि हीन॥ ५
नागर अरु ग्रामीन गति ससुक्त परम प्रवीन।
काम कहा तिनको जु सठ कामुक हृदय मलीन॥ ६
सुन्दर सरस सरावरी, हम कमल जिहि बीच।
तहाँ गरनि रज पुञ्ज गज पैठि उठावत कीच॥ ७
नगर ग्राम अन्तर इतो मालति मधु मकरन्द।
तनि चम्पा मदान चढ़ि मांगत अलि न अनन्द॥ ८
जौ लौं पावै पद्मिनी, स्वास समीरन मोद।
मधुकर करिवर कुम्भ पर, करत न विविध विनोद॥ ६

*नागर के साथ कलात्मक और कृत्रिम सौन्दर्य है किन्तु ग्रामीण के साथ स्वाभाविक* और प्राकृतिक सौन्दर्य है। फिर भी लोग नागर को अधिक चाहते हैं। यह देव का विचार है।

---

१ सरस, निरस, उदास, मन्मुख, विमुख स्वनिष्ठ और परनिष्ठ ये रस दोष हैं।

गुणों के वर्णन के उपरान्त अलङ्कारों का वर्णन आता है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास, यमक, अनेक भेदों सहित चित्र तथा प्रैम्नलोत्तरिका का वर्णन है, और अर्थालङ्कारों म दो वर्ग हैं : मुख्यालङ्कार तथा गौणमिश्रालङ्कार। मुख्यालङ्कार के अन्तर्गत—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, समोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, हेतु, सहोक्ति, सन्देहजिज्ञासा, सूक्ष्म, लेश, भय, प्रेम, रसवत, उदात्त, ऊर्जस्वि, अपन्हुति, समाधि, निदर्शना, दृष्टान्त, निन्दास्तुति, स्तुति निंदा, सक्रम, विरोध, विरोधाभास, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत, असम्भव, असङ्गति, परिकर, तद्गुन आदि हैं।

गौणमिश्रालङ्कार म अनुगुन, अनुज्ञा, अवज्ञा, गुनवत, प्रत्यनीक, लेखसार, मिलित, कारन माला, एकावली, मुद्रा, मालादीपक, समुच्चय, सम्भावना, प्रदर्शन, गूढोक्ति, व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, विकल्प, सङ्कीर्ण, भाविक, आक्षिप्त, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्योन्याश्रित, सामान्यविशेष, उन्मीलित, पिहित, अर्थापत्ति, विधि, निषेध, अत्युक्ति, प्रयुक्ति, अन्योक्ति आदि हैं।

इनका 'संशय' सन्देह से भिन्न है। केवल उपमा देने में ही जब अनिश्चय होता है वहाँ देव 'संशय' मानते हैं जब कि सन्देह अन्य आचार्यों के द्वारा निरूपित सन्देह अलङ्कार के समान है। संशय को अलग अलङ्कार मानना उपयुक्त नहीं।

एक प्रकार के अलङ्कार एक ही छन्द म स्पष्ट किये गये हैं। नवें प्रकाश तक उपर्युक्त विषय समाप्त होजाते हैं।

दशवें प्रकाश में छन्दों का वर्णन है। 'काव्यरसायन' उत्तम ग्रन्थों म है। वर्गीकरण और विवेचन दोनों के विचार से यह ग्रन्थ रोचक है। यद्यपि आधार संस्कृत के ग्रंथ हैं, फिर भी क्रम और ढंग तथा विषय विभाजन आदि म नवीनता है। इन अनेक ग्रंथों में हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के एक विशेष अङ्ग को प्रमुख बनाकर वर्णन किया गया है, यद्यपि एक विषय पर विचार सबका एक से ही हैं। इस प्रकार हम देव म विचार की स्पष्टता, वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता के दर्शन होते हैं। उन्हों ने काव्यशास्त्र के लगभग सभी विषयों पर विचार किया है, उनका स्थान आचार्य और कवि दोनों की दृष्टि से आदरणीय है।

———

# तृतीय-अध्याय

# ३

# रीति-ग्रन्थों का विस्तार और उत्कर्ष

चिन्तामणि त्रिपाठी के पश्चात् देव और कालिदास के समय तक लगभग ५० वर्षों में काव्यशास्त्र के विषयों पर हिन्दी म लिखने की परम्परा बँध गई थी। लक्षण अथवा रीति ग्रन्थों की, जनता और राजदरबार दोनों के बीच प्रतिष्ठा बन चुकी थी। अब कवि के लिए यह आवश्यक सा हो गया था कि वह जो कुछ भी लिखे, उसे रीति परम्परा में ढाल कर लिखे। उसे रस, अलकार, नायिकाभेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही और किसी वस्तु का वर्णन करना होता था। सफल कवि वही समझा जाता था जो कि लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करे। राजदरबारों म भी उदाहरणों पर विवाद होते थे। किसी भी स्त्री के वर्णन म, यह कौन नायिका है? का प्रश्न अनिवार्य था। अत कवि लोग इसी के सहारे चलते थ। टीकाओं और अर्थ तक म काव्य-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए उसके भीतर, कौन अलकार, कौन रस या भाव, कौन नायिका अथवा कौन शब्द-शक्ति विद्यमान थी, यह बताना आवश्यक समझा जाता था।

राजदरबारी कवि भी राजा की प्रशसा, उसका जीवन आदि इन्हीं रीति ग्रन्थों के ही अन्तर्गत करते थे। रीति-परम्परा से स्वच्छन्द काव्य लिखने वालों को प्राय उचित सम्मान न मिलता था। बिहारी आदि कुछ कवि तो अपवाद ही मानने चाहिए। यद्यपि इनके दोहों म भी अलकार और नायिका भेद प्राप्त होने के कारण ही सतसई का आदर होता था। कवियों की गोष्ठियों म भी किसी कविता के भीतर उपर्युक्त बातों पर ही वाद विवाद चला करता था। अत लगभग सभी कवि अपनी कविता को इन्ही प्रणालियों के अन्तर्गत ढालते थे। वे लक्षणों के उदाहरण रूप कविता लिखते थे। इसका प्रचलन १७५० वि० के पश्चात् बहुत अधिक हो गया। इस समय बडे बडे ग्रन्थ लिखे गए और प्रसिद्ध आचार्य भी हुए। इनमें सूरति, सोमनाथ, श्रीपति, भिखारीदास, दूलह, बैरीसाल, पद्माकर

आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन का महत्व इसी रीति परम्परा के ही अन्तगत है इससे बाहर नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी काव्यशास्त्र पर लिखे जाने वाले ग्रंथ का यह उत्कर्ष काल था, इस काल की काव्य की प्रगति लक्षण ग्रन्थों के रूप में ही मिलती है। इस उत्कर्ष-काल के ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया जायेगा

## कालिदास त्रिवेदी का 'वधूविनोद'

यह देव के समकालीन नायिका भेद पर लिखा प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसको कालिदास ने सं० १७४६ के लगभग जीना में जलिम जोगाजीत के आश्रय में लिखा था। जैसा कि नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है :—

> नगर एक वीनौ तहाँ बहु विधि नृपति अनूप।
> तरे यहै तृपदा नदी तृपथगामिनी रूप॥

उसमें पहले जालिम सिंह के वश का वर्णन है उससे पश्चात् कथानक है कि राधा और कृष्ण के बीच ललिता ने दूती का काम किया। राधा को कृष्ण के पास आने के लिए कहकर कृष्ण को समझाने के लिये ललिता गई और उस बीच में जबतक राधा, कृष्ण के यहाँ तक पहुँचे, ललिता ने कृष्ण से नायिकाओं के भेद कहे और समझाया कि कुलवधू बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है :—

> भेद कहे कुलवधुन के प्रथमहिं रचि रचि बैन।
> मिलै जाल गोकुल बधू पै कुलवधू मिलै न॥

पुस्तक में स्वकीया, परकीया, सामान्या आदि के सामान्य लक्षणों के साथ सुन्दर काव्यपूर्ण उदाहरणों से युक्त वर्णन है।

## सूरति मिश्र

सूरति, आगरे के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे जैसा इनके दोहे के एक चरण से पता चलता है :—

> "सूरति मिश्र कनौजिया, नगर आगरे वास"

इन्होंने कई ग्रंथ काव्यशास्त्र के विषयों पर लिखे जैसे—'अलंकार माला' 'रस रत्नमाला' 'रस ग्राहक चन्द्रिका' 'काव्य सिद्धान्त, 'रस रत्नाकर' 'सरस रस' आदि। इन्होंने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की टीकाएँ भी व्रजभाषा गद्य में लिखी हैं। इनका 'अलंकार माला' ग्रंथ सं० १७६६ की रचना है। यह अलंकारों पर लिखा हुआ

'भाषाभूषण' के ढंग का ग्रंथ है जिसका आधार 'चन्द्रालोक' जान पड़ता है। इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण दोनों एक ही दोहे में देने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु यह 'भाषा-भूषण' के समान सुगठित लक्षण और उपयुक्त उदाहरण का गौरव नहीं प्राप्त कर सका।

*काव्य सिद्धान्त*

इनके अन्य ग्रन्थ रस के सम्बन्ध के हैं पर 'काव्य सिद्धान्त'[1] में काव्यशास्त्र के सभी विषयों पर विचार है और यह महत्व का ग्रन्थ है। इसमें उन बातों का वर्णन है जिनका जानना कवि के लिये आवश्यक है और जो कविता में भी आनी चाहिये। काव्य की परिभाषा भी इनकी अपनी निश्चित की हुई जान पड़ती है। वे कहते हैं :—

"बरनन मन रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि को जु तिहि काव्य कहत सब कोइ।"

इस परिभाषा के अन्तर्गत रस, गुण, अलंकार आदि सभी आवश्यक बातें आ जाती हैं। साथ ही साथ सूरति मिश्र, काव्य की अत्यन्त आवश्यक तीन बातों का निर्देश करते हैं। कारण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :—

कारण देवप्रसाद जिहि सकित कहत सब कोइ।
बितपत और अभ्यास मिल त्रय बिन काव्य न होइ॥

देवप्रसाद, व्युत्पत्ति और अभ्यास, ये तीन बातें काव्य की उत्पत्ति की कारणस्वरूप हैं। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :—

जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सम आन।
तबहीं तरु उपजें सुयों इनते कविता जान॥

'बितपत' का अर्थ व्युत्पत्ति या शास्त्रज्ञान है अतः सूरति के विचारानुसार प्रतिभा, फिर शास्त्रीय ज्ञान और इनके उपरान्त अभ्यास तीनो का ही क्रमशः महत्व है। एक की भी कमी होने पर काव्य नहीं हो सकता है। काव्य प्रयोजन को वे औरों की भाँति ही मनोरंजन, अशुभ का नाश, यश और धन आदि की प्राप्ति में बताते हैं। इसके पश्चात् वे कहते हैं कि काव्य का रूप शब्द, अर्थ, गुण, दोष, रस और अलंकार आदि के द्वारा निश्चय होता है। अतः इन्हीं का वे क्रमशः वर्णन करते हैं। शब्द तीन प्रकार का, वाचक, लक्षक और व्यञ्जक होता है और उससे निर्गतअर्थ वाच्य, लक्ष्य और

१. टीकमगढ़ में लेखक द्वारा देखी प्रति के आधार पर।

व्यंग्य होते हैं। यह विवेचन 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर है। आगे भी वे ध्वनि या व्यंग्य को काव्य का प्रमुख अंग मानते हुए उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों का वर्णन करते हैं। अधम काव्य में व्यंग्य कुछ भी नहीं रहता अतः इसके अन्तर्गत चित्र, अनुप्रास आदि आते हैं।

तत्पश्चात् दोषों का वर्णन है। जिन दोषों को सुरति ने लिया है वे अश्लील, जुगुप्सा, व्रीड़ा, अमंगल, श्रुतिकटुत्व, दुस्सधान, हीनरस, ग्राम्यत्व, पतु, मृतक, संदिग्ध, क्लिष्ट, पुनरुक्त, निरर्थक, अधिक न्यून पद, क्रमहीन, यतिभंग, असमर्थ, विरोधी आदि हैं। इन दोषों को दूर करने के उपाय 'दोषांकुश' शीर्षक के अन्तर्गत दिये हैं। गुणों में वे तीन गुणों को ही लेते हैं:—प्रसाद, ओज और माधुर्य और उसके पश्चात् सदोष में रस और उसके अंगों का वर्णन करते हैं। औरों की भाँति सुरति ने शृङ्गाररस का अधिक विवरण नहीं दिया, वरन् सबका एक सा ही विवेचन है और सभी को बराबर महत्व दिया है।

अलंकारों के वर्णन में लक्षण को भी अधिक स्पष्ट और पूर्ण बनाने का प्रयत्न है, केवल उदाहरण भरने का ही नहीं। इससे सुरति का उद्देश्य काव्य शास्त्र का विवेचन कवि के रूप में नहीं वरन् आचार्य के रूप में करने का जान पड़ता है।

'काव्य सिद्धान्त' के अन्त में पिंगल का वर्णन है जिसमें अनेक विभिन्नप्रकार के मात्रिक और वर्णिक छन्दों का पूर्ण रीति से विवेचन है। इस प्रकार काव्य शास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डालने के कारण सुरति की गणना हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रधान आचार्यों में होती है।

## कृष्ण भट्ट की 'शृङ्गाररस माधुरी'

कृष्णभट्ट देवऋषि की सं० १७६६ की लिखी हुई 'शृङ्गाररस माधुरी',[1] रसों में रस और विशेष रूप से नायिका भेद पर लिखी पुस्तक है। यह बिहरमीपुर के महाराज युधिष्ठिर देव के लिये रची गई थी। यह 'रसिकप्रिया' की भाँति रसों पर पुस्तक है। संयोग और वियोग का दो दो भेदों, प्रच्छन्न और प्रकाश में वर्णन किया गया है। विलास के अन्तर्गत नायिका नायक भेदों का वर्णन है और उनमें भी अधिक दशाओं का प्रच्छन्न और प्रकाश दो रूपों में वर्णन है। रसों के वर्णन में अनेक प्रकार की स्त्रियों का वर्णन है जैसे—नाइन, नटिन, पोसिन आदि जैसा कि देव ने किया

१. याज्ञिक संग्रहालय में देखी प्रति के आधार पर

है। अन्त में हास्य, करुणा आदि रसों का वर्णन बड़े संक्षेप में किया गया है। अधिकांश उदाहरण अच्छे हैं।

## गोप कवि

ये ओरछा-नरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रय में थे। मिश्रबन्धुओं ने इनका रचना काल सं० १७७३ दिया[1] है और इनका ग्रंथ रामालंकार ही लिखा है तथा उसका भी अन्य कोई विवरण नहीं दिया, किन्तु लेखक ने दतिया राजपुस्तकालय में इनका बनाया ग्रंथ 'रामचन्द्र भूषण' और टीकम गढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय (ओरछा) में 'रामचन्द्र भूषण' और 'रामचन्द्राभरण' नामक दो ग्रंथ देखे हैं।

*रामचन्द्र भूषण*

यह अलंकारों का ग्रंथ है। दोहों में ही उनके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। प्रथमार्द्ध में अलंकार के लक्षण और द्वितीयार्द्ध में उदाहरण हैं और उदाहरण राम के चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं। पहले अर्थालंकारों का और बाद में शब्दालंकारों का वर्णन है। उदाहरण स्पष्ट और लक्षण संक्षेप में दिये गये हैं। इनके विचार से शब्दों और अर्थों की रुचिर रचना अलंकार है, जिनका विकास भाव, रस और गुणों के सौन्दर्य से होता है। अलंकार की इस रूप में परिभाषा यथार्थतः अलंकार के महत्व को बढ़ाने वाली है। देखिये :—

> शब्द अर्थ रचना रुचिर अलंकार सो जान।
> भाव भेद गुन रूप ते प्रगट होत है आन॥

अलंकारों का वैसे तो वर्णन पुरानी परिपाटी पर है ही पर स्वभावोक्ति के इन्होंने चार भेद जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर किये हैं। यह वर्णन मानो केशव के सामान्यालंकार का सा है। केशव के वर्णन से यह अधिक स्वाभाविक है। इनका दूसरा ग्रंथ 'रामचन्द्राभरण' भी 'रामचन्द्र भूषण' के ही समान है। लक्षणों में तो समानता है ही वर्णन-क्रम और उदाहरणों में भी साम्य है। इसके उदाहरणों में कवित्त, सवैया और छप्पय छन्दों का प्रयोग है और वे अधिकतर सुन्दर बन पड़े हैं। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में कवि ने अपनी वंशावली दी है और यह भी दिया है कि यह ग्रंथ ओरछा-नरेश पृथ्वीसिंह के आश्रय में रचा गया ग्रंथ है।

---

१. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग २, पृ० ६१३
" " " २, पृ० ४०६-४०८ (१९८४ संस्करण)

## याकूब खां का 'रसभूषण'

मिश्रबन्धु विनोद[1] के अनुसार सं० १७७५ का लिखा याकूबखां का 'रसभूषण'[2] ग्रंथ है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें अलंकार व नायिकाभेद के लक्षण और उदाहरण साथ साथ चलते हैं। अपने वर्णन क्रम के विषय में प्रारम्भ में ही कवि ने कह दिया है :—

अलंकार संयुक्त कहीं नायिका भेद पुनि।
बरनौं क्रम निजु उक्ति लछन और उदाहरनि॥

अब इसका कारण देते हुए वे कहते हैं कि कोई भी नायिका बिना आभूषणों के शोभित नहीं होती है अतः जब नायिका भेद वर्णन करना है तो अलंकार अवश्य रहना चाहिए[3]। अतः सबसे पहले पूर्णोपमा और नायिका को एक साथ लेते हुए वे कहते हैं :—

पूरन उपमा जानि चारि पदारथ होइ जिहिं।
ताहि नायिका मानि, रूपवन्त सुन्दर सुछवि॥
उदाहरण—है कर कोमल कंज से ससि सो दुति मुख चैन।
कुन्दन रंग पिक बचन से मधुरे जाके बैन॥

इसमें तीन पूर्णोपमा हैं और वर्णन नायिका का है। दूसरे लुप्तोपमा और स्वकीया को एक साथ लेकर उदाहरण में कहते हैं :—

कोकिल सी ऐसी भट्ट मधुरे तेरे बैन।
लाज कानि तोमें बसी द्वै को अंक लखै न॥

इस लुप्तोपमा को याकूबखां टीका में स्पष्ट करते हैं—"कोकिल के बचन तें बचन की उपमा दिया कोकिल के बचन से बचन कह, कोकिल के बचन कहे ताते उपमा लुप्त है।" इस प्रकार वे एक अलंकार और एक नायिका भेद का लक्षण एक साथ लेते चलते हैं। टीका का प्रयोग बहुत नहीं किया गया है जहाँ पर लक्षण में कुछ अस्पष्टता रह गई है वहीं पर टीका लिखी गयी है। पुस्तक भर में दोहा और सोरठा छन्दों का प्रयोग किया गया है। नायिका भेद और अलंकारों के किसी भागविशेष द्वारा लक्षण और उदाहरण देने में

---

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ० ६१९

२. दतिया राजपुस्तकालय में लेखक द्वारा देखी प्रति के आधार पर।

३. अलंकार बिनु नायिका सोभित होइ न मान।
अलंकारजुत नायका याते कहौं बखानि॥

बड़ी विद्वत्ता और कवित्व शक्ति का परिचय । है। इसका महत्व इसी प्रकार का है जैसे कि व्यंग्यार्थ कौमुदी आदि का। इसी 'रस भूषण' के आधार पर स० १८६६ में शिवप्रसाद ने भी 'रस भूषण' लिखा, जो साधारण पुस्तक है। 'रस भूषण' के अन्तर्गत याकूब खा ने रस, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि का भी वर्णन किया है। रस के सभी भेद पूर्णरीति से वर्णित है। हास्य रस का वर्णन नितान्त हिन्दी का सा ही जान पड़ता है संस्कृत से लिया हुआ सा नहीं। ऐसा जान पड़ता है इसका आधार हिन्दी के ग्रथ हैं संस्कृत के नहीं। हास्य के मृदु हास, मद हास, अतिहास, उच्च हास प्रकार है, वर्णन क्रम में रौद्र के साथ भावोदय[1], वीर के साथ भावसधि और भावशवलता और अद्भुत के साथ यमकालकार का वर्णन है। वर्णन का यह समिश्रण स्वाभाविक और प्रभावकारी है। कौन अलकार किस रस के साथ अधिक उपयुक्त है इस पर भी प्रकाश पड़ता है। अन्त म परुषा, उपनागरिका और कोमला वृत्तियों का वर्णन है। ग्रथ के अन्त में अपने वर्णन क्रम पर एक टिप्पणी देते हुए याकूब खा लिखते हैं "या ग्रथ के विषे उदाहरन म लच्छन के क्रम ते पहली तुक म तो अलकार बरन्यो है और दूसरी तुक में नायिका भेद है। दोनों ही तुक म अलकार को निर्वाह नजानिये। एक ही तुक म है।" इस प्रकार वर्णन प्रणाली के विचार से इसम नवीनता है परन्तु अन्यथा इसमें विवेचन की गहराई नहीं है।

## कुमारमणि भट्ट

ये वत्सगोत्री तैलग ब्राह्मण हरिवल्लभ जी के पुत्र थे जो कि सप्तशतीकार गोवर्द्धनाचार्य के छोटे भाइ बलभद्र जी की छठवीं पीढी में उत्पन्न हुए। कुमारमणि भट्ट संस्कृत के अच्छे विद्वान् थ और कवि भी। इनका लिखा 'रसिक रसाल'[2] काव्य शास्त्र का अच्छा ग्रथ है। यह 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है जैसा कि आगे के कथन से स्पष्ट है —

---

१ भावोदय है जोय उदित दसा जु भाव की।
 
 यानौ रुद्र जु होय सोहू क्रोध मन में अधिक॥
 
 नवल बधू को रूप लखि सौति गिरी मुरझाइ।
 
 सतरौंही भौंह करी, तिरछी लखी रिसाइ॥

२ टीकमगढ में देखी प्रति के आधार पर। इनका यह ग्रन्थ छप भी चुका है।

काव्य प्रकाश विचारि कछु रचि भाषा में हाल।
पण्डित सुकवि कुमारमणि कीन्हो रसिक रसाल॥

'रसिक रसाल' का रचना काल सं० १७७६ है जो नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है :—

रस सागर रवि तुरग विधु संवत मधुर वसन्त।
विकस्यो रसिक रसाल लखि हुलसत सहृदय सन्त॥

'रसिक रसाल' के प्रथम अध्याय में 'काव्यप्रकाश' के आधार पर ही काव्य प्रयोजन काव्य कारण, ध्वनि, उत्तम, मध्यम और अधम काव्य आदि का वर्णन है। उसके पश्चात् उत्तम काव्य के भेद, शब्दशक्ति, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि पर सुन्दर और रोचक उदाहरण द्वारा स्पष्ट रीति से विचार किया गया है। 'वक्ता के विषय ते व्यंजना' के उदाहरण में एक छन्द देखिये :—

तोहि गई सुनि कूल कलिन्दी-के हौंहूँ गई सुनि हेलि हमारी।
भूली अकेली कहूँ डरपी मग में लखि कुंजन पुंज अँध्यारी॥
गागर के जल के छलके घर आवत लौं तन भीगि गो भारी।
कम्पत आसन ये री बिलासिनि मेरी उसास रहे न सम्हारी॥

इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं —"इहाँ कन्हैया के विसेष ते स्वेद कप उसास प्रभृति रति कार्य दुराइबो व्यग है" इस प्रकार उनकी छोटी व्याख्यायें और भी स्पष्ट कर देती हैं। अधिक स्थलों पर वे लक्षण न देकर केवल उदाहरण देते हैं किंतु अन्त में गद्य में व्याख्या करके उसे स्पष्ट कर देते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि विषय-विवेचन और काव्य के सौन्दर्य को समझाना दोनों ही उनका यथार्थ उद्देश्य है।

कुमार मणि, वियोग शृंगार को सर्व प्रथम तीन प्रकारों म विभाजित करते हैं वर्तमान, भूत और भविष्यत् और फिर प्रवास, करुनात्मका, मान तथा पूर्वानुराग और दस अवस्थाओं आदि का वर्णन है। इसके पश्चात् रस का वर्णन है और एक अलग अध्याय में स्थायी भावों का वर्णन है। कुमार मणि, दस रसों का विवरण देते हैं और वात्सल्य को दसवाँ रस मानते हैं। भाव विभाव आदि का वर्णन सामान्य ढग पर है। नायिका भेद में मध्या का वयसन्धि वर्णन तथा प्रौढ़ा के अवस्था और प्रवृति के अनुसार कुछ नये नामों जैसे उन्नतयौवना, वक्रवचना, लघुलज्जा आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् अलकारों का भी वर्णन है जिन्हें बाद में रसों व्याख्या से वे स्पष्ट करते हैं। सबसे अन्त में गुण और दोषों का वर्णन है। इस प्रकार 'रसिक रसाल'

में लगभग सभी काव्यांगों पर विवेचन है और इसे हम अच्छे ग्रन्थों के अन्तर्गत रख सकते हैं। समझाने का सुन्दर प्रयत्न इस ग्रथ से हमें मिलता है।

## आचार्य श्रीपति

आचार्य श्रीपति की गणना काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों में है। इन्होंने कई ग्रथों का निर्माण किया जैसे 'कविकुलकल्पद्रुम' 'रससागर' 'अनुप्रासविनोद' 'विक्रम विलास' 'सरोज कलिका' 'अलकार गगा' तथा 'काव्य सरोज'। 'काव्य सरोज' इनका सबसे अधिक प्रौढ ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में दोषों का विवेचन, विस्तृत और स्वतन्त्र रीति से किया है और दोषों के उदाहरणों मे बहुत से केशव के पद्यों को ढूँढकर रक्खा है[१]। केशव ही नहीं अन्य कवियों और लेखकों के दोषों का भी वर्णन है। 'काव्य सरोज' या 'श्रीपति सरोज' में काव्यशास्त्र के विषयों का सुन्दर और स्पष्ट विवेचन है। इनकी प्रौढता और महत्व इसी से स्पष्ट है कि आचार्य भिखारी दास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में बहुत सी बातें श्रीपति के 'काव्यसरोज' की अपना ली हैं[२]। प्रत्येक बात से उनकी विद्वता टपकती है।

*काव्य-सरोज*[३]

'काव्य-सरोज' की रचना स० १७७७ वि० सावन कृष्ण ५ बुधवार को हुई थी। श्रीपति कालपी नगर के रहनेवाले ब्राह्मण थे जैसा कि उनकी नीचे लिखी पंक्तियों से पता चलता है:—

> संवत मुनि मुनि मुनि ससी, सावन सुभ बुधवार।
> असित पञ्चमी को लियो ललित ग्रन्थ अवतार ॥ १-८
> सुकवि कालपी नगर को, द्विज मनि श्रीपति राइ।
> जस समस्वाद जहान को, बरनत सुप समुदाय ॥ १-९

---

१. देखिये मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ५१८-१९, (१८६४ संस्करण)

२. देखिये रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२८ (सं० ११६७ संस्करण)

३ प० कृष्णबिहारी मिश्र के पुस्तकालय से उनके सुपुत्र श्री ब्रजकिशोर मिश्र द्वारा प्राप्त प्रति के आधार पर यह विवेचन है।

'काव्य-सरोज' काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। काव्य का लक्षण बताते हुए श्रीपति कहते हैं कि दोषहीन तथा गुण अलंकार-रस से युक्त शब्दार्थ काव्य है।[1] और इसका प्रस्फुटन शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा से होता है। इनमें से प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार की है। शक्ति वह पुण्य विशेष है जिसके बिना कवित्व नहीं होता और उसके बिना यदि कोई हठपूर्वक कविता की रचना करता है तो वह हठी कहलाता है और हँसी का पात्र होता है। जिस बल से पद और उसका अर्थ कवि को सहज प्राप्त हो जाता है उसे निपुणता कहते हैं। संसार का जो व्यवहार है, वही लोकमत होता है। अनेक शास्त्रों का ज्ञान व्युत्पत्ति कहलाता है और किसी सत्कवि के पास नित्य कविता करना अभ्यास है। नवीन तर्क, सुन्दर पदों और युक्ति की सूझ प्रदान करनेवाली शक्ति प्रतिभा है।[2] उपर्युक्त ६ बातों में शक्ति, निपुणता और प्रतिभा में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। इसीलिए प्रायः अन्य आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही लिया है। श्रीपति की काव्य-परिभाषा और काव्य कारण का अधिकांश आधार 'काव्यप्रकाश' है।

इसके पश्चात् त्रिविध कवियों का वर्णन है, उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम वह है जिसमें वाच्य से व्यंग्य अधिक बढ़कर रहता है, गुणीभूत व्यंग्य में वाच्य

---

१. शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥

—काव्यसरोज, दल १

२. शक्ति निपुणता लोकमत वितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास॥ ७
शक्ति सुपुण्य विशेष है जा बिन कवित न होइ।
जो कोऊ हठ सों रचै, हँसी करै कवि लोइ॥ ८
पद पदार्थ पावै तुरत ताहि निपुनता जानु।
जो जग को व्यवहार है वही लोकमत मानु॥ ९
परिज्ञान बहु शास्त्र में सो वितपत्ति पमान।
रचै कवित नित सुकवि ढिग सो अभ्यास प्रमान॥ १०
नूतन तर्क प्रसन्न पद युक्ति बोध करतार।
प्रतिभा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति अगार॥ ११

—काव्यसरोज, प्रथम दल

प्रधान रहता है। और अवम वह काव्य है जिसमें शब्दचित्र और वाक्यचित्र होते हैं और व्यंग्य नहीं रहता है।[1] द्वितीय दल में शब्द निरूपण है जिसमें शब्द के तीन भेदों, रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि का वर्णन है। तृतीय दल में अर्थ का विवरण है। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बाद लक्षणा के छः भेदों का वर्णन किया गया है और इसी प्रकार व्यंजना का। यह विवरण मुख्यतया 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर दिया गया है।

चतुर्थ दल में दोषों का वर्णन है। 'काव्यसरोज' का यह वर्णन ही महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं के उदाहरण लेकर दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। दोषों की परिभाषा करते हुए श्रीपति कहते हैं :—

जा पदार्थ के दोष ते आछे कवित्त नसाइ।
दूषन तासों कहत हैं श्रीपति पंडित राइ॥ १

दोष दो प्रकार का है, शब्द और अर्थ। शब्द दोष के अन्तर्गत श्रुतिकटु, अनर्थक, व्याहतार्थ, यतिभंग, अप्रयुक्त, असमर्थ, शिथिल, ग्राम्य, असंगत, भाषाच्युत, अश्लील, प्रतिकूल आदि हैं। उदाहरणार्थ, अनर्थक का वर्णन इस प्रकार है—

जिन आखर बिन कवित को मुख्य अर्थ न समाय।
ताहि अनर्थक कहत हैं श्रीपति पंडित राय॥

इसके उदाहरण स्वरूप नीचे का कवित्त देखने योग्य है —

"जमुना जल तीर जुरी जुवती घन के हित बीजुरी सी झरकैं।
कवि 'केहरि' नेक चितै चपचोर लियो हरि हेरि हियौ हरिकैं॥
तन चम्पकली सी अली जु चली वृषभान लली सो चली रहिकैं।
झट रूठि रिसाय गरै अलसाय धरै तित धाय जितै ढरकैं॥
यामे जल शब्द अनर्था।"

इन्हीं दोषों के बीच गणागण का भी वर्णन है जो कि इस प्रसंग के बीच बीच अनुचित सा जान पड़ता है। अनर्थक दोष के बाद गणागण और उसके पश्चात् श्रुतिकटु दोष के भीतर केशवदास की 'रसिकप्रिया' का "कानन करेंगे रंग नैनन के डोलों संग" वाला छन्द रक्खा है। अभ्र शब्द को श्रुतिकटु बताया है। यतिभंग में भी पुनः 'रसिकप्रिया' का छन्द ही लिया है।

---

1. काव्य सरोज प्रथम दल, १३, १४, १७

अप्रयुक्त दोष वहाँ होता है जहाँ व्याकरण से शुद्ध, पर प्रयोग में न आने वाला अर्थ प्रयुक्त होता है। जैसा कुच, केश के अर्थ में नीचे के छन्द में आया है :—

"अति लाँबे तव कुंच हैं लहकारे सुकुमार।"

इसी प्रकार असमर्थ में 'रसिकप्रिया' का, शिथिल में 'कविप्रिया' के छन्दों को लेकर दोषों का संकेत किया गया है। 'उपहति' दोष वहाँ माना है जहाँ पर सन्धि करने से अप्रकट अर्थ देवें। इस दोष में 'ब्रह्म' कवि का कवित्त है :—

"काम कलाधिक राधिका आधिक राति लौं काम की वेलि बनाई।
कासु से कान्हर सोई गये कर दै कुच पै रति काम की नाई॥
ब्रह्म जराइ की मूदरी में नग की अति ज्योति अनूप सुहाई।
देखन को पिय को तिय के हिय की अँखिया जनु बाहेर आई॥" ४-२१

इसमें 'कलाधिक' शब्द में दोष माना गया है।

'ग्राम्य' दोष के तीन भेद हैं :—लघुग्राम्य, महाग्राम्य और अतिग्राम्य। भाषाच्युत के भी तीन भेद हैं, लघुभाषाच्युत वह है जिसमें अन्तर्वेद की भाषा मिल जाय, मध्यम भाषाच्युत जिसमें ब्रजभाषा में सुरभाषा मिलजावे और गुरुभाषाच्युत वहाँ होता है जहाँ पर यवन भाषा का मेल हो। इससे स्पष्ट है कि उस समय भाषा की शुद्धि पर भी काफी ध्यान विद्वानों का था।

पंचम दल में अर्थ-दोषों का वर्णन है। श्रीपति ग्रंथ बढ़ने के भय से अधिक दोषों का वर्णन नहीं करते केवल बारह अर्थ दोषों का ही वर्णन है जो ये हैं :—

दुष्क्रम, खण्डित, असम्मितमान, वस्तुसविधि, सदिग्ध, दुष्टवाक्य, अपक्रम, अगत, निरस, पुनरुक्ति, हीनोपमा, अधिकोपमा। काल विरोधी पदों में सेनापति के 'सरस सुधारी राजमदिर की फुलवारी' वाले पद में 'भार करे शार' वर्णन चैत में काल विरुद्ध माना गया है। इसी प्रकार 'लसत कुदन चंपक' वाले पद में फागुन में कुंदन का फूलना, काल विरुद्ध है, क्योंकि कुंदन वर्षा में फूलता है। ऐसे ही 'अपक्रम' के उदाहरण में भी सेनापति के पद 'सेनापति कविता की कविताई विलसत है' में 'कविता की कविताई' को दोषपूर्ण माना है, क्योंकि कविता की कविताई शब्द का प्रयोग श्रीपति की दृष्टि में ठीक नहीं है। परन्तु यहाँ पर अर्थ 'कविता की कविताई' से नहीं, वरन् 'सेनापति कवि ताकी कविताई विलसत है' से स्पष्ट होता है अत. उपर्युक्त दोष नहीं माना जा सकता।

यतिभंग के अन्तर्गत केशव के 'रामचन्द्रिका' और 'रसिक प्रिया' ग्रन्थों से दो तीन छन्द

लिए गए हैं। 'काव्य-सरोज' में श्रीपति ने संक्षेप में दोषों का वर्णन किया है, साथ ही साथ इसमें इस बात का भी उल्लेख है कि इन्होंने अपने 'कविकल्पद्रुम' ग्रन्थ में इनका अधिक विस्तार से वर्णन किया है। इनके वर्णन से यह भी जान पड़ता है कि इनका एक ग्रन्थ 'रससागर' भी इससे पहले की रचना है क्योंकि इसमें भी उदाहरण श्रीपति के नाम से हैं।

आठवें और नवें दलों में काव्य गुणों का वर्णन है। इसके अन्तर्गत अर्थगुणों का अलग वर्णन हुआ है। दसवें दल में अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए श्रीपति लिखते हैं :—

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै बनिता कविता रूप॥

श्रीपति के विचार से जिसमें चमत्कार बढे वही अलंकार है। दसवें दल में शब्दालंकारों, ग्यारहवें में अर्थालंकारों तथा बारहवें दल म उपमालंकारों का वर्णन है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत तत्पर और अतत्परविधान चित्र नामक नवीन अलंकारों का वर्णन किया गया है, पर इनके लक्षण स्पष्ट नहीं है। अर्थालंकारों के प्रसंग में श्रीपति लिखते हैं कि 'कविकल्पद्रुम में' मैंने ४० प्रकार की उपमा का वर्णन किया है, पर 'काव्यसरोज' में आगे लिखी उपमाओं का ही उल्लेख है :—उपमेयोपमा, प्रतीपोपमा, प्रकाशोपमा, वाक्योपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, नियमोपमा, निश्चयोपमा, संशयोपमा, अभूतोपमा, लक्षितोपमा। इसमें उपमा के अतिरिक्त प्रतीप, सन्देह, निश्चय आदि अलंकार भी हैं। अलंकारों का वर्णन अधिक स्पष्ट नहीं है। यद्यपि वर्गीकरण और निरूपण के ढंग में आचार्यत्व का गुण अवश्य है।

तेरहवें दल में रस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए श्रीपति कहते हैं : -

'यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सो लीन।
कविता बनिता छवि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन॥'[1]

इससे स्पष्ट है कि श्रीपति काव्य के अनेक अंगों में सभी को आवश्यक मानते हैं रसों के कारण-स्वरूप भाव को मानते हुए श्रीपति कहते हैं कि कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती अत कवि गण पहले कारणों का ही वर्णन करते हैं। भरत के मतानुसार इसके कारण भाव हैं अतः भावों का ही सबसे पहले वर्णन है। रस के अनुकूल विकार

---

१. काव्य सरोज १३ दल, प्रथम छन्द

भाव है। विकार के दो भेद हैं एक आन्तर दूसरा शारीर। स्थायी और व्यभिचारी भाव आन्तर भाव है।[1] यह भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार है। जैसे —

"जो रस कों उपजाइ कैं, भावित करै विशेष।
तासों कहै विभाव कवि श्रीपति नर मुनि लेष॥[2]

जैसा कि इस छन्द में भी संकेत है और अन्य छन्दों में भी, यह वर्णन भरत मुनि के अनुसार है। 'मुनिलेष' का तात्पर्य भरत के नाट्यशास्त्र से है। इसके पश्चात् संचारी भावों और अनुभावों का वर्णन है। विभावों और स्थायी भावों में श्रीपति ने प्रत्येक रस को लिया है। श्रीपति की काव्य शास्त्र के अनेक विषयों की विवेचन प्रणाली बड़ी सुलझी हुई है, उनका अध्ययन गम्भीर जान पड़ता है। उन्होंने प्रत्येक विषय पर विस्तार के साथ लिखा है। अन्य कवियों की कविता में दोष दिखा कर श्रीपति ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। इनके अन्य ग्रंथ अप्राप्य हैं जो और भी अधिक महत्व के जान पड़ते हैं। 'कविकल्पद्रुम' और 'रससागर' का उल्लेख 'काव्यसरोज' में कई स्थानों पर हुआ है। 'कविकल्पद्रुम' बड़ा विस्तृत ग्रंथ जान पड़ता है। श्रीपति काव्यशास्त्र के बड़े आचार्यों में से हैं।

## रसिक सुमति का 'अलंकार-चन्द्रोदय'[3]

रसिकसुमति आगरा के मथुरिया टोला के रहने वाले उपाध्याय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम ईश्वरदास था। ये काश्यपवंशी सनौढिया ब्राह्मण और कवि थे। इनका बनाया 'अलंकार चन्द्रोदय' ग्रंथ 'कुवलयानन्द' के आधार पर है जैसा कि पुस्तक के अन्त में लेखक ने स्पष्ट किया है।

*तिमि मथि कुवलयानन्द मत अबकों कियो उद्योग।*
*अलंकारचन्द्रोदय निकारियो सुमित लिखिबे जोग॥*

पुस्तक के प्रारम्भ में भी इसका उल्लेख या है—

रसिक कुवलयानन्द लखि अमित मन हरष बढ़ाय।
अलंकार चन्द्रोदयहिं बरनतु हिय हुलसाय॥

---

१ ,, १-वां दल, छन्द २, ३ ४, ६ १०
२ ,, दल १८ छन्द २
३. डा० भवानीशंकर याज्ञिक के सौजन्य से मायाशंकर याज्ञिक के संग्रहालय से प्राप्त हस्तलिखित प्रति के आधार पर।

'अलंकार चन्द्रोदय' का रचना काल सं० १७८६ है। यह १८७ छन्दों में समाप्त हुआ है। पुस्तक की समाप्ति पर अंकित है कि :—

"लिपि लपहु रस वसु रिषि शशि संवतई सावन मास।
कुज पुस्य तेरसि अमित को यह कियो ग्रन्थ प्रकास॥

इति श्री ईश्वरदासात्मज रसिक सुमति विरचित अलंकार चन्द्रोदय १८७ छन्द।"
अलंकार की परिभाषा देते हुए रसिक सुमति ने लिखा है कि शब्द और अर्थ की जो अनेक विचित्रतायें होती हैं उन्हीं को अलंकार कहते हैं। अलंकार की यह परिभाषा औरों से भिन्न है।

सबद अरथ की चित्रता विविध भाँति की होई।
अलंकार तासों कहत रसिक विबुध कवि लोइ॥ ३

सबसे पहले इस ग्रंथ में उपमालंकार का वर्णन है। रसिक सुमति कहते हैं कि उपमान और उपमेय के सम्बन्ध से अनेक अलंकार बनते हैं। यद्यपि उपमा और उसके भेद जैसे सभी ने लिखे हैं वैसे ही हैं फिर भी इनके द्वारा उपमेय और उपमान की धारणा स्पष्ट कर दी गई है। जिससे सादृश्य दिया जाता है वह उपमान और जिसका सादृश्य दिया जाता है वह उपमेय है। वे सभी उपमाओं को उपमेय और उपमान के सम्बन्ध ही से समझाते हैं मालोपमा और रसनोपमा को देखिये :—

उपमेय एक उपमान बहु मालोपमा सोय।
चतन ऐसे मीन से मृग से दग अवलोय॥
जहाँ प्रथम उपमेय ही होत जात उपमान।
रसनोपमा सो कंज से नैन नैन से बान।

'अलंकार चन्द्रोदय' में कुल निम्नलिखित अलंकारों का उनके भेदों सहित वर्णन है—
उपमा, अनन्वय, रूपक, परिनाम, सुमिरन, कारन, भ्रांति, संदेह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमानोपमेय, संभावना व्यतिरेक, विरोधाभास, असंभव, अल्प, अन्योन्य, यथासंख्य, श्लेष, परिवृत्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, स्वभावोक्ति, लेस, अत्युक्ति, लोकोक्ति, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, जुक्ति, प्रतीप, परिकर, परिकरांकुर, प्रहर्षन, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, आक्षेप, विभावना, विषम, अधिक, मीलित, उन्मीलित, सामान्य विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, अनुगुन, पूर्वरूप, समुच्चय, वक्रोक्ति, श्लेष, एकावलि, मालादीपक, क्रमपर्याय, विनोक्ति, परिसंख्या, विकल्प, समाधि,

काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, ललित, अनुज्ञा, रत्नावलि, गूढोत्तर, भाविक, उदात्त, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, दृष्टान्त, प्रस्तुतांकुर, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, असंगति, समविचित्र, व्याघात, प्रत्यनीक तथा अनुप्रास आदि। इनके बीच जहाँ कहीं अन्य आवश्यक शब्दों को अलंकार के समझने में आवश्यकता होती है उनको भी वे स्पष्ट करते चलते हैं जैसे उपमेय उपमान को उपमा में, विशेष्य विशेषण को परिकर परिकरांकुर में, वाक्य और पद को प्रतिवस्तूपमा आदि में। इस प्रकार 'अलंकार चन्द्रोदय' में अलंकारों का अच्छा वर्णन है और 'कुवलयानन्द' के आधार पर समझाने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है।

इसी समय के आस पास श्रीधर के 'नायिका भेद' और 'चित्रकाव्य', लाल का 'विष्णु विलास' नामक बरवै में लिखा नायिका भेद, कुन्दन बुन्देलखंडी का 'नायिका भेद', केशवराय के 'नायिका भेद' और 'रस लतिका', गोधूराम का 'दश भूषण' और 'दश रूपक' वेनीप्रसाद का 'रस शृङ्गार समुद्र', रतनराम के 'रस दीपक' 'नायिका दीपक' प्रभृति ग्रंथ साधारण कोटि के लिखे गये। इनके अतिरिक्त गजन का' 'कमरुद्दीन खाँ हुलास', भाव भेद और रस भेद का कवित्वपूर्ण ग्रंथ है, भूपति के 'कंठाभूषण' और 'रस रत्नाकर' अलंकार और रस पर लिखे गये ग्रंथ हैं, वीर की 'कृष्णचन्द्रिका'[१] भाव भेद व रस भेद पर अच्छा ग्रंथ है तथा यशोधर और दलपति राय के 'अलंकार[२] रत्नाकर' 'भाषाभूषण' के आधार पर रचा गया ग्रंथ है। ये सब साधारण महत्व के ही हैं।

## सोमनाथ का 'रसपीयूषनिधि'

सोमनाथ मिश्र, गंगाधर के छोटे भाई और नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र थे। जैपुर नरेश महाराज रामसिंह के मंत्रगुरु, छिरौरा वंश के माथुर ब्राह्मण तथा नरोत्तम मिश्र के वंश धरों में से थे।[३] इन्होंने ब्रज (भरतपुर) के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के लिये 'रसपीयूष निधि'[४] नामक ग्रंथ बनाया था जैसा कि आगे लिखे दोहे से स्पष्ट है:—

१ देखिये शुक्लजी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३३१

२. ,, 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, पृ० ६०४

३. ,, शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३३६-३४०

४. देखिये मिश्रबन्धु 'विनोद', भाग २, पृ० ६४०, ६४८, ६४६

,, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४१।

५. यह याज्ञिक संग्रहालय से डा० भवानीशंकर के सौजन्य से प्राप्त एक पूर्ण और दूसरी खंडित प्रति के आधार पर लिखा गया विवरण है।

कही कुँवर परताप ने सभा मध्य सुख पाय।
सोमनाथ इनको सरस पोथी देउ बनाय॥

और इस प्रकार 'रसपीयूष निधि' की रचना संवत् १७९४ वि० में हुई जैसा कि ग्रंथ के अन्त की निम्नांकित पंक्तियों से प्रकट है :—

सत्रह सै चौरानवौं संवत जेठ सुमास।
कृष्न पच्छ दसमी सुरौं, भयो ग्रन्थ परकास॥

यह ग्रंथ काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध और पूर्ण ग्रंथों में से है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है :—"इन्होंने संवत् १७९४ में 'रसपीयूष निधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल, काव्य लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दास जी के काव्यनिर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांग निरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।"[1] इसी प्रकार मिश्र बन्धुओं ने भी इस ग्रंथ की बड़ी प्रशंसा की है। सबसे पहले वे पाँच तरंगों में मात्रिक और वर्णिक छन्दों का वर्णन है। फणिंद पिंगल की वन्दना[2] करके वे गुरु, लघु, मात्रा, गण, अगण, देवता, गणों के शुभाशुभ विचार आदि पर विवेचन करते हैं। अनेक मात्राओं और वर्णों के मिलान से अनेक छन्दों का वर्णन है। उसके पश्चात् ६ वीं तरंग में कवित्त की परिभाषा यों देते हैं :—

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिङ्गल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि शुद्ध॥

इससे यह स्पष्ट है कि सोमनाथ दोष हीन, छन्दोबद्ध, गुण, अर्थ अलङ्कार से युक्त पद को कविता मानते हैं। यह अधिकांश मम्मट के आधार पर है। पर यहाँ एक बात यह विशेष है कि मम्मट के 'सगुणावनलङ्कृती पुनक्वापि' को न मानकर, इन्होंने अलङ्कार युत भी कहा है। अलङ्कार से हीन भी कविता हो सकती है इस बात पर जोर हिन्दी के किसी भी आचार्य ने नहीं दिया है यद्यपि विवेचन पद्धति से यह स्पष्ट है कि वे इस बात को मानते हैं।

काव्य प्रयोजन को बतलाते हुए सोमनाथ कहते हैं कि कविता यश, धन, आनन्द

---

१. देखिये 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३४१

२. "जय फनिन्द पिङ्गल सदा सब जग के सुखदाय"

और मगता के लिए होती हैं। काव्य का प्राण 'काव्यप्रकाश' तथा 'ध्वन्यालोक' के अनुसार ये भी व्यग्य ही मानते हैं। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ, गुण उसकी शोभा और दोष दोष हैं :—

व्यंगि प्राण अरु अंग सब शब्द अरथ पहिचानि।
दोष और गुण अलंकृत दूषणादि उर आनि॥

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि सोमनाथ अपने उदाहरणों के पश्चात् अपनी गद्य व्याख्या में उदाहरणों को स्पष्ट कर लक्षण को समझाते चलते हैं। वे व्यंग युक्त काव्य को उदाहरण द्वारा यों समझाते हैं —

फूले निरखि रसाल वन दीनों बिरह बहाय।
पियरानी तिय बदन पर लसी अरुणई आय॥

"यहाँ फूले रसाल करिके बसन्त की अवधि व्यंगि है ताके आगम ते उत्साह व्यंगि है" सोमनाथ ध्वनि सिद्धान्त के अनुयायियों में से थे और व्यग्य ही कविता का प्राण मानते थे। अत वे वाचक, लक्षक, व्यजक, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यग्यार्थ और अभिधा, लक्षणा, व्यजना के लक्षण और उदाहरण देते हैं।

सातवीं तरग में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर सोमनाथ ध्वनि का विवेचन करते हैं। लक्षणा-मूला और अभिधा मूला, पुन' उनके भेद अर्थांतरसक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत तथा असलक्ष्यक्रम, सलक्ष्यक्रम व्यग्य आदि ध्वनियों का वर्णन और व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि—

"अर्थ और वाच्यार्थ व्यगि के लायक है जहाँ सो विवक्षित वाच्य ध्वनि। ताके द्वै भेद। एक असलक्ष्य क्रम व्यगि ध्वनि और दूजी सलक्ष्य क्रम व्यगि ध्वनि। और असलक्ष्य क्रम के भेद नव रस, पचास भाव और रसाभास, भावाभास और रस की और भाव की शान्ति, सधि, शबलता उदय इति सौ भाव विधि कहत हैं" भावों की रसों का मूल निर्धारित करते हुए सोमनाथ, भाव को वासना रूप मानते हैं जो 'ध्वन्यालोक' और 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रन्थों से सम्मत है। "चित्तवृत्ति ही लौं ठहराय भाव वासना रूप बनाय" और उसके बाद बताते हैं कि जो विकार जब रस से सभावत. सम्बन्धित होता है तब भाव होता है, किन्तु भाव की परिभाषा रस के सम्बन्ध से देना अनुचित है क्योंकि रस को समझाना ही तो मुख्य उद्देश्य है। अत यह इस प्रकार का सम्बन्ध भाव के स्पष्टीकरण के लिए ही दिखाया गया है। ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि विकार क्या है ? इसके

उत्तर में वे कहते हैं कि चित्त जब किन्हीं कारणों को पाकर एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है तब उन अवस्थाओं को विकार कहते हैं:—

चित कछु हेतुहिं पाय जब होइ और ते और।
ताको नाम विकार कहि बरणत कवि सिरमौर॥

इनमें से जो विकार आनन्दोन्मुख होते हैं उनको भावों की संज्ञा मिलती है।

भाव दो प्रकार के हैं—आन्तर और शारीरिक। स्थायी और संचारी भाव आन्तरभाव हैं यह तो सोमनाथ बताते हैं परन्तु शारीरिकों का कोई उल्लेख नहीं किन्तु यहाँ पर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि शारीरिक भाव अनुभाव ही हैं। पुनः भावों के चार प्रकार—विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी—कहते हुए वे सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखते हैं:—

"सात्विक भाव जु है सु वह अनुभावनि में जानि।"

यहाँ पर यह बात स्पष्ट है कि देव के विचार से सोमनाथ सहमत नहीं हैं।

देव ने संचारी के ही दो भेद :—मानसिक और कायिक करके सात्विक अनुभावों को कायिक संचारी भावों के अन्तर्गत रक्खा है और अनुभावों को बिल्कुल ही अलग कोटि में माना है। किन्तु सोमनाथ का विचार भिन्न है। इसके पश्चात् विभावों का वर्णन आता है। विभाव रस विशेष के स्थायी भाव के कारण स्वरूप होते हैं वे दो प्रकार के हैं आलम्बन और उद्दीपन। अनुभावों के लिए वे कहते हैं:—

बिहँसि चितैबो रस बचन सात्विक भाव जु और।
चुम्बनादि अनुभाव ए बरणत कवि शिरमौर॥

आठ सात्विक और ३३ संचारी भावों के लक्षण देकर तत्पश्चात् स्थायीभाव को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :—

नायक सब ही भाव को टारे टरै न रूप॥
तासों थाई रूप कहि बरणत है कवि भूप॥

और फिर नवों स्थायी भावों के लक्षण बताते हैं। सोमनाथ के विचार से रति प्रिय से मिलने की चाह है जो कि उसके देखने, सुनने या सुमिरण करने से उत्पन्न होती है[1]।

---

१ इष्ट मिलन की चाह जो रति समुझो सो मित्त।
दरसन ते कै श्रवण ते कै सुमिरण ते चित्त॥

'हास' की भी इसी प्रकार की परिभाषा वे देते हैं। 'शोक' के सम्बन्ध में वे कहते हैं प्रिय के बिछुड़ने या विपत्ति में पड़ने से यह भाव तब उत्पन्न होता है जब कि मिलन की कोई आशा नहीं रहती है। सम्भव है यहाँ पर सभी सहमत न हों पर यह शोक की है यथार्थ अवस्था। इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों को बड़ी ही स्पष्टता के साथ समझाया गया है।

इसके बाद सोमनाथ रस विवेचन को लेते हैं। रस वहाँ होता है जहाँ विभाव, अनुभाव और सचारी भाव मिलकर स्थायी भाव की व्यंजना करते हैं। वे कहते हैं कि यह भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अनुसार है, जैसा कि नीचे लिखे उद्धरण से स्पष्ट है:—

"जहाँ विभाव अनुभाव सहित सचारी व्यग कियो थिर भाव। इहि सो रस रूप बताव। भरत मत को लक्षण कह्यो"। किन्तु भरत के मत से स्थायी भाव व्यग करे ऐसा स्पष्ट नहीं। "विभावानुभाव सचारीसयोगात् रस निष्पत्तिः।" यह भरत का मत है इसके बाद वे अभिनव गुप्त पादाचार्य का मत देते हैं —

सुनि कवित्त को मध्य सुधि न रहै कछु और।
होहि मगन वहि कवित मों हिय के थायी भाव॥
तासों कहत विभाव सब समुझि रसिक कवि भाव।

यहाँ पर भी बात स्पष्ट नहीं है और अभिनव गुप्त का भी कोई मत विशेष लक्षित नहीं होता है। उसके पश्चात् विभाव, रस स्वामी, रस देवता आदि का वर्णन सातवीं तरग में करते हैं।

आठवीं तरग में शृङ्गार रस के सयोग व वियोग पक्षों का वर्णन है। इसका वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से स्पष्ट भाषा में मनोहारी उदाहरणों के साथ हुआ है। कवित्व और भाषा दोनों की दृष्टि से उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इसी के अन्तर्गत नायिका-भेद, पद्मिनी चित्रणी, शंखिनी, हस्तिनी, स्वकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि के वर्णन भी हैं। नवीं तरंग में परकीया तथा दसवीं तरग में मान और मानमोचन तथा ग्यारहवीं और बारहवीं तरगों में अन्य आधारों पर नायिका भेद, सखी दूती आदि के वर्णन हैं। तेरहवीं तरग में नायक, सखा, दर्शन, अनुराग, चेष्टा आदि के तथा चौदहवीं तरग में हावों के वर्णन हैं। सयोग शृंगार पर इतना कहने के बाद पन्द्रहवीं तरंग में वियोग शृङ्गार का वर्णन करते हैं। पूर्वानुराग की दस अवस्थाओं का वर्णन आगे लिखे ढग पर करते हैं—

विप्रलम्भ को भेद पुनि सुनि पूरब अनुराग।
है ताही में दस दिसा बरणत सुकवि सुभाग॥

इनके उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं। उद्वेग को देखिये। उसका लक्षण है :—

होय सुखद हू दुखद सब, जहँ वियोग में आय।
सो उद्वेग दसा समुझि बरनत हैं कविराय॥

उदाहरण—

"सीतल बयारि तरवारि सी बहत तैसी लहकनि बेलनि की सूल सरसन लागी।
धरकत छाती घोर घन की गरज सुनि दामिनि की दमक दवा सी बरसन लागी॥
सोमनाथ याते पै करतु कमनैती काम कौन बिधि जीवो री विपति बरसन लागी।
जेई पिय संग बरसत ही पियूष धार तेई अब घटा विषधार बरसन लागी॥

इस प्रकार शृङ्गार का वर्णन पूर्ण रूप से किया गया है।

सत्रहवीं तरंग मे अन्य रसों का वर्णन है। हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, शान्त का लक्षण और उदाहरण के साथ वर्णन कर अन्त में सदोष में रसांगों को स्पष्ट करने के लिए वे गद्य-व्याख्या भी देते हैं। उदाहरणार्थ देखिये करुण रस का उदाहरण।

काम की देह सरोस हिये हर लोचन ज्वाल बिसाल सों दागी।
त्यों रति की उत ही परी दीठि सु अंगनि दुःख दवागिन जागी॥
बेर अनेक भकी उनसों तुम ऐसी करी प्रभु ह्वै अनुरागी।
चारौं सिंगार उतारि सबै अँसुवा दग पूरि बिसूरन लागी॥

इहाँ काम अरु रति आलंबन विभाव को निचारिबो उद्दीपन विभाव भस्म होईबो और रति को बिसूरिबो अनुभाव और विषाद संचारी भाव इनते शोक स्थायी भाव ताते करुणा रस।"

और युद्ध वीर और रौद्र रस का भेद बताते हुए सोमनाथ कहते हैं :—"रुद्र रस में प्रधानता क्रोध की करिके झूठ सत्य बचन बकिबे को विचार नाहीं और युद्ध वीर में आप समर्थता के बचन प्रधान है।"

इसके पश्चात् अठारहवीं तरंग में भावध्वनि और रसध्वनि का वर्णन है। प्रारम्भ मे ही वे कहते हैं कि जहाँ संचारी व्यंग्य होता है वहाँ पर भाव-ध्वनि होती है देव-राज-रति भी भाव ध्वनि के अन्तर्गत है। इस विषय में देखिये—"यहाँ प्रश्न है रस हू में और भाव ध्वनि हू में रति और निर्वेद स्थायी भाव व्यंग हेतु है ये दोऊ रस ध्वनि ही अथवा भाव

ध्वनि ही क्यों न कहिए। रति निर्वेद ये सचारी हू है। या ते अरु यावो उत्तर है जहाँ विभावादिकन सों पुष्टि होई तहाँ रस ध्वनि और जहाँ साधारन होहि तहाँ भावध्वनि जानिये।" जहाँ रस और भाव अनुचित होते हैं वहाँ रसाभास व भावाभास होते हैं। भाव सधि, भाव शबलता आदि के उदाहरण बडे ही स्पष्ट हैं। उसके पश्चात् सलक्ष्यक्रम व्यग ध्वनि आती है जिसका शब्द ध्वनि, अर्थ ध्वनि और शब्दार्थ ध्वनि के अन्तर्गत वर्णन होता है। शब्द ध्वनि मे या तो शब्द द्वारा अलकार व्यग्य होगा या वस्तु व्यग्य होगी अत यही दो उसके भेद हैं। वस्तु ध्वनि का उदाहरण देखिये—

"मुँदी जानि घँसियाँ चरण झलकत जावक भाल।
कहा बनावत बात अब हम सब जानत हाल॥"

इसके बाद १२ प्रकार की अर्थ ध्वनि और शब्दार्थ ध्वनि का वर्णन कर ध्वनि या उत्तम काव्य के १८ प्रकारों का वर्णन सोमनाथ ने किया है।

उन्नसवीं तरग में ८ प्रकार के गुणीभूतव्यग्य का वर्णन है। वह है—अगूढ व्यग्य, अपराग व्यग्य, वाच्यसिद्धाग व्यग्य, अस्फुट व्यग्य, सन्देहप्रधान व्यग्य, अतुलप्रधान व्यग्य, काकु व्यग्य, असुन्दर व्यग्य। यह सब वर्णन 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है।[1]

बीसवीं तरंग मे दोषों के लक्षण और उदाहरण बडे ही सुव्यवस्थित ढग से दिये हैं। इक्कीसवीं तरग में गुणों का वर्णन है। प्रसाद, माधुर्य, ओज तीन गुणों का तथा उनकी सामग्री का वर्णन है। उसके पश्चात् वे ऐसे उदाहरण देते हैं जहाँ अलकार, रस के सहायक होकर आते हैं और जहाँ सहायक होकर नहीं आते। और अन्त मे बाइसवी तरग में शब्दालकार, चित्रालकार और अर्थालकारों का विशद वर्णन है। अलकारों का वर्णन सामान्य रीति पर है। लक्षण दोहों में और उदाहरण अन्य छन्दों में हैं। इसमें एक विशेषता यह और है कि किन्हीं अलकारों के विवेचन मे अन्य संस्कृत आचार्यों के भी मत दे दिये गये हैं जैसे काव्यलिंग अलकार म। इस प्रकार बाइस तरगों मे सोमनाथ कृत "रस पीयूषनिधि" नामक बृहत् ग्रथ पूर्णता के साथ समाप्त हुआ है। यह काव्य शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रथों में से एक है।

---

१ देखिये काव्य प्रकाश के गुणीभूत व्यग्य के भेद।

"अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्ध तुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥ ४५

—काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास

## गोविन्द का 'कर्णाभरण'

गोविन्द कवि कृत 'कर्णाभरण' सं० १७९७ की रचना है। रचना-तिथि का निर्देश करनेवाला इस ग्रंथ का अन्तिम दोहा इस प्रकार है—

> नग निधि रिषि बिधु बरष में सावन सित तिथि सम्भु।
> कीन्हो सुकबि गुविन्दजू कर्णाभरण अरम्भु ॥ २१८

यह पुस्तक भारत जीवन प्रेस में मुद्रित होकर सन् १८९४ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के अन्तर्गत दोहा छन्दों मे अलकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। अधिकांश में दोहे के प्रथम अर्द्धभाग में लक्षण और दूसरे अर्द्धभाग में उदाहरण दिये गये हैं। यह 'भाषाभूषण' के ढग की पुस्तक है, पर उससे अधिक इसके लक्षण और उदाहरण स्पष्ट है। इसमें किसी टीका की आवश्यकता नहीं। यह 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर लिखी जान पड़ती है, पर उदाहरणों मे मौलिकता है। उदाहरण छोटे किन्तु शुद्ध और स्पष्ट हैं। भेदों सहित लगभग १८० अलंकारों का वर्णन है। कहीं कहीं अन्य लेखकों से नवीनता इनके वर्णन में पाई जाती है, जैसे श्लेष के भेद गोविन्द कवि के अनुसार तीन—प्रकृतप्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृताप्रकृत हैं, ये शब्दों से निकलनेवाले प्रकृत अथवा अप्रकृत अर्थों के आधार पर हैं। सापह्नवाति-शयोक्ति का उदाहरण पर्यस्तापह्नुति का सा है। इसी प्रकार से इनकी तुल्ययोगिता और दीपक का लक्षण देखने मे एक लगता है पर व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है, अन्यथा सामान्य रीति से भ्रम हो सकता है। तुल्ययोगिता का लक्षण है—

> एकै धर्म अवर्न्य को औरु बर्न्य को होइ।
> सिगरे कवि कोविद कहत तुल्य योगिता सोइ ॥

दीपक का लक्षण है—

> बर्न्य अवर्न्यन को जहाँ एकै धरम लखाइ।
> दीपक तासों कहत है सिगरे कवि समुदाय ॥

यहाँ पर तुल्ययोगिता मे यह अर्थ करना पड़ेगा कि जहाँ अवर्ण्यों का एक धर्म और वर्ण्यों का एक धर्म हो वहाँ तुल्ययोगिता होती है और जहाँ वर्ण्य और अवर्ण्य दोनों का एक धर्म होता है वहाँ दीपक। फिर भी इनके लक्षण और उदाहरण दोनों सुस्पष्ट और सुबोध्य हैं, ऐसे भ्रम के भी स्थल अधिक नहीं। 'कर्णाभरण' अलंकार के विद्यार्थियों के लिये अच्छा ग्रंथ है।

## रसलीन

सैयद गुलाम नबी बिलग्राम (हरदोई) के एक प्रसिद्ध और विद्वान् मुसलमान कवि थे इनका उपनाम 'रसलीन' था। इनका सं० १७९८ का लिखा दोहों में रस निरूपण पर ग्रंथ 'रस-प्रबोध'[1] है। पुस्तक की रचना बिलग्राम में हुई। इसमें नवरसों का वर्णन है, इसलिये इसका 'रस प्रबोध' नाम रक्खा गया है। इसकी परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है —

> जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आनि।
> परिपूरन व्यापी जहाँ उपजै सो रस जानि॥

उसके बाद रस और भाव का स्वरूप वर्णन कुछ अधिक विस्तार से है और स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि का भी विवरण है। उसके बाद शृङ्गार रस का वर्णन है। सबसे पहले शृङ्गार रस के देवता कृष्ण का, जो सबसे बड़े देवता हैं, वर्णन है। उसके बाद इस बात का निर्देश है कि किस प्रकार और रस, शृङ्गार के व्यभिचारी भाव के रूप में आते हैं। इसलिये उसको 'रसराज' कहते हैं। नायिका भेद का वर्णन इसके पश्चात् आता है। उनका वर्गीकरण वैसा ही है जैसा कि अन्य कवियों का। इनके उदाहरण बड़े रसपूर्ण हैं। वैसे भी रसलीन कवि के रूप में बहुत प्रसिद्ध हैं। नायिका भेद, नायक भेद, हाव, भाव का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। पर शास्त्रीय विवेचन का अभाव अवश्य है।

रघुनाथ बंदीजन के 'काव्य कलाधर' और 'रसिक मोहन' ग्रंथ भी इसी प्रथा पर सुन्दर रचनायें हैं। 'रसिक-मोहन' सं० १७९६ का लिखा अलंकार का ग्रंथ है इसमें न केवल शृङ्गार के वरन् वीर आदि अन्य रसों के भी सुन्दर उदाहरण हैं। 'काव्यकलाधर' सं० १८०२ वि० का बना है इसके अन्तर्गत भाव भेद, रस भेद, नायिका भेद आदि का बड़ा विस्तृत वर्णन है।[2]

### उदयनाथ कवीन्द्र का 'रस-चन्द्रोदय'

यह सं० १८०४ का लिखा नायिका भेद का ग्रंथ है। उदयनाथ, कालिदास के पुत्र थे। 'रस-चन्द्रोदय' और 'विनोद-चन्द्रोदय' एक ही ग्रंथ हैं इसका रचना-काल-सम्बन्धी दोहा यह है—

---

१ यह पुस्तक लेखक ने टीकमगढ़ राज पुस्तकालय में देखी थी। यह भारत जीवन प्रेस काशी में मुद्रित प्रति थी।

२ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४१

सम्वत् सतरु अठारह चार। नाइक नाइकाहि निरधार।
लिखहिं कविन्द ललित रसग्रंथ। कियो विनोद चन्द्रोदय ग्रंथ॥

इसमें प्राचीन परिपाटी पर सामान्य-रूप से नायिका-भेद का वर्णन है। शृङ्गार-रस के वर्णन में नायक और नायिकाओं के विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण करते हुए उनका वर्णन दिया गया है। शृङ्गार के संयोग तथा वियोग पक्षों का भी वर्णन है। लक्षण, दोहों में तथा उदाहरण कवित्त और सवैया छन्दों में दिये गये हैं। लक्षणों से अधिक रोचक उदाहरण हैं। अतः स्पष्ट है कि इसका महत्व शास्त्रीय नहीं वरन् काव्यगत ही है। काव्यशास्त्र के दृष्टिकोण से पुस्तक का अधिक मूल्य नहीं।

## आचार्य भिखारीदास

मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' के द्वितीय भाग में वर्णित रीतिकालीन साहित्य को दो भागों बाँटा है १. पूर्वालंकृत काल २. उत्तरालकृत काल, प्रथम के चिन्तामणि त्रिपाठी प्रमुख और प्रारम्भिक आचार्य हैं और दूसरे के भिखारीदास। इस प्रकार दो वर्गों का नाम चाहे जो कुछ हो और चाहे हम यह बात भी मानें कि भिखारीदास का कोई ऐसा नवीन प्रभाव उनके परवर्ती कवियों पर नहीं पड़ा जिससे उनकी कोई विशेष छाप दिखलाई पड़े, फिर भी यह बात मान्य है कि भिखारीदास रीतिकालीन अन्तिम वर्ग के सबसे बड़े आचार्य थे उनके वर्णन में—विशेषतः 'काव्य निर्णय' में—चाहे उसकी सामग्री हिन्दी के सभी पूर्ववर्ती कवियों, काव्याचार्यों केशव, चिन्तामणि, सूरति, श्रीपति आदि से ली गई हो—जो पूर्णता है वह बड़ी सन्तोषकारी है और उससे भिखारीदास की विद्वत्ता ही टपकती है। भिखारीदास की गणना काव्यशास्त्र के उन यथार्थ आचार्यों में से थी जो कवि-प्रतिभा के साथ उससे अधिक काव्यशास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे।

*काव्य-निर्णय*

भिखारीदास का काव्य निर्णय—हिन्दी की प्रसिद्ध प्राचीन पुस्तकों में से है और उसकी गणना काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट ग्रंथों में की जाती है। इस पुस्तक में वे काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन करते हैं और एक आचार्य की भाँति ही अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। उनका ढंग बड़ा ही स्पष्ट, वर्णन क्रम सुलझा हुआ और वैज्ञानिक तथा विषय-विवेचन पूर्ण है। 'काव्यनिर्णय' हिन्दी के कवियों और प्रेमियों के लिए सुन्दर पुस्तक रही है और अब भी प्राप्य और प्रचलित पुस्तकों में उसका स्थान अनेक विषयों पर प्रकाश डालने वाले प्रकाशित ग्रंथों में अकेला है। दास ने इस ग्रंथ को

बड़ी सुन्दरता से प्रकट होती है। इसके साथ ही साथ ब्रज, मागधी, अमर, नाग, यवन और पारसी भाषाओं मे कवित्व प्राप्त होता है। ब्रजभाषा के लिए वे कहते हैं कि केवल ब्रज मंडल मे बोली जाने वाली भाषा ही ब्रज भाषा नहीं है वरन् सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म, चिन्तामनि, मतिराम, भूषन, लीलाधर, सेनापति, नेवाज, निधि, नीलकंठ, देव, सुखदेव, आलम, रहीम, रसलीन आदि कवियों की कविता को भी हमे ब्रजभाषा का ही स्वरूप समझना चाहिए। इसके पश्चात् उत्तम कवित[1] के लिए वे कहते हैं कि जो व्यक्ति, पदार्थ (वाचक वाच्यार्थ, लक्षक लक्ष्यार्थ, व्यंजक व्यंग्यार्थ आदि), भूषन (अलंकार) रस के अंग व भावों के अंग, ध्वनि, गुण और शब्द का ज्ञान कर चुका हो और चित्र कविता भी कर सकता हो, तुक भी जानता हो और दोषों को दूर रखता हो उसको ही उत्तम कवि की कीर्ति, उसकी वाणी द्वारा, प्राप्त हो सकती है।

दूसरे उल्लास में पदार्थ निर्णय है। दास, वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन पदों का वर्णन करते हैं। जाति, यदृच्छा, गुण और क्रिया के द्वारा वाचक पद निश्चित होता है जैसे कृष्ण का यदुनाथ नाम, जाति के कारण है, कान्ह, यदृच्छा के कारण, श्याम, गुण के कारण और कंसारि क्रिया के कारण। गुण का निश्चय रूप, रंग, गंध तथा स्थायी-कर्मों द्वारा होता है और इन उपर्युक्त बातों को प्रकाश करने वाले शब्द वाचक और उन अर्थों को वाच्यार्थ कहते हैं। दास जी कहते हैं किसी भी शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उनमें से जिस शक्ति के द्वारा एक निश्चित अर्थ का बोध होता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। यह, अभिधा का व्यापार, जिन अनेक बातों द्वारा निश्चय होता है वे हैं—संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ प्रकरण, लिंग, सामीप्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश बल, काल बल, स्वराघात, अभिनय इत्यादि। उन्होंने इन सभी को हिन्दी के सुन्दर और स्वाभाविक उदाहरणों द्वारा पूर्ण स्पष्ट किया है।

लक्षणा वहाँ पर आती है जहाँ पर अभिधा का मुख्यअर्थ बाधित होता है और उसका कोई अर्थ नहीं निकलता तथा अन्य उपायों से हमें अर्थ निकालना पड़ता है। यह रूढ़ि और प्रयोजनवती दो प्रकार की होती है। प्रयोजनवती के और दो भेद शुद्धा और गौणी होते हैं और शुद्धा के उपादान, लक्षित, सारोपा, साध्यवसाना तथा गौणी के सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद होते हैं इन सभी को उन्होंने सुन्दर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है (दास ने प्रयोजनवती के शुद्ध और गौणी भेद दिये हैं जब कि देव ने शुद्ध और मिश्रित भेद रक्खे हैं। अब व्यंजना या तो अभिधा के साथ आती है या

---

1. देखिये काव्य निर्णय प्रथम उल्लास १८वाँ छन्द

अनेक संस्कृत ग्रंथों का आधार लेकर लिखा है। और 'काव्य प्रकाश' एवं 'चन्द्रालोक' के विशेष आधार पर इसकी रचना हुई है यह बात उन्होंने स्वयं ग्रंथ में स्वीकृत[1] की है, फिर भी विषय वर्णन क्रम उनका अपना है। दास, मम्मट द्वारा 'काव्य प्रकाश' में प्रतिपादित ध्वनि सिद्धान्त के अनुगामी थे और इसी को इस ग्रंथ में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। बड़ी गम्भीरता और विचार पूर्वक लक्षण और परिभाषा देते हुए भी भिखारीदास का अपने प्रयास पर विश्वास नहीं और वे कहते हैं :—

**"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"**

काव्यनिर्णय का विषय-विश्लेषण —'काव्यनिर्णय' में वे सबसे पहले काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हैं। वह प्रयोजन तीन प्रकार का है। कुछ तो काव्य-द्वारा अपनी तपस्या और साधना के फलस्वरूप संसार में पूजनीय होते हैं और पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करते हैं, जैसे सूर तुलसी, और कुछ बहुत अधिक धन वैभव प्राप्त करते हैं, जैसे केशव, भूषण, बिहारी आदि और कुछ केवल यश को ही प्राप्त करते हैं जैसे रहीम, रसखान आदि। इस प्रकार काव्यचर्चा किसी न किसी रूप में सुखदायी अवश्य होती है। कवि बनने के साधनों के विषय में वे कहते हैं कि काव्य-प्रतिभा, काव्य शास्त्र का ज्ञान और सुकवियों से कविता की शिक्षा तथा लोक अनुभव ये तीन ही उत्तम कविता का कारण होती हैं।[2] अन्तिम दोनों बातें रथ के दो पहियों के समान हैं इनमें से एक के बिना भी रथ नहीं चल सकता, ऐसा दास का मत है।

काव्यांग का वर्णन करते हुए दास जी अपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का अंग है। अलंकार आभूषण है। गुण, रूप और रंग तथा दोष कुरूपता के समान है।[3] यद्यपि दास ने यह स्पष्ट नहीं कहा, परन्तु उनके न कहने पर भी यह स्पष्ट है कि ये काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं। इन काव्यांगों पर विस्तृत विवेचन प्रारम्भ करने के पूर्व कविता की भाषा पर भी वे प्रकाश डालते हैं। दास जी के विवेचन की यह नवीनता है। किसी भी लेखक ने भाषा पर इस प्रकार विचार नहीं किया। वे कहते हैं कि काव्य के लिए सबसे उत्तम ब्रजभाषा है, किन्तु संस्कृत और फारसी से मिलकर भी यह

१. यह पुस्तक लेखक ने टीकमगढ़ राजपुस्तकालय में देखी थी। यह भारत-जीवन प्रेस, काशी में मुद्रित प्रति हुई थी।

२. देखिये शुक्लजी का हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २४१

३. देखिये काव्य निर्णय, प्रथम उल्लास, १२वाँ छन्द

बड़ी सुन्दरता से प्रकट होती है। इसके साथ ही साथ व्रज, मागधी, अमर, नाग, यवन और पारसी भाषाओं में कवित्व प्राप्त होता है। व्रजभाषा के लिए वे कहते हैं कि केवल व्रज-मंडल में बोली जाने वाली भाषा ही व्रज-भाषा नहीं है वरन् सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म, चिन्तामनि, मतिराम, भूषन, लीलाधर, सेनापति, नेवाज, निधि, नीलकंठ, देव, सुखदेव, आलम, रहीम, रसलीन आदि कवियों की कविता को भी हमें व्रजभाषा का ही स्वरूप समझना चाहिए। इसके पश्चात् उत्तम कवित[1] के लिए वे कहते हैं कि जो व्यक्ति, पदार्थ (वाचक वाच्यार्थ, लक्षक लक्ष्यार्थ, व्यंजक व्यंग्यार्थ आदि), भूषन (अलंकार) रस के अंग व भावों के अंग, ध्वनि, गुण और शब्द का ज्ञान कर चुका हो और चित्र कविता भी कर सकता हो; तुक भी जानता हो और दोषों को दूर रखता हो उसको ही उत्तम कवि की कीर्ति, उसकी वाणी द्वारा, प्राप्त हो सकती है।

दूसरे उल्लास में पदार्थ-निर्णय है। दास, वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन पदों का वर्णन करते हैं। जाति, यदिच्छा, गुण और क्रिया के द्वारा वाचक पद निश्चित होता है जैसे कृष्ण का यदुनाथ नाम, जाति के कारण है; कान्ह, यदिच्छा के कारण; श्याम, गुण के कारण और कंसारि क्रिया के कारण। गुण का निश्चय रूप, रंग, गंध तथा स्थायी-कर्मों द्वारा होता है और इन उपर्युक्त बातों को प्रकाश करने वाले शब्द वाचक और उन अर्थों को वाच्यार्थ कहते हैं। दास जी कहते हैं किसी भी शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उनमें से जिस शक्ति के द्वारा एक निश्चित अर्थ का बोध होता है उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। यह, अभिधा का व्यापार, जिन अनेक बातों द्वारा निश्चय होता है वे हैं:—संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ प्रकरण, लिंग, सामीप्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश बल, काल बल, स्वरापात, अभिनय इत्यादि। उन्होंने इन सभी को हिन्दी के सुन्दर और स्वाभाविक उदाहरणों द्वारा पूर्ण स्पष्ट किया है।

लक्षणा यहाँ पर आती है जहाँ पर अभिधा का मुख्यअर्थ बाधित होता है और उससे कोई अर्थ नहीं निकलता तथा अन्य उपायों से हमें अर्थ निकालना पड़ता है। यह रूढ़ि और प्रयोजनवती दो प्रकार की होती है। प्रयोजनवती के और दो भेद शुद्धा और गौणी होते हैं और शुद्धा के उपादान, लक्षित, सारोपा, साध्यवसाना तथा गौणी के सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद होते हैं इन सभी को उन्होंने सुन्दर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। दास ने प्रयोजनवती के शुद्ध और गौणी भेद दिये हैं जब कि देव ने शुद्ध और मिलित भेद रक्खे हैं। अब व्यंजना या तो अभिधा के साथ आती है या

1. देखिये काव्य निर्णय प्रथम उल्लास १८वाँ छन्द

लक्षणा के साथ। इन दोनों के अभाव में व्यंजना नहीं हो सकती। दास कहते हैं कि वाचक और लाक्षक ये दोनों पात्र के रूप में रहते हैं और व्यंजक पानी के समान, उनके भीतर रहता है और दोनों सव्यंग्य अर्थात् व्यंजना से युक्त और अव्यंग्य अर्थात् व्यंजना से रहित हो सकते हैं किन्तु व्यंजना उनमें से एक का आधार लिये बिना नहीं रह सकती। इस प्रकार आधार के विचार से व्यंजना के दो रूप होते हैं अभिधामूला और लक्षणामूला। उसके पश्चात् इस उल्लास के अन्तर्गत दश व्यंजक अर्थात् व्यक्ति विशेष, बोधव्यविशेष, वाक्य विशेष, वाच्य विशेष, काकु विशेष, अन्य सन्निधि विशेष, देश विशेष, काल विशेष, चेष्टा विशेष का वर्णन उदाहरणों द्वारा किया है।

तीसरे उल्लास में अलंकार मूल का वर्णन है। कहीं व्यंग्य से और कहीं वचन से अलंकार आजाते हैं अतः उनके परिचय के लिए कुछ प्रमुख अलंकारों का वर्णन है और आधार के अनुसार उनको समूहों में वर्णित किया है। चौथे उल्लास में रसांगों का वर्णन है। इसमें स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव के साथ सभी रसों का और भावोदय, भावसंधि, भावशबलता, भावशांति, भावाभास, रसाभास आदि का वर्णन है। पाँचवे प्रकाश में अपरांग का वर्णन है, जिनको पिछले लेखकों, केशव, भूषण, मतिराम, देव आदि ने अलंकार माना था जैसे रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि, समाहित आदि उनको दास जी अपरांग में रखते हैं अतः यह विशेषता है। उनके विचारों से जहाँ पर रस और भावादि परस्पर एक दूसरे के अंग होते हैं उनको कोई अपरांग कहते हैं और कोई अलंकार।[1] इस प्रकार रसवत वहाँ होता है जहाँ पर रस किसी रस अथवा भाव का अंग होता है। पहले के आचार्यों ने इसे जहाँ अलंकार, रस के सहायक (सरस बनानेवाले) होते हैं वहाँ माना है।[2] इस प्रकार हम शान्त रसवत, वीर रसवत आदि भी कह सकते हैं। इस विषय में डा० रामशंकर 'रसाल' का मत ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं —"उत्तर काल में रस सिद्धान्त का साहित्यिक क्षेत्र में प्राधान्य एवं प्राबल्य बड़े वेग से हो गया था और यहाँ तक इसकी महत्ता बढ़ चढ़ गई थी कि इसके सामने अलंकार सिद्धान्त

---

१ रस भावादिक होत जहँ जुगल परस्पर अंग।
तहँ अपरांग कहै कोऊ, कोउ भूषन इहि ढंग॥
रसवत प्रेया उर्जसी, समाहितालंकार।
भावोन्नवत संधिवत और सबलवत सार॥ २

२. "रसमय होय सुजानिये रसवत केशवदास।" —( केशवदास )
"नौहू रस में सरसता जहाँ सु रसवत होय।" —( देव )

को दब सा ही जाना पड़ा और उसका प्राधान्य इसके सम्मुख बहुत ही कम रह गया। अलंकारवादियों ने ऐसे समय में अपने पक्ष को पुनर्जीवन देने एवं बल प्रदान करने के लिये ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकार से कुछ गोड़े मे अलंकारों की कल्पना की जिनका सम्बन्ध सीधे सीधे रस ही से हो, बस निम्नांकित अलंकार काव्यक्षेत्र ( अलंकार क्षेत्र ) में आ गये।"[1] ये अलंकार रसवत्, प्रेयसि, उर्जस्वि आदि हैं। किंतु बात यह है कि रसवत्, प्रेयसि और उर्जस्वि अलंकार दंडी के काव्यादर्श में भी मिलते हैं। अतः हम इन्हें बाद को काव्यक्षेत्र में आया न मानकर रस और अलंकार को सम्बन्धित करनेवाले अलंकारों में ही परिगणित करें तो अच्छा होगा।

दास के विचार से प्रेयालंकार वहाँ होता है जहाँ पर भाव, रस और भाव के अंग होते हैं। समाहित वहाँ होता है जहाँ भावशान्ति किसी रस का अंग होता है और भाव संधिवत्, जहाँ भावसंधि अंग होता है इसी प्रकार भावोदयवत् और भावसबलवत् भी। यह इस प्रकार का विवेचन हिन्दी आचार्यों के बीच दासजी का नितान्त नवीन ढंग पर है, यद्यपि यह है काव्यप्रकाश के आधार पर ही।[2]

छठवें उल्लास में ध्वनि-वर्णन है। ध्वनि सिद्धान्त को यद्यपि बहुत से आचार्यों ने लिया है पर उन सब से अधिक सफलता भिखारीदास को ही मिली है यद्यपि इनके उदाहरण और लक्षण बहुत कुछ मम्मट के आधार पर ही हैं। ध्वनि का लक्षण देते हुए ये कहते हैं कि जहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो उसी को ध्वनि कहते हैं और वही उत्तम काव्य है।[3] ध्वनि के दो स्वरूप हैं अविवक्षित

---

१. देखिये अलंकारपीयूष उत्तरार्ध, लेखक डा० रामशंकर शुक्ल रसाल पृ० ३१४ (सन् १९२० सं० )

२ "रसवत्प्रेयऊर्जस्वि समाहितादयोऽलंकाराः" ( चतुर्थोल्लास सू० ४२ )
टीका—"रसस्यांगत्वे रसवदलंकारः भावस्यांगत्वे प्रेयोऽलंकारः रसाभासस्य भावाभासस्य चांगत्वे ऊर्जस्वि नामालंकारः भावशान्तेरंगत्वे समाहितः।"
—पृ० ८५ काव्य प्रकाश
भट्ट वामनाचार्य की टीका, सन् १९३३, पंचम संस्करण।

३. वाच्यार्थ तें व्यंग में चमत्कार अधिकार।
ध्वनि ताही को कहत हैं उत्तम काव्य विचार।
—का० नि० छठा उल्लास १

वाच्य और विवक्षित वाच्य। इन्हीं को हम क्रमशः लक्षणामूला और अभिधामूला ध्वनि भी कह सकते हैं। अविवक्षित वाच्य के, अर्थान्तर-संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत दो और भेद हैं। अर्थान्तर संक्रमित में लक्षणा के वश में होकर वाच्यार्थ तद्वार्थ में बदल जाता है किन्तु अत्यन्त तिरस्कृत में वाच्यार्थ बिलकुल ही व्यर्थ होता है। दूसरी ध्वनि विवक्षितवाच्य ध्वनि है जहाँ पर वाच्यार्थ उद्दिष्ट होता है। यह दो प्रकार की होती है संलक्ष्यक्रम व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य। जहाँ पर जैसे ही वाच्यार्थ स्पष्ट हुआ कि चित्त द्रवीभूत होगया वहाँ पर असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। रस भावादि इसी के अन्तर्गत होते हैं। इनको रस व्यंग्य कहा गया है, संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बीच का क्रम लक्ष्य होता है यह शब्दशक्ति, अर्थशक्ति और शब्दार्थशक्ति द्वारा तीन प्रकार से व्यक्त होता है। शब्द शक्ति पर आधारित ध्वनि में वस्तु से वस्तु और वस्तु से अलंकार व्यंग्य होते हैं। प्रथम में चित्रण सीधे ढंग से होता है और दूसरी में अलंकार द्वारा। अर्थशक्ति पर आधारित ध्वनि वाचक और लक्षक पर निर्भर करती है। जो सभी को विदित हो और सभी की समझ में आवे उसे स्वतः सम्भवी और जिसमें काव्य के अन्तर्गत मानी गई विशेष बातों का ही वर्णन हो उसे प्रौढोक्ति कहते हैं। ये दोनों चार प्रकार के होते हैं—वस्तु से वस्तु व्यंग्य, वस्तु से अलंकार व्यंग्य, अलंकार से वस्तु व्यंग्य और अलंकार से अलंकार व्यंग्य।

भिखारीदास के मत से यद्यपि बहुत से शब्द मिलकर वाक्य बनाते हैं किन्तु काव्य में अकेले शब्द की इतनी शक्ति होती है कि वह पूरी व्यंजना करता है इसके वे उदाहरण भी देते हैं। उसके पश्चात् पाँच प्रकार से स्वयं लक्षित ध्वनि का वर्णन है वह है पद-गत, शब्दगत, वाक्यगत, पदविभाग-गत और रसगत। इस प्रकार से छठे उल्लास में ४३ प्रकार की ध्वनि का वर्णन समाप्त होता।

सातवें उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य का वर्णन है। गुणीभूतव्यंग्य वहाँ होता है जहाँ पर व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार नहीं होता है। गुणीभूतव्यंग्य ८ प्रकार का है। अगूढ़ व्यंग्य, वहाँ होता है जहाँ पर व्यंग्य स्पष्ट होता है और वह प्रभाव को कम कर देता है क्योंकि ध्वनि में व्यंग्य का कथन नहीं होता वह अर्ध-प्रकाशित होता है, अपरांग जहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी का अंग होता है जैसे रसवत आदि, तुल्य प्रधान, जहाँ पर व्यंग्य बिना कहे समझ में नहीं आता, काक्वाक्षिप्त जहाँ पर स्वर-परिवर्तन द्वारा सच्ची बात की इनकारी करे, वाच्य सिद्धांग वहाँ पर वाच्यार्थ पर जोर हो संदिग्ध जहाँ पर यह निश्चय न हो सके कि वाच्यार्थ प्रधान है या व्यंग्यार्थ और असुन्दर, जहाँ पर वाच्यार्थ स्पष्ट तथा व्यंग्यार्थ

से अधिक चमत्कारपूर्ण है, होता है। इन सभी के लक्षण और उदाहरण वे देते हैं। दास कहते हैं कि ये विशेष महत्त्व के हैं यद्यपि इसके भी उतने ही भेद हैं जितने ध्वनि के[1]। उसके पश्चात् दासजी उस काव्य को जिसमें व्यंग्य कुछ नहीं रहता है 'अवर'[2] काव्य कहते हैं। इसकी चतुराई मन के सम्मुख अनेक चित्र उपस्थित करने में ही है और कभी कभी कवि इसमें भी बड़ी रोचकता भर देते हैं।

अष्टम उल्लास में अलंकारों का वर्णन है। अलंकारों पर विचार करते हुए दासजी कहते हैं कि कविता की सुघराई कवि की प्रतिभा पर निर्भर करती है और जो तीन प्रकार की होती है—शब्दशक्ति, प्रौढ़ोक्ति और स्वतः सम्भवी। अलंकार भी इन्हीं तीन आधारों पर ठहरते हैं जहाँ पर केवल अलंकार हैं वह अवर काव्य होता है किन्तु जहाँ पर अलंकारयुक्त कविता के साथ गुण, बिना व्यंग्य के मिले रहते हैं वहाँ पर मध्यम काव्य होता है किन्तु जहाँ पर व्यंजना के साथ रस, गुण, अलंकार आदि होते हैं, वहाँ उत्कृष्ट काव्य होता है।[3] अतः अलंकार कविता की कोटि को निर्धारित नहीं करते, वरन् वे सभी प्रकार के काव्यों में पाये जा सकते हैं इसलिये अलंकार कविता का प्रधान अंग नहीं है। यह दासजी का बड़ा ही तथ्यपूर्ण निष्कर्ष है।

अलंकारों का वर्गीकरण जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो केवल वर्ग के प्रथम अलंकार के नाम पर ही रख दिया गया है जैसे कि उपमादि, उत्प्रेक्षादि किन्तु ध्यान से देखने पर यह वर्गीकरण तर्क-संगत आधार पर स्थित जान पड़ता है। पहला वर्ग उपमादि का उपमेय उपमान के आधार पर समानता को लेकर किया गया है इसके अन्तर्गत उपमा, अनन्वय, प्रतीप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विनस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता प्रतिवस्तूपमा आदि हैं। उत्प्रेक्षादि में आरोपित समानता का आधार है। इसमें उपमान का महत्त्व अधिक है किन्तु तीसरे वर्ग में क्रम से उपमान की अपेक्षा उपमेय का महत्त्व बढ़ता जाता है। जैसे रूपक की अपेक्षा व्यतिरेक में उपमान उपमेय से हीन रहता है। इस वर्ग के वर्णन में नवीन बात यह है कि समस्तविषयक रूपक के अन्त-

---

१. इहि विधि उत्तम काव्य को जानि लेहु ब्यवहार।
तितने यामें भेद हैं जितने ध्वनि बिस्तार। ( सप्तम उ० २४ )

२. बचनारथ रचना जहाँ ब्यंग्य न नेक लखाई।
सरल जानि तेहि काव्य को, अवर कहैं कबिराई॥ ७-२१

३. देखिये काव्य निर्णय, अष्टम उल्लास, ?, ३, ४, ५

गंन और अलकारों के आधार पर आये रूपक का वर्णन है जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति परिणाम आदि। अतिशयोक्ति को भी वे सम्भावना, उपमा, अपन्हुति, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि पर आधारित करते हैं। जैसे रूपकातिशयोक्ति है इसी प्रकार उत्प्रेक्षातिशयोक्ति उपमानिशयोक्ति, सापन्हवातिशयोक्ति आदि भी भेद दास ने किये हैं। उदात्त, अधिक, अल्प विशेष आदि भी सम्भवतः इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार अन्योक्ति के आधार पर अन्योक्ति आदि, विरोध के आधार पर विरुद्धालंकार आदि। उल्लासादि अल कार सम्मिश्रण के आधार पर हैं। इनके अतिरिक्त जो किसी आधार से नहीं आ सकते हैं उन्हें अलग रखना है और कह दिया है:—

"अरु कछु मुक्तक रीति लखि कहत एक उल्लास।"

इसमें सम, समाधि, परिवृति, भाविक, हर्ष, विषाद, असम्भव, सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थापत्ति आदि अलकार हैं।

इस प्रकार अनेक अलंकारों का सामान्य आधार ढूँढकर उनका वर्ग बाँधना दास की विशेषता है जैसा कि न किसी ने पहले और न किसी ने उनके पीछे किया। इसके पश्चात् १६ वें उल्लास में गुणों का वर्णन है और इसी के अन्तर्गत वृत्तियों का भी। मम्मट के आधार पर दास जी ने भी कहा है कि सब पहले आचार्यों ने दस गुणों का निरूपण किया परन्तु बाद को यह प्रकट हुआ कि वे दसों, तीन गुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु दास निरूपण दसों गुणों का करते हैं। यहाँ भी विशेषता यह है कि अक्षर-गुण पर तो माधुर्य, ओज और प्रसाद को लेते हैं और अर्थ-गुण के अन्तर्गत समता-कान्ति, उदारता, अर्थ व्यक्ति और समाधि और तीसरे वर्ग में वाक्य गुण के अन्तर्गत श्लेष और पुनरुक्ति प्रकाश को।

अब माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण, व्यजनों के विविध प्रकार के योग के द्वारा बनते हैं और इस प्रकार से हमारे कानों पर प्रभाव डालते हैं अतः प्रमुखतः उनका कार्य अर्थ द्योतक नहीं है। समता वहाँ होती है जहाँ पर कोई बात रूढ़ि विरुद्ध कही जाय पर यथार्थ में वह हो दोषहीन, जैसे—

मेरे दृग कुबलयन को होति निसा सानन्द।
सदा रहे गजदेम पर उदित साँवरो चन्द॥

रात को कमल खिलना और चन्द्र का सावला होना ये विरुद्ध बातें पड़ती हैं, किन्तु फिर भी सत्य हैं। कांति में मधुर शब्दों में सुन्दर बात कही जाती हैं और उसका तात्पर्य

भी गहरा होता है। उदारता वहाँ पर होती है जहाँ पर बुद्धिमानों को तो अर्थस्पष्ट होता है किन्तु वैसे कठिन जान पड़ता है "वन्दन सुत वन्दन करो पुस्कर पुस्कर पाइ"। अर्थ-व्यक्ति में अर्थ स्पष्ट होना है और ढग स्वाभाविक होना है:—

इकटक हरि राधे लखै राधे हरि की ओर।
दोऊ आनन इन्दु और चारयो नैन चकोर॥

समाधि, वहाँ होता है, जहाँ पर क्रम से गुण का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाया जाय यथा—"नौ गुनी नीरज ते मृदुता सुखमा मुख में ससि ते भई सौगुनी" ऐसे ही श्लेष और पुनरुक्ति। इसके बाद १० गुणों को वे तीन गुणों के अन्तर्भूत ही सिद्ध करते हैं, माधुर्य के अन्तर्गत ही श्लेष समता, कान्ति रखकर वे कहते हैं कि करुणा, हास्य और शृंगार में इनकी विशेष आवश्यकता रहती है। ओज के अन्तर्गत श्लेष, समाधि, उदारता आदि आजाते हैं और प्रसाद में अर्थव्यक्ति। प्रसाद गुण में समास नहीं होना चाहिये।

यहाँ पर एक और विशेष बात यह है कि गुणें जब रस के सहायक रूप में आते हैं, तब तो गुण कहलाते हैं पर जब वे रस के सहायक नहीं होते तब वे अनुप्रास के ही रूप में आते हैं अतः ये गुण ही अनुप्रास का आधार हैं। वृत्यानुप्रास के साथ ही दास ने उप-नागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का वर्णन दास ने किया है, जो क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के ही परिणामस्वरूप हैं। इसी प्रकाश में वे रस, गुण, अलकारों पर अपना मत देते हैं। उनके विचार से रस जीवात्मा के समान है और उसके गुणों के समान ही गुण होते हैं। गुण वह अवस्था है जब रस पूर्ण रूप से जाग्रत होता है यह रस के उत्कर्ष की अवस्था है। अगी की सुन्दरता और कुरूपता होती है अग की नहीं और जिस प्रकार छोटे व्यक्ति को देखकर लोग उसमें कायरता का और बड़े शरीर को देखकर वीरता का विचार कर लेते हैं,[१] ऐसे ही रस भी गुणों के द्वारा प्रभावित होता है। अलकार ऊपरी शरीर को भूषित करते हैं अतः अलकार बिना रस के और रस बिना अलकार के हो सकता है, किन्तु गुणों का रस में स्थान आवश्यक है।[१]

२०वें उल्लास में चित्र को छोड़कर अन्य अलकारों का जैसे श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति, पुनरुक्तिवदाभास आदि का वर्णन है। दास इन्हें उभयालकार नहीं मानते हैं। चित्रालकार में २१वें उल्लास के अन्तर्गत वे अनेक प्रकार के चित्र-काव्य का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि इसमें अर्थहीनता दोष नहीं और इसमें व और ब,

---

१. काव्य निर्णय १९वाँ उल्लास, ६२, ६३, ६४

ज और य एक दूसरे के स्थान पर रक्खे जा सकते हैं और अनुस्वार का भी कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। इनमें वे प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, वानी का चित्र, लेखनी चित्र आदि का वर्णन करते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक चित्रालंकारों का वर्णन उदाहरणों सहित सम्पन्न हुआ है।

२२ वें उल्लास के अंतर्गत तुक का वर्णन है। तुक तीन प्रकार के हैं उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम तुक के समसरि, विषमसरि और कष्टसरि भेद हैं तथा मध्यम के असंयोग मिलित और स्वर मिलित। अंत के 'व्याहि' और 'चाहि' में असंयोग मिलित हैं और ते, है, दे में स्वर मिलित कहा गया है। अधम तुक के अमिल, सुमिल, आदिमत्त अमिल, अन्तमत्त अमिल आदि भेद हैं। वीप्सा, याम और लाटिया आदि भी तुक के ही अन्तर्गत हैं। इन सब के, दास, केवल उदाहरण देते हैं, लक्षण नहीं। उदाहरण भी सर्वतः स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि तुक निर्णय का वर्णन हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत दास जी का अनोखा प्रयत्न है। उस समय तुक हिन्दी काव्य का एक आवश्यक अंग था अतः तुक-निर्णय भी हिन्दी काव्यशास्त्र का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। इस बात पर सबसे पहले ध्यान आचार्य भिखारीदास का ही गया। अन्य अनेक विशेषताओं के साथ यह वर्णन भी उन्हें आचार्य की दृष्टि से सबसे सुदृढ़ स्थान पर प्रतिष्ठित करता है।

दोष-निरूपणः—दास ने 'काव्य निर्णय' में चार प्रकार के दोषों का वर्णन किया है, शब्द दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस दोष। शब्द-दोष सोलह प्रकार के हैं, जिनमें प्रमुख हैं :—अश्लील, ग्राम्य, संदिग्ध, अप्रतीत, नेआरथ, क्लिष्ट, अविमृष्ट, विधेय और विरुद्धमति आदि।

'वाक्य-दोषों के अन्तर्गत प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, विसन्धि, न्यूनपद, अधिकपद, पतत्प्रकर्ष, पुनरुक्ति, समाप्त-पुनराप्त, चरणान्तर्गत पद, अभवन्मतयोग, अकथितकथनीय योग, अस्थानपद, संकीर्णपद, गर्भित दोष, अमत परार्थ, प्रक्रम भंग और प्रसिद्धहत हैं।

अर्थ दोषों में, अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहत, पुनरुक्ति, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, अनवीकृत, नियम अनियम, विशेषवृत्त, सामान्यप्रवृत्त, साकांक्षा, अयुक्त, प्रसिद्ध, विद्या विरुद्ध, प्रकाशितविरुद्ध, सहचरभिन्न, अश्लीलार्थ और त्यक्तपुनः—स्वीकृत आदि हैं।

यह दोष-वर्णन भी 'काव्य प्रकाश' के ही आधार पर है। दास कहते हैं कि इनमें से बहुतेरे दोषों की दोषों में गणना नहीं है क्योंकि उनसे काव्य के अंगों का सौन्दर्य बढ़ता है। कभी कभी ये शब्दालंकार को सहारा देते हैं कभी छन्द और कभी अप्रासंगिक प्रसंग को।

जब कोई भी पद इनका सहायक होता है तो उसे दोषों के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिये। रस-दोषों के अन्तर्गत वे कहते हैं कि जहाँ रस या स्थायी भाव शब्दों द्वारा प्रकट हो जाता है वहाँ प्रथम प्रकार का रस दोष होता है, दूसरा वहाँ है जहाँ पर कि विभाव या अनुभाव जो उद्दिष्ट है बड़ी कठिनाई से समझा जा सके, तीसरा जहाँ पर विरोधी रस या भाव एक ही स्थान पर वर्णित हो। चौथा जहाँ गौण वस्तु पर अधिक बल दिया जाय, और प्रधान बात पर कम। पाचवाँ प्रकृति विपर्यय है जो तीन प्रकार की प्रकृति दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य मे एक के स्थान पर दूसरी के ऐसे वर्णन आदि में होता है जिससे परम्परा से आई भावना में बाधा पड़े। इस प्रकार के अन्य अनुचित वर्णन भी रस-दोष के अन्तर्गत आते हैं।

दोष वर्णन के साथ ही दास अपने 'काव्यनिर्णय' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी में काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक ढग पर है, यद्यपि अधिकाश आधार 'काव्यप्रकाश' तथा हिन्दी के ग्रथ हैं; फिर भी कई स्थानों पर जैसे भाषा, अलकारों के वर्गीकरण, तुकनिर्णय आदि के वर्णन में दास जी की मौलिकता है। विषय क्रम का वैज्ञानिक ढग, उदाहरणों की स्पष्टता और काव्य सौन्दर्य तथा विषय विवेचन की पूर्णता के कारण 'काव्यनिर्णय' ग्रथ का अपना निजी स्थान है और भिखारीदास हिन्दी काव्यशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आचार्यों मे प्रतिष्ठा के साथ परिगणित हैं।

*शृंगार-निर्णय :—*

भिखारीदास की काव्यशास्त्र पर लिखी दूसरी पुस्तक 'शृ गारनिर्णय' है जिसमे शृ गाररस का अर्थात् नायिका नायक भेद, सयोग, वियोग—इत्यादि विषयों का वर्णन है। काव्यशास्त्र के विषय विवेचन की दृष्टि से जो महत्व 'काव्यनिर्णय' का है उसका एक अश भी 'शृ गार निर्णय' का नहीं है इसमें गम्भीर अध्ययन और विद्वता का कोई भी चिन्ह नहीं है, हाँ कविता की दृष्टि से इसका स्थान रीतिकाल के अच्छे ग्रथों में है। यह मतिराम की 'रसराज' पुस्तक के ढग पर है जिसका मुख्य विषय, नायिका-नायक भेद वर्णन करना और शृङ्गारिक काव्य की सरिता बहाना है। अतः इसका विषय विश्लेषण भी किसी विशेष आवश्यकता का साधक नहीं है, फिर भी दास जी के 'शृगार निर्णय' में अन्य सामान्य ग्रथों से कुछ विशेषतायें हैं जिनका निर्देश अधिक रोचक होगा।

'शृगारनिर्णय' में नायक, नायिका, सखि, दूती आदि का वर्णन क्यों करते हैं, इस

प्रश्न का 'दास' ने उत्तर यह दिया है कि नायक नायिका शृंगार के आलम्बन और दूती आदि उद्दीपन हैं[1] अतः विभाव वर्णन के रूप में नायक नायिका के भेद, उनके सौन्दर्य तथा दूती आदि का वर्णन करना आवश्यक है। इसके पश्चात् नायक भेद के वर्णन में पति और उपपति का अन्तर बताते हुए वे कहते हैं कि जो नायक अपनी विवाहिता पत्नी से ही प्रेम करता है वह तो पति और जो उसके अतिरिक्त अन्य से भी प्रेम करता है वह उपपति होता है। ये दोनों भेद, पति और उपपति, अन्य भेदों अर्थात् अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट के साथ बराबर चलते हैं जिनकी यथार्थ में कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि परिभाषा के अनुसार पति अनुकूल ही हो सकता है अन्य नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि नखशिख वर्णन अलग न करके वे नायिका के सौन्दर्य वर्णन में ही नखशिख का वर्णन करते हैं। अधिकांश के लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दे देते हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि परकीया नायिका का विभाजन कई आधारों पर किया है, परकीया का आकर्षण दो बातों पर निर्भर करता है प्रगल्भता और धीरता। पहले प्रकार का भेद है ऊढ़ा और अनूढा; दूसरे प्रकार का भेद है उद्बुद्धा और उद्बोधिता। अनूढा परकीया की दो अवस्थायें होती हैं:—अनुरागिनी और प्रेमासक्ता। अनुरागिनी अपने प्रेमी से विवाह करना चाहती है और उसके लिए उसके हृदय में प्रेम है; प्रेमासक्ता और भी बढ़ जाती है क्योंकि यदि उसके प्रेम की बात लोग जान भी जाते हैं तब भी वह किसी की परवाह न करके प्रेम को बनाये रखती है। उद्बोधिता समाज और सम्बन्धियों का भय मानती है और दूती की सहायता से ही उसका प्रेम चलता है। मिलन में भी उस को भय स्पष्ट दीखता है। उसके और भेद हैं असाध्या और दुस्साध्या। उसके पश्चात् परकीया के विदग्धा, लक्षिता, मुदिता और अनुशयाना भेद भी किये हैं। स्वकीया के भेद जैसे सभी ने किये हैं वैसे ही हैं कोई विशेष बात नहीं है। इसके बाद विरही-नायिका के अन्तर्गत उत्कंठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और प्रोषितपतिका आदि हैं। यह सबका वर्णन शृङ्गार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत है।

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखी, स्थायी आदि के तो वे केवल नाम ही गिनाते हैं और उदाहरण देते हैं। हावों का भी ऐसा ही वर्णन है। यह सब संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत है।

वियोग वर्णन में पूर्वानुराग, दर्शन, स्वप्न, छाया, माया, चित्र, श्रुति, विरह, मान और

---

१. देखिये मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ० ६७४

प्रवास तथा इन सभी मे दास विरह की दश दशाओं को मानते हैं। मरणावस्था को निरी निराशा की अवस्था के अन्तर्गत रक्खा है। अधिकांश पुस्तक उदाहरण व कविता से ही महत्व की है, काव्य निर्णय की भाति नहा। 'शृङ्गार निर्णय' की रचना संवत् १८०७ में अरवर म हुई थी।

"संवत विक्रम भूप को अट्ठारह से सात।
माधव सुदि तेरस गुरो अरवर थल विख्यात॥"

इनके रस साराश और छंदोर्णव पिंगल क्रमश रस और छंदों पर है।

*रससाराश*—

'रससाराश' की रचना, दास जी ने अरवर राज्य के प्रतापगढ नगर म की थी। *इसका रचना काल स० १७९१ वि० है,*[1] पर शुक्लजी ने अपने इतिहास में इसका रचना काल स० १७९९ वि० दिया है।[2] इस ग्रंथ का रचना काल स० १७९१ ही ठीक जान पड़ता है जैसा कि ग्रंथ में उल्लिखित नीचे की पंक्तियों से विदित होता है:—

सत्रह सै पक्यानवे, नभ सुदि छठि बुधवार।
अरवर देस प्रतापगढ भयो ग्रन्थ अवतार॥

इसम रसों का विवेचन बड़ा ही रोचक और विस्तारपूर्ण है। 'काव्यनिर्णय' में तो विशेष रूप से उत्तम, मध्यम, अवर काव्य का निर्णय और ध्वनि तथा अलङ्कारों आदि

स० १८०० वि० के ही आस पास लिखे गये, शिवकवि के 'रसिक विलास' और 'अलङ्कार-भूषण', क्रमशः नायिका भेद और अलंकारों पर ग्रंथ हैं, 'रसिक विलास' 'रसराज' के समान विशद ग्रथ है। इसी समय की लिखी गुमान मिश्र की मात आठ पुस्तकें अलकार, नायिका भेद, काव्य रीति आदि विषयों पर हैं। पर वे देखने म नहीं आई।[1]

## दूलह कवि

ये कालीदास त्रिवेदी के पौत्र और उदनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे शुक्ल जी ने इनका रचना काल स० १८०० से १८२५ तक माना है। इनका बनाया अकेला ग्रथ "कवि कुल कठाभरण" अलकार पर बड़ा ही सुन्दर ग्रथ है। इसका रचना-काल इस ग्रथ में नहीं दिया गया है। यह स्वतन्त्र ग्रथ जान पड़ता है। अलकारों की परिभाषायें बहुत ही स्पष्ट और सक्षिप्त हैं और उदाहरण प्रत्येक अलकार के लक्षण के ठीक बाद में रक्खे गये हैं। 'भाषा भूषण' की भाँति यह यह भी अलकार के प्रेमियों और विद्यार्थियों को कठ कर लेने के लिए ही बना था। दूलह ने प्रारम्भ मे ही इनका निर्देश कर दिया है :—

> "जो या कठाभरन को कंठ करै सुख पाय।
> सभा मध्य सोभा लहै अलंकृती ठहराय।"

इस उद्देश्य के कारण कहीं कहीं लक्षण इतने सक्षेप में कहे गये हैं कि बिना व्याख्या के उनके अर्थ स्पष्ट नहीं होते यद्यपि परिभाषायें हैं बहुत ही शुद्ध। एक ही सवैया में या एक से अधिक सवैयों या कवित्तों म ४, ५, ६ अलकार, लक्षण और उदाहरण के साथ क्रम से आते हैं अत ये छन्द केवल काव्य की दृष्टि से जैसे और कवियों के उदाहरण हैं महत्त्व पूर्ण नहीं, यह तो अलकार को ही याद करने के लिए और उसके आधार पर व्याख्या करने अथवा अपनी अलकार-सम्बन्धी विद्वता को प्रदर्शित करने के लिये ही बहुत उपयुक्त ग्रथ है। कभी कभी एक ही पक्ति के अर्द्धभाग म परिभाषा और अवशिष्ट मे उदाहरण चलते हैं। फुटकल उदाहरण के छन्द स्वतन्त्र रूप से कुछ ही मिलते हैं।

दूलह का 'कवि कुल कठा भरण' 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानद' के आधार पर है, जैसा कि बीच बीच में सकेत करते हुए इन्होंने स्वय कहा है। देखिये —

"कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते ते कहीं, लुप्ता ये आठों, आठों भहर प्रमानिये।"

---

१. देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, (पृ० ६७२, ६७४)

और पन्द्रह अलकारों का जिनका वर्णन प्राचीन कवियों ने छोड़ दिया था वर्णन रते हुए दूलह कहते है,—

"अरथालंकृत शत प्राचीनि कहै ते कहै आधुनिक सत्तरि बहत्तरि प्रमाने हैं।
कहै कवि दूलह सु पचदश औरौ सुनौ और और ग्रन्थन सो जो वै ठीक ठाने हैं॥
चारि रसवत प्रेय ऊर्जस्व, समाहित हैं तीन भाव उदै संधि सबलता साने हैं।
परतच्छ प्रमुख प्रमान आठौं अलंकार कुवलयानन्द में बखाने जग जाने हैं॥"[1]

ऊपर के दिये हुए छन्द में रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसधि, भावशबलता, प्रत्यक्ष के अतिरिक्त, अनुमिति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति अनुपलब्धि, सभव, ऐतिह्य अलकारों का वर्णन दूलह ने किया है कुवलानद और चन्द्रालोक में दिये गये ऊपर कहे सात अलकार तो रस से सबन्धित हैं। शेष आठ अलकारों को दूलह ने मीमासा तर्क आदि की शब्दावली को लेकर अलकारों के अन्तर्गत रक्खा है। इनका वर्णन पहले के आचार्यों ने नहीं किया पर पद्माकर ने इन्हें अपने पद्माभरण के अन्तर्गत रक्खा है। भिखारी दास ने केवल प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, सम्भव और अर्थापत्ति के उदाहरण दिये है, लक्षण नहीं। पर दूलह ने लक्षण भी दिये हैं और शब्द ऐतिह्य आदि कुछ और भी नये अलकार रक्खे हैं। न्याय-शब्दावली में इन्होंने सकर और ससृष्टि अलकारों का भी वर्णन किया है। ये दोनों मिश्रण के आधार पर हैं जो दो प्रकार का होता है। एक क्षीर-नीर का और दूसरा तिल-तदुल का सो प्रथम सकर और द्वितीय ससृष्टि है। सकर के अग, अगीभाव, समप्रधान, सदेह, एक वाचानुप्रवेश, भेद हैं।

इस प्रकार 'कवि कुल कठाभरण' अलकार का बड़ा ही प्रामाणिक ग्रथ है। इसमें दूलह ने ११७ अलकारों का बड़ी सक्षेप रीति और सफाई के साथ वर्णन किया है। और यह ग्रथ यथार्थ में ही कवि कुल का कठाभरण रहा है। दूलह के कवित्व एव आचार्यत्व दोनों इसी ग्रथ में सुरक्षित हैं।

इसी समय के लगभग शम्भुनाथ मिश्र की (स० १८०६ की) रचनायें हैं जिनमे 'रस कल्लोल' 'रस तरगिणी' रस और नायिका भेद पर हैं और 'अलकार दीपक' अधिकाश दोहों मे लिखा हुआ अलकार का ग्रथ है। 'अलकार दीपक' के उदाहरण अलकार

1. चन्द्रालोक में भी इनका वर्णन है—
"रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धन।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वित्समाहितमयाभिधा॥" ११७ पंचम मयूख, 'चन्द्रालोक'

के अतिरिक्त न होकर अपने आश्रयदाता भगवंतराय (असोथर के राजा) की प्रशंसा में ही है। इसी प्रकार साधारण कोटि की रचनाओं में कालिंजर के हित रामकृष्ण का 'नायिका भेद' दोहों में लिखा ग्रंथ है इसके अतिरिक्त लाला गिरधारी लाल का 'नायिका भेद' जो कि भिन्न भिन्न पदों व शैली में है तथा पालीराम के 'काव्य प्रकाश' व 'रस गंगाधर' के अनुवाद ( जो देखने में नहीं आये ) आदि ग्रंथ पुरानी पद्धति पर इसी समय के आस पास लिखे गये जान पड़ते हैं।

## रूपसाहि

इन सबसे अति प्रसिद्ध सं० १८१३ का लिखा हुआ रूप साहि का 'रूप-विलास' ग्रंथ है। रूपसाहि कायस्थ कमलनैन के पुत्र थे और पन्ना के रहने वाले थे। इन्होंने बुंदेल हिन्दू नरेश हिन्दूसिंह के आश्रय में 'रूप विलास'[1] ग्रन्थ लिखा था। हिन्दूसिंह पन्ना के महाराजा थे।[2] इस पुस्तक में सबसे पहले राज्य वंश और कवि वंश का वर्णन है और उसके पश्चात् कविता के लक्षण, कविता के उद्देश, कारण आदि पर विचार है और फिर शब्द शक्ति का वर्णन है। दूसरे विलास से चौथे विलास तक मात्रिक छन्द, वर्णिक छन्द पद् प्रत्यय आदि का वर्णन है, तत्पश्चात् दसवें विलास तक नायक-नायिका भेद आदि का और ग्यारहवें विलास में नव रस और चार वृत्तियों का वर्णन है जो रूप साहि के विचार से तीन तीन रसों के मिलने से बनती हैं। यथा.—

कैशिकी—करुणा, हास्य, शृङ्गार से मिलकर; भारती—हास्य, वीर, अद्‌भुत से मिलकर, आरभटी—भयानक, वीभत्स, रौद्र से मिलकर और सात्वती—शांत, अद्‌भुत और वीर से मिलकर।

इस प्रकार यह विचार केशव की वृत्ति वर्णन का सा ही है।

बारहवें विलास में अर्थालंकारों का वर्णन है। यहाँ पर 'भाषाभूषण' की पद्धति के अनुसार वर्णन किया गया है, अर्थात् दोहों में ही लक्षण और उदाहरण संक्षेप में दिये हुए हैं। अर्थालंकारों को ६६ छंदों में ही समाप्त कर दिया गया है। तेरहवें विलास में वर्णालंकारों का वर्णन है जिसके अन्तर्गत ५ प्रकार के शब्दालंकार तथा चित्रालंकार हैं। चौदहवें और अन्तिम विलास में षट ऋतु के वर्णन हैं। इस प्रकार 'रूपविलास' में काव्य

---

1. याज्ञिक संग्रहालय से प्राप्त प्रति के आधार पर।
2. देखिये मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ७१३

शास्त्र के सम्पूर्ण काव्यांगों का बड़ी ही संक्षिप्त और स्पष्ट शैली में निरूपण है और काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए यह बड़े काम की पुस्तक है।

## बैरीसाल

मिश्रबन्धु विनोद के अनुसार ये असनी के निवासी ब्रह्मभट्ट थे और इनके वंशज और हवेली अब तक विद्यमान हैं।[1] इनका बनाया 'भाषाभरण' अलंकारों पर बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है। विषय का ऐसा स्पष्ट विवेचन है और उदाहरण इतने सुन्दर हैं कि विषय बड़ी रोचकता के साथ हृदयंगम हो जाता है। इसमें कुल ४७५ छंद हैं और उनमें भी अधिकांश दोहे हैं। यह ग्रंथ 'कुवलयानन्द' के आधार पर है। इनके विवेचन से इनकी अलंकारों की आचार्यता साफ झलकती है। उदाहरण के दोहे बिहारी के दोहों की समता करते हैं।

'भाषा भरण' का रचनाकाल सं० १८२५ है जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है.—

> शशकर बसु बिधु वर्ष में निर्मल मधु को पाइ।
> ब्रिदशि और बुध मिलि कियो भाषाभरण सुभाइ॥[2]

प्रारम्भ में ही शब्द और अलंकार की प्रधानता के अनुसार दो भेद करते हुए आगे बैरीसाल, अनेक अलंकारों के एक ही पद में आने पर कौन समझा जाय, इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि कवि का अभिप्राय जिस पर हो उसी को प्रधान मानना चाहिए। इस कथन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं.—

> "ज्यों ब्रज में ब्रजबधुन की, निकसति सजी समाज।
> मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत ब्रजराज।"

*'भाषा भरण' का वर्णन ढंग 'भाषा भूषण' का सा है। बैरीसाल ने पूर्णलुप्तोपमा को* भी अलंकार माना है जहाँ पर उपमा के चारों अंग लुप्त हों जैसे :—

> "जहा न चारयौ हैं तहाँ, पूरण लुप्तानाम।
> ज्यहि लखि लाजत कोकिला ताहि बीजिये स्याम॥"

परन्तु इनमें उपमा से अधिक प्रतीप अलंकार है, क्योंकि उपमान का अनादर होता है और फिर कोकिला के रूप में उपमान प्रगट भी है, अतः उदाहरण ठीक नहीं। मेरी समझ में ऐसा कोई उपमा का भेद नहीं हो सकता, अन्य कोई अलंकार चाहे भले ही हो। अन्त में इन्होंने रसवत, उर्जस्वि, भावसंधि, भावशबलता आदि को भी अलंकार के

---

1. देखिये मिश्रबन्धु विनोद पृ० ७२१
2. ,, भाषाभरण, छन्द ८

अन्तर्गत माना है। 'भाषाभरण' की रचना कुवलयानन्द के आधार पर है जैसा कि ग्रंथ-कर्ता ने स्वयं ही अन्त में कह दिया है:—

"तेहि नारायण ईस कौं, करि मन माह समर्थ।
रीति कुवलयानन्द की, कीन्ही, भाषाभर्थ॥"

'भाषाभरण' की शैली संक्षिप्त और उदाहरण स्मरणीय हैं। अलंकार पर यह बड़ा सुन्दर ग्रंथ है।

## समनेस का 'रसिक विलास'[1]

यह संवत् १८२७ का लिखा ग्रंथ है, जैसा कि इस दोहे से प्रकट है :—

संवत रिषि जुग वसु ससी कुज पून्यो नभ मास।
सम्पूरन समनेस कृत बनिगो रसिक विलास॥

रसिक विलास 'रसराज' की भाँति ग्रंथ है किन्तु इसमें अन्त में, संक्षेप में शृङ्गार रस के अतिरिक्त वीर, रौद्र, वीभत्स, करुणा, शांत आदि का भी वर्णन है। अधिकांश ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद, दूती-कर्म; भाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी, भावों तथा वियोग-दशाओं का वर्णन है। इसमें वर्गीकरण अथवा विवेचन की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं, वरन् सुन्दर उदाहरणों में ही रोचकता है। बहुतेरे उदाहरण काव्य के सुन्दर नमूने हैं। इन्होंने दोहों में लक्षण और कवित्त तथा सवैयोंमें उदाहरण दिये हैं, जैसा कि बहुतेरे कवियों ने किया है।

उदाहरणार्थ 'शांत रस' के लक्षण और उदाहरण देखिये :—

लक्षण, दोहा—"तहाँ सांत रस जानिये थाई जहँ बैराग।
साधु संग आदिक तहां कियो विभाव विभाग॥
छमा दयादिक कहत कवि तहँ अनुभाव बखानि।
निर्वेदादिक जानिये संचारी अनुमानि॥

उदाहरण— समनेस बिषै बिष सों तजि कै धरि धीर छ मारग सो रँगि है।
अरु साधुन के मत में रत ह्वै कै असाधुन के मत सों भगि है॥
धन औ धन धाम वृथा सिगरे लखियौं पुनि सोवत सो जगि है।
मन ते जग चिन्तन सों भजि के कब धौं हरि चिन्तन सों लगि है।"

इसी प्रकार विषय को स्पष्ट करने वाले उदाहरण हैं। रस पर यह अच्छा ग्रंथ है।

---

१ दतिया राज पुस्तकालय में लेखक द्वारा देखी प्रति के आधार पर।

## रतन कवि

रतन का कविता-काल शुक्ल जी ने १८३० सं० के आसपास माना है। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतेहसाहि के यहाँ रहते थे और उन्हीं के नाम पर 'फतेहभूषण' नामक ग्रंथ बनाया जिसमें शब्द शक्ति, काव्य-भेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है।[१] दूसरी पुस्तक 'अलंकार दर्पण'[२] है। यह अलंकारों का ग्रंथ है और संवत् १८४३ में लिखा गया था। एक ही छंद में लक्षण और उदाहरण दोनों ही दिये हैं। उदाहरणार्थ देखिये :—

"जाकौ उपमा दियें अनेकनि सो उपमेय प्रमाने।
जाकी समता करै सरस कर ताहि कहत उपमाने॥
समता बीच सुखद मद सूचक वाचक सम और ऐसो।
धर्म होई साधारन जाको कहिये ताको तैसो।"

और "वर्ण होय कहिये उपमेयै अवर्ण तो उपमानै" इसी प्रकार अलंकारों की विशेषता बतलाते और उदाहरण देते चलते हैं। पुस्तक साधारण कोटि की है।

## ऋषि नाथ

ये ठाकुर कवि के पिता थे और असनी के रहने वाले बंदीजन थे। इनकी बनाई 'अलंकार मणि मंजरी' अलंकार पर दोहा सवैया, घनाक्षरियों तथा छप्पयों में लिखी पुस्तक है। इस ग्रंथ का रचना काल सं० १८३१ है। अलंकार शास्त्र की दृष्टि से पुस्तक साधारण है।

## जनराज कृत 'कवितारसविनोद'

'कवितारसविनोद'[३] सं० १८३३ की लिखी हुई पुस्तक है। लेखक का यथार्थ नाम देवराज था, किन्तु उनके कविता गुरु कृष्ण कवि ने उन्हें यह नाम दिया था। यह जाति के वैश्य थे 'कवितारसविनोद' काव्यशास्त्र के अनेक अंगों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक है। प्रथम चार विनोदों में तो छन्दों का वर्णन है और उसके पश्चात् काव्य की कोटियों का निरूपण है काव्य की परिभाषा देते हुए ये कहते हैं —

१ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१३

२ दतिया राज पुस्तकालय में देखी प्रति के आधार पर।

३. डा० भवानीशंकर याज्ञिक की उदारता से प्राप्त, हस्तलिखित प्रति के आधार पर।

"गुन गन भूषन रस उचित दूषन प्रगट न होय।
बिंग सु सब्दारथ सहित कवित कहावै सोय॥"

जो कि अधिकाश मम्मट के "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" के आधार पर ही है। वर्णन क्रम भी काव्य प्रकाश का सा है प्रथम, शब्द शक्ति का निरूपण है उसके बाद ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का। अर्थालंकारों को भी उन्होंने अधम काव्य के वर्णन के साथ ही रक्खा है। "अथ अधम काव्य वर्णन तासों अर्थालंकार कहत हैं।" अलंकारों का वर्णन 'कुवलयानन्द' के आधार पर है। गुणों और दोषों का वर्णन नवें विनोद में है। दोषों का वर्णन बड़ा विस्तृत है। शब्द, वाक्य, पद तथा अर्थगत दोष और रस-दोषों का वर्णन इसमें किया गया है। दसवें विनोद में रसों का प्रसंग है जिसके अन्तर्गत भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी भाव आदि तथा समस्त रसों का वर्णन है। कृष्ण का नखशिख और आभरण भी वर्णित हैं। और छः ऋतुओं का वर्णन भी बड़ा व्यापक हुआ है। तेईसवें विनोद में चित्रालंकार का सुन्दर चित्रों युक्त उदाहरणों के साथ विवेचन है और चौबीसवें विनोद में अपने अपने आश्रयदाता जयपुर के पृथ्वीसिंह की प्रशसा म और अपने विषय में विवरण है। पृथ्वीसिंह की आज्ञा व अनुकम्पा से ही ये जयपुर में जाकर बसे थे। इस प्रकार ४५०० छन्दों और २४ विनोदो में यह पुस्तक समाप्त हुई है।

## 'उजियारे कवि'

उजियारे कवि, वृन्दावन निवासी सनाढ्य ब्राह्मण नवलशाह के पुत्र थे। इन्होंने 'जुगुल रस-प्रकाश' तथा 'रस-चद्रिका' नामक रस पर दो ग्रंथ लिखे। 'जुगुल प्रकाश' हाथरस निवासी चैनसुख के पुत्र, जुगुलकिशोर दीवान के लिए और 'रस चद्रिका' जयपुर के छाजूराम वैश्य के पुत्र दौलतराम के लिए लिखी गई। इन दोनों ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण लगभग एक से हैं। 'जुगुलप्रकाश' की रचना पहले हुई समझ पड़ती है और 'रस चद्रिका' इसी का परिवर्तित रूप जान पड़ता है।

---

१. देखिए १—नागरी प्रचारिणी पत्रिका के माघ १९९६ के अंक में उजियारे कवि पर डा० भवानीशंकर याज्ञिक का लेख।

२—हिन्दुस्तानी पत्रिका में प्रकाशित उजियारे कवि पर डा० भवानीशंकर याज्ञिक का लेख।

रसचन्द्रिका[1]

'रसचन्द्रिका' की रचना तिथि, प्राप्त प्रति खंडित और जीर्ण शीर्ण होने के कारण नहीं जानी जा सकी, किन्तु 'जुगुलरस प्रकाश' की तिथि सं० १८३७ है। इन दोनों ग्रंथों में रस का विवेचन है और अधिकांश भरत के 'नाट्य शास्त्र' के आधार पर है। लेखक बीच बीच में यह बताते जाते हैं कि यह भरत के 'नाट्य शास्त्र' का लक्षण है। 'रसचंद्रिका' पुस्तक १६ प्रकाशों में विभक्त है। इसमें विभाव, अनुभाव, संचारी और रसों का विस्तृत वर्णन है। जैसा कि अन्य पुस्तकों में कम मिलता है। तीसरे प्रकाश में और इसी प्रकार आगे के भी प्रकाशों में रस सम्बन्धी बातों को स्पष्ट करने के लिए कवि प्रश्न करता है और उनके उत्तर देता है। तीसरे अध्याय में रस नौ क्यों हैं, अधिक क्यों नहीं, इस विषय पर प्रश्नोत्तर का नमूना नीचे दिया जाता है :—

प्रश्न— "वात्सलता अरु चपलता भक्ति कृपणता जानि।
चारि और ये रस इहां क्यों न सु कहे बखानि॥
आरदता अभिलाप पुनि श्रद्धा स्पृहा सुजानि,
लखि इन थाई भाव ये चारि भाँति पहचानि।

उत्तर— ये संचारी भाव हैं अब सुनि लेहु सुरूप।
वत्सलता करुणा विषै, हास चपलता रूप।
भक्ति शान्त मँह जानि स्पृहा कृपनता एक।
और और सम्बन्ध ते सचारी सुविवेक।"

इस प्रकार के प्रश्न उत्तर अनुवाद से ही लगते हैं, समस्याओं को सुलझाने की धुन, जोश और लगन का अभाव सा जान पड़ता है। इस पुस्तक में रसों पर अधिक विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि अन्य कवियों ने शृङ्गार का विस्तृत वर्णन तथा अन्य रसों का संक्षेप में वर्णन किया है, वैसा इसमें नहीं है। एक एक रस पर एक एक प्रकाश लिखा है और प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव और संचारियों का वर्णन है और उजियारे यह भी बताते जाते हैं कि यह भरतनाट्य शास्त्र के अनुसार किया है। दसवें प्रकाश में भयानक रस का वर्णन देखिये :—

---

१. मयाशंकर याज्ञिक संग्रहालय से, डा० भवानीशंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त जुगुलप्रकाश और रसचन्द्रिका की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर।

"ताके अनुभाव भरत सूत्र दोहा—

कर पद नैननि कप यहु होय सरीर सुभाइ।

कठ ओठ मुख सोपते लखो भयानक भाइ॥ सो यथा—

घास के गिरास मुख पास पसरन लागे ताके आसपास फैन फैल खिसलतु है।
व्याकुल भयो है कुलिल गोकुल दफारे आँखि डडकि डकार नऊ नेक विचिलतु है॥
काँपे बेसँग्हार स्वेद पूरन अपार अग अंग सकुराने स्वास श्रोठन किलतु है।
बैठो मुख बाइ बाइ पवग् बजाइ आली हाइ हाइ मो मन को गाइ निगलतु है।"

'रूपक' अलकार होने के कारण प्रभाव की तीव्रता इस वर्णन में नहीं है। पुलक के अन्त में 'रसनि को रोध' अर्थात् रस दोषों का वर्णन है।

इसी पुस्तक से कहीं कहीं भिन्नता लिये हुई 'जुगुल प्रकाश' है जो केवल बारह प्रकरणों में समाप्त हुई है। इसका रचना-काल नीचे के दोहे से स्पष्ट है:—

"सवत् अष्टादस सतक बीते अरु सैंतीस।

चैत बदी सातैं रची भयो ग्रंथ बकसीस।"

इसकी परिभाषायें और उदाहरण वैसे ही हैं जैसे 'रस चद्रिका' के, सचारी भावों के वर्णन में इन्होंने भी देव की भाँति ३४वाँ सचारी 'छल' माना है। उसकी परिभाषा है.— "गुप्त क्रिया कहँ कहत है सो छल जानहु जान" गुप्त क्रिया को ही छल कहा है और अनेक रसों में इसका भाव अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं.—

'पनिहारिन कै छल मिलै यों शृङ्गार महँ लेखि॥

इन्द्रजाल छल रद्र यह हास भाइ सुविसेपि।

वेस और को और यह छल जानो छल पेखि॥"

किन्तु इस प्रकार का 'छल' कहाँ तक आन्तरिक भाव या सचारी के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यह विचारणीय है। 'रसनि को रोध' म रस की विरोधी बातों को लेते हुए वे कहते हैं कि देश और समय के प्रतिकूल बात कहने से विरोध होता है और इसके वे ऐसे उदाहरण देते हैं जहाँ पर रस नहीं अलकार प्रधानता में विस्मित हुए हैं। इस प्रकार रसों के विवेचन में ये दोनों ग्रथ बड़े ही रोचक हैं।

'जुगुल प्रकाश' की देखी प्रति स० १८६६ की भरतपुर में रामबक्स मिश्र द्वारा लाला ब्रजकिशोर के लिए की गई है जैसा कि अन्त के उद्धरण से ज्ञात होता है'—

"संवत् १८६६ मिती माघ वदी १० कुमनागरे प्रति लिख्यते मिश्र रामबक्स भरतपुर मध्ये लोराय लाला जी व्रजकिशोर जी स्वात्म पठनार्थ शुभं राज्य बलवंतसिंघ जी को।"

अन्य पुस्तकों के साथ-साथ अलंकार पर लिखा हरिनाथ का 'अलंकार दर्पण' (सं० १८२६) है। रंगखाँ का[1] नायिका-भेद पर ग्रंथ (१८४०) कुँवर सवाई-माधोसिंह के पुत्र प्रतापसिंह के लिए लिखा गया। नंदन का 'काव्याभरण' (स० १८४५ का) अलंकार पर ग्रंथ तथा देवकी नंदन के 'शृङ्गार चरित्र' (१८४१) 'अवधूत भूषण' (१८५७) और 'सरफराज चन्द्रिका' (१८४३) रस और अलंकार पर लिखे साधारण[2] ग्रंथ हैं।

## यशवन्तसिंह का शृङ्गारशिरोमणि

यह 'शृङ्गार-शिरोमणि' तेरवा नरेश महाराज जसवन्तसिंह का लिखा हुआ ग्रन्थ है। 'शृङ्गारशिरोमणि' में रचनाकाल नहीं दिया गया, पर मिश्रबन्धुओं ने उसका रचनाकाल सं० १८५६ वि० माना है।[3] इसमें रस को प्रमुख मानकर उसी के वर्णन का उद्देश्य लेकर प्रारम्भ किया गया है। स्थायी भाव का लक्षण इसमें लिखा है कि:—

प्रगटत रस के प्रथम ही उपजत जौन विकार।
सो थाई तासों कहत नवधा नाम प्रकार॥ १, ८

रस के पूर्व उत्पन्न होनेवाले विकारों को स्थायी भाव कहा है पर यह परिभाषा अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि रस के पूर्व उपजनेवाले सभी विकार स्थायी भाव नहीं हो

---

१. रंग खाँ की नायिका-भेद पर लिखी पुस्तक लेखक ने मायाशंकर याज्ञिक-संग्रहालय में देखी थी जिसमें पुस्तक का नाम "सुधा —— " के रूप में अपूर्ण था। पुस्तक की रचना-तिथि नीचे के दोहे से प्रकट होती है—

"संवत ठाकै आठ सत चौकै बींदी जानि।
मास असाढ़ जु दोज बदि बासर रवि पहिचानि॥"

नायिका-भेद और भावों के अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में चित्र-काव्य का भी कुछ अधूरा वर्णन है क्योंकि प्रति खंडित है। लक्षणों और उदाहरणों के बीच में 'जस कवित्त' हैं जो कवि ने अपने आश्रयदाता कूरम सवाई माधोसिंह के पुत्र प्रतापसिंह की प्रशंसा में लिखे हैं।

टिप्पणी—२. शुक्लजी का इतिहास, पृ० ३२४-२६

३. मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ० ८४२।

सकते। सञ्चारी भाव भी रस के पूर्ण प्रकट होते हैं, ईर्ष्या का विकार प्रकट हो सकता है, पर यह कोई स्थायी भाव नहीं। *इस ग्रंथ में रसों में श्रृङ्गार को शिरोमणि मानकर उसका* वर्णन किया गया है।[1] इन्होंने रति दो प्रकार की मानी है, एक श्रवण और दूसरी दर्शन। पर यह ठीक नहीं है, रति इनसे जाग्रत होती है इन्हें प्रकार कहना ठीक नहीं है। दर्शन के स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन आदि भेद भी कहे हैं। इस प्रकार 'श्रृङ्गारशिरोमणि' के प्रथम अग में भावों का वर्णन है।

द्वितीय अग में विभावों का वर्णन है जो सामान्यतः अन्यों जैसा ही है। जसवन्तसिंह ने रस को प्रगटानेवाले को विभाव मानकर उसके आलम्बन और उद्दीपन दो भेद किये हैं। विभाव के बाद स्वकीया, परकीया, गणिका नायिकाओं का वर्णन है। भाव वर्णन के बाद नायिकाओं के अनेक भेदों की ओर भी संकेत किया है। आगतपतिका नायिका के साथ इन्होंने शुभ शकुनों का वर्णन किया है यह नवीनता रखता है। नायक-भेद का भी वर्णन विस्तृत रूप से है। चतुर, अनभिज्ञ, महाअनभिज्ञ को भी नायक भेदों के अन्तर्गत रखा है, किन्तु महाअनभिज्ञ को नायक मानना ठीक नहीं है।

इसके पश्चात् उद्दीपन-वर्णन है। उद्दीपन के अन्तर्गत नृत्य, गान, पावस, कवित्त-श्रवण, वन वर्णन, घनदर्शन, चपलादर्शन, उपवन-गमन, भूषण, सुमन, धवलधाम-दर्शन, शशि, नक्षत्र दर्शन, बसन्त, होली, पिक आदि हैं।

तृतीय अग में अनुभावों का वर्णन है। अनुभाव तीन प्रकार के हैं:—आङ्गिक, वाचिक और आहार्य। आङ्गिक में अंग से, वाचिक में वचन से, आहार्य में भूषण-वस्त्रों से भाव की प्रतीति होती है। इनके भेदों का भी 'श्रृङ्गारशिरोमणि' में विस्तार के साथ वर्णन है। सखी और दूतियों का भी व्यापक रीति से वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् नायक के सहायक नर्म, सचिव आदि के अनेक भेद आते हैं, जैसे, व्याकरणी, नैयायिक, पूर्वमीमांसक, उत्तरमीमांसक, वेदान्ती, योगशास्त्री, ज्योतिषी, सामुद्रिकी, वैष्णव, शैव, आरण्य, तीर्थ-आश्रयी, पौराणिक आदि। ये अपने सिद्धान्तों के अनुकूल नायक को प्रेम की बातें बताते हैं।

चतुर्थांग में सात्विक भावों का वर्णन है और पचम में संचारी भावों का। छठे अग में हावों का वर्णन है। इस प्रकार 'श्रृंगारशिरोमणि' में षडाग का वर्णन है। केवल श्रृङ्गार को लेकर इतने विस्तृत विवरण देनेवाले कम ग्रंथ हैं। यह व्याघ्रवंशावतंस महाराजाधिराज

---

१. 'नवरस में श्रृङ्गार रस लसत शिरोमणि रूप।'

यशवन्तसिंह के द्वारा बनाया गया है। ग्रन्थ विवरण और रचनाकाल ग्रंथ में नहीं दिया गया है। ग्रंथ का महत्व साधारण है।

## जगत सिंह का 'साहित्य सुधानिधि'

इस ग्रंथ की रचना विसेनवंश के महाराजकुमार दिग्विजयसिंह के पुत्र गोंडा-निवासी जगतसिंह के द्वारा सं० १८५८ वि० में की गयी थी जैसा कि नीचे लिखे छन्दों से प्रगट होता है:—

श्री सरजू के उत्तर गोंडा ग्राम। तिहि पुर बसत कविगनन आठों याम।
तिनमें एक अलप कवि अति मतिमंद। जगतसिंह सो बरनत बरवै छन्द॥ ८
संवत वसु शर वसुशशि अरु गुरवार। शुक्ल दशमी भादों रच्यौ उदार॥

यह ग्रंथ बरवै छन्दों में लिखा गया है और यद्यपि प्रमुख आधार 'चन्द्रालोक' का जान पड़ता है, फिर भी इसमें नाट्यशास्त्र, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों का भी सहारा लिया गया है जैसा कि लेखक द्वारा लिखी हुई ग्रंथ की अन्तिम पंक्तियों से विदित होता है:—

"जो प्राचीन काव्य मन किये उदार। ताते हौं न और कछु कियो विचार॥
भरत भोज अरु मम्मट श्री जयदेव। विश्वनाथ गोविन्दभट दीक्षित मेव।
भानुदत्त आदिक मत करि अनुमान। दियो प्रगट करि भाषा कवित्तविधान।"

प्रथम तरंग में काव्य के तीन भेदों, उत्तम, मध्यम, अधम का वर्णन है। व्यंग्यार्थ से युक्त काव्य उत्तम, साधारण व्यंग्यार्थ मध्यम और व्यंग्यार्थ हीन काव्य अधम है। 'काव्य सरोज' की भाँति ही-दूसरी तरंग में शब्द-निरूपण है। तीसरी तरंग में उत्तम और मध्यम (गुणीभूत व्यंग्य) काव्य का वर्णन है। चौथी तरंग में कुटिला वृत्ति-वर्णन है। कुटिला वृत्ति लक्षणा के पर्याय में प्रयुक्त हुई है। और सरला वृत्ति या अभिधा का वर्णन पाँचवी तरंग में है। इनमें लक्षण स्पष्ट नहीं है।

इसके बाद शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवरण है। अलंकारों के वर्णन अनुवाद से ही हैं। न लक्षण सन्तोषकारी है और न उदाहरण ही ललित और स्पष्ट हैं। अलंकार अधिकांश 'चन्द्रालोक' के सहारे हैं। सप्तम तरंग में गुणों का वर्णन है जो कि भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण के आधार पर है। अष्टम तरंग में भावों का उल्लेख है। जगतसिंह ने भावों के पाँच प्रकार माने हैं:—स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव तथा सात्विक। इन सब का

अलग अलग वर्णन है। नवीं तरंग में रीति का वर्णन है। रीति वर्णन इस ग्रन्थ की विशेषता है। यह हिन्दी के अधिकांश ग्रन्थों से अधिक विस्तृत है क्योंकि हिन्दी ग्रन्थों में रीति का वर्णन नहीं के बराबर है। चार प्रकार की रीतियाँ अर्थात् पांचाली, लाटी, गौडी और वैदर्भी का वर्णन हुआ है। संक्षेप में इन सब के लक्षण निम्नांकित हैं—

पंच, पष्ट, नग वसु करि जहाँ समास।
पांचाली, लाटी क्रम गौड़ी भास ॥ ५४
बिन समास जहँ कीजै पद निर्वाह।
वैदर्भी सो जानो कविन सराहि ॥ ५५

दसवीं तरंग से दोषों का वर्णन है। दोषों का निरूपण 'चन्द्रालोक' और मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर किया गया है। लेखक ने स्वयं ही यह कह दिया है कि अमुक दोष 'चन्द्रालोक' के अनुसार है और अमुक दोष मम्मट के अनुसार। उदाहरणार्थ अप्रयुक्त दोष का वर्णन करते हुए जगतसिंह कहते हैं:—

"कहि पुल्लिंग स्त्रीलिंग अस जहँ होत।
अप्रयुक्तता से कहि कहि कवि गोत ॥ १०, ६४
कहि पुल्लिग देवता जहँ अस होइ।
चन्द्रालोक लिखे इमि बरनै सोइ ॥

इसी प्रकार शिथिल का लक्षण वे लिखते हैं:—

उठत विलम्ब करि पद जहँ शिथिलो सोइ।
मम्मट मतो लिखो इमि कवि कहि सोइ ॥ १०, ६५

अधिकांश दोष 'काव्य प्रकाश' के ही आधार पर हैं। जगतसिंह ने दस दोषों का वर्णन किया है और इनका विचार है कि अन्य सभी इन के अन्तर्गत आजाते हैं। इस प्रकार ६३६ बरवै छंदों में अनेक ग्रंथों के आधार पर 'साहित्यसुधानिधि' की रचना समाप्त हुई है।

## महाराजा रामसिंह

ये नरवर गढ़ के राजा थे। इन्होंने 'अलंकार दर्पण', 'रस निवास' और 'रस विनोद' नामक ग्रंथ अलंकार और रस पर लिखे।[1] इनमें से 'रस निवास'[2] ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध

१ देखिए मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ७३६

२. लेखक को यह ग्रंथ दतिया में कवि श्री वासुदेव के यहाँ देखने को प्राप्त हुआ था।

है। इनमें रस का विवेचन है। शृङ्गार रस और नायिका भेद का वर्णन अधिक विस्तार से है पर अन्य रसों का उतना नहीं। लक्षण और उदाहरण बड़े ही सुबोध हैं। जिस विषय को लिया है उसे बड़ी अच्छी तरह समझा दिया है। इसमें लक्षणों पर भी काफी जोर है; और लक्षण शुद्ध हैं। दोहा, चौपाई और ललित छन्दों में इसका निर्माण हुआ है। व्यर्थ की बात और भरती के शब्द भी लक्षणों में बहुत कम हैं और उदाहरण भी उतने ही और वैसे ही हैं जैसे कि लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक हैं। तीन प्रकार की नायिकायें बताते हुए वह कहते हैं कि :—

"छन्द ललित—सुकिया परकीया अरु गनिका त्रिविधि होति हैं नारी।
निज पति सुकिया, परकीया पर, गनिका जगत पियारी॥"

विषय वही हैं जो सभी ने नायिका भेद पर लिए हैं जैसे, अनेक प्रकार की नायिकायें, मान-सखी और उनकी क्रियायें ( मंडन, उपालभ, परिहास शिक्षा आदि ), नायक भेद, सखा, दर्शन, आदि।

इसके पश्चात् चौथे 'विलास' में भाव का वर्णन है। भाव का लक्षण वे यों देते हैं:—

"रस अनुकूल विकार भाव कहि। होइ आन विधि सो विकार लहि।"

विभाव का वे रस को उपजाने वाला मानते हैं.—

"रस विशेष उपजावै वही विभाव कहावै।"

विभावों के वर्णन में सभी रसों के विभावों का वर्णन है। उदाहरणार्थ हास्य के विभावों को देखिये :—

"अलंकार विपरीतहि बरनो विकृत आचरन अर्थ विशेष।
विकृत नाम कों कहनो करनो कल्पित विकृत संबी अंगवेश॥
इ हैं आदि दे और बहुते सुनो विभाव कहावै।
ये सबही मिलि नीकी विधिसों हास रसै उपजावै॥"

अन्य रसों के विभावों का भी इसी प्रकार से वर्णन है। छठे, सातवें और आठवें विलासों में क्रमशः अनुभाव, सात्विक भाव और सचारी भावों का वर्णन है। सचारी भावों का वर्णन भी बहुत विस्तृत है। आठवें विलास के अन्तर्गत ११५ छन्दों में इसका विवेचन है। नवें 'विलास' में रसों का वर्णन है। महाराज रामसिंह के विचार से जहाँ विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी मिलते हैं वहाँ ही रस होता है। वे सात्विक को अनुभाव से भिन्न मानते हैं :—

"जहँ विभाव अनुभाव पुनि सात्विक अरु व्यभिचारी।
इन सरसायौ थाई पूरन स्वादिक सो रस भारी॥"

देव की भाँति महाराज रामसिंह भी रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद करते हैं और उनका वर्णन भी। लौकिक रसों को काव्यरस मान कर उनका ही वर्णन अधिक किया गया है।

दसवाँ 'निवास' 'रस पोषक निरूपन' पर है अर्थात् स्थायी भावों का वर्णन है। 'हसता' जो हास्य रस में परिणत होती है रामसिंह के विचार से दो प्रकार की है—स्वनिष्ट और परनिष्ट। स्वनिष्ट जब रस का अनुभव अपने में होना है और परनिष्ट जब दूसरे में। इनमें से प्रत्येक के ६ प्रकार होते हैं। मुसुकानि, हसनि, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित जिसमें से प्रथम दो उत्तम, दूसरे दो मध्यम और अन्तिम दो अधम कोटि के हैं। इन सबके विशेष चिन्ह देते हुए रामसिंह कहते हैं:—

"उत्तम जन की बर्णन लहि स्वनिष्ट परनिष्ट में।
कछु कपोल विकसानि और मदाछ चलाइबौ॥
रहै छिपी रद जोति भली नजर सों देखिये।
एइ सब बातैं सेत जानो मन मुस्कान में॥"

इस प्रकार सभी रसों के स्वनिष्ट और परनिष्ट दो भेद हैं। शांत रस के पूर्व वे माया रस का वर्णन करते हैं.—

"पूरन मिथ्या ज्ञानु जुहै सो माया रस पहिचानौ।
भलै समझ कै मिथ्या ज्ञानु सु थाई भाव बखानौ॥
जगत भोग उपजावन जानो धर्म अधर्म विभावै।
सुत दारा जय राज आदि ये कहियत हैं अनुभावै॥"

यह रस मानों शान्त रस के विपक्ष में है। इसे अलग रस के रूप में किसी भी आचार्य ने नहीं माना। किन्तु प्रश्न यह है कि इसे हम एक अलग रस मान सकते हैं या नहीं। मायारस यथार्थतः शृङ्गार रस के अन्तर्गत आ सकता है क्योंकि उसका लौकिक स्वरूप मिथ्या ज्ञान आदि के आधार पर ही है अतः इसे अलग मानना विशेष तथ्य नहीं रखता है।

ग्यारहवें निवास में वे रस-दृष्टि, रस भाव का सम्बन्ध, रस विरोध और अलंकार का रस और भावों से सम्बन्ध बताते हैं। रस-दृष्टि के अन्तर्गत आँखों या दृष्टि के द्वारा अनेक

प्रकार के रस प्रकाशन का वर्णन है। रामसिंह महाराज जिन आठ रस-दृष्टियों का वर्णन करते हैं वे हैं.—दृष्टादृष्टि, स्नाता दृष्टि, लज्जिता दृष्टि, ललिता दृष्टि, मुदिता दृष्टि, विभ्राता दृष्टि, अद्भुता दृष्टि, अलसा दृष्टि इन सब को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। रस और भावों का सम्बन्ध, जन्य और जनक का सम्बन्ध है। रस सकर के अन्तर्गत एक रस विशेष का स्थायी भाव दूसरे रस को उत्पन्न करता है। इन सभी का उचित उदाहरणों द्वारा वर्णन है। रस विरोध के अन्तर्गत उन बातों का वर्णन है जो रस की अनुभूति में या रस की सृष्टि में बाधक होती हैं। एक दूसरे के विरोधी रसों का भी निर्देश इसमें किया गया है फिर रसाभास और रस शबलता आदि का वर्णन है। रसाभास को शृङ्गार म रामसिंह ने वहाँ माना है जहाँ पर एक व्यक्ति के अन्तर्गत तो रस हो और दूसरे में नहीं, किन्तु यथार्थ में रसाभास वहाँ होता है, जहाँ रस वर्णन अनुचित रूप मे हो।

"दम्पति में रस होइ परस्पर ताही को रस कहिये।
होइ एक के होइ न एकै रसाभास सो लहिये॥"

अन्त मे सबसे विशेष बात है इनका रस, भाव और अलकारों के सम्बन्ध के अनुसार रस के विचार से काव्य-कोटि निर्णय। यह मानों ध्वनि सिद्धान्त के समान ही रस सिद्धात की भावना है। महाराज रामसिंह के विचार से रस का निरूपण तीन रूपों मे होता है। अभिमुख, विमुख, और परमुख। जहाँ पर रस स्पष्टतया भाव, विभाव, अनुभाव आदि से पुष्ट होकर आता है वहाँ पर अभिमुख, जहाँ इनकी किसी प्रकार की अनुपस्थिति मे कठिनाई पूर्वक रस की स्थिति ढूढी जाती है वहाँ पर विमुख होता है और जहाँ पर अलकार या भाव की मुख्यता रहती है वहाँ पर अलकारमुख व भावमुख रूप म दो प्रकार का परमुख रहता है। इनको हम कुछ कुछ उसी प्रकार समझ सकते हैं जैसे कि ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य और अव्यग्य। अभिमुख मे रस प्रधान है परमुख म गुणीभूत रस और विमुख म रस-हीनता है।

इस प्रकार 'रस निवास' म अनेक रसागों के स्पष्टीकरण के साथ मौलिक चिंतन की भी विशेषता है। यदि इन विशेष विषयों पर और विचार होता तो अधिक अच्छा था।

यह ग्रथ स० १८३९ में लिखा गया था जैसा कि अन्त के दोहों से प्रकट है :—

नरवरपति रवि कुल तिलक छत्रसिंह गुनधाम।
रामसिंह तिहि सुत रचित रसनिवास अभिराम॥
बरस अठारा सै अधिक उनचालीस बखानि।
आसुनि सुदि दसमी समधि सरबसरि पहिचानि॥

ग्यारह निवासों और ११५७ छंदों में 'रसनिवास' ग्रन्थ पूर्ण हुआ है।

इसी काल में ( १८४५ का लिखा ) मान कवि का 'नरेन्द्र भूषण' अलंकारों का ग्रंथ और ( सं० १८४८ का लिखा हुआ ) 'दलेल प्रकाश' रस, भाव, दोष आदि के निरूपण पर ग्रंथ है। 'दलेल प्रकाश' में रागरागिनियों के लक्षण और चित्रकाव्य दिये गये हैं जैसा कि 'मिश्रबन्धु विनोद' के विवरण से पता चलता है। बेनी बन्दीजन का ( १८४६ का बनाया हुआ अलंकारों पर ) 'टिकैतराय प्रकाश' और ( रस पर ) 'रस विलास' नामक ग्रंथ भी साधारण महत्व के हैं उनमें काव्य अधिक और विवेचन कम है।

## पद्माकर

रीति राज के अन्तिम कवियों में पद्माकर की ख्याति सबसे अधिक हुई किंतु यह ख्याति मुख्यतः इनकी कवित्व शक्ति के कारण थी। इनके शब्दों की सी शक्ति व चमत्कार विरले कवियों में प्राप्त होता है। इनके 'जगद्विनोद' की प्रसिद्धि मतिराम के 'रसराज' के समान ही हुई। किन्तु यह उसके कविता पक्ष के कारण ही, विवेचन के कारण नहीं। शुक्लजी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं:—[1]

"मतिराम के रसराज के समान पद्माकर का 'जगद्विनोद' भी काव्य-रसिकों और कवियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह शृङ्गाररस का सार ग्रंथ प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न होजाता है। ऐसा सजीवमूर्ति विधान करनेवाली कल्पना बिहारी को छोड़कर और किसी कवि में नहीं पायी जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती। या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है" किन्तु ये सब कथन पद्माकर की कवित्व शक्ति पर ही प्रकाश डालते हैं, आचार्यत्व पर नहीं। आचार्यत्व की दृष्टि से इनके जगद्विनोद और पद्माभरण दो ही ग्रंथ हैं।

*जगद्विनोद*

जगद्विनोद सं० १८६७ के लगभग बना हुआ रस, भाव और नायिका भेद पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इसमें सबसे पहले नायिका नायक भेद, फिर हाव सात्विक भाव संचारीभाव, वियोग, शृङ्गार और उसके बाद में संक्षेप में अन्य रसों का वर्णन है। यह ग्रंथ जयपुर के

[1] देखिए शुक्लजी का इतिहास, पृ० ३७०-३७१

महाराज सूर्यवंशी कछवाह प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह की आज्ञा से बनाया गया था। मतिराम की भाँति पद्माकर ने भी नव-रस का राजा शृङ्गार और उसके आलम्बन नायक-नायिका को मानकर पहले उन्हीं का वर्णन किया है। नायिका का लक्षण ये यह देते हैं कि जिसे देखकर शृङ्गार का भाव जाग्रत हो वही नायिका है (जगद्विनोद १, ११) स्वकीया के लक्षणों में अन्य सामान्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि स्वकीया, पति से पीछे खाती पीती और सोती है और पहले जागती है। इसको स्वकीया का लक्षण नहीं मान सकते हैं। ये पतिव्रता के गुण हैं, कुछ स्वकीया नायिकायें ऐसी होती हैं सभी नहीं क्योंकि यह तो सब आदर्श है और स्वकीया एक यथार्थ-वर्ग। पद्माकर ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही सखा, सखी, दूती, उपवन षट्ऋतु आदि का वर्णन किया है जिसमें लक्षण यों ही संकेतमात्र या नाममात्र ही हैं। अनुभावों में सात्विक भाव तथा हावों के नाम और उदाहरण हैं, विवेचन नहीं। लक्षण परिचय मात्र हैं। यही बात आगे के संचारी भावों, वियोग-शृङ्गार तथा अन्य रसों के वर्णन में भी है। अतः पद्माकर के 'जगद्विनोद' का काव्यशास्त्र की दृष्टि से साधारण महत्व ही है, विशेष नहीं।

*पद्माभरण*

पद्माभरण अलंकार पर ग्रंथ है। पद्माकर ने अधिकतर दोहों में लक्षण और दोहों में ही उदाहरण देते हुए अलंकारों पर यह ग्रंथ लिखा है किन्तु कहीं कहीं चौपाइयों का भी लक्षण और उदाहरण के लिए प्रयोग किया है। उदाहरणों की भी विशेष सुन्दरता नहीं। दूलह के 'कविकुल कंठाभरण' की भाँति इसमें भी अन्त में पन्द्रह और अलंकार तथा उसके बाद संसृष्टि और संकर के लक्षण-उदाहरण हैं। इनके उदाहरणों में बैरीसाल के 'भाषाभरण' से भी कहीं कहीं उदाहरण लिए गए हैं और कहीं कहीं बिहारी से भी। यह कुल तीन प्रकरणों में है, अर्थालंकार प्रकरण, पंचरसालंकार प्रकरण और संसृष्टि-संकर प्रकरण। यह भी अलंकारों पर साधारण ग्रंथ ही है। इसके भीतर न विवेचन की विशेषता है और न उदाहरणों की मनोहरता ही।

यथार्थ में 'पद्माभरण' के प्रमुख आधार हैं—'भाषाभूषण' 'चन्द्रालोक' और 'भाषाभरण'। परन्तु बैरीसाल के 'भाषाभरण' का आदर्श इसमें अधिक ग्रहण किया गया है। दोनों ग्रंथों के शब्दालंकार और अर्थालंकार प्रकरणों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। बैरीसाल ने भाषाभरण में लिखा है:—

"कहुं पद ते कहुं अर्थ ते, कहूँ दुहुन ते जोइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ॥

अलंकार एक ठौर में जो, अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कवि को जहाँ, सो प्रधान तिन माहि॥
ज्यों ब्रज मे ब्रजवधुन को, निकसति सजी समाज।
मन की रुचि जापर भई, ताहि लसत ब्रजराज॥

—भाषाभरण

यही भाव पद्माकर के 'पद्माभरण' में निम्नलिखित रूप से व्यक्त हुआ है—

"सब्दहुं ते कहुं अर्थ ते, कहुँ दुहुँ ते दर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ, अलंकार सो मानि॥
अलकार इक थलहि में, समुभ्मि परैं जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ, वहै मुख्य गति एक॥
जा विधि एकै महल में, बहु मन्दिर इक मान।
जो नृप के मन में रुचै, मनियत वहै प्रधान॥

—पद्माभरण।

इस प्रकार 'भाषाभरण' और 'पद्माभरण' का पूरा आदर्श एक है। इसी प्रकार कहीं कहीं 'चन्द्रालोक' का भी भाव ज्यों का त्यों है जैसे अपन्हुति के उदाहरण में :—

नाऽयं सुधांशु, किं तर्हि? व्योमगंगा सरोरुहम्।—चन्द्रालोक।
यह न ससी, तो है कहा? नभगंगा जलजात॥—पद्माभरण।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रालोक' का और विशेष रूप में 'भाषाभरण' का आधार 'पद्माभरण' में ग्रहण किया गया है।

इसी समय के अन्य साधारण ग्रन्थों में यशोदानन्दन का 'बरवै नायिका भेद', ब्रह्मदत्त के विद्वद्विलास (१८६०), और दीपप्रकाश (१८६५ वि० के लिखे) ग्रन्थ हैं। करन कवि के 'साहित्यरस' और 'रसकल्लोल', (१८८५ वि० के आस पास के लिखे) ग्रंथों में काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों में अच्छा विवेचन है ऐसा इतिहासकारों[1] का भी मत है। सं० १८६० का लिखा गुरुदीन का 'बाग् मनोहर' ग्रंथ पिंगल, शब्दशक्ति, रस, अलकार, ध्वनि, गुण, दोष आदि विषयों का वर्णन प्रस्तुत

१ देखिये शुक्ल जी का इतिहास, पृ० ३६६
मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, ,, ८८६

करता है¹ पर लेखक को ये ग्रंथ देखने को नहीं मिले। हमारा उपर्युक्त विवरण 'मिश्र बन्धु विनोद' तथा रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधार पर है।

## रस भूषण

दतिया निवासी शिवप्रसाद का लिखा ग्रंथ है। इनका समय दतिया के राजा परीछत का समय है। 'रस भूषण' की रचना सम्वत् १८६६ वि० में हुई थी जैसा कि नीचे के उद्धरण से प्रकट है —

> 'संवत एक हजार अरु आठ सैकरा जान।
> साल उन्हत्तर की जहां पौष माघ पहिचान॥
> कृस्नपच्छ तिथि तीज जहँ चन्द्रवार सुभ लेख।
> दांदा में दुपहर समै कीन्हों ग्रन्थ विशेष॥

ग्रंथ के प्रारम्भ में राय शिवप्रसाद संक्षेप में उन सभी विषयों का विवरण देते हैं जिनका वर्णन पुराण में किया गया है। अन्य रसों के विशेष विवरण के साथ शृङ्गार रस का संक्षेप वर्णन है, क्योंकि अन्य आचार्यों ने उसका काफी विवरण दिया है। इनके अन्तर्गत नायक भेद, नायिका भेद, दर्शन, सखी, संयोग, वियोग, हाव और नव रसों का वर्णन है।

इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें रस वर्णन के बीच अलंकारों के भी लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ में रस के साथ साथ अलंकारों का भी वर्णन है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन याकूब खां के 'रस भूषण' में भी मिलता है, पर ये दोनों अलग अलग समय पर लिखे ग्रंथ हैं। इसमें भी रस के साथ अलंकारों का वर्णन क्रम जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' के क्रम के अनुसार है। लक्षण साधारण हैं, कोई विवेचन नहीं है, उदाहरण सुन्दर, आकर्षक और अलंकारों से पूर्ण है। उदाहरणों का ही प्रमुख चमत्कार है।

## बेनी प्रवीन

बेनी प्रवीन का 'नव रस तरंग' बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। 'शृङ्गार भूषण' और 'नानाराव प्रकाश' ग्रंथ भी काव्यशास्त्र के अच्छे विशद ग्रन्थ हैं। 'नानाराव प्रकाश', तो 'कवि प्रिया' के ढंग पर अनेक काव्योपयोगी बातों पर प्रकाश डालता है, किन्तु 'नवरस तरंग'

---

१ शुक्लजी का इतिहास, पृ० ३६७
मिश्रबन्धु विनोद भाग २, ,, ८५४

अपनी विद्वत्ता के कारण नहीं, वरन् कवित्व के कारण बहुत ही मनोहारी ग्रंथ सिद्ध हुआ। 'रस राज' की भाँति ही इसकी कविता ने लोगों को मुग्ध किया था।

*नवरसतरंग*

इसकी रचना सम्वत् १८७४ में हुई थी। अपने आश्रयदाता नवलकृष्ण के लिए इन्होंने 'रसिकप्रिया' का वचन उद्धृत करते हुए 'नवरसतरंग' लिखी थी।

इस सम्बन्ध के दो दोहे निम्नलिखित हैं:—

> समय देखि दिग दीपयुत सिद्धि चन्द्र बल पाइ।
> माघ मास श्री पंचमी श्री गोपाल सहाय॥
> नवरस में ब्रजराज नित कहत सुकवि प्राचीन।
> सो नवरस सुनि रीझिहैं नवल कृस्न परबीन॥[१]

इसमें नव रसों और स्थायी भावों के नाम कहने के उपरान्त विभाव के आलम्बन को नायक-नायिका मानकर नायिका-भेद का वर्णन प्रारम्भ कर गया दिया है। लक्षण अधिकांश बरवै और दोहा छन्दों में हैं, और उदाहरण मनहरण तथा सवैया छन्दों में। बहुत से इसके उदाहरण 'शृङ्गार भूषण' के ही उदाहरण हैं। नायिका-भेद के वर्णन का क्रम यह है:—

१. स्वकीया, परकीया, सामान्या।

२. स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

मुग्धा के ज्ञात यौवना तथा अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना के नवोढा, विश्रब्ध-नवोढा आदि भेद।

३. मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा तथा धीराऽधीरा;

प्रौढ़ा के रतिप्रीता और आनन्दसम्मोहा;

जेष्ठा तथा कनिष्ठा आदि भेद।

४. परकीया के ऊढ़ा और अनूढ़ा तथा गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता आदि भेद तथा इनके विभेद।

५. सभी नायिकाओं के अन्य सुरतिदुःखिता, गर्विता तथा मानवती भेद।

६. अवस्था भेद से प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता तथा वासकसज्जा आदि भी सभी के भेद हैं।

---

१. देखिए बेनी प्रवीन कृत 'नवरसतरंग'।

७ उत्तमा मध्यमा और अधमा के बाद नायक भेद।

उसके बाद उद्दीपन विभाव, भाव, अनुभाव, सात्विक तथा सचारी के लक्षण और उदाहरण हैं। भावशांति, संधि, शबलता और भावाभास आदि के साथ शृङ्गार के संयोग एवं वियोग पक्ष विस्तृत रूप से वर्णित हैं। पर अन्य रस संक्षेप में ही निपटाए गए हैं, यद्यपि इनके लक्षण स्पष्ट और उदाहरण उपयुक्त हैं। इस प्रकार बेनी की 'नवरसतरंग' पुस्तक के उदाहरण रोचक और लक्षण स्पष्ट हैं, यद्यपि कहीं कहीं लक्षण पूर्ण नहीं हैं। इनका हाव तथा रस-वर्णन भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार है। इस ग्रंथ का महत्व काव्य सौन्दर्य के कारण विशेष है।

## रणधीरसिंह

श्रीमन्तपति रणधीरसिंह के विषय म मिश्रबन्धु 'विनोद' में इतना ही विवरण है कि वह सिंगरामऊ (जौनपुर) के जमींदार थे और इनका जन्मकाल स० १८७७ वि० है; किन्तु प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट से जन्म काल १८९४ वि० निकलता है। इनके ग्रंथ 'काव्य रत्नाकर', 'भूषण कौमुदी', 'पिंगल', 'नामार्णव' तथा 'रस रत्नाकर' हैं।[1] लेखक को इनका ग्रंथ 'काव्य रत्नाकर' टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय में देखने को मिला है जिसमें उसका रचना-काल स० १८९७ वि० ज्येष्ठ शुक्ल १२ गुरुवार दिया है। इससे स्पष्ट है १८९४ इनका जन्म काल नहीं हो सकता, रचना काल भले ही हो।

काव्यरत्नाकर

'काव्य रत्नाकर' १३० पृष्ठ की पुस्तक है जिसके अन्त में सभी वर्णित विषयों की सूची दी गई है। ग्रंथ का रचनाकाल प्रारम्भ में दिया गया है और यह भी दिया हुआ है कि 'काव्य रत्नाकर' की रचना का आधार क्या है। 'काव्य रत्नाकर' के लेखक ने स्वयं कह दिया है कि 'चन्द्रालोक', 'काव्य प्रकाश' तथा भाषा के ग्रंथ पढ़कर इनका प्रणयन हुआ है, देखिए :—

> लखि गति चन्द्रालोक अरु काव्य प्रकास सुदीस।
> औरौ भाषा ग्रन्थ बहु ताको सगत गीत।
> काव्य रीति जितनी प्रकट आनि करी इकठौर।
> इतनोई पढ़ि बूझि है सकल काव्य को तौर॥

---

१. देखिये मिश्रबन्धु विनोद, भाग ४, पृ० ६२

## रसिक गोविन्द

वृन्दावन-वासी रसिक गोविन्द महात्मा हरिव्यास के गद्दी शिष्य थे। इनका कविता काल सं० १८५० से १८९० वि० तक माना जाता है[1] और इनके बनाए नौ ग्रंथों का पता चला है जिनमें से एक, अर्थात् 'रसिक गोविन्दानन्दघन'[2] नामक ग्रंथ काव्यशास्त्र पर लिखा गया ग्रंथ है।

### रसिक गोविन्दानन्दघन

इस ग्रंथ की रचना सं० १८५८ वि० की बसन्त पंचमी के दिन समाप्त हुई थी। यह सात आठ सौ पृष्ठों का काव्यशास्त्र के सभी आवश्यक विषयों पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इसके अन्तर्गत अलंकार, गुण, दोष, रस तथा नायक नायिकाओं का बड़ा विशद वर्णन है। इस ग्रंथ में रसिकगोविन्द जी ने उदाहरण तो बड़ी सुन्दर ब्रजभाषा के पद्य में दिए हैं, पर लक्षण ब्रजभाषा गद्य में हैं। लक्षणों के अतिरिक्त प्रश्न, उत्तर द्वारा रस, अलंकार आदि से सम्बन्धित अनेक शंकाओं का समाधान किया गया है। साथ ही साथ इस ग्रंथ के अन्तर्गत भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त, मम्मट के 'काव्य प्रकाश' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' आदि का मत देकर फिर "ग्रंथकर्ता को मत" के रूप में अपना निर्णय दिया गया है। ऐसा विवेचन हिन्दी के कुछ ही ग्रंथों में मिलता है। लक्षणों में तो अनेक आचार्यों का मत लिया ही है, उदाहरणों में भी अपने स्वतंत्र सुन्दर उदाहरणों के साथ साथ दूसरे कवियों के भी उदाहरण दिए गये हैं। उदाहरणों के चुनाव में लेखक की परख की सराहना करनी पड़ती है। कहीं कहीं संस्कृत ग्रंथों के उदाहरणों के अनुवाद भी किये हैं, और रसिकगोविन्द जी के ये अनुवाद बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लिखे गये ग्रंथों में 'गोविन्दानन्दघन' का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। इस ग्रंथ में आए लक्षणों को संक्षेप में, संग्रह करके सं० १८८६ वि० में लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध पर इन्होंने 'लछिमन चन्द्रिका' नामक पुस्तक की रचना की। कवित्व और विवेचन दोनों की दृष्टि से रसिकगोविन्द कृत 'रसिकगोविन्दानन्दघन' का स्थान महत्व पूर्ण है। रसिक गोविन्द का स्थान उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रसिद्ध कवियों में है।

---

१. देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३८१।

२. नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में देखी प्रति के आधार पर।

## प्रतापसाहि

प्रतापसाहि ने चरखारी नरेश विक्रमसिंह के आश्रय में अनेक ग्रंथों की रचना की रसराज तथा बलभद्र कृत नखशिख की टीकायें भी कीं और इसके अतरिक्त 'काव्यविनोद' 'शृंगार मंजरी' 'अलंकार चिन्तामणि' 'काव्य विलास' 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' आदि काव्य-शास्त्र विषयक ग्रंथ भी लिखे। सम्वत् १८८० से १९०० तक इनका[1] रचना-काल माना गया है। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी'[2] इनका प्रसिद्ध सुन्दर ग्रंथ है। काव्यत्व और आचार्यत्व दोनों की दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। इसमें 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इसका बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें नायिकाभेद तथा अनेक प्रकार के व्यंग्यार्थों का प्रदर्शन है। प्रतापसाहि के विचार के उत्तम काव्य, व्यग्य प्रधान है:—

> विंग जीव है कवित में सब्द अर्थ गति अंग।
> सोई उत्तम काव्य है बरनै विंग प्रसंग॥

व्यंग्य की शक्ति समझाने का उद्देश्य 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में प्रताप ने स्पष्ट कर दिया है।

> "करि कवियन सों बीनती सुकवि प्रताप सुहेत।
> किय विंगारथ कौमुदी विंग जानबे हेत॥"

'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में तीन बातें एक साथ चलती हैं, नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार[3]। तीनों बातों को लेकर ही यह मुख्यतया नायिकाभेद का वर्णन है। व्यंजना के विषय में उनका मत है कि जहाँ पर वाच्यार्थ के सामने रहते हुए उसके भीतर और चमत्कार पूर्ण अर्थ प्रकट होता है अथवा स्त्री के कटाक्षों की भाँति अधिक अधिक अर्थ जान पड़ते हैं, वहाँ व्यंजना होती है। दोहों के द्वारा लक्षण स्पष्ट करने के उपरांत वे व्याख्या में उसे स्पष्ट करते हैं। व्यंजना के विषय मे देखिये:—

---

१. देखिये रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३७

२. दतिया और टीकमगढ़ के राज-पुस्तकालयों में देखी गई प्रतियों तथा भारत-जीवन प्रेस से मुद्रित पुस्तक के आधार पर।

३. "कहीं विंग ते नाइका पुनि लच्छना विचार।
ता पाछे बरनन करौं अलंकार निरधार॥"

—व्यंग्यार्थ कौमुदी

ग्रन्थ में सबसे पहले काव्य प्रयोजन बताया है जो धन, यश, धर्म, और मोक्ष है। तुलसी ने विराग के बाद मोक्ष, काव्य द्वारा प्राप्त की, ऐसा रणधीरसिंह का विचार है। वे काव्य प्रयोजन के पश्चात् काव्य-कोटि पर अपना विचार प्रकट करते हैं। इन विषयों के विवेचन में कुलपति के 'रसरहस्य' का आदर्श और मम्मट के 'काव्य प्रकाश' का आधार रहा है। बहुतेरे स्थलों में ये 'काव्य प्रकाश' का सूत्र उद्धृत कर उस सूत्र पर वार्ता लिखते हैं और भाषा में प्रत्येक बात की पूर्ण-रीति से व्याख्या करते हैं पर उनकी शैली वही पंडिताऊ ब्रजभाषा की है, यथा :—

"वार्ता—ऐसे नामवारे शब्दनि सों संकेत कहे नाम प्रगट होय ताको वाच्यार्थ कहिये" आदि।

शब्द शक्ति के विषय पर भी इसी प्रकार विचार किया गया है। सबसे पहले अपने लक्षण दिये हैं फिर 'काव्य प्रकाश' में दिये गये लक्षणों से उनकी तुलना करके वार्ता में उसको स्पष्ट करते हैं। वार्ता इस पुस्तक की विशेषता है। 'काव्यशास्त्र' के अंगों को स्पष्ट करने का प्रयत्न इसमें है फिर भी विचार नहीं है। विषय क्रम भी 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। ध्वनि के साथ साथ नौ रसों, भावों, सात्विक, स्थायी भावों और अनुभावों पर विचार प्रकट किये गये हैं। इसके बाद नायिका भेद का विषय वर्णित हुआ है।

इसके पश्चात् शब्दालंकारों का वर्णन है, अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण बड़े साफ और सुन्दर हैं। चित्रालंकार का विवरण भी विशेष है और सुन्दर चित्रों द्वारा समझाया और सजाया गया है। अलंकारों का आधार 'चन्द्रालोक' है। अन्त में गुण और दोषों का विवेचन है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के अनेक अंगों को स्पष्ट करने का इसमें अच्छा प्रयत्न किया गया है। अलंकार 'चन्द्रालोक' के तथा अन्य विषय 'काव्य प्रकाश' के आधार पर हैं और कुलपति के 'रस रहस्य' के समान ग्रंथ बनाने की भावना से यह लिखा जान पड़ता है। इन सब पुस्तकों का आधार लेते हुए भी लक्षण और उदाहरण इनके अपने जान पड़ते हैं। ध्वनि का विवेचन संक्षेप में है किन्तु अन्य विषयों का विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है। कवि ने काफी रुचि और अध्ययन के साथ इस ग्रंथ का प्रणयन किया है इससे प्रकट है, फिर भी उस समय तक हिन्दी में इससे अच्छे अच्छे ग्रंथ लिखे जा चुके थे। इस ग्रंथ का महत्व, हिन्दी रीति के परमोत्कृष्ट ग्रंथों के समान चाहे न हो, पर रणधीर सिंह का यह प्रयत्न सराहनीय है, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य विवेचन है, कविता लिखना नहीं।

## नारायण कृत 'नाट्य दीपिका'

यह नृपति भवानीसिंह ( दतिया नरेश ) की आज्ञा से गोकुलनिवासी नारायण के द्वारा नाट्यशास्त्र पर लिखी पुस्तक है। यह पुस्तक भरत और शार्ङ्गधर के आधार पर लिखी गयी है जैसा कि नीचे लिखी पंक्तियों से स्पष्ट है :—

"साङ्गधर अरु भरत ने करे जु ग्रन्थ अपार।
सार सार संग्रह करै निज मति के अनुसार॥"

इस ग्रंथ के भीतर नाटक के विकास का इतिहास पौराणिक ढंग पर दिया हुआ है। इसमें लिखा है कि सबसे पहले ब्रह्मा ने यह शास्त्र भरत मुनि को बताया। भरत मुनि ने गंधर्वों और अप्सराओं के साथ महादेव के सम्मुख इसका अभिनय किया। महादेव जी ने इस कला को अपने गणों को बताया और पार्वती जी ने लास्य, बाणासुर की पुत्री उषा को बताया। उषा ने द्वारिका में गोपियों को लास्य की शिक्षा दी। गोपियों ने इस कला को सुराष्ट्र की स्त्रियों को बताया। इस प्रकार धीरे धीरे नाट्य-कला का विस्तार हुआ। नाट्य-कला के अंतर्गत रस, अभिनय और गायन तीन बातों का विवरण है। इन्हीं तीन अंगों का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। नाट्य कला सम्बन्धी ज्ञान को प्रश्नोत्तरों के रूप में प्रकट किया गया है। उदाहरण के लिए एक प्रश्न और उसका उत्तर नीचे दिया जाता है :—

प्रश्न—"नाट्य किसे कहते हैं?

उत्तर—जो सम्पूर्ण रसों को प्रकट करै और रसों में मुख्य होवे और चार प्रकार के अभिनय जिसमें लक्षित होवें। काव्यादिकन के अर्थ विभावादिक व्यंजित करे और सामाजिक पुरुषों के मन में रस को बढ़ावै ऐसा जो नृत्य उसे नाट्य कहते हैं।"

- ( नाट्य दीपिका )—

इसी ढंग पर सभी बातों का वर्णन किया गया है। प्रायः इसमें नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों के आधार पर नाट्य-कला की बातों का वर्णन हुआ है। इसकी विशेषता इस बात में है कि हिन्दी में यह नाट्य कला पर पहली पुस्तक है और गद्य में लिखी गयी है। पुस्तक के अन्त में नृत्य की तालें भी दी गई हैं। पुस्तक का इस दृष्टि से अपना निजी महत्त्व है। ग्रंथ का रचना काल नहीं दिया गया है। पर राजा भवानीसिंह का समय सम्भवतः १६वीं शताब्दी का अन्त या बीसवीं का प्रारम्भ होगा।

"वाचक के सन्मुख रहै अन्तर और अर्थ।
चमत्कार निकसै जहाँ कहि सो विग्र समर्थ॥"
पुन —"जहाँ शब्द में अर्थ बहु अधिक अधिक दरसाइ।
तिय कटाच्छ ला विजना कहत सकल कविराइ॥"

इसकी व्याख्या यों है—"तारो अर्थ। जैसे तिय के कटाक्ष के बहुत भाव प्रकट होत हैं तैसे शब्द ते बहुत अर्थ प्रकट होय सो बिजना तारे द्वै भेद एक तौ शब्दगति व्यजना। एक अर्थगति व्यजना।" किन्तु शब्दगतव्यजना और अर्थग व्यजना का और अधिक विवेचन नहीं है। शब्दअर्थगतव्यजना का क्या तात्पर्य है इसको उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। ये शाब्दी और आर्थी व्यजनायें ही हैं।

नायिका भेद के प्रसग में ही शब्द शक्तियों का वर्णन चलता है। अलकार, चमत्कार के अन्तर्गत है। इसका चमत्कार रसत्व और व्यग्यत्व दोनों से भिन्न है'—

"रस अरु विग दुहुन ते जुदौ परै पहिचानि।
अर्थ चमत्कृत सब्द में अलकार सो जानि॥"

अलकारों के लक्षणों के बाद प्रतापसाहि अपनी कविता के उदाहरण देकर व्यग्य नायिका भेद तथा अलकार आदि को अलग अलग समझाते हैं। इसके अन्तर्गत नायिका भेद का पूरा वर्णन तथा मुख्य मुख्य अलकारों का विवरण आ जाता है। उदाहरण इस प्रकार से हैं कि क्रम से नायिका भेद का, अलकारों के क्रमबद्ध विवरण के साथ, वर्णन चलता जाता है। 'व्यग्यार्थ कौमुदी' का मुख्य आधार मम्मट का 'काव्य प्रकाश' है परन्तु यह आधार सैद्धान्तिक है। कविता के उदाहरण इनके अपने हैं, और सुन्दर हैं। ग्रथ के अन्त में आधार विषयक बात का स्वय कवि ने उल्लेख कर दिया है।

विग अर्थ अतिसय कविन को कहि पावै पार।
मम्मट मति कछु समुझि के कीन्हौं मति अनुसार॥

इस प्रकार 'व्यग्यार्थ कौमुदी' का विद्वानों के बीच चमत्कार की दृष्टि से अच्छा आदर है। इनका 'काव्य विलास' तथा अन्य ग्रथ देखने को नहीं मिले।

इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के अन्त तक रीतिप्रवृत्ति का उत्कर्ष रहा। यह उत्कर्ष एकदम समाप्त नहीं हो गया। १६वीं शताब्दी की समाप्ति के बाद भी काव्यशास्त्र के कुछ उत्कृष्ट ग्रथ जैसे, कविकल्पद्रुम, रसरैनरकलानद, रसकुसुमाकर, जसवन्तयशो

भूषण तथा अन्य आधुनिक ग्रंथ लिखे गये जिनका विवरण अगले अध्याय में दिया जायेगा। यह सब होते हुए भी हम १६वीं शताब्दी की समाप्ति के समय को रीति प्रवृत्ति के उत्कर्ष की समाप्ति का समय कह सकते हैं, और बीसवीं शताब्दी में ग्रंथों के प्रणयन का क्रम बँधा रहने पर भी जो इस प्रवृत्ति का ह्रास मानते हैं तो इसका भी कारण है १६ शताब्दी के मध्य और अन्त के चरणों में काव्य शास्त्र पर ग्रंथ लिखने की एक प्रबल रुचि और सम्मान्य प्रवृत्ति थी। कवि भी इस प्रवृति को लेकर लिखने में ही अपनी कविता का साफल्य समझते थे और जनता के बीच भी ऐसे ग्रंथों का आदर था। राज-दरबार में तो इस प्रकार के रीति ग्रंथों की परम प्रतिष्ठा थी ही। इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें इस बात में मिलता है कि प्रथम तो इस प्रकार की हिन्दी रीति प्रवृत्ति को मुसलमान कवियों ने अपनाया और द्वितीय हिन्दू रीतिकार कवियों को मुसलमान शासकों के दरबारों में भी स्पृहणीय और सराहनीय सम्मान मिला। रसलीन, याकूब खा, रग खा आदि ऐसे ही कवि हैं, और आजमशाह, कमरुद्दीन खा, फाजिल अली आदि ऐसे ही शासक। अतः जब रीति-ग्रंथों का एक ओर से प्रवाह सा बह रहा था और पाठक एवं श्रोता भी उनका आदर करते थे, तभी उसका उत्कर्ष काल हो सकता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते यह बात न रह गयी। नवीन राजनीतिक जागृति तथा नई साहित्यिक प्रवृत्तियो का जन्म और विकास हुआ। जनता के बीच अब धीरे धीरे रीति-ग्रंथों का वह आदर न रह गया, राजदरबार भी अन्य समस्याओं में पडे। अतः अब कविता कुछ अधिक लौकिक उद्देश्ययुक्त और उपयोगी अभिप्रेत हुई। अंग्रेजी साहित्य और संस्कृत के सम्पर्क तथा विदेशी शासन ने, विज्ञान तथा गद्य का अधिक प्रचार किया, और कविता को भी अब परम्परागत नहीं, वरन् नवीन दृष्टिकोण से देखने की लहर फैली। ऐसी दशा में अवकाश और निर्द्वन्द्वता के समय की प्रवृत्ति का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। अतः इस रीति-परम्परा के उत्कर्ष को धक्का लगा। इस समय तो प्रत्येक कवि का कुछ न कुछ रीति परम्परा पर लिखना कर्तव्य सा हो जाता था और बिना उस पर लिखे कवि के कवित्व को उचित सम्मान नहीं मिलता था। अतः १८५० और १६०० वि० के बीच और उसके आस पास का समय ही इस परम्परा के उत्कर्ष का समय है। इसके बाद उसका विस्तार बहुत कम हो गया, और परम्परा की भी शृङ्खला विच्छिन्न हो गयी। इस विच्छिन्न शृङ्खला और नवीन दृष्टिकोण का अध्ययन अगले अध्याय में किया जायेगा।

---

# चतुर्थ-अध्याय

पड़ा, जिसका विशेष अध्ययन हम आगे करेंगे। इस स्थल पर इतना जानना आवश्यक है कि इस परिवर्तन-काल में काव्य या काव्यशास्त्र सम्बन्धी जो ग्रंथ लिखे गये वे दो प्रकार के थे—एक तो रीति परम्परा को ही अपना कर चलने वाले ग्रंथ, और दूसरे वे ग्रंथ जो आवश्यकतानुसार साहित्य और समाज की नाड़ी परखते हुए लिखे गये। इन दूसरे प्रकार के ग्रंथों में रूढ़ि पर चलने का उतना आग्रह न था। इनमें स्वच्छन्द रीति से काव्यशास्त्र अथवा काव्यादर्श-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया। इनमें विद्वत्ता और व्यापकता के साथ साथ नवीन दृष्टिकोण और नवीन काव्य के आदर्शों की परख-सम्बन्धी विशेषता भी मिलती है। इन ग्रन्थों का अध्ययन इस अध्याय के दूसरे खण्ड में किया जायगा। अभी हम रीति-परम्परा पर लिखे गए ग्रंथों का अध्ययन करेंगे।

रीति-परम्परा पर लिखे गए आधुनिक कालीन ग्रंथों और रीति कालीन ग्रंथों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। विशेषतया भेद इस बात में देखने को मिलता है कि आधुनिक कालीन अधिकांश ग्रंथों मे लक्षण, व्याख्या तथा विवेचन के लिए गद्य का व्यवहार किया गया है, जब कि पूर्ववर्ती ग्रंथों मे प्रायः गद्य का उपयोग नहा के बराबर है, और जो है भी वह अधूरा है। अधिकांश ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण दोनों ही ब्रजभाषा पद्य में लिखे गये। दूसरा सामान्य भेद इस बात में देखने को मिलता है कि आधुनिक कालीन ग्रंथों मे गद्य तो खड़ी में है ही, पद्य के भी उदाहरण खड़ी बोली से कहीं कहीं[१] चुने गये हैं। इसके अतिरिक्त विवेचन की स्पष्टता, लक्षणों की पूर्णता, अलंकारों के पारस्परिक भेदों के निदर्शन तथा अन्य आलोचनात्मक विषयों पर जैसा विचार इन आधुनिक कालीन कवियों के ग्रंथों में हुआ है, वैसा पूर्ववर्ती कवियों के ग्रंथों में नहीं है, पर यह मानना पड़ेगा कि आधुनिककालीन लेखकों ने रीति कालीन कवियों के ग्रंथों से खूब सहायता भी ली है। भूषण, मतिराम, देव, पद्माकर, दास दूलह, बैरीसाल आदि के ग्रंथों का आधार न केवल उदाहरण जुटाने में लिया गया है वरन् लक्षणों के उपस्थित करने में भी इनसे पूर्ण सहायता ली गई है।

विषय, आधुनिक ग्रंथों के लगभग वही हैं जो रीति कालीन ग्रंथों में स्थान पा चुके हैं और मान्यतायें और धारणायें भी वही हैं। अतः केवल जहां तहां गद्य के प्रयोगमात्र से ही हम इन्हें काव्यशास्त्र पर लिखे गये नवीन ग्रंथ नहीं कह सकते। इनका यथार्थ स्थान और महत्व रीतिकालीन परम्परा में सन्निविष्ट रहने में ही है और उन्हीं के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकता है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आधुनिक

टिप्पणी—१. देखिये काव्यकल्पद्रुम और साहित्य-पारिजात।

कालीन ग्रंथ केवल काव्य रसिक के लिये ही उपयोगी नहीं हैं, वरन् वे काव्य तथा काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों के भी बड़े काम के हैं और उसका प्रमुख कारण यह है कि इन ग्रंथों के लेखकों ने प्राय. हिन्दी ग्रंथों के साथ इन्हीं विषयों पर लिखे गये संस्कृत ग्रंथों जैसे साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि का भी सम्यक् अध्ययन करने के उपरांत हिन्दी ग्रंथों का प्रणयन किया है। अत कुछ ग्रंथों को छोड़कर अधिकांश ग्रंथों में विद्वत्तापूर्ण और शुद्ध विवेचन है, यद्यपि विवेचन के विषय और प्रणाली पुराने ही हैं।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि रीतिकालीन परम्परा, आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही समाप्त नहीं हो गई। इसका विस्तार आजकल तक फैला हुआ है। मिश्रबन्धु ( प० शुकदेव बिहारी और प० प्रतापनारायण मिश्र ) का लिखा 'साहित्य पारिजात' स० १९९७ की रचना है। अत यह स्पष्ट है कि हमारी सामाजिक अभिरुचि और साहित्यिकों के हृदय म रीतिकालीन विषयों, पद्धति, प्रणाली और प्रवृत्तियों का आज तक सम्मान है। (भाषा और अभिव्यंजना के विचार से तो यह मानना ही पड़ेगा कि रीतिकाल की सफलता बहुत ऊँची है। अत इस प्रकार की प्रवृत्ति अनावश्यक और असम्मानित नहीं हो सकती। इस हेतु आधुनिक कालीन रीति-परम्परा के विस्तार का अध्ययन हमारे लिए आवश्यक है।

इस प्रसंग मे एक बात उल्लेखनीय यह भी है कि समय के विचार से यद्यपि हम १९०० सम्वत् के बाद की रचनाओं को आधुनिक काल के अन्तर्गत रखने को बाध्य होते हैं, पर यथार्थ बात तो यह है कि आधुनिकता के दर्शन कविराजा मुरारिदान के 'जसवन्त यशोभूषण' और पोद्दार के 'काव्यकल्पद्रुम' से ही होते हैं। इनके पूर्व रामदास, सेवक, ग्वाल, लछिराम के ग्रंथ समय की गणना के अनुसार यद्यपि इस काल में आ गये हैं, पर हैं वे पूर्णत शुद्ध रीतिकालीन ही। पर हम यहाँ निर्धारित कालक्रमानुसार ही चलेंगे।

सबसे पहले रामदास का 'कविकल्पद्रुम' आता है।

## रामदास का 'कविकल्पद्रुम'

रामदास का यथार्थ नाम राजकुमार था। ये काशी और प्रयाग के बीच हरिपुर के निवासी और नन्दकुमार के शिष्य थे। इनका बनाया 'कविकल्पद्रुम ( साहित्यसार ) टीकमगढ के 'सवाई महेन्द्र पुस्तकालय' में देखने को मिला। पुस्तक की रचना स० १९०१ में आगरे में हुई थी जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है.—

# ४

# काव्यशास्त्र पर लिखे आधुनिककालीन ग्रंथों का अध्ययन।

## १. रीतिकालीन परम्परा का विस्तार

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि काव्यशास्त्र के विषयों, विशेषकर अलंकार और नायिका-भेद, पर लिखने की एक ऐसी प्रथा सी चल पड़ी थी, कि कोई भी कवि इस विषय का एक आध ग्रंथ लिखे बिना मानों सम्मान ही न पाता था। बहुत से कवियों ने तो काव्य-प्रतिभा का उपयोग किसी शास्त्रीय आवश्यकता, प्रेरणा और योग्यता के बिना ही, काव्यशास्त्र के विषयों को चुनकर ही किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अलंकार, नायिका-भेद आदि ग्रंथों की बाढ़ सी आ गयी। ऐसी दशा में युग-परिवर्तन और काव्यादर्शों की दिशा विपर्यय की अवस्था में भी एकदम इस प्रकार की रचना का अन्त होना असम्भव था। रीतिकाल ( सं० १६०० वि० ) के समाप्त होते होते हमारे देश, समाज और साहित्य में जीवन के संघर्ष तथा देश प्रेम के चिह्न स्पष्टतया परिलक्षित होने लगे थे। ऐसी दशा में समाज और देश की रुचि भी बदल रही थी और साहित्य की प्रवृत्ति भी।

साहित्य की प्रवृत्ति के बदलने का प्रथम कारण तो यही था कि साहित्य, समाज और देश की प्रवृत्तियों का आदर्श होने के कारण उनके परिवर्तन के साथ साथ बदला करता है, किन्तु दूसरा कारण यह भी था कि अंग्रेजों के जीवन और साहित्य के सम्पर्क में आने से हमारे देश के साहित्यिक भी स्वतंत्र देशों के स्वच्छन्द साहित्य के समान ही साहित्य निर्माण करने की इच्छा और अभिरुचि से भर गये थे। अतः सं० १६०० वि० के बाद काव्यादर्शों में परिवर्तन होना आवश्यक था। हमारे काव्यशास्त्र पर इसका प्रभाव अवश्य

"मधुरितु सित मधुमास तिथि रामजन्म गुरुवार।
चन्द गगन पुनि ऋक ससि संवत सुभग विचारि॥
नगर आगरो जमुन तट रुचिर सुपावन ठाम।
प्रारम्भ्यो एहि ग्रन्थ को देवंस टीक जुग जाम॥"

यह ग्रंथ काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है और ध्वनिसिद्धांत को मुख्य आधार मानकर इसमें शास्त्र के अन्य अंगों का विवेचन किया गया है। 'कविकल्पद्रुम' के लेखक ने संस्कृत और हिन्दी के लगभग सभी प्रमुख ग्रंथों के अध्ययन के अनन्तर अपने ग्रंथ का प्रणयन किया है; इसीसे इसकी पूर्णता और भी स्पष्ट हो जाती है। ग्रंथ के प्रारम्भ में ही काव्यशास्त्र विषयक आधारभूत ग्रंथों का विवरण यों दिया गया है:—

'देखे भाषा संस्कृत ग्रन्थ अनेक विचारि।
तिनके बरनत नाम हैं जथा सुक्रम अनुसार॥
तुलसी भूषन प्रथम ही भाषा काव्य प्रकाश।
कविप्रिया रसिकप्रिया विरचित केशवदास॥
रसरहस्य देखे बहुरि भाषाभरन विशेषि।
रसिक रसाल बिलोकि पुनि भाषाभूषन देखि॥
पुनि देखे रसराज अरु देखे जगत विनोद।
पद्माभरणादिक लखे भाषा ग्रन्थ समोद॥
रसमंजरी तरंगिनी देखे काव्य विलास।
काव्य प्रदीप विचारि पुनि देखे काव्य प्रकास॥
लता कल्प कवि देखिकै चन्द्रालोक विचारि।
देखि कुवलयानन्द पुनि वाग्भटालंकार॥
लखे वृत्ति रत्नावली दर्पन वृत्ति निहारि।
बानी भूषन आदि दै छन्दोग्रन्थ निहारि॥"

इतने ग्रन्थों को देखने के बाद 'कल्पद्रुम' की रचना हुई।

काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों की ओर संकेत करने वाली तुलसी की चौपाई '— "आखर अर्थ अलंकृत नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना" के आधार पर रामदास अपने विषय की नीचे लिखे शब्दों में व्याख्या करते हैं :—

"शब्दार्थ सम्बन्ध ते कविता होत हैं तातें प्रथम आखर अर्थ कहे रुद्रादि जात्यादिक

भेद करिकै वाचक लाक्षणिक विजक तीनि प्रकार के शब्द तथा वाच्य लक्ष्य व्यंग्य तीनि प्रकार के अर्थ जथाक्रम शक्ति अभिधा लक्षना व्यंजना के भेद सहित इत्यादि शब्दार्थ भेद आगर अर्थ इनही द्वै पद ते शब्दार्थ वेसे हैं अलकत नाना। अलकारादि भेद शब्दार्थध्वनि के साथ ही भाई रीति करिकै लक्षित होत है ताते सलक्ष्यक्रम ध्वनि कहावै। ताते अलकार शब्दार्थ के साथ ही सूचित कियो।" इसी प्रकार और आगे वार्ता में 'छंद प्रबन्ध अनेक विधाना।' भाव भेद, रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविधि प्रकारा" आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस व्याख्या में विशेषता यह है कि काव्यसिद्धान्तों को तुलसी की चौपाइयों से सम्बद्ध करके उसे हिन्दी का स्वरूप दिया गया है जिससे विवेचन की मौलिकता झलकती है। चार पंक्तियों के आधार से काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करना यथार्थ विद्वत्ता का लक्षण है।

छंद-व्याख्या को साहित्य के क्षेत्र से अलग मानकर उन पर बहुत ही संक्षेप में कथन है। अन्य बातों को बताते हुए काव्य-स्वरूप को समझाने के लिए वे कहते हैं :—

"श्रुति नृप समित सुहृद मित्त है पुरान कामिनी संमित नाटकादिक बखानिये।
आखर अरथ अविवक्षित विवक्षित तिरस्कृत सक्रमित वाच्य पहिचानिये॥
असंलक्ष्य क्रम ध्वनि जाते रस भाव बिंग्य लक्षक्रम शब्द अर्थ दोहुन ते मानिये।
दूषन रहित वस्तु भूषन सहित गुन रामदास काव्य रूप योंरे ही में जानिये॥

इस प्रकार काव्य हेतु (प्रतिभा और अभ्यास), काव्यफल आदि के साथ वे भाषाभेद के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भौतिक भाषा पर विचार करते हैं। इन भाषाओं में काव्य तीन प्रकार का है, छंद-बद्ध (पद्य), गद्य और चम्पू। नाटक में संस्कृत और प्राकृत दोनों का मेल होता है। भाषाओं में बंगाली, मरहठी, तैलंग आदि की सीमा पर प्रकाश डालते हुए अन्त में ब्रजभाषा को सर्वोत्कृष्ट काव्योपयोगी भाषा मानकर वे उसकी प्रशंसा करते हैं। तदनन्तर शब्दार्थ भेद-वर्णन अन्य आचार्यों का सा ही है।

इन सभी विषयों के विवेचन में रामदास की शैली बड़ी सरल और सुस्पष्ट है, क्रम बड़ा वैज्ञानिक है और प्रत्येक स्थल पर लेखक की विद्वत्ता झलकती है। दोहों में भी उनके लक्षण, गद्य की भाँति स्पष्ट हैं और उदाहरण भी समुचित कवित्व-पूर्ण हैं। अभिधामूला ध्वनि का उदाहरण देखिए :—

'गई अकेली आजु ही सघन निकुञ्ज निहारि।
भभरि भगी भूषन बसन तन की सुरति बिसारि॥"

इस छंद में सघन निकुञ्ज मे प्रिय से भेंट व्यग्य है। रस के अगों, भावभेदों आदि का वर्णन भी ऐसा ही है और अलकार, गुण, दोष आदि का वर्णन है। ध्वनि सिद्धात का आधार लेकर बड़े साफ ढग से विषयों का विवेचन इस ग्रथ मे हुआ है। इसमें काव्य, उदाहरण के रूप में ही है। अधिकाश पुस्तक आचार्यत्व-गुण से भरपूर है। इसमें काव्य-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धातों का विवेचन है और नायिका भेद का विषय बिल्कुल छोड़ दिया गया है। पिछले काल के ग्रथों में 'कविकल्पद्रुम' का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

## ग्वाल कवि

ये मथुरा निवासी सेवाराम बन्दीजन के पुत्र थे। शुक्ल जी ने इनका कविता काल स० १८७६ से १६१८ तक माना है। ग्वाल कई ग्रथों के रचयिता हैं किन्तु काव्यशास्त्र पर इनके तीन ग्रथ रसिकानन्द, ( अलकारा पर ) रसरग (रसनिवेचन पर ) और दूषणदर्पण ( काव्य दोषों पर ) हैं। रसरग इनका सबसे महत्व पूर्ण ग्रन्थ है। चतुर्थ त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट के अनुसार 'अलकार भ्रम भजन' और 'कविदर्पण' दो और ग्रथ काव्यशास्त्र पर प्राप्त हुए हैं जो लेखक को देखने को नहीं मिले।

### रसरंग[1]

'रसरग' सवत् १६०४ की रचना है जैसा कि उनके ही कथन "सवत् वेद रु निधि ससी माधव सित पख सग" से प्रकट है। दोहों में दिये हुए रस और रसागों के लक्षण सक्षिप्ति और स्पष्टता दोनों का गुण अपनाए हैं। 'रसरग' ग्रथ मे नवों रसों का तथा रसागों का विवेचन है। यद्यपि रसों का विवेचन बहुतेरे कवियों ने किया है, पर ग्वाल कवि का ढग कुछ अनोखा है। सबसे पहले रस वर्णन के क्रम मे वे भावों का वर्णन करते हैं 'मन से पैदा हुए विकारों का नाम भाव है'[2] ऐसा ग्वाल का मत है। ये भाव चार प्रकार के हैं—विभाव, स्थाई भाव, अनुभाव और सचारी भाव। विभाव दो हैं, प्रथम आलबन जो स्थायीभाव का मुख्य कारण है और दूसरा उद्दीपन जो स्थायीभाव को और

---

टिप्पणी—१ याज्ञिक पुस्तकालय से प्राप्त प्रति के आधार पर।
२. जनक जासु कोमन कहैं जन्य जु कछु विकार॥
तासों कहिये भाव है" इत्यादि ( रसरग )

उत्तेजित करता है। कारण का अर्थ ग्वाल के अनुसार उपस्थिति को सबके प्रकाश में लाने वाली बात है। उससे हमें इस बात का पता लगता है कि अमुक वस्तु वहाँ थी। आलंबन एक होता है जब कि उद्दीपन सदा ही बहुत होते हैं। इसके पश्चात् 'रसरंग' में प्रत्येक स्थायीभाव की परिभाषा और उसके उदाहरण ग्वाल-द्वारा रचित कविता में दिये हुए हैं। परिभाषा को ग्वाल ने लक्षण और उदाहरण को 'लक्ष' कहा है। अनुभावों के प्रसंग में वे कहते हैं कि अनुभाव वे हैं जो मन में पैदा हुए विकारों को जनाते हैं, या प्रकट करते हैं।

मनविकार उपजनि जु है, जिहि करिजानी जाय।

इस प्रकार विभाव और अनुभाव के लक्षणों में कुछ भ्रम हो सकता है क्योंकि दोनों ही भाव को प्रगट करते हैं किन्तु यहाँ पर जान लेना चाहिये कि विभाव, भाव के प्रगट होने का कारण होता है बिना विभावों के भाव अपनी स्थिति में नहीं आता पर अनुभाव तो प्रबुद्ध भाव के द्योतक चिन्ह हैं, जैसे मुख की ललाई, लज्जा का कारण नहीं, द्योतक चिन्ह मात्र है इसे अनुभाव कहेंगे विभाव नहीं। ग्वाल ने प्रत्येक रस के अनेक अनुभावों का वर्णन किया है।

इसके पश्चात् संचारी भावों का वर्णन है। देव की भाँति ग्वाल भी सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत न मानकर संचारी भावों के अन्तर्गत मानते हैं और उनके दो भेद, देव के कायिक और मानसिक के अनुसार ही तनज और मनज हैं। तनज सात्विक हैं, मनज संचारी हैं। संचारी के विषय में वे कहते हैं:—

"सब रस में विचरयो करै सो संचारी जान।"

पर यह कैसे जाना जाय कि यह संचारी भाव है या स्थायी भाव। बहुत से भाव दोनों कोटियों में अपना अधिकार रखते हैं। उनके लिये वे कहते हैं कि जो जिस रस का स्थायी भाव है, वह जब तक उसी रस में है तब तक तो स्थायी है, पर जब वह दूसरे रसों में जाता है तब वह स्थायी न रहकर संचारी भाव हो जाता है। अपने रस को छोड़कर दूसरे रस के साथ भी जाता है इसीलिये उसे व्यभिचारी भाव कहते हैं, यह अधिक चुभती व्याख्या है। सात्विक भावों के प्रसंग में ग्वाल ने एक नवीनता रक्खी है। उनका कथन है कि पाँच ज्ञान इन्द्रियों में से प्रत्येक, आठ सात्विक भावों को प्रकट कर सकती है और इस प्रकार चालीस सात्विक भाव हुए देखिये:—

"पाँचों इन्द्रिन जोग तें इक इक प्रगटत जाँच।
चख श्रोत्र पुनि घ्रान कहि रसनात्विच् ये पाँच॥

पाँच पाँच विधि ते प्रगट होत जु सात्विक भाव ।
इमि चालीस विधि में किये नूतन विधि बरनाव ।"

किंतु उपर्युक्त कथनों में नवीनता अधिक और तथ्य कम जान पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय आठ सात्विक भावों को प्रकट नहीं कर सकती ।

ग्वाल देव की भाँति ही रस के दो भेद मानते हैं—अलौकिक और लौकिक । रस को ब्रह्मानन्द के समान मानकर वे कहते हैं:—

"चिदानन्द घन ब्रह्म सम रस है श्रुति परमान ।
दुविधि सुरस लौकिक जु इक, दुतिय अलौकिक जान ॥
रस जु अलौकिक है त्रिधा, स्वाप्निक एक विचार ।
मनोरथिक सुजानिये, औपनयनिक कहि धार ।
औपनयनिक जो रस लिख्यौ, सो नौ विधि मतिधीर ॥"

ग्वाल के विचार से स्वापनि और मानोरथिक यह रस की अनुभूति मात्र है वह काल्पनिक आधार पर है प्रत्यक्ष आधार पर नहीं । नौ रस ग्वाल के अनुसार औपनयनिक के भेद हैं, पर देव के विचार से काव्य के नव रस लौकिक रस के भेद हैं जो कि तीन अलौकिकों, स्वापनिक, मानोरथ और औपनयनिक से भिन्न हैं—जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है :—

"कहत अलौकिक त्रिविधि विधि, यहि विधि सुधियत सार ।
अब बरनत कवि देव कहि, लौकिक नव सु प्रकार ।।"[1]

इस प्रकार ग्वाल, देव के विपरीत, काव्य रस को अलौकिक मानते हैं ।

शृङ्गार रस का वर्णन सबसे प्रथम है । आलंबन के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद का वर्णन है । कहीं कहीं नवीनता नायिका-भेद के अन्तर्गत दिखलाई देती है जैसे सुखसाध्या, दुःखसाध्या, बहुदुःख्भिका आदि नायिका के भेद । १५ प्रकार की नायिकाओं का वर्णन 'रसरंग' में हुआ है । संयोग के अन्तर्गत सखी, हाव आदि के वर्णन और वियोग के अन्तर्गत प्रवास, पूर्वानुराग, मान, और वियोग की दस दशायें आदि विषय हैं । उद्दीपन

टिप्पणी—१. देखिये लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'भावविलास' पृ० ६०, प्रकाशक तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय, दारागंज, सम्वत् १९९१ वि० संस्करण ।

के रूप में षट्ऋतु का वर्णन है जो काव्य की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है। न्वीं उमंग में शेष आठ रसों का वर्णन है और इस प्रकार आठ उमगों में 'रसरग' समाप्त हुई है। ग्वाल का विवेचन देव की कोटि का है।

## लछिराम

लछिराम का समय २० वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। ये अमोढा जिला बस्ती के निवासी और पलटन राम के पुत्र थे। ये अनेक राजाश्रयों में गये और उनके नाम से अनेक ग्रथों की रचना भी की पर अधिकाश अयोध्या नरेश और बस्ती के राजा के यहाँ रहे। वैसे तो इन्होंने कई ग्रथ काव्यशास्त्र पर लिखे जैसे:—मुनीश्वर कल्पतरु, महेन्द्रभूषण रघुवीर विलास, रामचन्द्रभूषण, कमलानन्द कल्पतरु आदि, पर रावणेश्वर कल्पतरु (महाराज गिद्धौर के लिए लिखा) और महेश्वर विलास, (रामपुर जिला सीतापुर के ताल्लुकदार महेश्वर बख्श सिंह के लिए लिखा) प्रसिद्ध ग्रथ हैं। अधिकाश ग्रथ, भारत जीवन प्रेस से मुद्रित हो चुके हैं। ये ग्रथ अधिकतर देव के ग्रथों की भाति है जिनमें विषय लगभग वही है कुछ परिवर्तन से दूसरे आश्रयदाता के नाम कर दिये गये हैं।

### *महेश्वर विलास*

'महेश्वर विलास' नवरस और नायिका भेद पर लिखा ग्रथ है। इसके अन्तर्गत नख-शिख वर्णन भी है, रस का विवेचन उस विस्तार से नहीं जिस विस्तार से नायिका भेद है। लक्षणों की ओर कम ध्यान है, उदाहरणों की ओर अधिक। लक्षण बरवै और दोहों में तथा उदाहरण कवित्त, सवैयों तथा बरवै छन्दों में लिखे गये हैं। इनका महत्व कवित्व की दृष्टि से ही विशेष है विवेचन की दृष्टि से उतना नहीं।

### *रावणेश्वर कल्पतरु*

अयोध्यानरेश मानसिंह देव के आश्रय में रहने वाले कविराय लछिराम का सबसे महत्वपूर्ण ग्रथ 'रावणेश्वर कल्पतरु' है जिसको उन्होंने गिद्धौर नरेश महाराज रावणेश्वर-प्रसादसिंह के प्रसन्नतार्थ स० १६४७ में निर्मित किया था जैसा कि ग्रथ के अन्त में उल्लिखित निम्नाकित कवित्त से प्रकट है:—

> स्वर फन रस इन्दु सम्वत प्रसित पद्म भादों भौम पंचमी सुयोग सुभ शानी को।
> श्री गिधौर भूप रावणेश्वर प्रसाद हेत भाखजा अमर छन्न सकर भवानी को॥

देव मानसिंह कवि बन्दीजन लछिराम श्रवध बसैया दसरथ राजधानी को।
विरच्यो सरस रावणेश्वर कल्पतरु विरद विलास रामकृष्ण बरदानी को॥

कल्पतरु में बारह कुसुमों का वर्णन है। प्रथम कुसुम में मंगलाचरण, राजवंश, देश आदि का वर्णन है और दूसरे में काव्य प्रयोजन तथा काव्य भेदों पर प्रकाश डाला गया है। काव्य के भेद उत्तम, ध्वनि काव्य, मध्यम तथा अधम काव्य चन्द्रालोक आधार पर दिए हैं। तृतीय कुसुम में 'काव्यप्रकाश' के आधार पर शब्दभेद तथा अभिधा शक्ति का वर्णन है। लक्षणा का वर्णन भी चौथे कुसुम में काव्य प्रकाश के मतानुसार ही है। पंचम कुसुम में गम्भीरावृत्ति व्यंजना का वर्णन है। व्यंजना के लिये वाचक और लक्षक भाजन के समान हैं। भिखारीदास के समान ही लछिराम ने भी लिखा है.—

वाचक लक्षक शब्द ये, राजत भाजन रूप।
व्यंजन नीर सुवेस कहि वरनत सुकवि अनूप॥ (५-१)

इसके पश्चात् सामान्य ढंग पर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का वर्णन है। उदाहरणों में जो ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य है उसको लछिराम ने तिलक द्वारा स्पष्ट किया है। यह तिलक ब्रजभाषा गद्य में है। रस का वर्णन गुणीभूत व्यंग के बाद है, और ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के साथ नहीं। सप्तम कुसुम में रस का वर्णन है। रस का लक्षण भरत के मतानुसार करते हुये लछिराम ने लिखा है।

मिलि विभाव अनुभाव वर संचारी सविलास।
थपर सुथाई भाव को परिपूरन सु प्रकास॥ (७ १)

भाव को लछिराम ने रस का मूल माना है। उनका कथन है कि जो चित्त के स्वभाव को रस की अनुकूल अवस्था में बदल देवे वह भाव है।[१] ये भाव दो प्रकार के हैं :—एक स्थायी भाव, दूसरे सचारी भाव। स्थायी भाव अपने रस में ही लीन रहते हैं, पर सचारीभाव सभी रसों में सचार करते हैं। स्थायीभावों ने लछिराम के मत से दो प्रकार हैं, एक शारीरिक दूसरे मानसिक। इनमें से शारीरिक सचारी भाव सात्विक भाव हैं और मानसिक सचारी तेंतीस व्यभिचारी भाव हैं जो अन्य आचार्यों द्वारा माने गये हैं। इस प्रकार से नौ स्थायी, आठ तनसचारी और तेंतीस मनसचारी भाव मिलकर कुल पचास भाव हैं। स्थायी भावों के कारण विभाव होते हैं। और स्थायी भाव को अनायास प्रकट

१ देखिये रावणेश्वर कल्पतरु (सन् १८९२ में भारत जीवन प्रेस से मुद्रित)
पृ० ८८, दोहा १

करने वाले व्यापार अनुभाव हैं।[1] इस प्रकार लछिराम ने अन्य आचार्यों से भावों का कुछ भिन्न वर्गीकरण किया है। इन्होंने दो ही भाव माने हैं और विभाव तथा अनुभाव को कारण और प्रकाशक व्यापारों के रूप में माना है जब कि अधिकाश आचार्य इन स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव सभी को भाव के भेद मानते हैं साथ ही प्राचीन आचार्य सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखते हैं जब कि लछिराम जी उन्हें संचारी भावों का ही भेद मानते हैं। यह भेद होते हुए भी लछिराम का दृष्टिकोण समीचीन ही है। कठिनाई केवल अनुभाव और सात्विक भावों के भेद में पड़ती है क्योंकि इन दोनों में भेद होते हुए भी कोटि एक ही है।

लछिराम ने यह भी स्पष्ट लिख दिया है कि साहित्य के लिये नौ रस माने गये हैं जब कि नाटक में भरत के मत से आठ ही रस हैं। इसके पश्चात् रसों का वर्णन है। इसमें और सभी बातें तो सामान्य पद्धति पर हैं। केवल रति के अन्तर्गत लछिराम ने बाल-विषयक रति और बन्धु विषयक रति भावों का भी वर्णन किया है, और इन्हें भाव ही माना है। रसों के वर्णन और उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। अष्टम कुसुम में भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशांति का वर्णन है और उसके पश्चात् भावाभास, रसाभास तथा रसवदादि का। नवें कुसुम में गुणों का वर्णन है। इन्होंने प्रथम तो माधुर्य ओज, प्रसाद, तीन ही गुणों को माना है, पर बाद को प्राचीनों के मतानुसार दस गुणों का भी उल्लेख किया है।

दसवें कुसुम में अलंकारों का वर्णन है। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रायः स्पष्ट हैं; पर कहीं कहीं लक्षण और कहीं उदाहरण अशुद्ध हैं। जैसे अधिक तद्रूप का उदाहरण, व्यतिरेक का उदाहरण सा बन गया है देखिये:—

> याके हित कमल मलीन परैं सांझ होते, याके हित नित मेरे आनन्द सुमन में।
> कवि लछिराम जाम चारि में तपत वह आठो जाम थाकर घमंड या दुवन में॥
> हरित विटप जाल दूषन करत वह, भूपन भरन यह जीवन सुवन में।
> राव रामचन्द्र या प्रभाकर ते रावरे को अधिक प्रभाकर प्रताप त्रिभुवन में॥[2]

इसी प्रकार छठवीं विभावना का उदाहरण भी व्याघात के उदाहरण सा है। यथा—

---

1. 'रावणेश्वर कल्पतरु' भारत-जीवन प्रेस १८६२ में मुद्रित पृ० ८६-६०।
2. ,, ,, ,, ,, १४८।

"ता छन सों बिलखि बिसूरै अनुराग फाग ऊधमकरी जो काल्ह तीसरे पहर में।
लछिराम चाननी समीर चिनगी सी लागैं छोटैं भरी ज्वाल पाई आग की लहर में॥
घोटतर पतगी लो लै रही छहर सोंझ कहर परी ही विरहीन के सहर में।
रुसे कहा रसिक सिरोमनि सुजान बिन बासर बसन्त के विलासी दुपहर में॥"[1]

इसी प्रकार पर्यस्तापन्हुति और समासोक्ति अलंकारों के उदाहरण भी त्रुटिपूर्ण हैं।

'रावणेश्वर कल्पतरु' के एकादश कुसुम में शब्दालंकारों, वृत्तियों तथा भट्टाचार्य के मतानुसार चित्रालंकारों का वर्णन है। अन्तिम और द्वादश कुसुम, दोष निरूपण का है। दोष चार प्रकार के हैं, शब्ददोष, वाक्यदोष, रसदोष तथा अर्थ दोष। इन चारों वर्गों के दोषों का सविस्तार वर्णन है। इस दोष-वर्णन में लछिराम ने भी अपने 'रावणेश्वर कल्पतरु' में केशवदास द्वारा कविप्रिया में वर्णित अनेक दोषों जैसे, बधिर, मृतक, पात्रा-दुष्ट आदि पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। अन्य लेखकों ने प्रायः काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के आधार पर ही दोषों का वर्णन किया है, पर केशव और लछिराम का अलंकारों का आधार चन्द्रालोक है। डा० रसाल के विचार के गुण-रस रसगंगाधर के आधार पर, ध्वनि काव्यप्रकाश के तथा चित्रकाव्य भट्टाचार्य के ग्रंथ के आधार पर लछिराम ने लिखे हैं।[2]

रावणेश्वर कल्पतरु काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण और बड़ा ग्रन्थ है और रीति कालीन परम्परा की अन्तिम कड़ियों में लछिराम की गणना है। उनके बाद फिर राज्याश्रय में रह कर काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखनेवाले एकाध कवि ही हुए हैं। अतः इस दृष्टि से लछिराम का महत्वपूर्ण स्थान है।

## कविराजा मुरारिदान कृत 'जसवन्त भूषण'

कविराज मुरारिदान का 'जसवंत भूषण' बड़ा प्रसिद्ध ग्रंथ है इसमें संक्षिप्त रूप से काव्यशास्त्र सम्बन्धी मोटी बातों का वर्णन है। इसकी रचना १९५० विक्रमीय सम्वत् में समाप्त हुई थी। इसके अन्तर्गत काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, गुणरीति, अलंकार आदि का वर्णन है। इस ग्रंथ की रचना को आधार अग्निपुराण, नाट्यशास्त्र, चिन्तामणि कोष, चंद्रालोक आदि ग्रंथ हैं, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रस गंगाधर आदि नहीं। अतः

---

1. रावणेश्वर कल्पतरु भारत-जीवन प्रेस १८९२ में मुद्रित पृ० २१४।
2. देखिए 'एवोल्यूशन आव हिन्दी पोइटिक्स' ले० डा० रसाल, पृ० ९८।

प्रचलित परिभाषाओं में भी कहीं कहीं अंतर है। इसके अतिरिक्त कविराजा की मान्यता है कि समस्त अलंकारों के नाम ही स्वयं लक्षण है।[1] और इसी दृष्टि से उन्होंने अलग लक्षण न लिखकर अलकारों के नाम की व्युत्पत्ति से/अपनी व्याख्या द्वारा लक्षण निकाला है जो प्रायः असपष्ट है। यह तो सिद्ध ही है कि अलंकारों के नाम मनुष्यों के नाम की भाँति ऐसे तो नहीं है कि निरर्थक हो, पर उनके भीतर अर्थ होते हुए भी लक्षणों का स्थान वे ग्रहण नहीं कर सकते, लक्षण तो, उनकी प्रमुख और स्पष्ट विशेषता को लेकर समझाने और समझने के लिए तथा औरों से भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए, आवश्यक है। उदाहरणार्थ जैसे कोई अत्युक्ति और अतिशयोक्ति, जिनके नाम का अर्थ लगभग एक सा है, का अन्तर समझना चाहे तो बिना लक्षण के नहीं समझ सकता। अतः सार्थक नाम होने के साथ साथ भी ऐसे लक्षणों की आवश्यकता है जिससे कि अलंकार का स्वरूप पूर्णतया हृदयंगम किया जा सके।

कविराजा ने ऐसा साहस केवल नवीनता के फेर में पडकर किया है जैसा कि उनके निम्नलिखित कथन से ज्ञात होता है :—

"राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रंथ निर्माण करने का आरम्भ करके विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अलंकारो के ग्रथ अनेक हैं पिष्टपेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिए कि जिससे विद्वानो को इस ग्रथ के अवलोकन की रुचि होवे, और विद्यार्थियों को इस ग्रथ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे।"[2]

इस प्रेरणावश ही उन्होंने सभी के नामों से ही लक्षण निकाले और आवश्यक व्याख्या करके अपना ग्रथ निर्माण किया। इसका पूर्ण विस्तार 'जसवंत जसोभूषण' में मिलता है। 'जसवत भूषण' ग्रंथ मारवाड़ नरेश महाराज जसवतसिंह के लिए बनाया गया और अधिकाश भाग तथा उदाहरण उन्हीं से सम्बन्ध रखते हैं। सबसे प्रथम राजवंस वर्णन है जिसके साथ महाराज का यश-वृत्त है फिर कवि वंश का वर्णन है, फिर नाम और लक्षण-विचार है। इसके पश्चात् काव्य-स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में कविराजा, पंडितराज जगन्नाथ के समान रमणीय अर्थ कहने वाले शब्द को काव्य मानते हैं।[3] अभिधा-लक्षणा-व्यंजना का

---

१. जसवन्त भूषण प्रस्तावना पृ० ३।

२. जसवन्त भूषण प्रस्तावना पृ० २-३।

३. ,, ,, ,, २७

भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' से प्रभावित जान पड़ता है। गुण और रीति पर बहुत ही थोड़े में साधारण ढंग पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् अलंकारों का वर्णन है।

रसिकजी चित्रकाव्य को शब्दालंकारों के अन्तर्गत नहीं मानते। उनका कथन है :—

"आदि कमलाकार, धनुषाकार, इत्यादि रूप से काव्य लिखे जावें उनको चित्र काव्य कह कर शब्दालंकार के प्रभेद मानते हैं सो भूल है, क्योंकि शब्द में रहकर काव्य की शोभा करे वह शब्दालंकार है। सो उक्त काव्यों की लेख क्रिया काव्य की कुछ भी शोभा नहीं करती। यह तो अष्टावधानादि साधनवत् कवि की क्रियाचातुरी मात्र है। ऐसे ही एकाक्षर काव्य को जानना चाहिए।"[1] यह विचार ठीक है, यह लेख चित्रकला अवश्य है, और जैसे कि कविता श्रवणमात्र से भी आनन्ददायी होती है, वैसी इस चित्रकाव्य में जिसमें कि लेख का ही चमत्कार है कोई विशेषता नहीं। अतः आजकल तो चित्रकाव्य समाप्त सा ही है।

अर्थालंकारों के वर्णन में उपमा को प्रमुख मानकर सबसे प्रथम इसका वर्णन है। जैसा पहले बताया जा चुका है इस वर्णन में नाम को लक्षण मानने की ही नवीनता है। इसके उदाहरण के लिए हम उनके उपमा के नाम-लक्षण की व्याख्या लेते हैं। वे लिखते हैं। 'उप, उपसर्ग का अर्थ है समीपता। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने 'उप सामीप्ये' 'माङ् धातु से 'म' शब्द बना है। 'माङ्' धातु मान अर्थ में है 'माङ् माने'। मान, मिति और विज्ञान ये पर्याय शब्द हैं।——— 'उप सामीप्यात् मा मान उपमा।' अर्थ सामीपता करके किया हुआ मान अर्थात् विशेषज्ञान।———एक वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है, न्यूनता का, अधिकता का, और समता का। सो वर्णनीय की न्यूनता, तो मनरञ्जनता विहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है। सम निर्णय में उपमा अलंकार की रूढ़ि है। इस प्रकार उपमा शब्द योगरूढ़ है। उपमा नाम अक्षरार्थ का विचार नहीं करते हुए समस्त प्राचीन उपमा का स्वरूप साधर्म्य मानते हैं सो भूल है'[2] इस प्रकार इसकी व्याख्या हुई तो, पर उपमा की उत्प्रेक्षा और रूपक से अलग करने वाली विशेषता ज्ञात नहीं हुई।

उपमा दस प्रकार की मुरारिदान जी ने मानी है, शुद्ध, विपरीत, परस्पर, परम्परित, भिन्न, समुच्चय, बहु, माला, रसना और कल्पित उपमायें। उन्होंने इनके लक्षण और

टिप्पणी १. जसवन्त भूषण प्रस्तावना पृ० ७१।

२. जसवन्त भूषण पृ० ८२।

उदाहरण संक्षेप में दिये है। अतिशयोक्ति और अत्युक्ति अलकार मे कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता है। अतिशयोक्ति का लक्षण है :—

लंघन सीमा लोक को अतिशय जानहु भूप।
अतिशय की उक्ती यहै अतिशयोक्ति को रूप॥[1]

तथा अत्युक्ति का लक्षण यह है.—

मिथ्या भूत उदारता, शूरतादि को भूप।
अचरजकारी वर्नन जु, अत्युक्ती को रूप॥[2]

लोक सीमा का उल्लघन करके किया हुआ वर्णन स्वभावतः मिथ्या और अचरज कारी होगा अतः दोनों के लक्षण एक से हैं। इसका कारण यही है कि नाम से ही लक्षण निकाले गये हैं।

कुछ अलकार, मुरारिदान जी ने, अपनी ओर से जोड़े हैं जैसे अतुल्ययोगिता, अनवसर, अप्रत्यनीक, अपूर्वरूप, अभेद, नियम आदि। इनमे अभेद और नियम को छोड कर शेष तो प्राप्त अलकारों तुल्ययोगिता, अवसर, प्रत्यनीक, पूर्वरूप के विलोम ही हैं। अलकार की दृष्टि से इनमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है। रसवादादि और सखष्टि-सकर अलकारो का भी वर्णन प्रचलित रीति से किया है। इस प्रकार जसवन्त भूषण ग्रन्थ मे यही नवीनता देख पड़ती है कि इन्होंने नामों से लक्षणो की व्याख्या की है, पर इससे अलकारशास्त्र को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

## महराजा प्रतापनारायण सिंह का 'रसकुसुमाकर'

महाराजा प्रतापनारायण सिंह अयोध्या के महाराजा थे। इनका लिखा सुन्दर ग्रथ 'रसकुसुमाकर' स० १६५१ वि० (१८६४ ई०) मे इन्डियन प्रेस इलाहाबाद से मुद्रित हुआ था। यह रस के अग प्रत्यगों पर सुन्दर विवेचना तथा उत्तम उदाहरण उपस्थित करता है।

'रसकुसुमाकर' पद्रह कुसुमों में विभक्त है। प्रथम कुसुम मे परिचय, उद्देश्य, इत्यादि हैं द्वितीय कुसुम में, जिसका नाम स्थायी कुसुम है, सभी स्थायी भावों का वर्णन है। स्थायी भावों के लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुन्दर है। इसके पश्चात् तृतीय, सचारी कुसुम

---

१. जसवन्त भूषण पृ० ६३।
२ जसवन्त भूषण पृ० २७६।

में, संचारी भावों का भी यथास्थान वर्णन है। चतुर्थ अनुभाव कुसुम और पंचम हाव कुसुम क्रमशः अनुभावों और हावों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। छठे कुसुम में सखा, सखी और दूती का वर्णन है। सातवें और आठवें को विभाव कुसुम कहना चाहिए इसके अन्तर्गत ऋतुओं और उद्दीपन सामग्री का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। नवम कुसुम स्वकीया-भेदों का वर्णन करता है। दशम कुसुम परकीया, सामान्या कुसुम है, क्योंकि इसमें अन्तर्गत परकीया और सामान्या नायिकाओं का वर्णन किया गया है। ग्यारहवें कुसुम में दशविध नायिका का वर्णन है और बारहवाँ कुसुम नायक-भेद के विस्तार से सम्बन्धित है। इसके पश्चात् 'शृंगार कुसुम' शृंगार रस का विश्लेषण उपस्थित करता है। और चौदहवाँ, वियोग शृंगार के अन्तर्गत आने वाली दश दशाओं का। अन्तिम पन्द्रहवाँ कुसुम रस कुसुम है, जिसमें शृंगार को छोड़कर अन्य रसों का विवरण दिया गया है। सबसे अन्त में काव्य के भेदों पर प्रकाश डालते हुये महाराजा ने इसके दृश्य और श्रव्य दो प्रकार कहे हैं। और काव्य की प्रशंसा के साथ ग्रंथ की समाप्ति हुई है।

'रसकुसुमाकर' में लक्षण गद्य में दिये गये हैं। और विषयों का पूर्ण विवेचन और वैज्ञानिक वर्गीकरण उपस्थित किया गया है। उदाहरण बड़े सुन्दर और कवित्व-पूर्ण हैं। इन उदाहरणों के अन्तर्गत द्विजदेव, देव, पदमाकर, बेनी, लीलाधर, कमलापति, सम्भु आदि की कविता से सुन्दर छन्द रक्खे गये हैं। उदाहरण चुनने में बड़ी ही सहृदयता से काम लिया गया है। एक और विशेषता यह है कि अनेक भावों, संचारियों और अनुभावों के चित्र भी दिये गए हैं जो बड़े ही सुन्दर और अर्थ के द्योतक हैं। इस प्रकार विशेषकर शृंगार रस का पूर्ण विवरण दिया गया है। पुस्तक बड़ी रोचक है।

## कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश' ग्रंथ सं० १९५३ वि० (सन् १८९६ ई०) में प्रकाशित हुआ था। यह ग्रंथ लेखक का प्रथम प्रयास होते हुए भी अच्छा ग्रंथ था। इसमें गद्य में लक्षण और पद्य में उदाहरण हैं, पर अब यह 'काव्य कल्पद्रुम' के द्वितीय भाग 'अलंकार मंजरी' के रूप में परिवर्द्धन प्राप्त कर चुका है। उसकी सभी विशेषतायें अलंकार मंजरी में होने के साथ साथ ही इसमें और भी विस्तृत व्याख्या, अलंकार का इतिहास और विवेचन आदि है। 'रस मंजरी' और 'अलंकार मंजरी' 'काव्यकल्पद्रुम' के प्रथम और द्वितीय भाग हैं। काव्यकल्पद्रुम सं० १९८३ में प्रकाशित हुआ था और उसके बाद दो संस्करणों में सं० १९९१ और १९९३ में सामने आया। 'रसमंजरी' में काव्य के सामान्य अंगों, ध्वनि, रस,

गुण, दोष आदि पर तथा 'अलकार मजरी' म अलंकार का इतिहास और विवेचन है। अत दोनों ग्रंथों का अलग अलग विवेचन आवश्यक है।

रसमजरी

रसमजरी की भूमिका अपना महत्व रखती है, इसमें पोद्दार जी का अपना निजी दृष्टि कोण प्रकट होता है यह सम्भव है कि उनके विचार सर्वमान्य न हों, पर उनका अध्ययन विस्तृत और चिन्तन मौलिक है। उनकी विशेषता यह है कि अनेक सस्कृत और हिन्दी ग्रथों का सहारा लेते हुए भी अपना एक निश्चित मत रखकर किसी भी एक ग्रथ के सहारे नहीं चलते। इन्होंने वेद को काव्य का मूल माना है और भगवान भरत मुनि को काव्य शास्त्र का प्रथम आचार्य। काव्य से लाभों पर प्रकाश डालते हुए वे 'काव्य प्रकाश' से ही पूर्ण सहमत हैं और कविवर मसख के श्रीकठ चरित्र के आधार पर काव्य के रचना या काव्यास्वादन के लिए काव्यशास्त्र को नितान्त आवश्यक मानते हैं। पोद्दार जी के विचार से "साहित्य शास्त्र उसे कहते हैं जिसके द्वारा काव्य के निर्माण और रसानुभव का एव उसके स्वरूप, दोष, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।"[1] वे काव्य में ध्वनि और अल कार को मुख्य मानते हैं। रस भाव आदि ध्वनि से आते हैं तभी प्रभावशाली होते हैं और इसी प्रकार अलकार भी उक्ति वैचित्र्य हैं। ध्वनि, कान्ता के लावण्य के समान है और अलकार भी आभूषणों के समान।

भूमिका में एक और विशेषता है। उन्होंने हिन्दी के आचायों की अलोचना करते हुए लिखा है कि 'हिदी के आचार्यों का अपना स्वतत्र कोइ मत नहीं है और उनके ग्रथों का मूलश्रोत सस्कृत साहित्य के ग्रथ ही हैं और प्राय वे साहित्य शास्त्र के सिद्धातों को पूर्ण हृदयगम नहीं कर पाये। उन्होंने यह नियम मानते हुए भी, कि रस या भाव का प्रभाव स्वशब्द के कथन से चला जाता है, रस या भाववाची शब्द रखा है। इसके, पोद्दार जी ने, उदाहरण भी दिए हैं। इस दृष्टि से हिंदी के ग्रथ पूर्ण नहीं हैं, यह मानना पड़ेगा। इसी प्रकार उन्होंने आधुनिक काव्यशास्त्र के ग्रथों म भी दोष दिग्दशन कराया है और कहा कि अनेक लेखक विषय के पूर्ण विद्वान् नहीं है और काव्यशास्त्र पर ग्रथ लिख मारे हैं जैसे भानु जी, मिश्रबन्धु जी, दीन जी, गुलाबराय आदि। यथार्थ बात तो यह है कि मौलिक विवेचनात्मक दृष्टि और सम्यक् ज्ञान की कमी तो इन लेखकों में है ही 'नवरस' के अनेक उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि सस्कृत के ग्रथों,

---

टिप्पणी १ रस मजरी पृ० २१।

आचार्यों और सिद्धान्तों का भी भलीभाँति अध्ययन किये बिना ये ग्रन्थ रचे गये हैं। हम यहाँ पर यह मान सकते हैं कि इस प्रकार की कोई विशेष त्रुटि काव्यकल्पद्रुम में नहीं है जिससे अध्ययन का अभाव या विषय के ज्ञान की कमी झलके पर यह अवश्य है कि अनेक उदाहरण रोचक और कवित्व-पूर्ण नहीं हैं। विषय की व्याख्या पूरी और प्रामाणिक रूप में की गई है, यह श्रेय पोद्दार जी का असामान्य है, पर उदाहरणों में आई पोद्दार जी की अपनी कविता दोषपूर्ण है।

'रसमंजरी' का विवेचन मुख्यतः 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। काव्य का लक्षण गद्य में काव्यप्रकाश[1] के आधार पर देने के उपरान्त, काव्य के भेदों का, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग और चित्र या अलंकार के रूप में वर्णन है। द्वितीय स्तवक में शब्द और अर्थ का और अभिधा और लक्षणा शक्तियों का विवेचन है, तृतीय में व्यंजना का विस्तार के साथ वर्णन है। चतुर्थ स्तवक, ध्वनि के भेदों और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अनुसार रसों के वर्णन में प्रयुक्त हुआ है। रसों का विवेचन, उनके अंगों का विश्लेषण और व्याख्यायें प्रामाणिक व स्पष्ट तथा पूर्ण हैं। रस के प्रसंग में रसास्वाद पर जो आरोप, अनुमान, भुक्ति और अभिव्यक्ति के सिद्धान्त हैं, उन सबका विवेचन ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों ढंगों से किया गया है और उसके बाद रस को अलौकिक सिद्ध करने के प्रमाण दिये गये हैं जो नितान्त तर्कपूर्ण हैं और रस सम्बन्धी शंकाओं की अपने ढंग से व्याख्या उपस्थित करते हैं।

'रसमंजरी' में रसों और सभी भावों का पूर्ण विश्लेषण उपस्थित किया गया है, और भावाभास, भावशान्ति, भाव शबलता और भावसंधि आदि का वर्णन भी बड़े वैज्ञानिक ढंग से है, केवल उदाहरण ही अधिकांश कवित्व पूर्ण नहीं है। उसका कारण यही है कि बहुतेरे संस्कृत कवियों के उदाहरणों के अनुवाद हैं। ध्वनि के अनेक भेदों के पश्चात् गुणीभूत व्यंग्य का वर्णन है। इसमें भी लक्षण और अधिकांश उदाहरण काव्यप्रकाश के अनुवाद हैं।[2] पर व्याख्या में कहीं कहीं औरों के मत भी दे दिये गये हैं जैसे महिम भट्ट का

टिप्पणी १ दोष रहित गुण एवं अलंकार सहित अथवा कहीं अलंकार रहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। रस मंजरी पृ० ४३।

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

—काव्य प्रकाश उल्लास १ सू० १

२ "उरु जघनन सपरस करन, कुचन विमर्दनहार,
हा, यह प्रिय कर है वही, नीवी खोलनहार॥

—रसमंजरी पृ० २०५

मत और काव्यप्रकाश द्वारा खण्डन। गुण और दोषों का वर्णन भी काव्य प्रकाश के आधार पर ही है। इस प्रकार रसमंजरी में सभी बातें काव्यप्रकाश के आश्रय पर लिखी गई हैं। और इसमें रसों का स्वतन्त्र नहीं वरन् ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत आया वर्णन है। अतः इसे 'रसमंजरी' न कह कर 'ध्वनिमंजरी' कहते तो अधिक उपयुक्त होता। काव्यप्रकाश का सहारा लेकर ग्रंथ लिखा गया है, और विषय विवेचन इसमें पूर्ण और प्रामाणिक है, किंतु जैसे काव्यप्रकाश का ऊपरी आधार लेकर लिखे गए अन्य ग्रन्थ हैं वैसा ग्रंथ 'रसमंजरी' नहीं है। इनमें काव्य की अनेक समस्याओं पर विचार पूर्ण प्रकाश डाला गया है जिससे ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने अनेक ग्रन्थों के अध्ययन और विचार के पश्चात् मम्मट के विवेचन को पूर्ण मानकर उन्हीं के अनुसार और उन्हीं के मत को लेकर चलना उचित और आवश्यक माना है।

'रसमंजरी' की प्रमुख विशेषतायें ये हैं। प्रथम तो यह कि लक्षण सभी गद्य में मोटे अक्षरों में दिये गये हैं और उनको स्पष्ट करने के लिए वार्तिक या व्याख्यायें हैं। दूसरे बहुत से विषय जिनमें कि मतभेद हो या एक का दूसरे से अन्तर समझ में न आ सके उनकी पृथक्ता भली भांति समझा दी गयी है। तीसरी विशेषता यह है कि इसमें अपने निजी उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य कवियों के उदाहरण उल्टे 'कामा' के भीतर हैं जिससे यह पता लग जाय कि वे लेखक की निजी रचना नहीं है, पर जो संस्कृत से अनुवादित हैं वे यों ही रक्खे। हैं इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि पोद्दार जी जितने अच्छे विवेचक के रूप में रसमंजरी में आये हैं, उतने कवि के रूप में नहीं, क्योंकि उनकी निजी और अनुवादित दोनों प्रकार की रचनायें काव्य की दृष्टि से प्रभावहीन सी लगती हैं। चौथी विशेषता यह है कि नायिका भेद का विस्तार जैसा कि अन्य ग्रन्थों में मिलता है वैसा इसमें नहीं है। पाँचवी बात यह है कि विवेचन की धारा प्रारम्भ से अन्त तक सुलझी हुई, तर्कपूर्ण और प्रामाणिक है और प्रत्येक विषय पर लेखक की धारणायें प्रौढ हैं। इस प्रकार 'रसमंजरी' में काव्यशास्त्र के अनेक विषयों का और मतभेदों का विवेचन है और यह स्पष्ट है कि लेखक ध्वनिवाद पर विशेष आस्था रखता है। रसमजरी आधुनिक काव्यशास्त्र के उत्तम ग्रन्थों में से है।

---

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवी विस्रंसनः करः ॥ ११६ ॥

—काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास।

*अलंकार-मंजरी*

पोद्दार जी की 'अलंकार मंजरी' बहुत ही विद्वत्ता-पूर्ण पुस्तक है। अलंकार-सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन और मनन करने के उपरान्त इसकी रचना की गई है और यह 'अलंकार प्रकाश' का परिवर्द्धित रूप है। भूमिका में अलंकार की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि 'अलंकरोतीति अलकार:' अर्थात् शोभा कारक पदार्थ को अलंकार कहते हैं। शब्द-वैचित्र्य और अर्थ वैचित्र्य के कारण, अलकार दो प्रकार के हैं, शब्दालंकार और अर्थालंकार। पोद्दार जी ने दंडी और भामह के मतानुसार अतिशय उक्ति या वक्रोक्ति को ही अलकार का प्राण माना है। इसी प्रसंग में उन्होंने कविराजा मुरारिदान के इस मत का खंडन भी किया है कि अलंकारों के नाम ही उनके लक्षणों को स्पष्ट करते हैं और अलग से लक्षण देने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने लिखा है कि अलंकारों का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिए शुद्ध लक्षण की आवश्यकता है केवल नाम से काम नहीं चल सकता, और इसी मत को मानते हुए प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों के अलग-अलग लक्षण भी निर्धारित किये हैं। संक्षेप में अलंकारशास्त्र का इतिहास देते हुए उन्होंने अलकारों की संख्या के विकास पर प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध का पोद्दार जी का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

पोद्दार जी ने अलकारों के वर्गीकरण पर भी विचार किया है जो रुद्रट, रुय्यक और मंखक के आधार पर है रुद्रट ने वर्गीकरण के चार ही आधार वास्तव, औपम्य, अतिशय अर्थश्लेष माने हैं, पर रुय्यक के सातवर्ग अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक हैं। इस प्रकार अलंकार सम्बन्धी विचार एवं अध्ययन-पूर्ण भूमिका के साथ एक एक अलंकार की परिभाषा, व्याख्या और उदाहरण दिए गए हैं। इसमें भेदों के सहित ६ शब्दालंकार, १०० अर्थालंकार, ४ संसृष्टि, सकर अलंकारों का वर्णन है। अलकारों के वर्णन में एक विशेष बात यह भी है कि इन्होंने अन्य आचार्यों के उदाहरणों की विवेचना भी की है।[1] अलंकारों के भेदों पर भी अधिक विस्तार के साथ विचार किया है और अनेक भेद जो कि पोद्दार जी ने दिये हैं वे प्रायः हिन्दी के आचार्यों ने नहीं दिये हैं उदाहरणार्थ उपमा के श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा नियमोपमा, समुच्चयोपमा आदि, रूपक के समस्त वस्तुविषयक, एकदेशविवर्ति, युक्त, अयुक्त, हेतु आदि तथा अतिशयोक्ति का

---

१. उदाहरणार्थ देखिये 'अलंकार मंजरी' यमक अलंकार पृष्ठ २५, स्मरण अलंकार पृष्ठ ११२।

कारणातिशयोक्ति। पोद्दार जी की व्याख्याये बड़ी स्पष्ट हैं, पर अपने को दूसरों से बढ़कर मानने का भाव उनमे अनेक स्थानों मे देखने को मिलता है।

इस दृष्टि से पोद्दार जी ने जो अनेक विद्वानों की आलोचना की है उसमे सत्यता होते हुए भी सहृदयता की कमी है। फिर भी अलकारों पर यह प्रामाणिक ग्रथ है और आचार्यत्व का स्पष्ट गौरव प्रदान करने वाली है, पर 'रसमजरी' की भाति ही पोद्दार जी के निजी उदाहरण सरस नहीं हैं। अन्त में अलकार के दोषों का वर्णन है। ये दोष अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अप्रस्तुत प्रशसा दोष के रूप मे वर्णित हैं, पर दोष सभी अलकारों में हो सकते हैं अत उन्हीं में दोष देखना ठीक नहीं है और ये दोष भी अन्य दोषो के अन्तर्गत आजाते हैं अत. दोषों का प्रसग तो बरबस लाया गया है और अधिक महत्व का नहीं है। सबसे अन्त मे ग्रथकार और ग्रथ का परिचय एव रचना काल दिया गया है। इसका प्रथम सस्करण स० १६५३ वि० मे प्रकाशित हुआ, पर परिवर्द्धित और वर्तमान सस्करण का, जो क्रमानुसार तृतीय सस्करण है, प्रकाशन काल स० १६६१ है। 'अलकार मजरी' का स्थान हिन्दी के अलकार सम्बन्धी प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में है। इनका प्रथम सस्करण आनेवाले ग्रन्थों का पूर्ववर्ती होने के कारण पोद्दार जी के ग्रथों पर पहले विचार किया गया है।

## जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्यप्रभाकर'

'भानु' जी की यद्यपि काव्यशास्त्र के विषयों पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जैसे हिन्दी काव्यालकार, अलकार प्रश्नोत्तरी, रसरत्नाकर, नायिका भेद शकावली, छद प्रभाकर आदि, पर इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रथ इनका 'काव्य प्रभाकर' है जिसके अन्तर्गत सभी विषय आ गये हैं और जिसमे काव्यशास्त्र की अनेक बातों का सबसे अधिक विस्तृत विवरण मिलता है। ऊपर लिखे उनके ग्रथ 'काव्यप्रभाकर' के ही भिन्न भिन्न प्रसगों को लेकर लिखे गये हैं और लक्षण मुख्यत एक ही हैं। 'काव्यप्रभाकर' ग्रथ का प्रकाशन स० १६६७ में हुआ था। इसमें यथार्थ में काव्यशास्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण बातों का भाडार सा है। सभी बातों की स्पष्ट और सुलझी हुई सूचना इसमें मिल जाती है, अत यह शास्त्र ज्ञान के लिए उपयोगी पुस्तक है। लक्षण और उदाहरण दोनों के विचार से हम यह कह सकते हैं कि इसके अन्तर्गत प्रस्तुत विषय की जो भी सर्वोत्तम बातें हैं उन्हें क्रम से वैज्ञानिक ढग पर उपस्थित किया गया है है। इसमे काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी आवश्यक ज्ञान और पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या है। इस दृष्टि से यह काव्यशास्त्र का कोश

गा है। उदाहरण एक ही नहीं, वरन् किसी भी प्रसंग के अन्तर्गत जितने भी सुन्दर उदाहरण हिन्दी साहित्य में मिल सके हैं उन्हें 'भानु' जी ने एकत्र करके रखा है, इस दृष्टि से यह बहुत बड़ा संग्रह भी है।

लक्षण और उदाहरण दोनों की ही दृष्टि से 'काव्यप्रभाकर' में मौलिक और नूतन सिद्धान्त का निरूपण प्रायः नहीं है। सभी स्थानों पर उपयुक्त लक्षण और उदाहरण अनेक विद्वानों से ग्रहण किये गये हैं, पर एकादश मयूख में मौलिक समीक्षा भी 'काव्य निर्णय' शीर्षक के अन्तर्गत की गयी है। ग्रंथ का महत्व भूमिका में दिये हुये प्रयोजन से स्पष्ट है जिसमें 'भानु' जी ने लिखा है'—

"इस ग्रन्थ के द्वारा शुद्धकाव्य का पूर्ण ज्ञान हो, यही इसका मुख्य हेतु है और इसके रचने की आवश्यकता विशेषतः इसलिये हुई कि सम्प्रति भाषा काव्य में ऐसे बहुत थोड़े ग्रन्थ देखने में आते हैं कि जिनके पढ़ने से काव्य सम्बन्धी समस्त विषय सहज ही में ज्ञात हो सकें। वरन् एक को अध्ययन कर लेने पर दूसरे की आवश्यकता बनी ही रहती है तो भी मनोरथ सिद्ध नहीं होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है।"[१]

संक्षेप में ग्रन्थ का विषय वर्णन इस प्रकार है। प्रथम मयूख में छन्दों का बड़ा ही पूर्ण, वैज्ञानिक और रोचक वर्णन है। छन्दों का अधिक और पूर्ण विस्तार के साथ वर्णन इनके ग्रन्थ 'छन्द प्रभाकर' में है। इनकी छन्द की परिभाषा कितनी रोचक है।

"मत्त, वरण, यति, गति नियम, अन्तहि समता बन्द।
जा पद रचना में मिलें, 'भानु' भनत सुइ छन्द॥"

मात्रा, वर्ण की रचना, विराम, गति का नियम और चरणान्त में समता जिस वाक्य रचना में पाई जाती है, उसे छन्द कहते हैं। छन्द के विषय में दो बातें एकादश मयूख के 'काव्य निर्णय' प्रसंग में दी गई हैं जो काव्यशास्त्र के लिए उपयोगी हैं। प्रथम 'भानु' जी ने छन्दों की तालिका में बताया है कि किस रस के वर्णन में कौन छन्द अनुकूल है और कौन प्रतिकूल है। उदाहरणार्थ करुण रस के वर्णन के लिए अनुकूल छन्द मालिनी, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा और प्रतिकूल है दोधक छन्द। दूसरी बात यह है कि उन्होंने यह भी बतलाया है कि कौन विषय किस छन्द में वर्णन करने से रचना मनोहर होती है। उदाहरणार्थ ऋतुवर्णन, उपजाति छन्द में अच्छा बन पड़ता है इसी

१. काव्यप्रभाकर भूमिका, पृ० १।

प्रकार नीति-वर्णन, वंशस्थविलम् में, चन्द्रोदय, रथोद्धता में, वर्णप्रवास, मन्दाक्रान्ता में और स्तुति, यश, शौर्य आदि का वर्णन शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी छन्दों में अच्छा होता है। यद्यपि यह नियम सर्वमान्य नहीं है फिर भी इस विषय पर आचार्यों ने कम विचार किया है कि कौन सा छन्द हमारे भीतर किस प्रकार भावना जगाने में समर्थ होता है। इसका विशेष विचार संगीत की रागरागिनियों के भीतर अवश्य हुआ है, जिसका वर्णन 'काव्यप्रभाकर' की द्वितीय मयूख में हुआ है। द्वितीय मयूख के प्रारम्भ में काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-कारण का वर्णन है। काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत, यश, धन, आनन्द, दुःखनाश, चातुरी और वशीकरण को माना है तथा काव्यकारण में तीन बातों, शक्ति, निपुणता और अभ्यास को। शक्ति पूर्व-संस्कार है; निपुणता, व्युत्पत्ति अथवा लोक ज्ञान है, अभ्यास, अनवरत सेवन है। इसके पश्चात् वे काव्यलक्षण देते हैं। काव्य की परिभाषा 'साहित्य दर्पण' के अनुसार ही 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' है। वाक्य का सम्बन्ध पद से और पद का शब्द अर्थ से है। इसलिए शब्दार्थ निरूपण के प्रसंग में शब्द और अर्थ की व्याख्या करते हुए 'भानु' जी कहते हैं —

> "जो सुनिये सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ।
> ध्वन्यात्मक वर्णात्मकहु, द्वै विधि शब्द समर्थ॥
> द्वै द्वै इनके भेद पुनि, रमणीयारमणीय।
> वर्णात्मक रमणीय के तीन भेद गुननीय॥"

ये तीन वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द हैं। इसके साथ ही जो शब्द शक्ति अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का वर्णन है वह पूर्ण रूप से भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' से लिया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही 'दास'जी के हैं केवल कहीं कहीं कुछ व्याख्या और उदाहरण और जोड़ दिए गए हैं जिससे 'काव्यनिर्णय' का वर्णन और भी स्पष्ट हो गया है। इसके पश्चात् इसी मयूख के अन्तर्गत काव्य भेद में दृश्य काव्य अर्थात् नाटक का वर्णन है। इसमें नाटकीय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या तथा नाटक के लिए आवश्यक बातों की व्याख्या गद्य में दी गई है। इसी प्रसंग में संगीत का उल्लेख है और इसमें राग भेद, ध्वनिभेद, ग्राम, मूर्च्छना, आलाप तथा रागिनियों की चर्चा, उनके लक्षण, स्वरूप और उदाहरण अधिकांश तुलसीकृत रामचरितमानस से दिए गए हैं। इसके आगे गद्य काव्य के भेद दिए गए हैं। गद्य के प्रथम तो ससमास, असमास और मिश्र भेद किये हैं और फिर प्रथम के अल्पसमास, दीर्घ समास और संकर। फिर इनमें से प्रत्येक के कुसुम, गुच्छ, वाटिका आदि भेद वाक्यों की छुटाई, बड़ाई के अनुसार किए गए हैं और इनमें से

गा है। उदाहरण एक ही नहीं, वरन् किसी भी प्रसंग के अन्तर्गत जितने भी सुन्दर उदाहरण हिन्दी साहित्य में मिल सके हैं उन्हें 'भानु' जी ने एकत्र करके रखा है, इस दृष्टि से यह बहुत बड़ा संग्रह भी है।

लक्षण और उदाहरण दोनों की ही दृष्टि से 'काव्यप्रभाकर' में मौलिक और नूतन सिद्धान्त का निरूपण प्रायः नहीं है। सभी स्थानों पर उपयुक्त लक्षण और उदाहरण अनेक विद्वानों से ग्रहण किये गये हैं, पर एकादश मयूख में मौलिक समीक्षा भी 'काव्य निर्णय' शीर्षक के अन्तर्गत की गयी है। ग्रंथ का महत्व भूमिका में दिये हुये प्रयोजन से स्पष्ट है जिसमें 'भानु' जी ने लिखा है :—

"इस ग्रन्थ के द्वारा शुद्धकाव्य का पूर्ण ज्ञान हो, यही इसका मुख्य हेतु है और इसके रचने की आवश्यकता विशेषतः इसलिये हुई कि सम्प्रति भाषा काव्य में ऐसे बहुत थोड़े ग्रन्थ देखने में आते हैं कि जिनके पढ़ने से काव्य सम्बन्धी समस्त विषय सहज ही में ज्ञात हो सकें। वरन् एक को अध्ययन कर लेने पर दूसरे की आवश्यकता बनी ही रहती है तो भी मनोरथ सिद्ध नहीं होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है।"[1]

संक्षेप में ग्रन्थ का विषय वर्णन इस प्रकार है। प्रथम मयूख में छन्दों का बड़ा ही पूर्ण, वैज्ञानिक और रोचक वर्णन है। छन्दों का अधिक और पूर्ण विस्तार के साथ वर्णन इनके ग्रन्थ 'छन्द प्रभाकर' में है। इनकी छन्द की परिभाषा कितनी रोचक है।

> "मत्त, वरण, यति, गति नियम, अन्तहि समता बन्द।
> जा पद रचना में मिलैं, 'भानु' भनत सुइ छन्द॥"

मात्रा, वर्ण की रचना, विराम, गति का नियम और चरणान्त में समता जिस वाक्य रचना में पाई जाती है, उसे छन्द कहते हैं। छन्द के विषय में दो बातें एकादश मयूख के 'काव्य निर्णय' प्रसंग में दी गई हैं जो काव्यशास्त्र के लिए उपयोगी हैं। प्रथम तो 'भानु' जी ने छन्दों की तालिका में बताया है कि किस रस के वर्णन में कौन छन्द अनुकूल है और कौन प्रतिकूल है। उदाहरणार्थ करुणा रस के वर्णन के लिए अनुकूल छन्द है मालिनी, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्त, पुष्पिताग्रा और प्रतिकूल है दोधक छन्द। दूसरी बात यह है कि उन्होंने यह भी बतलाया है कि कौन विषय किस छन्द में वर्णन करने से रचना मनोहर होती है। उदाहरणार्थ ऋतुवर्णन, उपजाति छन्द में अच्छा बन पड़ता है इसी

1. काव्यप्रभाकर भूमिका, पृ० २।

प्रकार नीति-वर्णन, वशस्थविलम् मे, चन्द्रोदय, रथोद्धता मे, वर्षाप्रवास, मन्दाक्रान्ता मे और स्तुति, यश, शौर्य आदि का वर्णन शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी छन्दों म अच्छा होता है। यद्यपि यह नियम सर्वमान्य नहीं है फिर भी इस विषय पर आचार्यों ने कम विचार किया है कि कौन सा छन्द हमारे भीतर किस प्रकार भावना जगाने में समर्थ होता है। इसका विशेष विचार संगीत की रागरागिनियों के भीतर अवश्य हुआ है, जिसका वर्णन 'काव्यप्रभाकर' की द्वितीय मयूख में हुआ है। द्वितीय मयूख के प्रारम्भ मे काव्य प्रयोजन तथा काव्य कारण का वर्णन है। काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत, यश, धन, आनन्द, दुखनाश, चातुरी और वशीकरण को माना है तथा काव्यकारण मे तीन बातों, शक्ति, निपुणता और अभ्यास को। शक्ति पूर्व-संस्कार है, निपुणता, व्युत्पत्ति अथवा लोकज्ञान है, अभ्यास, अनवरत सेवन है। इसके पश्चात् वे काव्यलक्षण देते हैं। काव्य की परिभाषा 'साहित्य दर्पण' के अनुसार ही 'वाक्य रसात्मक काव्य' है। वाक्य का सम्बन्ध पद से और पद का शब्द अर्थ से है। इसलिए शब्दार्थ निरूपण के प्रसंग मे शब्द और अर्थ की व्याख्या करते हुए 'भानु' जी कहते हैं :—

"जो सुनिये सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ।
ध्वन्यात्मक वर्णात्मकहु, द्वै विधि शब्द समर्थ॥
द्वै द्वै इनके भेद पुनि, रमणीयारमणीय।
वर्णात्मक रमणीय के तीन भेद गुननीय॥"

ये तीन वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द हैं। इसके साथ ही जो शब्द शक्ति अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का वर्णन है वह पूर्ण रूप से भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' से लिया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनो ही 'दास'जी के हैं केवल कहीं कहीं कुछ व्याख्या और उदाहरण और जोड दिए गए हैं जिससे 'काव्यनिर्णय' का वर्णन और भी स्पष्ट हो गया है। इसके पश्चात् इसी मयूख के अन्तर्गत काव्य भेद म दृश्य काव्य अर्थात् नाटक का वर्णन है। इसमे नाटकीय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या तथा नाटक के लिए आवश्यक बातों की व्याख्या गद्य में दी गई है। इसी प्रसंग म संगीत का उल्लेख है और इसमे राग भेद, ध्वनिभेद, ग्राम, मूर्च्छना, आलाप तथा रागिनियों की चर्चा, उनके लक्षण, स्वरूप और उदाहरण अधिकाश तुलसीकृत रामचरितमानस से दिए गए हैं। इसके आगे गद्य काव्य के भेद दिए गए हैं। गद्य के प्रथम तो ससमास, असमास और मिश्र भेद किये हैं और फिर प्रथम के अल्पसमास, दीर्घ समास और सकर। फिर इनमें से प्रत्येक के कुसुम, गुच्छ, वाटिका आदि भेद वाक्यों की छुटाई, बडाई के अनुसार किए गए हैं और इनमें से

भी प्रत्येक के वृत्तगन्धि, अवृत्तगन्धि और सकीर्णक नामक उपभेद हैं। यह गद्य काव्य का वर्णन, अम्बिकादत्त व्यास की गद्य काव्य मीमासा के आधार पर किया गया है जिसके भेदों का एक वृत्त भी अन्त में दिया है और काव्य के तीन गुणों का उल्लेख है।

तृतीय मयूख नायिका भेद पर है जिसमें पद्यमय लक्षणों के साथ-साथ गद्य मे व्याख्या भी दी गई है और उदाहरण छुटे हुए और सुन्दर काफी सख्या मे दिये गये हैं। इसमें नायिका का वर्ण, जाति, प्रकृति, स्वाभाव, धर्म, अवस्था के अनुसार भेदों का वर्णन है और नायक के भी पति, उपपति, वैशिक तथा पति के पाँच भेद अनुकूल, धृष्ट, शठ, दक्षिण तथा अनभिज्ञ आदि हैं। अन्त में इसके भेदों के वृत्त दे दिये गये हैं।

चतुर्थ मयूख में उद्दीपन विभाव का वर्णन है इसके अन्तर्गत सखा, सखी, दूती, वन उपवन, षट्ऋतु, पवन, चन्द, चन्द्रिका, चन्दन, कुसुम, पराग इन बारह मुख्य उद्दीपनों का सुन्दर और पूर्ण वर्णन है। पचम मयूख मे अनुभाव का वर्णन है जिसमें सात्विक, कायिक और मानसिक अनुभावों तथा द्वादश हावों का वर्णन है, यह वर्णन अधिक स्पष्ट नहीं है। छठे और सातवें मयूखों मे सचारी और स्थायी भावों का और अष्टम मयूख म रसों का वर्णन है और नवम मयूख म अलकारों का। इनमे उदाहरण सुन्दर हैं यही कहा जा सकता है। विवेचन में कोई नवीनता नहीं। नवम मयूख के अन्त मे न्याय-दर्पण में ३६ न्यायों का वर्णन है जो प्राय' काव्य में प्रयुक्त होते हैं, जैसे, तिलतदुल, अरण्यरोदन, क्षीरनीर आदि। इनके लक्षण और उदाहरण रोचक हैं। दशम मयूख म दोषों का वर्णन है जिसमे शब्द-दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष, और रस दोषों के कुछ भेद कहे गये हैं। दोषों का वर्णन पूर्ण नहीं है, क्योंकि 'भानु' जी ने अधिक दोषों का वर्णन करना कवियों को हतोत्साह करना समझा है।

एकादश मयूख का विषय काव्यनिर्णय है। इसमें प्रथम तो मगलाचरण निर्णय मे, ग्रथ के आदि की स्तुति का निर्देश है और उसके पश्चात् साहित्य और काव्य का रूढ़ प्रयोग समानार्थी बताया है, यद्यपि इन दोनों क क्षेत्र में भिन्नता है, पर प्राय' व्यवहार पर्यायवाची शब्द के रूप में होता है अत' इस ग्रंथ में भी इसी प्रकार साहित्य काव्य के अर्थ म प्रयुक्त है। लक्षणनिर्णय के प्रसग में 'भानु' जी ने लक्षण की विशेषतायें, सीमा और दोष बताये हैं। 'असाधारण धर्मो लक्षण '—के अनुसार "किसी वस्तु के मुख्य धर्म के प्रगट होने के साधन को लक्षण कहते हैं," यह परिभाषा उन्होंने मानी है। इसम अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, व्यर्थ विशेषण, अन्योन्याश्रय आदि दोष 'भानु' जी ने माने हैं। यह

प्रसग यथार्थ में काव्यशास्त्रकारों के लिए विशेष उपयुक्त है, कवियों के लिए उतना नहीं, क्योंकि यह प्रसग काव्य का उतना समीपी नही जितना कि शास्त्र का।

छद निर्णय म 'भानु' जी ने यह बताया है कि किस रस और प्रसग के लिए कौन छद उपयुक्त है और कौन विरोधी है। इसका उल्लेख छद के प्रसग में हो चुका है। काव्य लक्षण निर्णय प्रसग में 'भानु' जी ने काव्य के अनेक लक्षणकारों की परिभाषाओं पर विचार किया है। मम्मट की परिभाषा को व्यर्थ विशेषण दोष युक्त और दडी का अतिव्याप्ति दोष युक्त माना है। इसी प्रकार विद्यानाथ, भोज, जयदेव, वाग्भट्ट, वामन, आदि सस्कृत के आचार्यों की परिभाषाओं को भी दोषयुक्त बताया है। पडितराज जगन्नाथ की "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्य" परिभाषा को दोषी बताया है, क्योंकि इसमें शब्द के स्थान पर भानु जी के विचार से वाक्य होना चाहिए, काव्य वाक्य होना चाहिए यह ठीक है पर यदि किसी शब्द मात्र से ही रमणीय अर्थ निकले तो वह काव्य अवश्य है। सबसे पूर्ण और सुन्दर लक्षण उन्होंने महापात्र विश्वनाथ का 'वाक्य रसात्मकम् काव्य' माना है। पर इसमे रस शब्द की व्याख्या में मतभेद हो सकता है। और रसविहीन, अलकार युक्त, चमत्कार पूर्ण वाक्य को हम काव्य नहीं मान सकते हैं अतः यद्यपि 'भानु' जी ने इसको सबसे उपयुक्त लक्षण माना है, पर यथार्थ में सबसे निर्दोष परिभाषा पडितराज जगन्नाथ की ही है।

काव्य कारण निर्णय प्रसग में 'भानु' जी ने मराठी के लेखक चिपलूकर के इस सिद्धात का खडन किया है कि काव्य के लिए केवल प्रतिभा ही पर्याप्त है। यथार्थ में शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों की ही आवश्यकता है, अन्यथा काव्य पनप नहीं सकेगा। 'काव्यस्वरूप निर्णय', मे उन्होंने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर, व्यग्य को जीवात्मा और रस को परमात्मा माना है। अलकार और गुण को कोई स्थान ही नहीं दिया अतः केवल अलकार या गुण युक्त तथा व्यग्य विहीन कविता नहीं हो सकती। अतः यह स्वरूप निर्णय दोष पूर्ण है।

इसी मयूख के अन्तर्गत पुनः 'काव्य निर्णय' आता है। इसमें भेदोपभेद-सम्बन्धी अनेक मत 'भानु' जी देते है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने प्रथम व्यग्य और वाच्य भेद माने है फिर व्यग्य के दो भेद 'व्यग्य प्रधान ध्वनि' और व्यग्य अप्रधान गुणीभूत व्यग्य। पडितराज ने व्यग्य, गुणीभूत व्यग्य, शब्द चित्र और अर्थचित्र चार भेद माने हैं। विश्वनाथ ने तीन भेद, ध्वनि ( उत्तम ), गुणीभूत व्यग्य ( मध्यम ), चित्र ( अवर ) काव्य माने हैं।

यही आचार्य भिखारीदास को भी मान्य हैं। मम्मट ने व्यंग्य, गुणीभूत व्यंग्य, और चित्र व वाच्य भेद माने हैं। इन सभी का निष्कर्ष यही है कि यथार्थ में ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र ये तीन ही काव्य के भेद हैं। इसके बाद ध्वनि भेद निर्णय है। ध्वनि भेद के अन्तर्गत किसी किसी लेखक या टीकाकार ने मूलभेद ५१ मानकर कुल भेद १४०६२३६०० तक माने हैं, पर 'भानु' जी को मुख्य १८ भेद ही मान्य हैं; जिनका उल्लेख उन्होंने कोष्ठक द्वारा कर दिया है। नायिका भेद निर्णय में कोई विशेष बात नहीं है, इसकी विशेष सूचना 'भानु' जी की 'नायिका भेद शंकावली' में मिलती है। इसी प्रकार रस और अलंकार लक्षणों के प्रसंग भी साधारण हैं। इसके पश्चात् कवि शिक्षा पर अनेक प्रसंगों द्वारा उल्लेख है, जिससे यह प्रगट होता है कि कवि-परिपाटी में अनेक वस्तुओं का वर्णन किस प्रकार किया जाता है। यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि कवि शिक्षा के विषय को केशवदास के बाद और किसी भी कवि ने इस रूप में नहीं लिखा। कवि-परिपाटी का वर्णन 'भानु' जी का बड़ा ही पूर्ण और सुन्दर है। साथ ही साथ इसमें काव्य के लिये आवश्यक ज्ञान का बड़ा विस्तृत भाण्डार है। इसके अन्तर्गत संख्या शब्दकोश, समस्या पूर्ति विवरण, और उसके पश्चात् द्वादश मयूख में कोष और लोकोक्ति संग्रह इस प्रसंग को पूर्ण और बड़ा उपयोगी बना देते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'काव्य प्रभाकर' काव्य की आवश्यक सामग्री और ज्ञान का भण्डार है और एक स्थान पर इतना ज्ञान भंडार जुटाने में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' जी यथार्थ में बड़े सफल हुए हैं। कवियों, साहित्यमर्मज्ञों और साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ एक वृहत् कोष का काम करता है।

## भगवानदीन 'दीन' की 'अलंकार मंजूषा'

'अलंकार मंजूषा' का प्रथम प्रकाशन सं० १६७३ वि० में हुआ था। अलंकार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में इसका बहुत अधिक प्रचार रहा। यह 'अलंकार मंजूषा' चार पटलों में विभाजित है। प्रथम शब्दालंकार पटल है, जिसमें १० अलंकार हैं। द्वितीय अर्थालंकार पटल है जिसके भीतर भेदों के अतिरिक्त १०८ अलंकार हैं, तृतीय उभयालंकार पटल है जिसके अन्तर्गत संसृष्टि और संकर अलंकार तथा उनके भेदों का वर्णन है। रसवदादि अलंकारों को 'दीन' जी नहीं मानते हैं, अतः उनका वर्णन नहीं है। चतुर्थ पटल, दोष कोष है जिसके भीतर अनुप्रास के तीन दोष, प्रसिद्धाभाव, वैफल्य और वृत्ति विरोध और यमक के दोष, शब्दालंकार दोष में रखे गये हैं तथा अर्थालंकारों में उपमा के भेद सहित ११ दोष, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अन्योक्ति के दोष हैं।

दीन जी ने अलकारों के लक्षण दोहे में दिए हैं और उदाहरण, दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय, बरवै आदि छन्दों में। अलकारों के लक्षणों को उन्होंने विवरण-द्वारा स्पष्ट किया है और किसी भी अलकार की विशेषता अथवा दूसरे सादृश्य रखने वाले अलकार से अन्तर को सूचना में प्रकट किया है। लक्षण के दोहे सर्वत्र पूर्ण स्पष्ट नहीं हैं, पर विवरण से खुल जाते हैं। उदाहरणों की रोचकता 'दीन' जी की अलकार मजूषा में अद्वितीय है। उन्होंने हिन्दी के सभी उत्कृष्ट कवियों की रचनाओं से चुन-चुनकर उदाहरण जुटाये हैं और बहुत से अलकार तो उदाहरणों की रमणीयता के द्वारा स्मृति पर स्थाई प्रभाव डालते हैं। 'दीन' जी ने लक्षण को पूर्णरूप से हृदयगम कराने के लिए उदाहरणों को काफी सख्या में उद्धृत किया है और वे बडे सुन्दर उदाहरण हैं, कवित्व और सरसता 'अलकार मजूषा' के उदाहरणों में भली भाँति विद्यमान हैं, हाँ कहीं कहीं उन्होंने पूरे पद न लेकर केवल एक या दो चरण ही रक्खे हैं जिसका कारण यह है कि उन्हीं चरणों में ही अलकार का लक्षण घटित होता है अन्य चरणों में नहीं। इस दृष्टि से इसमें कोई हानि नहीं; पर, एक दो स्थलों में उपस्थित किये गये उदाहरण लक्षणों से मेल नहीं खाते। जैसे सम तद्रूप रूपक के उदाहरण में निम्नलिखित सवैया है[1] :—

> "छाँड़ करै छिति मडल को सब ऊपर यों मतिराम भये हैं।
> पानिप को सरसावत है सिगरे जग के मिटि ताप गये हैं॥
> भूमि पुरन्दर भाऊ के हाथ पयोदन ही के सुकाज ठये हैं।
> पंथिन के पथ रोकिबे को घने वारिद वृन्द वृथा उनये हैं॥"

इसमें अन्तिम पक्ति के द्वारा यथार्थ में 'दीन' जी के ही लक्षण[2] के अनुसार पाँचवाँ प्रतीप होना चाहिए, अत इसमें रूपक का नहीं वरन् प्रतीप का प्राधान्य है, फिर यदि तीसरी पक्ति में रूपक माना जाय तो भी तद्रूप का लक्षण नहीं उतरता, क्योंकि तद्रूप रूपक में अपर, दूसरा, अन्य आदि शब्द आना आवश्यक है अतः उपर्युक्त उदाहरण विचारणीय है।

---

१. 'अलकार मंजूषा' पाँचवाँ संस्करण सम तद्रूप रूपक पृ० ४० ।

२. उपमेय के मुकाबले व्यर्थ होय उपमान।
पचम भेद प्रतीप को ताहि कहत गुनवान॥

—अलकार मजूषा पृ० ५३ ।

इसी प्रकार 'अत्यन्तातिशयोक्ति' का लक्षण है कि जहाँ हेतु के प्रथम ही कार्य प्रग होवे ।[१] इसमें और उदाहरणों के साथ एक उदाहरण यह भी है ।

पद पखारि जल पान करि आपु सहित परिवार ।
पितर पारि करि प्रभुहिं पुनि मुदित गयउ लै पार ॥

इसमें कार्य है 'पितर पार करना' और पितर पार करने का कार्य राम के पार उतारने के पहले हुआ है, पर यह हेतु नहीं है । हेतु तो है 'पद पखारना' जो क्रमानुसार कार्य के पहले है ही, अत: उदाहरण, लक्षण के उपयुक्त नहीं है । इस छंद में तो पार का दो प्रसगों में प्रयोग ही चमत्कार पूर्ण है ।

लक्षणों मे एक आध स्थल पर 'दीन' जी ने प्रयोग के अनुसार परम्परा से अधिक व्यापक परिभाषा दी है जैसे स्मरण अलंकार के प्रसग में ।

इसकी परिभाषा यों है :—

' कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कछु सुधि आवे कछु खास।
सुमिरन ताको भाखिए बुधवर सहित हुलास ।।"

इसी का विवरण देते हुए, दीन जी ने लिखा है.—

"यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने इस अलंकार की परिभाषा ऐसी लिखी है कि:—

"सदृश वस्तु लखि सदृश की सुधि आवै जेहि ठौर ।
सुमिरन भूपन तेहि कहैं सकल सुकवि सिर मौर ॥"

परन्तु हिन्दी साहित्य में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि प्राचीनों का यह लक्षण पर्याप्त नहीं है । इसीलिए हमने इस अलंकार की नवीन परिभाषा गढ़ी है । कारण यह है कि या तो इसको अलंकार ही न मानना चाहिए या अलंकार मानना ही है तो केवल सदृश वस्तु को देखकर सदृश वस्तु की सुधि आने में ही क्यों माना जाय ? सब दशाओं में क्यों न माना जाय ?"

—( अलंकार मंजूषा पृ० ६६ )

इस प्रकार का कविता द्वारा लक्षणों का निर्माण आवश्यक है । आचार्यों का उत्कृष्ट

---

१ जहाँ हेतु ते प्रथम ही प्रगट होत है काज ।
अत्यन्तातिशयोक्ति तेहि कहैं सकल कविराज ॥

—अलंकार मंजूषा पृ० ६४ ।

गुण न होने हुए भी 'अलकार मजूषा' उपयोगी पुस्तक है और 'दीन' जी की काव्य रसिकता का द्योतक है। 'अलकार मजूषा' की अतिम विशेषता यह है कि हिन्दी के साथ साथ फारसी और कहीं कही अंग्रेजी के सदृश अलकारों के नाम भी देते चले हैं।✓

## रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'अलंकार पीयूष'

डा० 'रसाल' का 'अलकार पीयूष' बडे परिश्रम और अध्ययन का परिणाम है। लग भग सभी प्रमुख हिन्दी और सस्कृत के ग्रथों का सहारा लेकर यह ग्रथ लिखा गया है और उनकी आलोचना भी की गई है, पर इसका स्थान अलकार पर लिखे गये अन्य ग्रथों से भिन्न है और यह अपनी दिशा में अकेला ग्रथ है। यह डा० रसाल के थीसिस 'हिन्दी अलकारशास्त्र का विकास' (Evolution of Hindi Poetics) के आधार स्वरूप है और उसी का परिवर्द्धित भाग है (देखिए अलकार पीयूष, पूर्वार्द्ध,—'लेखक के दो शब्द') इस ग्रथ में अन्य लक्षण ग्रथों की भाँति केवल अलकारों के लक्षण और उदाहरण ही नहीं दिय गये वरन् कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्य ग्रथों में नहीं है। प्रथम तो इसम सक्षेप मे सस्कृत और, बहुत ही सक्षेप म, हिन्दी अलकारशास्त्र का इतिहास दिया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अलकार का महत्त्व किस युग में किस प्रकार का रहा है और रस, ध्वनि आदि का इससे क्या सम्बन्ध है। द्वितीय, इसमे अलङ्कारों की सख्या मे सस्कृत और हिन्दी लेखकों के द्वारा जो विकास किया गया है उस पर भी प्रकाश है, तृतीय, इसमे अलङ्कारों के वर्गीकरण का प्रयत्न जो कुछ भी किया गया है उसकी भी आलोचना है और अलङ्कारों क मूल आधार और कारणों के निश्चय करने का प्रयत्न है। चतुर्थ, प्रत्येक अलङ्कार के लक्षण, प्रकार आदि से सम्बन्ध वाला जो मतसाम्य, मत वैषम्य अथवा विकास है, उसे भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पचम, इसमे अलङ्कारों के भेदो और प्रभेदो का पूर्ण विवरण मिलता है। इसम यह भी पूर्ण रीति से समझाया गया है कि एक अलङ्कार और उसी से सादृश्य रखने वाले दूसरे अलङ्कार म क्या भेद है और इस प्रकार अलङ्कार का पूर्ण और विस्तृत ज्ञान इससे हो सकता है। षष्ठ, कहीं अपने नवीन वर्गीकरण, नवीन आधार और नवीन अलङ्कारों का भी निर्देश 'रसाल' जी ने किया है। उदाहरणार्थ वणकौतुक के वैचित्र्य विनोद, व्यवस्था वैचित्र्य, गुणोद्घाटन, वचन नम्रता, निरासा, वाक्छल आदि, तथा मिश्रालङ्कार[१] जो उभयालङ्कार से भिन्न है, आत्मप्रमाण,

१ मिश्रालकार सम्बन्धी विस्तृत विवेचन 'साहित्यपारिजात' के मिश्रालकार के साथ किया जायगा।

सापालङ्कार आदि। सप्तम आपने गद्य में ही व्याख्या की है और उदाहरण रूप में बहुत ही कम पद्य दिया है इसलिए ग्रंथ विवेचनात्मक अधिक है। 'अलङ्कार पीयूष' में उपस्थित अनेक विचारों, भेदों और वर्गीकरण से चाहे सभी विद्वान् सहमत न हों, पर यह मानना पडेगा कि इसमें लेखक ने एक एक अलङ्कार पर काफी तुलनात्मक अध्ययन किया है और हिन्दी और संस्कृत के प्रमुख आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ है।

'अलकार पीयूष' के दो भागों, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में, काव्यालकार की सामान्य बातों का वर्णन है। काव्यालकार या काव्यशास्त्र के वर्णन विषय, इसका महत्व और इतिहास अलकार शास्त्र का विकास, अलकारों की संख्या का विकास, वर्गीकरण और मूलतत्व आदि देने के बाद शब्दालकार, रसालकार, भावालकार और कुछ अर्थालकारों का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में शेष अर्थालकारों तथा भावालकारों का वर्णन है। तथा कुछ ऐसे अलकारों का निर्देश है जो कुछ लेखकों ने लिये हैं पर अधिकाश लेखकों ने जिन पर विचार नहीं किया है।

काव्यालंकार शब्द को काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए रसालजी ने इसे शास्त्र और कला दोनों के ही अन्तर्गत रक्खा है क्योंकि इसके वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत सैद्धान्तिक शास्त्र और व्यावहारिक विज्ञान दोनों ही हैं। काव्य की परिभाषा, काव्यात्मा, काव्यभेद, काव्यहेतु आदि सैद्धान्तिक शास्त्र के अन्तर्गत है, पर काव्य सौन्दर्य, गुण, दोष, कवि-परम्परा आदि व्यावहारिक कला के अन्तर्गत हैं जिनका जानना कवियों के लिये आवश्यक है। फिर भी यह शास्त्र है कला नहीं, क्योंकि काव्यशास्त्र का साधारण उपयोग काव्य-तत्व ज्ञान ही रहता है, कवि बनाना नहीं। अतः कला सम्बन्धी ज्ञान कवि शिक्षा के ही अन्तर्गत कहा जा सकता है जो कि सभी काव्य शास्त्रीय ग्रथों में नहीं है। हा, काव्यकल्पलता, अलकार शेखर, कविप्रिया आदि ऐसे ग्रन्थ अवश्य हैं जिनमें काव्य कला की बातें भी आ जाती हैं। यह वह शास्त्र है कि जिसमें पूर्णता प्राप्त करने के लिये सभी शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है।

अलकार शास्त्र का ज्ञान काव्य में मनोरंजकता लाने के लिए है। इस दृष्टि से 'रसाल' जी ने अलकारों का महत्व सबसे अधिक सिद्ध किया है। भाषा को अलकृत करने और काव्य में चमत्कार लाने के लिये अलकारों की बड़ी आवश्यकता है। उक्तिवैचित्र्य के द्वारा ही कवि का वास्तव भगत होता है विचार या भावों का काव्य के लिए उतना

आवश्यक नहीं मिाना उक्ति वैचित्र्य। इसी प्रकार 'रसाल' जी का कथन है कि रस, भावादि की प्रधानता भी काव्य में अपना विशेष स्थान नहीं रखती, उसका यथार्थ क्षेत्र तो नाटक है, इसीलिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में अलंकार ही प्रधान रहा है।[1] 'रसाल' जी का यह तर्क विश्वसनीय तो है, पर संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य काव्यात्मा की खोज करते करते जिस तथ्य पर पहुंचे थे, वह प्रकट करता है कि अलंकार, काव्य का प्रधान अंग नहीं। यहाँ तक कि मम्मट ने अपनी परिभाषा में तो 'सगुणावनलंकृती' कह कर अलंकारों की अप्रधानता सिद्ध ही कर दी है। और काव्यात्मा के नवीन खोजियों ने ध्वनि और रस को ही काव्य में प्रधान माना है, अलंकारों को महत्व नहीं दिया है। 'रसाल' जी अलंकारों के प्रतिपादन में 'वैलक्षण्य' का आधार लेते हैं पर यह वैलक्षण्य या उक्ति वैचित्र्य ध्वनि के अन्तर्गत भी है। अतः अलंकारों के विषय में रसाल जी का मत यही सिद्ध करता है कि वे प्रारम्भिक अलंकारशास्त्रियों, भामह, दंडी आदि के ही मतानुयायी हैं। वे अलंकारों का प्रयोग गद्य काव्य के लिए भी आवश्यक मानते हैं।

शब्दालंकारों के आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार करते हुए 'रसाल' जी ने यह दिखाया है कि पुनरुक्ति (जो वर्णावृत्ति, पदावृत्ति और शब्दावृत्ति के रूप में प्रकट होती है), प्रयत्नलाघव (जिसमें उच्चारण-सुगमता के आधार पर वृत्तियों का निरूपण हुआ है), ध्वनिसाम्य (जिसके आधार पर अनुप्रास का जन्म हुआ है), कौतुक-कौतूहल प्रियता (जो चित्रकाव्य का आधार है), तथा जटिलता और उलझन प्रियता (जो कि प्रहेलिका, दृष्टिकूट आदि को जन्म देता है), अलंकार के आधार हैं। अन्तिम प्रवृत्ति न केवल शब्दालंकार के ही मूल में है वरन् अनेक अर्थालंकार जैसे, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि के भी मूल में उपस्थित मिलती है। अलंकारों के विषय में रसाल जी का अपना विचार चाहे जो कुछ हो, पर वे आगे चलकर अन्य आचार्यों के मतानुसार इस बात को प्रकट कर देते हैं कि काव्य सौंदर्य के दो रूप हैं एक अन्तरंग, जिसमें काव्य की आत्मा या प्राण का निरूपण करके रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त खड़े किये गये हैं और दूसरा बहिरंग सौंदर्य है जिसमें अलंकार के संकीर्ण रूप उपमादि पर विचार किया जाता है।[2] यही मत यथार्थ में सर्वमान्य है।

---

१ 'अलंकार पीयूष' पूर्वार्द्ध, पृ० १८।

२ 'अलंकार पीयूष' पूर्वार्द्ध, पृ० २८

अलकार शास्त्र के इतिहास का प्रसंग बहुत कुछ पोद्दार जी की 'रसमजरी' के आधार पर है और कुछ उद्धरण 'अलकारमजरी' के आधार पर हैं, जैसा कि उन्होंने (पोद्दार जी ने) अपने 'अलकारमजरी' के प्राक्कथन में पृष्ठ "अऊ" और "अए" पर दिखलाया है। मेरी समझ मे यह आवश्यक अध्ययन और विचार-साम्य का परिणाम हो सकता है, क्योंकि रसाल जी के ग्रन्थ मे भी पर्याप्त अध्ययन और नवीन खोज तथा विचार की मात्रा विद्यमान है।

सस्कृत काव्यशास्त्र का विकास दिखाते हुए रसाल जी ने कहा है कि रीति एव गुण सिद्धान्तों का प्रभाव अर्थालकारों पर कुछ भी नहीं पड़ा, हाँ उनका आतक शब्दा लकारों पर अवश्य छा गया[1] और रीति और गुण के आधार पर वृत्त्यनुप्रास का प्रबल प्रचार बढ़ा। रीति और वृत्ति मे अधिकाश आचार्य भेद नहीं मानते। रीति और गुण यथार्थ मे शब्दों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः अर्थालकार पर उसका प्रभाव पड ही क्या सकता है।

हिन्दी अलकार शास्त्र का इतिहास बहुत सक्षेप में 'अलकार पीयूष' में है और वह भी अधूरा है। इसके अन्तर्गत रसाल जी ने देव को केवल अलकार पर लिखने वाला आचार्य बताया है[2] जब कि 'काव्य रसायन' और 'भाव विलास' आदि ग्रन्थ रस और ध्वनि दोना पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं। इसमें हिन्दी के अनेक प्रमुख आचार्य जैसे चिन्तामणि त्रिपाठी, सूरति, श्रीपति, सुखदेव आदि का वर्णन है ही नहीं। 'अलकार पीयूष' मे प्राय. वर्णन सस्कृत के ही आधार पर है। हिन्दी के कवियों मे केशव, मतिराम, भूषण, पद्माकर, और लछिराम का ही नामप्रायः देखने को मिलता है, अन्य का नहीं। अनेक स्थानों के विवेचन मे उदाहरणो की कमी बहुत खटकती है। उदाहरणे का होना विवेचन और विशेषकर तुलनात्मक प्रकरणों में आवश्यक जान पड़ता है।

तुक का विवरण रसाल जी ने 'काव्यनिर्णय' का आधार लेते हुए बडे व्यापक रूप में दिया है। वे मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत तुक का होना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि आजकल जब कि अतुकान्त कविता का इतना अधिक प्रचार है, रसाल जी के इस विचार से सहमत होने वाले अधिक व्यक्ति नहीं होंगे। तुक के सम्बन्ध के व्याकरणात्मक और मनमापात्मक वर्गीकरण अधिक

---

१ 'अलंकार पीयूष' पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७०

२. ,, ,, ,, ८३

समीचीन दृष्टिगत नहीं होते, क्योंकि एक का काव्य के सौष्ठव से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना वाक्य की शुद्धता से, अतः उसका तो स्थान सर्वत्र ही है और दूसरे का स्थान गद्य गोनी या गद्यी काव्य के अन्तर्गत नहीं हो सकता।

'पुनरुक्तिवदाभास' अलकार के सम्बन्ध मे रसाल जी का कहना है कि इसका सम्बन्ध मूलत अर्थ से है, शब्द से नहीं, अतः इसे एक प्रकार का अर्थालकार ही मानना ठीक है। अन्य आचार्यों के मतानुसार यह शब्दालकार ही माना गया है। यथार्थ में पुनरुक्त वदाभास' है शब्दालकार ही, क्योंकि यह शब्दचमत्कार है, इसका प्रमाण यह है कि यदि उस शब्द के स्थान पर उसका पर्याय शब्द रख दिया जाय तो वह चमत्कार जाता रहता है। उदाहरणार्थ :—

'अली भौंर गूजन लगे, होन लगे दल पात' म 'अली' और 'दल' शब्दों का चमत्कार है, इन्हीं के अर्थवाले अन्य शब्दों में यह चमत्कार नहीं। अत इसे शब्दालकार मानना ही उचित है।

रसाल जी ने ग्रन्थभर में इस बात का पालन किया है कि अपने मत के साथ-साथ अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख और सम्मान हो, इस प्रकार उन्होंने अपना मत लादने का प्रयत्न नहीं किया। अलकारों के लक्षण अनेक प्रमुख आचार्यों के आधार पर देने से उनके विभिन्न रूप स्पष्ट हो गये हैं और प्रत्येक अलकार-सम्बन्धी धारणा मे क्या विकास हुआ है, यह भी स्पष्ट हो गया है। पर 'पोद्दार' जी की भाँति रसाल जी के भी स्वरचित उदाहरण, अधिक रमणीय नहीं। आचार्यों को प्रसिद्ध कवियों की कविता से सुन्दर उदा हरण चुनना चाहिए, वे अधिक उपयुक्त और विषय को स्पष्ट करने वाले हो सकते हैं। रसाल जी ने उदाहरण के बाद व्याख्या द्वारा लक्षणों को या विशेषताओं को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न नहीं किया इसलिये वे उपयुक्त या अनुपयुक्त हैं इसकी जाँच भी नहीं हो सकी। इतना होने पर भी 'अलकार पीयूष' बडा ही विद्वत्ता और विचार पूर्ण ग्रन्थ है और हिन्दी अलकारशास्त्र के ग्रन्थों म इसका अपना गौरव है।

## सीताराम शास्त्री का 'साहित्य-सिद्धांत'

सीताराम शास्त्री के 'साहित्य सिद्धान्त' की रचना स० १६८० वि० में हुई। 'साहित्य सिद्धान्त' पुस्तक काव्यशास्त्र पर, हिन्दी में, लिखी गई है जो कि शास्त्री जी के स्वरचित 'साहित्योद्देश्य' नामक सस्कृत ग्रथ का आधार ग्रहण किये हुए है। फिर भी यह स्वतत्र ग्रथ है और 'साहित्योद्देश्य' से अधिक विस्तृत और स्पष्ट है। ग्रथ का मूल आधा

अनेक संस्कृत ग्रन्थ हैं जिनके विचारों के अनुसार इसकी रचना हुई अथवा जिनके उदाहरण इसमें आये हैं। इसके प्रमुख आधार हैं, भागवत, अग्निपुराण तथा भरत, नागोजी भट्ट, प्रदीप, उद्योत, वामन, विश्वनाथ, गोविन्द ठाकुर आदि अनेक विद्वानों के ग्रंथ; पर मुख्य रूप से 'काव्यप्रकाश' ही की समस्याओं और उसकी विवेचना-पद्धति का प्रतिपादन किया गया है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में अपनाये गये तेरह पदार्थों का वर्णन विवरण-पूर्वक इस ग्रंथ में है। वे तेरह पदार्थ ये हैं १. काव्य, २ शब्द, ३. अर्थ, ४. वृत्ति, ५. गुण, ६. दोष, ७. अलंकार, ८. रस, ९. भाव, १०. स्थायीभाव, ११. विभाव, १२. अनुभाव, १३. संचारीभाव। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम उपोद्घात प्रकरण है, जिसमें इन सभी पदार्थों का परिचय दिया है, द्वितीय स्वरूपनिर्णय प्रकरण है इसके अन्तर्गत उत्तम—ध्वनि-प्रधान काव्य, मध्यम—गुणीभूतव्यंग्य और अधम—ध्वनिहीन, तीन कोटि के काव्यों के स्वरूप का स्पष्टीकरण है। प्रायः इस दूसरे प्रकरण में प्रथम प्रकरण के अनेक प्रसंग आ गये हैं इसमें ध्वनि के अनेक भेद उनकी तालिकायें तथा रसानुभूति का विवेचन भी है और भावों—रसों के भेद एवं नवों रस के विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी भावों की सूची है। तृतीय, 'व्यंजना स्थापनप्रकरण' है जिसके अन्तर्गत व्यंजना की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित की गयी है। व्यंजना के सम्बन्ध में किये गये अनेक मतों, वादों और शंकाओं का उत्तर दिया गया है और इस प्रकार पुस्तक में प्राचीन साहित्य शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्याओं को उठाने का प्रयत्न किया गया है, पर यह शंका समाधान संस्कृत ग्रंथों और विशेष कर मम्मट, के आधार पर है।

पुस्तक की उपादेयता हिन्दी के माध्यम से संस्कृत काव्यशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए विशेष है, हिन्दी के विद्यार्थी को तो इसकी शब्दावली और प्रतिपादन-पद्धति बड़ी ही उलझी हुई जान पड़ेगी। जो समस्यायें उठाई गई हैं उनका समाधान सन्तोषकारी नहीं है। पण्डिताऊ पद्धति पर यह ग्रंथ लिखा गया है और यद्यपि यह संस्कृत काव्य शास्त्र की सभी समस्याओं को सामने रखता है फिर भी आधुनिक रीतिग्रन्थों में उसकी गणना नहीं हो सकती। आधुनिकता इसी बात में ही दीखती है कि यह हिन्दी गद्य में है अन्यथा उदाहरण तक संस्कृत के ग्रंथों से ही हैं हिन्दी कविता का एक भी उदाहरण नहीं है।

## अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण'

'भारतीभूषण' सेठ अर्जुनदास केडिया की लिखी अलंकारों की सुन्दर पुस्तक है।[1] अलंकार पर पाई जाने वाली अनेक पुस्तकों में, विवेचन, परिभाषा और उदाहरण की दृष्टि से यह बड़ी ही उत्तम है। रीतिकाल में लिखी गई पुस्तकों में और उसके पश्चात् भी उसी परम्परा के ग्रन्थों में प्राय लक्षण भी पद्य में ही दिये गये हैं, साथ ही लक्षण अनुवाद होने के कारण पूर्ण और स्पष्ट नहीं हैं, अधिकाश ग्रन्थों में उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। इस ग्रन्थ में इन दोनों त्रुटियों को दूर कर दिया गया है। अत अलंकार शिक्षा के लिए यह ग्रन्थ बड़ा ही उपयोगी और शुद्ध है। इस ग्रन्थ की अनेक विशेषताओं का, जिनकी ओर कि ग्रन्थकार ने स्वय ही सकेत कर दिया है उल्लेख कर देना, इस पुस्तक का महत्व हृदयगम करने के लिए आवश्यक है।

'भारतीभूषण' में लेखक ने उन मूल अलंकारों के भी लक्षण लिखे हैं और उनके अनेक भेदों के भी, जब कि प्रायः ग्रन्थों में मूल अलंकारों के लक्षण न देकर उनके भेदों के लक्षण ही दिये गये हैं। मूल अलंकार की परिभाषा देना उसके पूरे विस्तार को हृदयगम करने पर ही सम्भव हो सकता है। अत लेखक की यह विशेषता अभिनन्दनीय है।

दूसरी विशेषता यह है कि हिन्दी के अनेक अलंकार ग्रन्थों में उदाहरण भी संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं, पर इसमें लेखक ने अनुवाद रूप में कोई उदाहरण नहीं रखा है। जितने उदाहरण हैं सब भाषा कवियों की मौलिक रचनायें हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि इसमें 'अलंकार प्रकाश' और 'अलंकार मंजूषा' ग्रन्थों में आये उदाहरण नहीं रखे गये। इन ग्रन्थों में हिन्दी के सुन्दर उदाहरण आ चुके हैं। अतः उनके अतिरिक्त उदाहरणों के जुटाने में ग्रन्थकार को अपना नवीन प्रयत्न करना पड़ा है।

चौथी विशेषता यह है कि प्रत्येक अलंकार और उसके विभिन्न भेदों के भी अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिससे लक्षण पूर्णरीति से स्पष्ट हो जायँ और सुविधानुसार जो जिसे अच्छा लगे कंठ कर सके।

पाँचवीं विशेषता यह है कि इसमें लक्षण, उदाहरण देकर ही नहीं छोड़ दिया गया, वरन् उदाहरण के बाद आवश्यक स्थलों पर उदाहरण का लक्षण से मिलान करके

१ प्रकाशक—भारतीभूषण कार्यालय, काशी सं० १९८७ वि०।

स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार यह लक्षण को व्यक्त करता है। यह अलंकार की शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक विशेषता है।

छठी विशेषता यह है कि सूचनाओं द्वारा एक अलंकार में दूसरे उसी प्रकार के अलंकार से क्या साम्य और क्या वैषम्य है, इस बात को भी यथास्थान समझा दिया गया है।

सातवीं विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने जहाँ अनेक सुन्दर उदाहरणों को दिया है, वहाँ पर उसने अपने बनाये हुए छन्द भी प्रचुर मात्रा में रखे हैं।

आठवीं विशेषता यह है कि लेखक ने जो अन्य खोजपूर्ण बातें समझी हैं, उन्हें टिप्पणियों और सूचनाओं में व्यक्त किया है। ये सूचनाएँ इस ग्रंथ की विशेषता और महत्व को बढ़ाती हैं। कुछ बातें ये हैं—

उपनागरिका वृत्ति की टिप्पणी में सेठियाजी[1] लिखते हैं कि "अ आ इ ई आदि स्वर अक्षर सभी वृत्तियों में आ सकते हैं अतः इसको लक्षण में नहीं लिखा। इनके ह्रस्वरूप 'उपनागरिका' तथा 'कोमला' में और दीर्घ रूप 'परुषा' वृत्ति में उपयुक्त जान पड़ते हैं। यद्यपि अनुप्रास का विचार करते समय भाषा ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, तथापि इससे यह न समझना चाहिए कि स्वर अनुप्रास वाहक होते ही नहीं। स्वतन्त्र स्वर भी अनुप्रास निर्वाहक अवश्य होते हैं जैसे—उयौ आज आनदि अवनि अलि अरलक मयक।"

इसमें सेठिया जी ने स्वर का अनुप्रासत्व सिद्ध किया है और यह कहा है कि अ आ इ ई के ह्रस्व, उपनागरिका और कोमला में तथा दीर्घ रूप, परुषा में उपयुक्त जान पड़ते हैं। पर इसमें मतभेद हो सकता है। आ और ई भी कोमला और उपनागरिका में खूब आते हैं।[2]

अनुप्रासों के वर्णन में सेठिया जी ने राजपूताने के बारहठ कवियों के छन्दशास्त्र में पाये जाने वाले 'वैण सगाई' अलंकार का भी उल्लेख किया है जिसमें यह नियम है कि जो अक्षर छन्द के किसी चरण के आदि में आता है वह कम से कम एक बार और उसी चरण में भी आना चाहिए। यह एक प्रकार से छेक या वृत्य अनुप्रास सा ही है।

परम्परित रूपक के लक्षण बताते हुए 'सेठिया' जी ने लिखा है कि 'जिसमें प्रधान

---

१. 'भारती भूषण' पृष्ठ ८ टिप्पणी।

२ उदाहरण देखिए 'काव्य प्रभाकर' में।

रूपक का कारण एक अन्य रूपक हो, अर्थात् प्रधान रूपक किसी दूसरे रूपक पर आश्रित हो'[1] और इसी की सूचना में व्यक्त किया है "यहाँ परम्परित लक्षणोक्त 'कारण' शब्द का तात्पर्य यह है कि मुख्य रूपक अपने कारण भूत अन्य रूपक का आश्रित होता है, न कि प्राकृतिक कारणवत् और प्रधान रूपक जिस रूपक का आश्रित होता है, वह रूपक भी किसी अन्य रूपक का आश्रित हो सकता है। इसी प्रकार ऐसे बहुत से ( दो से अधिक ) रूपकों की शृंखला हो सकती है।"[2] यहाँ पर दो से अधिक रूपकों की शृंखला तो हो सकती है, लक्षण में इसका प्रतिपादन होता है, पर व्यवहार में यह शृंखला दो से अधिक दूर नहीं जाती, क्योंकि उसके बाद उसका निर्वाह रूपक के रूप में कठिन है। लक्षण में 'कारण' शब्द भी व्यर्थ ही है, क्योंकि रूपक का आश्रित होना ही इसका सम्यक् लक्षण है अतः 'कारण' शब्द के कारण ही यह टिप्पणी भी देनी पड़ी है और इस कारण से इसमें कोई विशेष चमत्कार भी नहीं आता।

लुप्तोत्प्रेक्षा (जिसे गम्योत्प्रेक्षा या व्यंग्योत्प्रेक्षा भी कहते हैं) के सम्बन्ध की सूचना में पोद्दार जी ने लिखा है कि लुप्तोत्प्रेक्षा का विकास हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ही में देखा जाता है[3] वस्तूत्प्रेक्षा में नहीं, क्योंकि हेतु और फल में वाचक शब्द के अभाव में उत्प्रेक्षा व्यंजित हो जाती है जबकि वस्तूत्प्रेक्षा में ऐसा सम्भव नहीं है। गम्योत्प्रेक्षा-विषयक यह विशेषता अभी तक किसी आचार्य ने नहीं बताई। गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरणों में से यह बात सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार की विशेषता इन्होंने 'दीपक' अलंकार के अन्तर्गत सूचना में दिखाई है। दीपक और तुल्ययोगिता का अन्तर दिखाते हुए उन्होंने यह बताया है कि तुल्ययोगिता वहाँ होती है जहाँ पर केवल उपमेयों अथवा केवल उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म है और यह धर्म केवल क्रिया के धर्म में ही सीमित है, गुण में नहीं जैसा कि अन्य कुछ आचार्यों[4] ने लिखा है क्योंकि दीपक के सभी भेद क्रिया से ही सम्बन्धित हैं और वामनाचार्य के सूत्र एवं 'साहित्य दर्पण' की टीकाओं से भी यह स्पष्ट है। दीपक के अनेक प्रकारों में 'देहरी दीपक' एक प्रकार भी इन्होंने माना है।

---

१. 'भारती भूषण' पृष्ठ ११
२. ,, ,, ,, १४
३. ,, ,, ,, १२९
४. ,, ,, ,, १९९, देखिए 'अलंकार मंजूषा', दीपक का उदाहरण।

सारूप्य निबन्धना और अन्योक्ति को एक प्रमाणित करके लेखक ने समासोक्ति का भेद बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। अन्योक्ति में अप्रस्तुतार्थ के वर्णन द्वारा प्रस्तुतार्थ सूचित किया जाता है, जब कि 'समासोक्ति' प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुतार्थ का बोध कराती है और इस दृष्टि से यह अन्योक्ति ( या सारूप्य निबन्धना ) के ठीक विपरीत है।[1]

अतद्गुण अलंकार के साथ दी गई सूचनायें भी बड़ी ही महत्व की है। 'केडिया' जी के विचार से तद्गुण और अतद्गुण अलंकार के अन्तर्गत जो 'गुण ग्रहण सम्बन्धी बात कही जाती है उसमें गुण का तात्पर्य केवल रंग से लेने वाले अधिकांश आचार्य हैं, पर केडिया जी ने कुवलयानन्द के आधार पर गुण को रूप रस-गन्धादि वाचक माना है और उनके विचार से इनका होना भी आवश्यक है। ऐसे उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। इसके बाद 'उल्लास' 'अवज्ञा' से 'तद्गुण' 'अतद्गुण' का भेद बतलाते हुए केडिया जी ने लिखा है कि उल्लास और अवज्ञा अलंकारों में एक के गुण से दूसरे का गुणी होना या न होना क्रमशः दिखाया जाता है, किन्तु यथार्थ में गुण ग्रहण का तात्पर्य नहीं, पर तद्गुण और अतद्गुण में गुण के ग्रहण करने का ही तात्पर्य होता है[2]। पुनः प्रथम दो में गुण शब्द, दोष विरोधी के अर्थ में आता है, पर द्वितीय द्वय में गुण रूप, रस, गंध, रंगादि के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। यह सूक्ष्म भेद दोनों प्रकार अलंकार को समझने के लिए आवश्यक है।

इसी प्रकार 'मीलित' और 'तद्गुण' का अन्तर स्पष्ट करते हुए केडिया जी ने सूचना में[3] व्यक्त किया है कि तद्गुण में गुण-रूप-रसगंधादि-वाची होना है और एक वस्तु का दूसरे के गुण ग्रहण से तात्पर्य लिया जाता है जब कि मीलित में गुण शब्द का सब धर्मों से तात्पर्य होता है और एक गुण दूसरे में पूर्णतः लीन हो जाने की बात कही जाती है। एक गुण दूसरे में दूध-पानी के समान इस प्रकार मिल जाने की बात होती है कि भिन्नता ज्ञात ही न हो।

अन्त में अलंकारों के विषय की सूची 'भारतीभूषण' के लेखक ने दी है जिसमें अनुमानतः किस अलंकार में काव्यशास्त्र का कौन विषय वर्णित है, इस पर प्रकाश है। इसके

---

१. 'भारती भूषण' पृष्ठ २०२
२ ,, ,, ,, १२२
३ ,, ,, ,, १२६

द्वारा लेखक ने अलकारों और रस तथा शब्द शक्ति को सम्बधित करने का प्रयत्न किया है, पर यह सर्वथा सत्य नहीं है। आधुनिक काल के अनेक अलकारों से, विषय भिन्नता प्रकट हो सकती है,[1] अतः यह अनुमान ही है, तथ्य नहीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि केडिया जी का 'भारतीभूषण' ग्रथ अलकारो का बडा ही सुन्दर, रोचक और शुद्ध ग्रथ है, अलकारों के विशेष अध्ययन के लिये यह महत्वपूर्ण है और इसमे स्थान स्थान पर केडिया जी के अपने निजी विचार किसी विशेष अलकार के सम्बन्ध मे भी प्रकट हुए हैं जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

## हरिऔध का 'रसकलस'

'रसकलस', हरिऔध जी की स० १९८८, वि० ( २. ८. ३१. ई० ) की रचना है। यह आधुनिक कालीन रस ग्रथों मे महत्व का ग्रथ है, क्योंकि एक तो इस समय जितने ग्रथ अलकार को लेकर लिखे गये उतने ग्रथ रस पर नहीं, दूसरे इस ग्रथ मे परिभाषा अथवा लक्षण हिन्दी गद्य मे हैं और उदाहरण ब्रजभाषा पद्य म हैं और ये पद्य हरिऔध जी की अपनी रचना होते हुये भी माधुर्य मे रीति-कालीन ब्रजभाषा पद्यों से कम नही है, तीसरे इसमे केवल शृङ्गार का ही विस्तृत विवरण नहीं वरन् सभी रसों का पूर्ण वर्णन है और एक-एक लक्षण के अनेक सरस, सुन्दर तथा उपयुक्त उदाहरण हैं, चौथे इस ग्रथ मे रस और नायिका भेद के विश्लेषण और वर्गीकरण मे भी नवीनता है जिस पर आगे विचार किया जायेगा। और पाँचवे इस ग्रथ की भूमिका रूप म 'हरिऔध' जी ने २२६ पृष्ठों का विस्तृत निबन्ध प्रस्तुत किया है, जिसम रस और नायिका भेद सम्बन्धी आज कल की समस्याओं पर विचार, आक्षेपा का उत्तर और इस परम्परा को प्रचलित रखने

---

१ "विषादन द्वारा प्राय अनुशयाना नायिका का वर्णन होता है।" यहाँ पर प्राय शब्द ही एक तो विषय का तथ्य होना असिद्ध करता है और उसके अतिरिक्त विषादन के अनेक उदाहरण ऐसे होंगे जो नायिका-भेद के किसी भी विषय में नहीं आवेंगे जैसे नीचे की पंक्तियों का विषादन अलकार —

> "स्वतन्त्रते, मैं तुझे खोजता था जब सौंपन सदन में।
> तब तू मेरे लिये छिपी थी कारागार गहन में।
> सोचा था मैंने होगी सचमुच सम्राट शरण में।
> पर तू तो निवास करती थी तब विद्रोही गण में।"

की सार्थकता सिद्ध करते हुए, रसकलस ग्रंथ की आवश्यकता पर विचार किया गया है। चाहे कोई हरिऔध जी के तर्कों और प्रतिपादन से मतसाम्य न रखता हो, पर जब इसी विषय पर लिखे अनेक ग्रंथों के बीच, इस प्रकार का ग्रंथ आता है, तो उसकी महत्ता बढ़ ही जाती है। साधारण दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इसमें लेखक ने कोई नवीन सिद्धान्त, रस के सम्बन्ध का, हमारे सामने उपस्थित नहीं किया, पर वह संस्कृत के अनेक सिद्धान्तों का सहारा लेकर अवश्य चलता है, और हम यह भी कह सकते हैं कि जहाँ तक विषय निरूपण का प्रश्न है लेखक की प्रणाली बहुत अधिक दार्शनिक और तार्किक न रह कर साहित्यिक और कवि सुलभ ही है, फिर भी जिन समस्याओं को उठाकर, कवि ने उनका उत्तर दिया है, वे आधुनिक समस्यायें हैं और विचारणीय हैं, साथ ही विचारणीय है, कवि का वर्गीकरण और नवीन अंग जिनका समावेश रसकलस में हुआ है।

भूमिका में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है, पर प्रमुख रूप से आने वाले ग्रंथ हैं, काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, रस गंगाधर, अग्निपुराण और श्रीमद्भागवत। इसके अन्तर्गत रस निर्देश, रससाधन, उत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार और उसकी आनन्दानुभूति, रस और ब्रह्मानन्द, विभावादिक और रस, विरोधी रस, रसदोष, रसाभास, तथा शृङ्गार और वात्सल्य रस आदि विषयों पर विचार किया गया है।

रस के साधनों में हरिऔध जी ने ध्वनि, अर्थ, वेशभूषा, भावभंगी आदि को लेकर यह निष्कर्ष निकाला है कि दृश्य काव्यों में साधन विशेषरूप से उपस्थित होने के कारण *साहित्यिक-रस की मीमांसा उन्हीं से प्रारम्भ हुई है।*[1] रस की उत्पत्ति के विषय में हरिऔध जी भरत सूत्र[2] की काव्यप्रकाशकार वाली व्याख्या मानते हैं जिसमें कि उन्होंने प्रतिपादित किया है कि लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं नाटक और काव्य में वे ही क्रम से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहलाते हैं। इन विभावादिकों की सहायता से व्यक्त, स्थायीभाव, रस कहलाता है।[3] )इस धारणा को हरिऔध जी ने अपने उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया है।

---

१ 'रसकलस' भूमिका, पृष्ठ ८

२. "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" नाट्य शास्त्र।

३. "कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥

रस के इतिहास म हरिऔध जी ने रसास्वादन के सिद्धान्त का विकास दिखाया है, और यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार आरोप, अनुमान, भोग और अभिव्यक्ति आदि वादो के बीच होता हुआ, अभिव्यक्तिवाद ही सर्वमान्य सिद्धान्त हुआ है।

हरिऔध जी ने विभाव, अनुभाव, आदि को अकेले ही रस की व्यजना करने म समर्थ दिखाते हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट किया है कि जहाँ पर रस की व्यजना होती है वहाँ पर व्यग्य रूप में तीनों ही उपस्थित होते हैं। देखने में यद्यपि एक है, पर विश्लेषण करने पर विभाव, अनुभाव और सचारी सभी रहते हैं। अतः यह सत्य नहीं कि कोई अकेला अग ही रस की व्यजना कर सकेगा।

परस्पर विरोधी रसों की तालिका देने के उपरान्त हरिऔध जी ने 'रस विरोध के परिहार' म यह भी बताया है कि किस प्रकार विरोधी रस एक स्थान में होते हुए भी दोष उपस्थित नहीं करते। यह दोष तब नहीं होता जब कि —

१ दो विरोधी रसों का जिनका कि आधार एक ही हो, आधार भिन्न भिन्न कर दिया जाय।

२ दो विरोधी रसों के मध्य एक ऐसे रस को स्थापित कर दिया जाय जो दोनों का अविरोधी हो।

३ विरोधी रस का आधार स्मरण हो।

४ दो विरोधी रसों म साम्य स्थापित कर दिया जाये।

५ दो विरोधी रस किसी अन्य रस के अगागी भाव से अग बन गये हों। उपर्युक्त निर्णय, 'काव्यप्रकाश' के आधार[1] पर है, पर हरिऔध जी ने भी इसे अपने उदाहरणों द्वारा सिद्ध कर दिया है। जैसे प्रथम नियम की सिद्धि के लिए उन्होंने उदाहरण दिया है —

> "बान तानि के कान लौं खैंचे कठिन कमान।
> भभरि भभरि सारे सुभट, भागे भीरु समान॥"[2]

---

विभावानुभावाश्च कथ्यते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसस्मृतः॥"

—काव्य प्रकाश, चतुर्थउल्लास सूत्र ४३, छ० २७/२८

१ काव्य प्रकाश, सप्तम उल्लास, सू० ८१, ८६ छन्द ६४, ६१।

२, रसकलस, भूमिका पृष्ठ ५२।

इसमें आधार भिन्न भिन्न कर दिये गये हैं। प्रथम चरण का आधार (आलम्बन) वीर और दूसरे चरण का आधार (आलम्बन) भयातुर सुभट हैं। अतः दोष का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी।

*शृंगार रस की उपयोगिता और व्यापकता*

शृंगार रस की विस्तृत विवेचना हरिऔध जी ने अपनी भूमिका में की है। शृंगार रस की परिभाषा भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' के आधार[1] पर लिखी है कि जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार कहलाता है। अतः यह परिभाषा शृंगार-सम्बन्धी सामान्य धारणा से अधिक उज्वल रूप रखने वाली है। शृंगार का स्थायी भाव 'रति' या स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम है। यह प्रेम स्वाभाविक, उज्वल और पवित्र है। अतः उसका वर्णन करना कभी भी हेय नहीं हो सकता और न कभी अवाञ्छनीय ही। संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेंच आदि सभी प्रमुख साहित्यों में स्त्री पुरुष के प्रेम का विशद और विस्तृत वर्णन है। तब हमारे ही भाषा-ग्रन्थों में उसका तिरस्कार क्यों किया जावे। शृंगार का सम्बन्ध सुन्दरता और सुघराई से है अतः उसकी व्यापकता विश्व भर में है। उसके विषय, उसका निरूपण सदा ही नवीन है। इसीलिये हमारे यहाँ के साहित्यकारों ने शृंगार को प्रधान रस माना है[2] उसे सब रसों के राजा के रूप में वर्णित किया है।

*नायिका-भेद*

हरिऔध जी के विचार से जिस प्रकार शृंगार के प्रति व्यर्थ की कुत्सा दिखलाते हुए भी साहित्य से उसका निष्कासन नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य की सरसता का मूल यही है, उसी प्रकार नायिका-भेद का बहिष्कार करते हुए भी हम साहित्य के भीतर

---

१. "यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्वलं दर्शनीय वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते

—भरत नाट्यशास्त्र।

२. भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल शृंगार।

—( कुशल विलास )

नव हूँ रस को भाव बहु, तिनको भिन्न विचार।
सबको केशवदास कहि, नायक है सिंगार॥

—( रसिक प्रिया )

से नायिकाओं को हटा नहीं सकते। अतः नायिका-भेद के प्रति घृणा, एक दुर्भाव है। यथार्थ बात तो यह है कि अंग्रेजी, फारसी, उर्दू, संस्कृत आदि में जहाँ भी स्त्रियों का वर्णन आता है, वह है सब नायिका-भेद की ही बात। जहाँ पर बिना नाम लिये कि यह अमुक नायिका है, वर्णन करते हैं तो उसको लोग खूब पसन्द करते हैं पर हमारे साहित्य—संस्कृत और हिन्दी—में उनका एक मनोवैज्ञानिक शास्त्रीय वर्गीकरण कर दिया गया, तो बड़ा अनर्थ हो गया। अंग्रेजी और उर्दू के अनेक उदाहरणों में हरिऔध जी ने नायिका भेद दिखलाया है। अतः हम इस विषय में उनका निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में देख सकते हैं।

"नायिका भेद के मूल में जो सत्य हैं, वास्तविक बात यह है कि वह सार्वभौम एवं सर्वकालिक है। उसके भीतर स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं जो व्यापक और सर्व देशी हैं, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति विश्वभर में अज्ञात रूप से यथाकाल और यथावसर होती रहती है। मेरा विचार है कि नाट्यशास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विधिबद्ध करके साहित्य की शोभा ही नहीं बढ़ाई है, लोक हित-साधन का भी आयोजन किया है।"[1]

कला और भावुकता दोनों की दृष्टि से नायिका भेद मूलरूप में आता है क्योंकि कला की दृष्टि से सुन्दर और मधुर शब्दावली में ध्वनि और वक्रोक्ति पूर्ण कथनों की आवश्यकता रहती है। साथ ही साथ इसका आश्रय लेकर स्त्री और पुरुषों के अनेक सुन्दर और सूक्ष्म भावों का चित्रण होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष की प्रकृति और प्रवृत्ति का विश्लेषण इसमें होता है। दोनों के जीवन में क्या कटु और क्या मधुर सम्बन्ध है, इस बात का भी पूरा विवेचन रहता है। यथार्थ में नायिका भेद, स्त्री और पुरुष दोनों के मनोभावों का सुन्दरता के साथ चित्रण उपस्थित करता है। अतः इसका महत्व साहित्य में कभी कम नहीं हो सकता। हरिऔध जी का यह विचार सर्वथा सत्य है।

आजकल साहित्यिक मनोवृत्ति पर दृष्टिपात करके हम देख सकते हैं कि उपन्यास, कहानी, अथवा कविता में नायिका भेद का प्रधान स्थान है। चाहे हम उस दृष्टि से विश्लेषण करें या न करें। नाटक, उपन्यास, कहानी में जो चरित्र-चित्रण होता है उसका हम शास्त्रीय दृष्टि से नायिका-भेद के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं। यथार्थ

---

१. रसकलस की भूमिका, पृ० १२९.

बात तो यह है कि जिस प्रकार अलंकारों को विशेष महत्व न देते हुए भी आजकल का कवि अलंकारों का प्रयोग करता है, उसी प्रकार से नायिका भेद का तिरस्कार करते हुए भी हम साहित्य में उसका प्रयोग बराबर देखते और करते हैं।

रह गया यह प्रश्न कि स्त्रीवर्ग का सौन्दर्य वर्णन करना चाहिए या नहीं, तो इसका भी उत्तर हमें प्राचीन और आधुनिक साहित्य धारा में मिल जाता है। सौन्दर्य आनन्द के लिए ही होता है। कला का उद्देश्य है सौन्दर्य-उद्घाटन। रूप और गुण का चित्रण ही कला की सफलता है, और यह चित्रण साहित्य में बराबर होता रहा है और अब भी हो रहा है, तब स्त्रीजाति के स्वाभाविक सौन्दर्य का शिष्ट वर्णन काव्य के स्वागत की वस्तु है, तिरस्कार की वस्तु नहीं। फिर निन्दनीय वह इस लिए और नहीं कि वह ब्रजभाषा का नवीन प्रयास नहीं, वरन् संस्कृत की प्रतिष्ठित परम्परा का अपनाव ही था। किसी भी क्षेत्र में ब्रजभाषा का नायिका भेद और रस वर्णन संस्कृत काव्य की परम्परा के विरुद्ध नहीं गया है। अत: उसके विरुद्ध आवाज उठाना, उसकी निन्दा करना अनुचित है फिर उसको हम छोड़ भी नहीं रहे। छायावादी[1] और प्रगतिवादी कविताओं में अनेक स्थलों पर नायिका-भेद का चित्रण हमें मिलता है।

हाँ, इस विषय में अवश्य दो मत नहीं हो सकते कि नायिका भेद और शृङ्गार के अंतर्गत जो अश्लीलतापूर्ण सुरति और सहवास आदि का वर्णन है वह नितान्त गर्हणीय है। उसका साहित्य में कोई स्थान नहीं। सुरुचि के साथ उसका मेल नहीं है। असंयत भाव से अंगों का जो कामुकता-पूर्ण वर्णन है, वह अवश्य निन्दनीय है, किन्तु इसी के कारण पूरी प्रणाली को निन्दनीय बनाना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अश्लील वर्णन तो बहुत अधिक आजकल की प्रगतिशील कहलाने वाली कविताओं में भी मिलता है,[2] किन्तु इसके कारण साहित्यिक प्रगतिशीलता पर कोई दोषारोपण नहीं कर सकता।

---

१. देखिए निराला की जुही की कली और पन्त की ग्राम्या की 'ग्रामवधू'

२ प्रगतिशील कविता में अश्लीलता, देखिये

> और चली तूफ़ान फूँकती ये पथ कन्यायें सन्तप्त।
> जिनकी कृश जंघाओं पर संघर्ष मचाते ये उन्मत्त।
> जिनकी छाती के गड्ढों पर दीप वासना के जलते।
> जिनके नीले कपोलों पर मतवाले नायक मुख मलते।
>
> —आजमरण की ओर, मधूलिका।

*वात्सल्य रस*

भूमिका के अन्तर्गत हरिऔध ने वात्सल्य रस पर भी विचार किया है। उन्होंने संस्कृत-आचार्यों के मतों का निदर्शन करते हुए लिखा है कि अधिकांश संस्कृत के बड़े बड़े आचार्यों का मत यही है कि वात्सल्य एक अलग रस नहीं मानना चाहिए। इसका स्थायी भाव, रति का एक भेद है। (पुत्र के प्रति रति ही वत्सल है। अतः इसको देव, राजा, पुत्र आदि के विषय की रति को भाव कह कर संस्कृत के आचार्यों ने टाल दिया है। उन्होंने न भक्ति को रस माना है और न वात्सल्य को ही। पंडितराज जगन्नाथ जी ने भक्ति के रसत्व का विरोध किया है, यद्यपि कुछ संस्कृत के आचार्य इसको रस मानते थे[1] पर अधिकांश इसको भाव ही मानते हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी वात्सल्य रस माना है और हिन्दी साहित्य की प्राप्त कविताओं में भी वात्सल्य के रसत्व का प्रतिपादन हो जाता है। तुलसीदास और सूरदास ने जो वात्सल्य-रसयुक्त कवितायें की हैं, उनमें रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। चमत्कार, आनन्द तथा अनेक अवयवों की पूर्णता पर विचार करने से वात्सल्य एक रस ठहरता है। इसके अतिरिक्त व्यापकता की दृष्टि से भी, हास्य, वीभत्स आदि मनुष्य-समाज तक ही सीमित है, पर वात्सल्य सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणियों में नहीं, तो अधिकांश में पाया जाता है। मनुष्य समाज के भीतर भी वीभत्स में उतनी सरसता और प्रभाव नहीं, जितना वात्सल्य में। नितान्त अशिक्षितों में भी वात्सल्य रस का प्रभाव प्रबलता के साथ देखा जाता है। वात्सल्य रस की कविताएँ अधिक नहीं हुईं, फिर भी, वीभत्स भयानक, रौद्र आदि से अधिक हैं। इसलिए वात्सल्य का भविष्य उज्वल है और इसे रस के रूप में स्वीकार करके काव्य में अपनाना आवश्यक है।

---

१. देखिए साहित्य दर्पण—

क. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलता स्नेह. पुत्राद्यालम्बनंमतम्।
उद्दीपनादि तच्चेष्टा विद्या शौर्यदयादयः। आलिंगनांगसंस्पर्शं शिरश्चुम्बनमीक्षणम ॥
पुलकानन्द वाष्पाद्यां अनुभावाः प्रकीर्तिताः। संचारिणोऽनिष्टशंका हर्षगर्वादयमतः ॥

ख. और भोजदेव का शृङ्गारप्रकाशः—
शृङ्गार वीर करुणाद्भुत हास्यरौद्र वीभत्स वत्सल भयानक शांतनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियोवंदति शृङ्गारमेव रसनाद्रससाम नाम ॥

यह तो भूमिका की बात हुई। 'रस कलस' के रस निरूपण में पूर्णता होते हुए अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिनका उल्लेख किया जा चुका है। यथार्थ में इस ग्रंथ का उद्देश्य रसों और नायिका-भेद का पूर्ण निरूपण करते हुए, इन ग्रंथों में आनेवाले कुरुचि और अश्लीलता आदि के दोषों का परिहार कर, एक रस-सम्बन्धी आस्वाद्य ग्रंथ उपस्थित करना था और इस दृष्टि से लेखक इसमें सफल है। शृंगार का पूरा वर्णन है, फिर भी उसमें सौंदर्य और आनन्द है, अश्लीलता नहीं। इस प्रकार हास्य भी यथार्थ में पूर्ण हास्य है, उदाहरणों में हास्य रस का यथार्थ तत्व है। यही बात वीभत्स, वीर भयानक, रौद्र, शान्त, करुण आदि रसों में भी है। सभी में सरल और सरस उदाहरण हैं जिससे यथार्थ में उस रस का आनन्द पाठक प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त अद्भुत रस के अन्तर्गत 'रहस्यवाद' का समावेश किया गया है। यह इस ग्रंथ की नवीनता है और इस दृष्टि से आजकल का काव्य भी इसमें कहीं न कहीं स्थान पा सकता है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से इसकी आधुनिक उपयोगिता भी सिद्ध हो जाती है।

इसी बात को प्रमाणित करता हुआ हरिऔध जी का, 'रस कलस' में प्रस्तुत नायिका-भेद का वर्गीकरण और कुछ नवीन नायिकाओं की कल्पना है। नायिकाओं के इन्होंने प्रकृतिसम्बन्धी, धर्मसम्बन्धी और स्वभावसम्बन्धी भेद किये हैं। अन्य वर्ग तो यथावत् हैं। यहाँ पर प्रकृति और स्वभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं है। न इसको स्पष्ट ही किया गया है। स्वभाव सम्बन्धी भेद मध्या और प्रौढ़ा पर लागू होते हैं। हरिऔध जी की नवीनता प्रकृति-सम्बन्धी भेद के अन्तर्गत है। इसमें इन्होंने उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन प्रकार रखे हैं और उत्तमा के, पति प्रेमिका, परिवार प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देश प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका और धर्म प्रेमिका भेद रक्खे हैं जो नितान्त नवीन हैं और नायिका भेद की दृष्टि से चाहे अधिक सरस न हों पर वे उपयोगी हैं और नवीन काव्य को भी अपने अन्तर्गत ले सकते हैं। हरिऔध जी द्वारा लिखित प्रिय प्रवास की राधा ही 'लोकसेविका' नायिका के रूप में भी हमारे सामने आती है। अतः इस वर्गीकरण का भी अपना महत्व है।

इन अनेक बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नवीनता और प्राचीनता दोनों की दृष्टि से हरिऔध जी का 'रस कलस' ग्रंथ रोचक और उपयोगी है। रीतिकाल में और उसके बाद यदि इसी सुरुचि, सदुद्देश्य एवं उपयोगिता का ध्यान रखकर रस और नायिका भेद पर ग्रंथ लिखे जाते तो इस साहित्य की इतनी लोक-निन्दा न होती।

## बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्यसागर'.

'साहित्य सागर', बिजावर के राजकवि बिहारी भट्ट की रचना है जो सं० १९६४ वि० में प्रकाशित हुई थी।[1] यह बिजावर नरेश महाराज सावंतसिंह देव की प्रेरणा और प्रोत्साहन का फल है। 'साहित्यसागर' ६०० पृष्ठों का दो खंडों में प्रकाशित विशाल ग्रंथ है। यह सागर १५ तरंगों में विभक्त है। मंगलाचरण और आश्रयदाता के राजवंश-वर्णन के पश्चात् कवि उन अनेक प्रश्नों को उपस्थित करता है, जिनका उत्तर ग्रंथ में दिया गया है और जिनको जानना साहित्य के विद्यार्थी का कर्तव्य है। उस प्रश्नावली के कुछ महत्त्व के प्रश्न हैं :—साहित्य क्या है? काव्य क्या है? उसका कारण क्या है? छंद, गणागण, वृत्ति, ध्वनि, भाव, अनुभाव, विभाव, रस आदि क्या हैं? नायिका-भेद कितने हैं? दोष किसे कहते हैं? गुण कौन हैं? अनुप्रास, अलंकार, चित्र काव्य आदि क्या वस्तुयें हैं? अलंकार कौन कौन हैं? आदि। इन प्रकरणों पर 'साहित्य सागर' लिखा गया है। यद्यपि इन अनेक प्रश्नों के बहुत ही मीमांसा-पूर्ण उत्तर नहीं दिये गये हैं, फिर भी वे उत्तर पूर्ण और स्पष्ट हैं और काव्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए उपयोगी हैं।

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए बिहारीलाल भट्ट ने लिखा है कि साहित्य के अनेक अर्थ निकलते हैं। सहित शब्द में 'यण' प्रत्यय लगाकर साहित्य बनता है, हित-युक्त शब्द 'सहित' हुआ और उसका भाव, साहित्य है। काव्य साहित्य वह है जिसमें रस, गुण, अलंकार, वृत्ति आदि सामग्री के साथ शब्द और अर्थ, दोषों से रहित

---

[1]. *'साहित्यसागर' की रचना सं० १९८१ में हुई थी जैसा कि उनके छप्पय की निम्नांकित पंक्तियों से प्रकट है :—*

> संवत ससि वसु अंक चक्रवि विक्रमाब्द भल।
> आश्विन सुदि विजयादसिम दिन दिव्य सुखद थल।
> सिंहासन आसीन अवनि पति अति छवि छाइय।
> त दिन ग्रन्थ परिपूर्ण सवन कर सरचि सराहिय।
> हौं हर्ष सहित सन्मुख भयव अर्पण कर आसिष दियव।
> धन धन्य सिंह सावंत नृप, सानुराग स्वीकृत कियव।

—साहित्य सागर, परिशिष्टांश ५५०।

होकर उपस्थित हों।[1] इसी प्रकार काव्य के भी लक्षण अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं जिनमें कि प्राचीन आचार्यों के मत आजाते हैं जैसे 'साहित्य दर्पण' और 'रस गंगाधर' के अनुसार क्रमशः ये लक्षण हैं:—

१. वाक्य रसात्मक काव्य है, सरस अलंकृत जोय।
वृत्तिरीति लच्छन सहित, काव्य कहावत सोय॥
२. देय अर्थ रमनीय अति जाकी शब्द स्वरूप।
ऐसी रचना को कहत कविजन काव्य अनूप॥

प्रथम लक्षण में पहले रसात्मक वाक्य को काव्य कहकर फिर सरस कहने की आवश्यकता न थी और अलंकृत आदि कहने से तो यही प्रकट होता है कि जितने भी काव्य में गुण हैं उन सबकी उपस्थित सभी काव्यों में वे मानते हैं, पर इस प्रकार की परिभाषा ठीक नहीं है, क्योंकि यह हम जानते हैं, कि अनेक छन्द ऐसे हैं जिनमें कि केवल रस या भाव का सौंदर्य है पर अलंकार नहीं, फिर भी वे काव्य हैं। बिहारीलाल यथार्थ में चमत्कारवादी काव्य अधिक चाहते हैं, क्योंकि इनकी अपनी परिभाषा यही है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ दोनों में कुछ चमत्कार हो वही उत्तम काव्य कहलाता है।[2]

काव्य के कारण पर प्रकाश डालते हुए वे पूर्वसंस्कार, सद्ग्रंथों का अध्ययन और अभ्यास, तीन को आवश्यक मानते हैं। पूर्व संस्कार से सम्भवत उनका अर्थ कवि प्रतिभा से ही है। इसी प्रकार काव्य-प्रयोजन भी मम्मट के अनुसार यश, धन, व्यवहार की प्राप्ति और अमंगल का निवारण है। इनमें से प्रत्येक के वे उदाहरण भी देते हैं। काव्य के शब्दार्थ का ज्ञान हो जाने पर वे कविता की सिद्धि के लिए पिंगल का ज्ञान आवश्यक बताकर मात्रिक वर्णिक छन्दों का द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ तरंगों में वर्णन करते हैं।

पंचम तरंग के अन्तर्गत शब्दार्थ निर्णय है जिसमें वर्णात्मक शब्द की अर्थशक्ति पर विचार किया गया है और उसके पश्चात् शब्दार्थ वृत्ति तथा अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्दशक्तियों पर विचार किया है। ध्वनि, के साथ तात्पर्यार्थ वृत्ति का भी उल्लेख है। और ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य के पश्चात् रस

---

१. 'साहित्यसागर', द्वितीय तरंग पृ० २४।
शब्द अर्थ अदोष रस गुन भूषन पर पूत्य।
सामग्री अस काव्य की कहत काव्य साहित्य॥
२. 'साहित्यसागर', द्वितीय तरंग पृष्ठ २५।

और भावों का वर्णन है। रसों के प्रसग में भट्ट जी कहते हैं कि भरत ने आठ तथा कवियों ने नव रस माने हैं पर नवीन आचार्य भक्ति के और पाँच रस शृङ्गार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शात मानते हैं।[1] इन पाँच म शृङ्गार और शात तो नवरसों मे हैं, पर सख्य, दास्य, वात्सल्य ये तीन और अधिक माने जाते हैं। इसके बाद रसों का वर्णन है शृङ्गार रस की विवेचना करते हुए कविराज बिहारीलाल ने नायक और नायिका को आलम्बन, षटऋतु, आभूषण, फूलमाल, सखा, सखी, दूत के वचन, वनिता, गीत, उपवन, सर, कमल, समीर चन्दन, सुगघ आदि उद्दीपन विभाव माने हैं। कृष्ण इसके देवता हैं।

तत्पश्चात् नायिका के अष्टाग का वर्णन किया है, जो यौवन, गुण, कुल, रूप, रति, वैभव, भूषण और शील हैं। पद्मिनी आदि चार नायिकाओं के बाद स्वकीयादि का वर्णन है, पर विशेष प्रकार से आप नाट्यशास्त्र की अष्टविध नायिका को प्रधानता देते हैं। नायक भेद इसके बाद ऋतु वर्णन और प्रकृति वर्णन के उदाहरण बडे सुन्दर हैं। इसके पश्चात् सयोग और वियोग शृङ्गार तथा दस हावों का वर्णन है। बिहारीलाल जी ने इसमें हेला और बोधक हाव नहीं माने हैं जो कि हावों के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान रखते है, यह वर्णन सयोग शृङ्गार के भीतर है। वियोग के अन्तर्गत विरह की दस दशाओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् आठ रसों का सामान्य रीति से वर्णन है और उसके साथ ही अन्त म भावध्वनि, भावशान्ति भावोदय, भावसधि, भावशबलता पर भी विचार है। नवी तरग मे गुणों का वर्णन है।

गुण भट्ट जी के विचार से भाषा से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। इन्होंने मुख्य तीन गुण माने हैं और इन्हीं से दस गुण निकाले हैं। रीति, वृत्ति और काव्य-दोषों का विचार भी इसी तरग में है दोषों के सम्बन्ध में भामह और दडी की रीति का आधार ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् दो तरगों में क्रमश शब्दालकार और अर्थालकारों का वर्णन है जो बडी ही विचारशील पद्धति पर है। बारहवीं तरग मे उभयालकार और चित्रालकार का सुन्दर वर्णन है। चित्रालकार के भीतर 'अग्न्यस्त्रबन्ध, (बन्दूक) व्याघ्र घर[2] आदि कुछ नवीन चित्र भी उपस्थित किये हैं।

त्रयोदश तरग मे कविराज बिहारीलाल भट्ट ने अपने मौलिक विचार उपस्थित किये

---

१. 'साहित्य सागर' प्रथम भाग, पचम तरग पृष्ठ १६२।

२ 'साहित्य सागर' द्वितीय भाग, द्वादश पृष्ठ ५१६, ५२०।

है और नायिका भेद की व्याख्या आध्यात्मिक रीति से की है। इसमें आध्यात्मिक नायिका भेद का वर्णन है। इसमें अधिभूत में काम, अधिदेव में भक्ति और अध्यात्म में ज्ञान का सम्बन्ध दिखलाया है। इसमें जितनी नायिकायें हैं उन्हें सबको आन्तरिक वृत्तियों के रूप में ग्रहण किया है। स्वकीया, परकीया और गणिका इस प्रकार से सत्, रज और तम वृत्तियाँ हो जाती हैं। उदाहरणार्थ वे कहते हैं :—

"जिनको स्वकीया परकीया गनिका कहत सिंगार।
ते शुचि अन्त. करण की वृत्ति तीन निरधार॥"

इस प्रकार स्वकीया सतोगुणी वृत्ति है उसे आत्मा से ही अकेले प्रेम है और उसी में तन्मय रहती हैं, परकीया रजोवृत्ति है जो आत्मपुरुष को छोड़ कर लोक की ओर अन्य प्रलोभनों में फँसती है और गणिका तमोवृत्ति है, जिसका अपने स्वार्थवश ही सम्बन्ध है और किसी के प्रति सच्ची नहीं है। वह सत् को छोड़कर मोहवश, भूत प्रेत को भजती है। इस प्रकार नायिका भेद की आध्यात्मिक व्याख्या बड़ी तत्व पूर्ण है। जिसको भट्ट जी ने भली भाँति घटित किया है।[१]

चतुर्दश और पञ्चदश तरंगों में काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्व की कोई बात नहीं है। इसमें आत्मब्रह्म (निर्गुण सगुण) की स्तुति है। अवतार, तीर्थ, महात्माओं आदि की स्तुतियाँ हैं और अन्त में महाराजा सावतसिंह जू देव के दान और प्रोत्साहन का वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

काव्यशास्त्र के अनेक अंगों पर विचार करने के साथ साथ इसमें जो विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं, वे हैं। पहली बात तो यह है कि इसमें काव्य के सम्पूर्ण आवश्यक अंगों पर विचार किया गया है और लक्षण या परिभाषा पद्य में ही दी गयी है जिसका मुख्य उद्देश्य कण्ठस्थ करने की सुविधा है। दूसरी बात यह है नायिका भेद का क्रम अन्य ग्रंथों से भिन्न है और सम्पूर्ण नायिकाओं में एक सम्बन्ध सूत्र स्थापित करने का प्रयत्न है जैसे कि एक नायिका उत्कण्ठिता है वह गमन करने पर अभिसारिका हुई संकेत स्थल पर प्रिय के न मिलने पर विप्रलब्धा हुई। वही अवस्था के विचार से मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि के रूप में भी सामने आई, इस प्रकार क्रम से नाम भी बदलते गये। तीसरी बात यह है कि चित्रकाव्य के अन्तर्गत नाम, लक्षण और रूप आदि में नवीनता है। चौथी बात यह है

१. साहित्य सागर त्रयोदश तरंग पृ० ५,७८,१११।

कि नायिका के आध्यात्मिक रूप पर अलग एक तरंग लिखी गयी है। और अंत में काव्यशास्त्र के साथ साथ आध्यात्मिक विषयों तथा वेदान्त की चर्चा भी की गयी है। इस प्रकार यह एक विचार और विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ है, पर है प्राचीन परिपाटी पर। सहायक रूप में आये ग्रन्थ, जगद्विनोद, रसराज, कविप्रिया, छन्दार्णव, छन्दप्रभाकर, भाषाभूषण, भारतीभूषण, अलंकार मंजूषा, साहित्य दर्पण, कुवलयानन्द, मार्कण्डेय पुराण, मेघदूत, ऋतुसंहार आदि हैं। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित ग्रन्थ नहीं है, वरन् विषय की आवश्यकतानुसार अनेक ग्रन्थों का इसमें आधार है।

## मिश्रबन्धु का 'साहित्य-पारिजात'

'साहित्य पारिजात' सं० १९९७ वि० की रचना है। इसका निर्णय प० शुकदेवबिहारी मिश्र और प० प्रतापनारायण मिश्र दोनों ने मिलकर किया है। मिश्रबंधु रीतिकालीन साहित्य के अनुरागी हैं और अपने अध्ययन की प्रौढ़ावस्था में उन्होंने इसका निर्माण किया है। अनेक लक्षण ग्रन्थों को देखकर इन्होंने अपने लक्षण बनाने का प्रयत्न किया है और हिन्दी के चुने हुए प्रसिद्ध कवियों के, उन शुद्ध उदाहरणों को खोजकर दिया है जो उन्हें अच्छे लगे हैं। इसमें आजकल के ग्रन्थों के समान ही लक्षण खड़ीबोली गद्य में दिये गये हैं और उनकी खोलकर व्याख्या भी की गई है। उदाहरणों में आई कविता की भी, लक्षणों के साथ मेल दिखलाने के लिए यथावश्यक व्याख्या की गयी है। अतः पूर्वकालीन संक्षिप्तपद्यात्मक लक्षणों के समान इसमें गुरुमुख से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं ग्रन्थ में ही विद्यमान है। उदाहरण के छन्द अधिकांश रीतिकालीन प्रसिद्ध कवियों से ही चुने गये हैं, दो एक कवियों की रचनाओं से उदाहरण चुनने की इन्होंने विशेष कृपा की है और वर्तमानकालीन कविता के उदाहरण कम हैं। भूमिका में बहुत ही संक्षेप में काव्यशास्त्र लिखने वाले हिन्दी कवियों का परिचय है। इन कवियों के विषय में लेखकों का मत है कि हिन्दी के सभी आचार्यों ने लक्षण कहने में बहुत थोड़े में प्रयोजन सा प्रकट किया है। उसमें न वैज्ञानिक विवेचन है और न खंडन मंडन द्वारा बुद्धि चमत्कार ही, उदाहरण देने में इन्हें सफलता अवश्य मिली है। काव्यशास्त्र के सभी अंगों का पूर्ण और शुद्ध विवेचन करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। लेखक युगल का यह विचार ठीक ही है।

'साहित्य पारिजात' के इस खंड में काव्यशास्त्र के सभी अंगों का निरूपण नहीं, सम्भवतः अवशिष्ट दूसरे खंड में हो। इसमें सबसे पहले साहित्य या काव्य

की शुद्ध परिभाषा देने का यत्न किया गया है जिसमें, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण रसगंगाधर, साहित्यपरिचय, कुलपतिकृत रसरहस्य आदि में दिये हुए लक्षणों पर विचार करने के उपरान्त मिश्रबन्धुओं का लक्षण अधिक ठीक ठहराया गया है अन्य लक्षणों में तर्क के आधार पर दोष निकाले गये हैं। मिश्रबन्धुओं का लक्षण यह है कि जहाँ वाक्य या अर्थ कोई भी रमणीय हो, वही काव्य है।[1] पण्डितराज ने रमणीय अर्थ को प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य कहा है,[2] पर उसमें अर्थ की ही रमणीयता ली जा सकती है और इस प्रकार से शब्द की रमणीयता वाले वाक्य जैसे शब्दालकार, चित्र आदि, काव्य की कोटि में नहीं आ सकते, अतः मिश्रबन्धुओं ने केवल वाक्य की रमणीयता को भी अपनी काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत कर लिया है। शब्द की रमणीयता इसलिये नहीं कही कि शब्द की अर्थहीन रमणीयता तो वाद्ययन्त्र में भी होती है पर उसे काव्य नहीं कह सकते। फिर भी वाक्य कहने से भी निरर्थक वाक्य, वाक्य नहीं हो सकता है, अतः वाक्य की रमणीयता से भी अर्थ की रमणीयता ही प्रकट होती है, शब्द की नहीं। अतः लक्षण इस प्रकार होना तो अधिक अच्छा होता कि शब्द या अर्थ की रमणीयता रखनेवाला वाक्य ही काव्य है, तो अधिक उपयुक्त होता।

काव्य के तीन भेद, काव्य प्रकाश या भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' के आधार पर ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा अवर मानकरके मिश्रबन्धुओं ने पदार्थ-निर्णय पर विचार किया है। लक्षण के भेद पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार हैं और साहित्य-दर्पण के भेद बाद के चक्र में दिये गये हैं। शब्द, शब्दशक्ति और अर्थ पर विचार किया गया है, पर ध्वनि का प्रसंग नहीं है, जो सम्भवतः दूसरे खण्ड में भाव और रस के साथ आये। दूसरा खण्ड अभी निर्मित नहीं हुआ है।

इसके पश्चात् अलंकार का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। अलंकारों के तीन भेद शब्द, अर्थ और मिश्र किये गये हैं। मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर का वर्णन है। यह मिश्रालंकार, 'रसाल' के 'अलंकार-पीयूष' में वर्णित मिश्रालंकार से भिन्न है क्योंकि मिश्रबन्धु का कथन है कि मिश्रालंकार में दोनों प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० २।

२. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं।

—रसगंगाधर

अलकार मिले रहते हैं।[1] इस प्रकार इसके अन्तर्गत उभयालकार, मिश्रालकार, ससृष्टि तथा सकर दोनों हैं। रसाल जी ने मिश्रालकार की दूसरी ही धारणा उपस्थित की है। उनका विचार है कि—

"जब एक ही प्रकार के दो अलकार एक साथ मिलकर ऐसी एकरूपता धारण कर लेते हैं कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते, यद्यपि दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट दीखती है, तब मिश्रालकार की उपस्थिति वहाँ मानी जाती है।"

उभयालकार के समान, मिश्रालकार शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अर्थालकारों से ही घनिष्ट और पूर्ण सम्बन्ध रखता है। इसमें शब्दालकार का कोई भी अश नहीं रहता।

दो अर्थालकारों के, समान अशों से मिला हुआ एक विशिष्ट रसायन के रूप का नवीन अलकार होता हुआ उभयालकारों से यह अपनी महत्ता एव सत्ता पूर्णतया स्वतन्त्र या पृथक् ही रखता है।

इन मुख्य मुख्य विशेषताओं के कारण मिश्रालकार दो या अधिक अलकारों के सम्मिलित रूप सकर और ससृष्टि नामी अलकारों से भी पूर्णतया पृथक् है।[2] 'रसाल' जी ने उभयालकार से मिश्रालकार भिन्न माना है और ससृष्टि और सकर से इस कारण भिन्न माना है कि ससृष्टि में तिलतदुलन्याय के अनुसार दोनों अलग अलग किये जा सकते हैं और सकर म नीरक्षीरन्याय के अनुसार एक म मिल तो जाते हैं पर कोई नया रूप ग्रहण नहीं करते, जब कि मिश्रालकार में दो अलकार मिलकर एक नवीन रूप धारण कर सकते हैं। 'रसाल' जी की यह धारणा तो ठीक है, पर इसके अनुसार तो अनेक अलकार जो अर्थालकार के भीतर हैं, जैसे रूपकातिशयोक्ति, सशयोपमा, भ्रान्त्यापह्नुति, छेकापह्नुति आदि अलकारों का भी मिश्र या उभय, या ससृष्टि सकर के भीतर उल्लेख होना चाहिए, जैसा कि 'रसाल' जी ने स्वय नहीं किया है। अत यथार्थ में इस प्रकार अलकारों का वर्गीकरण होना चाहिए शब्द, अर्थ, उभय और मिश्र तथा उभय और मिश्र के ससृष्टि, सकर और रसायन तीन भेद मानकर अन्तिम 'रसाल' जी की धारणा का अलकार हो सकता है। पर मिश्रबन्धुओं ने मिश्रालकार को उभयालकार, ससृष्टि, सकर सभी के लिए प्रयुक्त किया है।

---

१ 'साहित्य पारिजात', पृ० ४७।

२ 'अलकार पीयूष', पृष्ठ २६२, १६३

की शुद्ध परिभाषा देने का यत्न किया गया है जिसमें, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर, साहित्यपरिचय, कुलपतिकृत रसरहस्य आदि में दिये हुए लक्षणों पर विचार करने के उपरान्त मिश्रबन्धुओं का लक्षण अधिक ठीक ठहराया गया है। अन्य लक्षणों में तर्क के आधार पर दोष निकाले गये हैं। मिश्रबन्धुओं का लक्षण यह है कि जहाँ वाक्य या अर्थ कोई भी रमणीय हो, वही काव्य है।[1] पंडितराज ने रमणीय अर्थ को प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य कहा है,[2] पर उसमें अर्थ की ही रमणीयता ली जा सकती है और इस प्रकार से शब्द की रमणीयता वाले काव्य जैसे शब्दालंकार, चित्र आदि, काव्य की कोटि में नहीं आ सकते, अतः मिश्रबन्धुओं ने केवल वाक्य की रमणीयता को भी अपनी काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत कर लिया है। शब्द की रमणीयता इसलिये नहीं कही कि शब्द की अर्थहीन रमणीयता तो वाग्यम में भी होती है पर उसे काव्य नहीं कह सकते। फिर भी वाक्य कहने से भी निरर्थक वाक्य, काव्य नहीं हो सकता है, अतः वाक्य की रमणीयता से भी अर्थ की रमणीयता ही प्रकट होनी है, शब्द की नहीं। अतः लक्षण इस प्रकार होता तो अधिक अच्छा होता कि शब्द या अर्थ की रमणीयता रखनेवाला वाक्य ही काव्य है, तो अधिक उपयुक्त होता।

काव्य के तीन भेद, काव्य प्रकाश या भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' के आधार पर ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा अवर मानकरके मिश्रबन्धुओं ने पदार्थ-निर्णय पर विचार किया है। लक्षण के भेद पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार हैं और साहित्य दर्पण के भेद वाद के चक्र में दिये गये हैं। शब्द, शब्दशक्ति और अर्थ पर विचार किया गया है, पर ध्वनि का प्रसंग नहीं है, जो सम्भवतः दूसरे खण्ड में भाव और रस के साथ आये। दूसरा खण्ड अभी निर्मित नहीं हुआ है।

इसके पश्चात् अलंकार का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। अलंकारों के तीन भेद शब्द, अर्थ और मिश्र किये गये हैं। मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर का वर्णन है। यह मिश्रालंकार, 'रसाल' के 'अलंकार-पीयूष' में वर्णित मिश्रालंकार से भिन्न है क्योंकि मिश्रबन्धु का कथन है कि मिश्रालंकार में दोनों प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक

---

[1] 'साहित्य पारिजात', पृ० २।

[2] रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यं।

—रसगंगाधर

अलकार मिले रहते हैं।[1] इस प्रकार इसके अन्तर्गत उभयालकार, मिश्रालकार, ससृष्टि तथा सकर दोनों हैं। रसाल जी ने मिश्रालकार की दूसरी ही धारणा उपस्थित की है। उनका विचार है कि—

"जब एक ही प्रकार के दो अलकार एक साथ मिलकर एसी एकरूपता धारण कर लेते हैं कि वे पृथक् नहीं किये जा सकते, यद्यपि दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट दीखती है, तब मिश्रालकार की उपस्थिति वहाँ मानी जाती है।"

उभयालकार के समान, मिश्रालकार शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध न रखता हुआ केवल अर्थालकारों से ही घनिष्ठ और पूर्ण सम्बन्ध रखता है। इसमें शब्दालकार का कोई भी अश नहीं रहता।

दो अर्थालकारों के, समान अशों से मिला हुआ एक विशिष्ट रसायन के रूप का नवीन अलकार होता हुआ उभयालकारों से यह अपनी महत्ता एव सत्ता पूर्णतया स्वतन्त्र या पृथक् ही रखता है।

इन मुख्य मुख्य विशेषताओं के कारण मिश्रालकार दो या अधिक अलकारों के सम्मिलित रूप सकर और ससृष्टि नामी अलकारों से भी पूर्णतया पृथक् है।[2] 'रसाल' जी ने उभयालकार से मिश्रालकार भिन्न माना है और ससृष्टि और सकर से इस कारण भिन्न माना है कि ससृष्टि में तिलतदुलन्याय के अनुसार दोनों अलग अलग किये जा सकते हैं और सकर में नीरक्षीरन्याय के अनुसार एक में मिल तो जाते हैं पर कोई नया रूप ग्रहण नहीं करते, जब कि मिश्रालकार में दो अलकार मिलकर एक नवीन रूप धारण कर सकते हैं। 'रसाल' जी की यह धारणा तो ठीक है, पर इसके अनुसार तो अनेक अलकार जो अर्थालकार के भीतर हैं, जैसे रूपकातिशयोक्ति, ससदेहोपमा, भ्रान्त्यापह्नुति, छेकापह्नुति आदि अलकारों का भी मिश्र या उभय, या ससृष्टि सकर के भीतर उल्लेख होना चाहिए, जैसा कि 'रसाल' जी ने स्वय नहीं किया है। अत यथार्थ में इस प्रकार अलकारों का वर्गीकरण होना चाहिए शब्द, अर्थ, उभय और मिश्र तथा उभय और मिश्र के ससृष्टि, सकर और रसायन तीन भेद मानकर अन्तिम 'रसाल' जी की धारणा का अलकार हो सकता है। पर मिश्रबन्धुओं ने मिश्रालकार का उभयालकार, ससृष्टि, सकर सभी के लिए प्रयुक्त किया है।

---

१ 'साहित्य पारिजात', पृ० ४७।

२ 'अलकार पीयूष', पृष्ठ २६२, १६३

अलकारों के वर्गीकरण का वैज्ञानिक ढग प्राप्त न करते हुए मिश्रबन्धुओं ने लिखा है "अलकारों के वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया है और हमने भी इस पर श्रम किया था, किन्तु यह ठीक बैठता नहीं, क्योंकि एक ही अलकार के विविध भेद और कहीं कहीं वही अलकार पृथक् वर्गों में पड़ने लगते हैं। अतएव यह विषय ग्रन्थ में सन्निविष्ट नहीं करते।"[1] इस विषय में लेखकों की स्पष्टवादिता ही सराहनीय है।

अलकारों के विवेचन म कहीं कहीं 'साहित्य पारिजात' में नवीन और मौलिक धारणायें भी मिलती हैं। यों तो सामान्य रीति से लगभग सभी महत्वपूर्ण अथवा जटिल अलकारों के साद साम्य रखने वाले अलकारों से भेद स्पष्ट करने के लिये व्याख्यायें हैं जो बड़ी ही स्पष्ट और रोचक हैं और 'अलकारपीयूष' को छोड़कर सभी ग्रन्थों से अधिक ऐसी व्याख्यायें हैं। पर 'अलकारपीयूष' से भी अधिक, और पूर्ण तथा 'अलकार मजरी' से अधिक रोचक और कवित्व पूर्ण उदाहरण दिये गये हैं। भेदों को छोड़कर सभी मिलाकर १२४ अलकारों का वर्णन है। अलकारों के वर्णन में यथास्थान सस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के मतों का उल्लेख है। इस विवेचन में जो नवीनता प्राप्त होती है, उसका उल्लेख आगे किया जाता है।

१ चतुर्थ प्रतीप और व्यतिरेक का भेद दिखाते हुए मिश्रबन्धुओं ने लिखा है कि यदि चतुर्थ प्रतीप में उपमान, उपमेय की बराबरी नहीं कर पाता, यह लक्षण माना जाय तो व्यतिरेक के लक्षण में इसकी अतिव्याप्ति हो जाती है। अत दो बातों म से एक, दोनों अलकारों को अलग करने के लिए आवश्यक है या तो प्रतीप चतुर्थ की परिभाषा इस प्रकार रखी जाय, कि यदि उपमान उपमेयता पाकर उस उपमेय की समानता न कर सके, तो चतुर्थ प्रतीप हो, या दोना म यह भेद माना जाय कि व्यतिरेक में, जिस धर्म को लेकर उपमा दी जाती है उससे पृथक् किसी अन्य गुण म विशेषता होती है, उसी में नहीं, जब कि प्रतीप में उसी धम में, जैसे "मुख है अबुज सो सही, मीठी बात विशेषि" म व्यतिरेक है, पर 'मुख अम्बुज से श्रेष्ठतर है' में प्रतीप होगा, तभी ठीक होगा।[1] दोनों का अन्तर इस प्रकार समझा जा सकता है, प्रतीप में ऐसा कथन होता है कि जिसमें प्रसिद्ध और सादृश्य रखनेवाला उपमान समता नहीं कर सकता। इसमें बिना कोई कारण दिखाये या विशेषता बताये यही कह देते हैं कि वह उपमेय की बराबरी का नहीं है, पर व्यतिरेक में, उपमेय के भीतर जो बात बढकर होती है या विशेषता उपस्थित होती है जिससे

१ 'साहित्य पारिजात', पृष्ठ ४८
'साहित्य पारिजात', पृ० ६८।

कारण कि उपमेय उत्कृष्ट होता है, उसका भी कथन आवश्यकीय है। ऐसी दशा में मिश्रबन्धुओं का अन्तर तो मान्य नहीं है, पर प्रतीप की दूसरी परिभाषा अवश्य काम की हो सकती है।

२. रूपक के प्रसंग में लेखक-द्वय ने सांग, निरंग और परम्परित भेदों को मुख्य भेद नहीं माना है, ये अभेद, तद्रूप तथा इनके अधिक, सम, न्यून भेदों को ही मुख्य मानते हैं और इसी के साथ साथ ही, सांग, निरंग और परम्परित उपमा को भी मानते हैं। उक्त रूपकों में उपमा वाचक शब्द बढ़ा देने से ये भेद मिल सकते हैं। जो यथार्थ में समीचीन हैं।

३. भ्रान्तिमान, सन्देह और भ्रांतापन्हुति अलंकार की धारणाओं में भी बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण दिखाया गया है। साधारणतः लेखकों ने यही परिभाषा दी है कि जहाँ पर एक वस्तु को देखकर दूसरी का भ्रम हो वहाँ भ्रांति अलंकार होता है ऐसी दशा में ऐसा वर्णन जिसमें भ्रम वश कोई काम किया जाता है, भ्रांतिमान् अलंकार हो सकता था, पर मिश्रबन्धुओं ने ऐसा नहीं माना। इन्होंने उसकी परिभाषा दी है "सादृश्योद्भव कवि-कल्पित भ्रम के अनाहार्य ( बनावटी नहीं असली ) वत् वर्णन में भ्रान्ति अलकार है।"[1]

इस प्रकार रात मे ठूँठ देखकर आदमी का भ्रम हो जाने मे 'भ्रान्ति' नहीं है, वरन् जहाँ उपमेय-गुण का उत्कर्ष दिखाने के लिए, उन्हीं गुणो मे उपमान का भ्रम करके कोई भ्रमवश कार्य होता है, वहाँ पर यह अलकार होता है। इसी प्रकार सन्देह मे भी सादृश्योद्भव संशय होता है।

भ्रान्तापन्हुति का लक्षण भी स्वतन्त्र रूप से दिया गया है। इसका लक्षण प्रायः आचार्यों ने यही किया है कि जहाँ पर असली बात कहकर भ्रम का निवारण किया जाय, वह भ्रान्तापन्हुति अलकार होता है ; पर मिश्रबन्धु यह नहीं मानते, क्योंकि इसमें भ्रान्ति अलंकार के अतिरिक्त और चमत्कार नहीं रहता, अतः इन्होंने उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"भ्रान्तापन्हुति में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुये भ्रान्ति के बहाने से किसी अन्य द्वारा यह कथन दूसरा ठहराये जाने पर सत्य वस्तु कहकर इसका स्पष्टीकरण होता है।"[2] जहाँ पर भ्रम सत्य होता है वहाँ पर इस अलंकार में

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० ६१।

२. „ „ प्रथम स० पृ० १०१

अपन्हुति का कोई चमत्कार नहीं रह जाता है और इस आधार पर मिश्रबन्धु आचार्य भिखारीदास के "आनन है अरविन्द न फूलो, अलीगण भूले कहाँ मँडरात हो" उदाहरण को केवल भ्रान्तिमान् मानते हुए इसमें चमत्कार का अभाव बतलाते हैं। वे अपने लक्षण की पुष्टिरूप दूलह के कविकुल कंठाभरण का उदाहरण देते हैं—

"आली, नैन लागे आजु, भली भई नींद आई,
मेरे बनमाली सों, दुराव तोसों का करै ॥"

इस रूप में यह छेकापन्हुति का ठीक विलोम है जिसमें अनिश्चित वर्णन करते हुए किसी के सत्य बात समझने पर झूठ कहकर निषेध किया जाता है।

४—वक्रोक्ति को मिश्रबन्धुओं ने शब्द और अर्थ दोनों के अन्तर्गत रखा है, जहाँ शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे, वहाँ शब्द-वक्रोक्ति समझी जानी चाहिये जिसे कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है, पर यथार्थ में मिश्रबन्धुओं का अपना मत यही है कि वक्रोक्ति अर्थालंकार के भीतर है[१] क्योंकि शब्द को बदलकर पर्यायवाची रखने से चमत्कार नष्ट हो जाने का हेतु ये शब्दालंकार के लिए आवश्यक नहीं मानते, यद्यपि यह बात ही साधारणतः शब्दालंकार के सम्बन्ध में मान्य है। इसके विरोध का जो कारण दिया है, वह अधिक समीचीन नहीं। मिश्रबन्धुओं का इस विषय में अपना सिद्धान्त यह है कि जहाँ सुनने में सुन्दर लगे वहाँ शब्दालंकार और जहाँ अर्थ विचारने में सौन्दर्य हो, वहाँ अर्थालंकार होता है।[२] पर यथार्थ में दोनों ही प्रकार शब्द और अर्थ के अलंकारों के जाँचने के उपयुक्त जान पड़ते हैं।

इस प्रकार अन्य अनेक स्थानों पर भी आचार्यों से मतभेद देखने को मिलता है, जिसका प्रायः स्पष्ट उल्लेख 'साहित्य पारिजात' में कर दिया गया है। दृष्टान्त अलंकार की परिभाषा तो है 'दृष्टान्त में धर्मों तथा उपमान और उपमेय ( दोनों सामान्य या दोनों विशेष ) का निरपेक्ष वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है'[३] पर इसके दो उदाहरण अर्थान्तरन्यास के जान पड़ते हैं। उदाहरण ये हैं :—

१. "संगति के अनुसार ही सबके बनत सुभाय।
सांभर में जो कुछ परे, सिरो नोन ह्वै जाय ॥

१. 'साहित्य पारिजात', पृ० २०५
२. 'साहित्य पारिजात', प्र० सं० पृ० १७८।
३. 'साहित्य पारिजात', प्रथम सं० पृ० १९०।

२. पगी प्रेम नन्दलाल के ६ शुक्ल के विचारों का काव्यशास्त्र के
मधुप राजपद पाय के मीख न शेष में न प्राप्त हो सकने के

इसमें प्रथम में पहला पद सामान्य और दूसरा पद विशेष आचार्य श्यामसुन्दर दास
विशेष और दूसरा सामान्य है। एक व्यक्ति के सम्बन्ध का कथन ही है।
सम्बन्ध का कथन सामान्य कहलाता है। यदि साँभर और गोपी को।
फिर अर्थान्तरन्यास में दिये गये निम्नलिखित उदाहरण में भी त्रुटि हो सक.

१. बड़े न हूजै गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाय। पाजकल
कहत धतूरे सो कनक गहनो गढ़ो न जाय॥ रहि
२. रहिमन नीच प्रसंग ते लगत कलंक न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझत सब ताहि॥

इन उदाहरणों में धतूरा के समान ही साँभर भी विशेष है, और कलारिन के समान गोपी। अतः दृष्टान्त के दृष्टान्त उपयुक्त नहीं जान पड़ते।

रसवदादि अलंकारों के पूर्व, रस का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। और अन्त में इस बात पर विचार किया गया है कि रसवदादि अलंकार हैं या नहीं। मिश्रबन्धुओं का मत ठीक ही है कि रसादि का उपकार तो सभी अलंकार करते हैं केवल इसी कारण से रसवदादि अलंकार नहीं हैं उनकी गणना तो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत होनी चाहिये। अनुप्रास के छेक, वृत्य, श्रुत्य और अन्त्य भेद हैं, अन्त में मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर अलंकारों का वर्णन है। इस प्रकार अलंकारों का वर्णन समाप्त हुआ है इतना वर्णन प्रथम खण्ड में है, अन्य अंगों का वर्णन दूसरे खण्ड में होगा जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

है। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का काव्यशास्त्र के आवश्यक अगों पर अध्ययन उनके किसी एक ग्रथ विशेष म न प्राप्त हो सकने के कारण कई लेखों और ग्रथों के आधार पर किया गया है, पर आचार्य श्यामसुन्दर दास और 'सुधांशु' जी का अध्ययन उनके तद्विपयक ग्रथों के आधार पर ही है।

## आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

सबसे प्रथम द्विवेदी जी ही आते हैं। द्विवेदी जी के विचारों का महत्व आजकल उतना नहीं है जितना कि उनके समय में था। सिद्धान्त नहीं, वरन् साहित्य सृजन की दृष्टि से खड़ी बोली की शैशवावस्था मे उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन बडे ही उपयोगी हुए और उन्हीं के कारण खड़ी बोली इस रूप में पनप सकी। द्विवेदी जी के काव्य भाषा, काव्य, काव्य का प्रयोजन, प्रेरणा और प्रभाव आदि विषयों पर विचार इस युग के आदर्शों को व्यक्त करते हैं जिनके विवरण और विवेचन नीचे की पंक्तियों में दिये जाते हैं।

*काव्य भाषा*

द्विवेदी जी सरल और शुद्ध भाषा के समर्थक थे। वह स्पष्ट किन्तु प्रभावपूर्ण प्रकाशन पर बल देते थे। तथ्य की बात तो यह है कि संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र पर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी वे खड़ी बोली को शुद्ध रूप से काव्यात्मक भावों को व्यक्त करने योग्य, एक समर्थ भाषा बनाने के प्रयोगों मे उल्लीन थे। इसी कारण से वे पहले भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध कर लेना चाहते थे। यदि भाषा शुद्ध है, तो भावों की अस्पष्टता भी दूर रहेगी और सुन्दर से सुन्दर भाव भी अभिव्यक्ति पा सकेंगे। वे किसी भी कवि को व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों के लिये क्षमा नहीं करना चाहते थे और कविता में इस अशुद्धि के स्थान पा जाने पर वे कवि की भाषा-सम्बन्धी अनभिज्ञता मानते थे। 'रसज्ञ रजन' म उन्होंने भाषा के सम्बन्ध म अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं।

"कविता लिखने म व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिये। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विपयक अज्ञानता का सूचक है—जहाँ तक सम्भव हो शब्दों के मूलरूप को नहीं बिगाड़ना चाहिये।"[1]

1. 'रसज्ञरजन' पृष्ठ ४९।

अपन्हुति का कोई चमत्कार नहीं रह जाता
भिखारीदास के "आनन है अरविन्द -ाव्यशास्त्र के अंगों पर प्राप्त विचार।
को केवल भ्रान्तिमान् मानते हुए
की पुष्टिरूप दूलह के कवित्त गये रीति परम्परा वाले ग्रंथों पर विचार किया जा चुका है।
तत्कालीन प्रणाली पर ही विषयों का विवेचन और स्पष्टीकरण
"श्री आधुनिक काल में गद्य के विकास और नवीन साहित्यिक और
रों के साथ सम्पर्क होने से नवीन दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। पुराने विषयों
इस ढंगत प्रणाली पर विचार न करके नये और समयोपयोगी ढंग से विचार किया
किये, काव्यादर्शों की ओर बदलती परिस्थिति और विचारों के अनुसार दृष्टिपात हुआ। काव्य की समस्याओं पर स्वच्छन्द रीति से विचार हुआ। इस परिवर्तन का विशेष अध्ययन अगले अध्याय में होगा। यहाँ पर हमारा उद्देश्य काव्यशास्त्र पर लिखित नवीन ढंग से प्रकट किये हुए विचारों और ग्रंथों का अध्ययन है, जिनका प्रभाव कवियों और समकालीन साहित्य पर गहराई के साथ पड़ा है।

नवीन विचारों का प्रारम्भ आधुनिक हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं के अभ्युदय के साथ हुआ है, और उन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नवीन साहित्य के मार्ग प्रदर्शन के हेतु हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर अपने विचार प्रकट करके, लेखकों और कवियों के सामने आदर्श रखने का प्रयत्न किया है। यों तो सामान्य रीति से अनेक छोटे छोटे ग्रंथ लिखे गये हैं और उनके लिखने वाले भी अनेक हैं, पर महत्व, प्रभाव और मौलिकता की दृष्टि से उपयोगी लेखक कुछ ही हैं। इन लेखकों में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य श्यामसुन्दर दास, सूर्यकान्त शास्त्री, लक्ष्मीनारायणसिंह, 'सुधांशु' और गुलाबराय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त भी अनेक लेखकों जैसे अम्बिकादत्त व्यास, किशोरीदास गोस्वामी आदि के विचार हैं, पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। प्रथम कथित लेखक वृन्द का प्रभाव ही तत्कालीन साहित्य पर पड़ा है और विषय निरूपण एवं विचार की दृष्टि से इनमें पूर्णता तथा मौलिकता प्राप्त होती है, विशेषकर शुक्ल जी और श्यामसुन्दर दास जी के विचारों और ग्रंथों की तो धूम रही, इस कारण इनके अध्ययन में कुछ अधिक विस्तार देना आवश्यक है। 'सुधांशु' जी ने काव्य की व्यापक समस्याओं पर अधिक व्यापकता और अधिक आधुनिक दृष्टि से विचार किया है। उनके विचार, पूर्ण और सर्वमान्य चाहे न हों, पर उनका ढंग नवीन [illegible] है, जिस पर चलने से साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अधिक पुष्ट हो सकता

है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का काव्यशास्त्र के आवश्यक अंगों पर अध्ययन उनके किसी एक ग्रंथ विशेष में न प्राप्त हो सकने के कारण कई लेखों और ग्रंथों के आधार पर किया गया है, पर आचार्य श्यामसुन्दर दास और 'सुधांशु' जी का अध्ययन उनके तद्विषयक ग्रंथों के आधार पर ही है।

## आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

सबसे प्रथम द्विवेदी जी ही आते हैं। द्विवेदी जी के विचारों का महत्व आजकल उतना नहीं है जितना कि उनके समय में था। सिद्धान्त नहीं, वरन् साहित्य-सृजन की दृष्टि से खड़ी बोली की शैशवावस्था में उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन बड़े ही उपयोगी हुए और उन्हीं के कारण खड़ी बोली इस रूप में पनप सकी। द्विवेदी जी के काव्य-भाषा, काव्य, काव्य का प्रयोजन, प्रेरणा और प्रभाव आदि विषयों पर विचार इस युग के आदर्शों को व्यक्त करते हैं जिनके विवरण और विवेचन नीचे की पंक्तियों में दिये जाते हैं।

*काव्य-भाषा*

द्विवेदी जी सरल और शुद्ध भाषा के समर्थक थे। वह स्पष्ट किन्तु प्रभावपूर्ण प्रकाशन पर बल देते थे। तथ्य की बात तो यह है कि संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र पर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी वे खड़ी बोली को शुद्ध रूप से काव्यात्मक भावों को व्यक्त करने योग्य, एक समर्थ भाषा बनाने के प्रयोगों में तल्लीन थे। इसी कारण से वे पहले भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध कर लेना चाहते थे। यदि भाषा शुद्ध है, तो भावों की अस्पष्टता भी दूर रहेगी और सुन्दर से सुन्दर भाव भी अभिव्यक्ति पा सकेंगे। वे किसी भी कवि को व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों के लिये क्षमा नहीं करना चाहते थे और कविता में इस अशुद्धि के स्थान पा जाने पर वे कवि की भाषा-सम्बन्धी अनभिज्ञता मानते थे। 'रसज्ञ रंजन' में उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं।

"कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिये। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं। व्याकरण का विचार न कर कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है—जहाँ तक सम्भव हो शब्दों के मूलरूप नहीं बिगाड़ना चाहिये।"[1]

1. 'रसज्ञरंजन' पृष्ठ ४१।

यहाँ पर उन्होंने शब्दों और उनके प्रयोग की व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता पर ही केवल जोर नहीं दिया, वरन् तत्सम शब्दों के प्रयोग पर भी। इसका परिणाम यह हुआ कि उस समय भाषा काव्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया और सामान्य बोलचाल की भाषा एवं शब्दों के, जो हिन्दी काव्य की विशेषता के द्योतक थे, जिनमें भावव्यक्त करने की शक्ति अधिक थी और जिनसे हमारी भावना और संस्कार का सम्बन्ध था, प्रयोग की ओर अवहेलना होने लगी, जो द्विवेदीजी के द्वारा अभिप्रेत न था। इससे भाषा की समृद्धि में बाधा पड़ी, किन्तु यह सब शुद्ध भाषा लिखने के जोश में किया गया था। द्विवेदीजी के पूर्ववर्ती लेखकों में शुद्ध भाषा लिखने का कोई विशिष्ट प्रयत्न नहीं दिखलाई पड़ता किन्तु भावप्रकाशन के साधन के दृष्टिकोण से द्विवेदी ने एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया। दूसरी बात जिस पर उन्होंने जोर दिया वह सरल और प्रभावपूर्ण शब्दों का प्रयोग है। भाव चाहे कितना ऊँचा हो पर वह यदि सीधी, सरल और स्पष्ट भाषा में व्यक्त न हो तो उसका प्रभाव नहीं रह जाता। द्विवेदी जी ने अपने लेखों में सदैव एसी भाषा के प्रयोग की ही शिक्षा दी है जो साधारण लोगों द्वारा बोली जाती हो और सभी लोगों की समझ में आ सके। उन्होंने शुद्ध मुहावरों के प्रयोग पर भी जोर दिया, किन्तु यह बात तब हुई, जब उन्होंने देखा कि तत्सम और व्याकरण सम्मत शुद्ध भाषा लिखने की धुन में लोग बोलचाल के हिन्दी और दूसरी भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार करके संस्कृत शब्दों से ही भंडार भर रहे हैं। इसको देखकर ही उन्होंने लिखा था—

"भाव चाहे जैसा ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिये। वह ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट किया जाना चाहिये जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल का मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिये। जो मुहावरे सर्वसम्मत हैं उसी का प्रयोग करना चाहिये। हिन्दी-उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता, उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिये।"[1]

इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में उनके विचार अतीव व्यावहारिक थे।

---

१. 'रसज्ञरंजन' पृ० ४६-४७, सं० १९९६

*कविता का स्वरूप*

कविता की पद्य से भिन्नता बताते हुए द्विवेदीजी कहते हैं कि पद्य में किसी एक छन्द के अनुसार पंक्तियाँ गढ़ी होती हैं, किन्तु यह नियम कविता के लिए आवश्यक नहीं है। कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है। द्विवेदीजी का विश्वास है कि छन्द कविता के लिये आवश्यक तत्व नहीं है, बिना छन्द के कविता हो सकती है। उनकी आवश्यकता इतनी ही है, जितनी शरीर पर कपड़ों की। उनके विचार से छन्द कभी कभी भाव के स्वाभाविक प्रकाशन में बड़ी बाधा पहुँचाते हैं। वे कहते हैं:—"पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं उनमें जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनभावों को स्वाधीनता पूर्वक प्रकट करे।"[1] इस प्रकार कविता गद्य या पद्य दोनों में लिखी जा सकतीहै। द्विवेदी जी ने लिखा है :—

"नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं अर्थात् मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। यही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।"

इससे स्पष्ट यह है कि कविता के विषय में द्विवेदी जी का विचार बहुत उदार है। इस प्रकार की परिभाषा हिन्दी में प्रचलित कविता विषयक पूर्व बनी धारणा से नितान्त भिन्न है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि द्विवेदी जी ने जिसे कविता कहा है उसे काव्य कहते तो अधिक उपयुक्त था। कविता शब्द का रूढ़िगत प्रचलित प्रयोग पद्यकाव्य के लिए ही होता है, अतः कविता, शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में नहीं हो सकता।

द्विवेदी जी ने यद्यपि काव्य में छन्दों की बड़ी आवश्यकता नहीं मानी फिर भी वे यह मानते हैं कि छन्दों का अपना अलग महत्व भी होता है। इससे सौन्दर्य और प्रभाव की वृद्धि ही होती है, यद्यपि यह काव्य का बीज रूप में कोई आवश्यक तत्व नहीं। बड़े कवियों की कविता में छन्द और शब्द सभी होते हैं और वे उनके अनुशासन में चलते हैं उनके लिये वे बाधा रूप नहीं वरन् प्रभाव-वर्द्धक हैं इसलिए अपने विषय के अनुसार प्रतिभा-सम्पन्न कवि छन्दों का चुनाव कर लेते हैं और वे बराबर निभाते चलते हैं। ऊपर जैसा

१. 'रसज्ञ रंजन' पृ० ३८।

कहा जा चुका है द्विवेदी जी ने छन्दों के प्रयोग के विषय में बड़ी ही उदार भावना दिखलाई है, किन्तु जिस प्रकार शुद्ध भाषा न लिखने वाले को द्विवेदी जी अनभिज्ञ कहते हैं वैसे ही जिसे छन्द या लय का ज्ञान नहीं वह भी काव्य के एक उपकरण से अनभिज्ञ है। छन्द बहुधा सुन्दर विचारों और प्रभावशील शब्दों के गुम्फन में सहायक अधिक होते हैं और भाव प्रकाशन को बाधा कम पहुँचाते हैं। छन्द की लय, भाव के उपयुक्त एक वायुमण्डल बना देती हैं जिसमें ध्वनिमय उपयुक्त शब्द अपने आप आते रहते हैं। छन्द को काव्य से बहिष्कृत कभी नहीं किया जा सकता उसे हम आज्ञाकारी और लचीला चाहे जितना बना लें क्योंकि छन्द के साथ ही साथ कविता का प्रमुख स्वरूप सदा के लिए विलीन हो जायगा जो अब समुद्र के समान भरा हुआ है और जिसमें छन्द की गतिमय लहरें उठ उठकर अपनी मन्द और गम्भीर गति का आकर्षण बिखेर रही हैं।

द्विवेदी जी छंद-बद्ध कविता के विरोधी न थे पर वे छद की त्रुटि को उतना महत्वपूर्ण न समझते थे जितना भाव की अस्पष्टता को। परम्परा से पुराने छन्दों का व्यवहार हो रहा था, द्विवेदी जी ने उसमें नवीनता उपस्थित करने के लिए यह कहा कि चाहे नवीन छंदों का प्रयोग हो या छंद को तिलाजलि दे दी जाय पर भाषा शुद्ध और स्पष्ट होनी चाहिये। छन्दों, अलकारों आदि के बजाय उन्होंने अपने भावों को पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करने की अनुमति दी।[1] और इस प्रकार उनकी कविता की एक परिभाषा यह भी है "जो बात असाधारण और निराले ढग से शब्दों द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है।"[2] इस निराले ढग के विषय में द्विवेदी जी ने अपना विचार प्रकट नहीं किया। यह ढग खोज निकालना ही कवि का काम है किन्तु वह ऐसा हो कि प्रभाव सब पर पड़े अवश्य। काव्य की परिभाषा बहुत व्यापक है और प्रभाव के विषय में मत भेद भी हो सकता है। किसी पर कोई ढग प्रभाव डालता है, किसी पर कोई। पर इस प्रभाव के मानदंड के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

द्विवेदी जी कविता और चित्रकला का घनिष्ट सम्बन्ध मानते थे। 'कविता कलाप' की भूमिका में उन्होंने लिखा है —

"चित्रकला और कविता का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा

---

१ देखिये, 'रसज्ञरजन' पृष्ठ ४ और पृ० ३१।

२. 'रसज्ञरजन' पृष्ठ ३६ नया पैरा।

सादृश्य है। दोनों का काम भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है। जिस बात को चित्रकार चित्रद्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि, कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के श्रवण से आनन्द होता है, चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है, यह निर्णय करना कठिन है क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनन्द की वृद्धि होती है, उसी प्रकार कविता गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है। चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान।"

कवि और चित्रकार के आसनों में कौन उच्च है इसके निर्णय में द्विवेदी जी को कठिनता थी पर अब तो स्पष्ट ही कवि, चित्रकार से बड़ा माना जाता है। चित्रकार के प्रत्येक चित्र पर कवि अपनी कविता ढाल सकता है, पर प्रत्येक कविता का चित्र उपस्थित करना चित्रकार के लिये कठिन है। उनके ऊपर के वक्तव्य से यही स्पष्ट है कि वे कविता और चित्रकला को एक ही कोटि की और घनिष्ट सम्बन्ध वाली समझते थे। यह उनका निष्कर्ष उनके निजी प्रयोगों और निरीक्षण पर ही अवलम्बित था। गहरे अध्ययन-युक्त मनन पर नहीं। उन्होंने कविता को चित्रकला से कुछ सम्बन्धित करते हुए कविता की एक और परिभाषा दी है। "अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।"[१]

यह ठीक है कि चित्रकारी का कविता से बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है, पर कविता का क्षेत्र उससे अधिक व्यापक है और वह अधिक पूर्ण है।

द्विवेदी जी के विचार से उत्तम कविता सभी पर प्रभाव डालने वाली होनी चाहिए। तुलसीदास के समान सभी का हित द्विवेदी जी का कविता गत आदर्श है। इसलिए द्विवेदी जी ने लिखा है कि कविता में काव्यशास्त्रों में लिखे गुणों के आधार पर नीचे लिखी विशेषताओं का होना आवश्यक है।[२]

१. कविता, साधारण मनुष्यों की दशा, विकारों और भावनाओं का वर्णन लिये हों।

२. इसके अन्तर्गत गुणों के उदाहरण जैसे सहनशीलता, प्रेम, दया, उत्साह, वीरता आदि हों।

३. कल्पना, सूक्ष्म और अलकार स्पष्ट होने चाहिए।

---

१. 'रसज्ञ रंजन' पृष्ठ १०, पंक्ति ११।

२. ,, ,, ,, १८।

४. इसकी भाषा सरल, स्वाभाविक और प्रभावशाली हो।
५. छन्द सीधा, सुन्दर और वर्णन के अनुकूल हो।

इन बातों के साथ साथ कविता के अन्तर्गत सर्वप्रियता का गुण स्वभावत: आ जाता है। उन्होंने सर्वप्रियता पर सदैव जोर दिया है और इसको सदेह-रहित शब्दों में व्यक्त किया है कि कविता यदि संस्कृत शब्दों से भरी हुई होगी तो उससे हानि की ही सम्भावना है जैसा कि नीचे की पंक्तियों से प्रकट है :—

"इसी प्रकार जब बोलचाल की भाषा की कविता को या आजकल के और दूसरे पद्यों को साधारण लोग भी पढ़ने लगें तब समझना चाहिए कि कविता और कवि लोकप्रिय हैं। आजकल संस्कृतमयी कविता का रचा जाना और भी अधिक हानि कारक है।"[१]

इस प्रकार काव्य विषयक द्विवेदी जी का विचार बड़ा ही प्रगतिशील था। उन्होंने साहित्य को प्रभावशाली बनाने पर बहुत अधिक बल दिया जैसा कि उनके सरस्वती में प्रकाशित एक लेख के नीचे लिखे उद्धरण से पता चलता है :—

"साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो। हृदय में एक प्रकार की सजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्म गौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन मात्र के लिए प्रस्तुत किए गये साहित्य से भी चरित्र गठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग व विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष व मनुष्यत्व आता है। रसवती, ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रंथ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।"[२]

*काव्य का प्रयोजन और विषय*

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदी जी का काव्य-सम्बन्धी मानदण्ड लोकप्रियता है। इसका स्वभावत: यह निष्कर्ष निकलता है कि द्विवेदी जी का विश्वास था कि कविता से समाज का हित-साधन अवश्य होना चाहिए। उनका यह भी विश्वास था कि जैसे ही मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है कविता का उपयोग और प्रभाव कम होता जाता है इस

१. 'रसज्ञरंजन' पृ० १८, १८ से २१ पंक्ति।
२ सरस्वती सन् १९१७।

विषय में उनका यह तर्क था कि कविता में कुछ असत्य अवश्य रहता है जो हमारी भावना पर प्रभाव डालता है, और जैसे ही मनुष्य ज्ञान का विकास बढ़ता जाता है उसकी बुद्धि व्यापक होती जाती है जैसे ही उसका प्रभाव कम होता जाता है।[1]

उनका यह विचार अंशतः ही मान्य हो सकता है क्योंकि यह देखा जाता है कि जैसे ही मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि होती है वैसे ही विश्व का रहस्य विलीन होता जाता है; जैसे ही वस्तुयें अधिक परिचित होती जाती हैं वैसे ही उनका आकर्षण कम होता जाता है। पर इस विश्वास में यह पूर्व-मान्यता रहती है कि जब काव्य अपने चरम उत्कर्ष में था और विद्वान् और रसिक काव्य की प्रशंसा करते थे तब वे या तो ज्ञान में या बुद्धि के विकास में हीन थे। यह बात सर्वकालीन सत्य नहीं रहती। कविता प्रत्येक युग में अपना नया स्वरूप ग्रहण करती रहती है इसलिए यदि बौद्धिक या ज्ञानका विकास हुआ तो कविता भी उसी के अनुसार अपने प्रभाव के लिए नया क्षेत्र अवश्य खोज निकालेगी। प्रत्येक युग के समक्ष नयी-नयी समस्यायें अपना सिर उठाती हैं उन्हीं के आधार पर भावों का आन्दोलन हुआ करता है इसी आन्दोलन और उथल पुथल पर ही कविता के नए क्षेत्र की पृष्ठ भूमि बना करती है अतएव इस विषय में डर की कोई बात नहीं कि कविता कभी संकट में होगी। हाँ, यह सम्भव अवश्य है कि किसी युग विशेष में काव्य की धारा अधिक वेगवान् गति से बहे और दूसरे युग में उसका वेग उतना प्रबल न रहे, पर कविता का सम्बन्ध सदा ही मानव भावनाओं के साथ है। जब तक इनकी सत्ता है कविता के प्रभाव का साम्राज्य अटल है।

द्विवेदीजी कविता के आनन्द और उपयोगिता दोनों प्रयोजनों पर बल देते थे, वे प्राचीन और परम्परागत काव्य विषयों पर कविता लिखने के विरोधी थे। वे नायिका-भेद और लक्षण ग्रन्थों की संख्या बढ़ाने के विपक्ष में थे और नये विषयों पर लेखनी चलाने के प्रयास का सदैव स्वागत करते थ। उनके विचार से कविता लिखने के विषयों की कोई सीमा नहीं। प्रकृति के सभी पदार्थ बड़ी सरलतापूर्वक काव्य के बड़े सुन्दर विषय हो सकते हैं।[2] यथार्थ बात तो यह है कि कविता में विषय का उतना अधिक महत्व नहीं रहता जितना कि विषय के निर्वाह का। कवि की कल्पना, विषय को एक विलक्षण आकर्षण प्रदान करती है और वह मनोमोहक शक्ति प्राप्त करता है। न केवल विषय,

---

१. देखिये 'रसज्ञरंजन' पृ० ३३।

२. ,, ,, ,, १३

वरन् विचारों के लिए भी प्रकाशन की क्षमता और कुशलता चाहिये। चाहे कितने सुन्दर विचार हों, यदि उन्हें प्रकट करनेवाले शब्द उपयुक्त नहीं तो उनका कोई प्रभाव नहीं। शक्तिहीन और अनुपयुक्त शब्दों से श्रेष्ठ भावों का जादू धुल जाता है इसलिये शब्दों के प्रयोग की कुशलता कवि के लिये प्रमुख रूप से आवश्यकीय है।[1]

कवि के कार्य के विषय में द्विवेदीजी ने कहा है कि कवि पहले विषय के तत्व को ग्रहण करता है उसकी आत्मा में प्रवेश करता है और जब उसका हृदय विषय से ओत-प्रोत हो जाता है और मन उसमें तन्मय हो जाता है तब वह अपने भावों और विचारों को शब्दों के रूप में व्यक्त करता है। रसज्ञरंजन में उन्होंने लिखा है—

'कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा वस्तु का वर्णन करते हैं उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुननेवाला के हृदय में जाग्रत हो जाता है।'[2]

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार से कवि को यथार्थ-दर्शी होना चाहिए और अपने सांसारिक अनुभवों का पूरा उपयोग करना चाहिए[3]। उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरों की आज्ञानुसार नहीं लिखना चाहिए। कवि को यथार्थता के आधार से रहित केवल कल्पना का चित्र नहीं खड़ा करना चाहिए। उसे जितना भी सम्भव हो सके स्वाभाविक होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कल्पना से बिलकुल रहित हो। यथार्थ में कल्पना, कवि की एक बड़ी शक्ति है। जितना ही कवि कल्पना की शक्ति से सम्पन्न होता है उतना ही बड़ा वह कवि है। (कविता में नवीन उद्भावना रहती है। इसलिए कवि की प्रतिभा, कल्पना ही है।[4] किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है केवल कल्पना से काम नहीं चल सकता। कवि को कल्पना के साथ साथ प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के अभ्यास की भी आवश्यकता है। प्रकृति के क्रिया कलापों और चेष्टाओं का जितना विस्तृत ज्ञान, उसके पास हो उतना ही अच्छा है। प्रकृति के साथ-साथ मनुष्य स्वभाव का पूर्ण परिचय भी होना चाहिए। उसे मानवता के सुख दुःख, उल्लास विषाद आदि का व्यापक ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकृति और मानव

---

१ देखिए 'रसज्ञरंजन' पृ० ४४ ४९

२. ,, ,, ,, ४१

३. ,, ,, ,, ३४

४ ,, ,, ,, ४०

भावनाओं की पृष्ठभूमि पर जब कवि की कल्पना कार्य करती है तभी उदात्त काव्य का निर्माण होता है।

उपर्युक्त अध्ययन द्वारा हम सहज ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि द्विवेदीजी की काव्य-विषयक धारणा न शुद्ध आदर्शात्मक थी और न कट्टर यथार्थवादी। वे कवि की रचनाओं में यथार्थवाद और आदर्शवाद के समुचित समन्वय की प्रेरणा देते थे। उनके विचार से जहाँ काव्य का उद्देश्य हृदय और मन को सन्तोष एवं शांति प्रदान करना था वहीं पाठक या श्रोता के अन्तर्गत उदात्त भावनाओं और नवीन उत्साह का संचार करना भी। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली हिन्दी को काव्यात्मक भाव-व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ बनाने का प्रयत्न किया। द्विवेदी जी के साथ काव्यादर्शों में परिवर्तन के दर्शन होते हैं और शुद्ध भाषा का प्रयोग, तत्सम शब्दों का बाहुल्य, वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन, प्रकृति-चित्रण, उपदेशात्मकता, और काव्यविषयों का विस्तार प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। इन सभी बातों के लिए द्विवेदी जी का अपना निजी स्थान और महत्व है।

आधुनिक काल में हिन्दी-काव्यादर्शों के विकास की अवस्था द्विवेदी जी के बाद आती है। इस अवस्था के अन्तर्गत हिन्दी काव्य, भाषा, विषय, भावाभिव्यंजन इत्यादि के आदर्शों की स्थिरता प्राप्त करता हुआ निश्चित विशेषताओं वाली मधुर रचना का भंडार भरता है। रचना की भी डुलमुल अवस्था समाप्त हो जाती है और कवि, चेतनता के साथ अपना पथ देखते और अपने काव्यादर्शों को स्पष्ट करते दिखलाई देते हैं। इसके साथ ही साथ काव्यशास्त्र के नवीन प्राचीन विभिन्न विषयों का विवेचन भी आचार्यों द्वारा प्राप्त होता है। कवियों ने अपने आदर्शों का स्पष्टीकरण या तो अपने काव्य-ग्रंथों की भूमिका में किया है या अन्यत्र लेखों में जिसका विवेचन एक एक कवि को न लेकर एक एक विषय पर उनका मत स्पष्ट करते हुए अगले अध्याय में विकास के अध्ययन के साथ किया जायगा। स्वतन्त्र काव्य शास्त्र का विवेचन भी बहुतों ने किया है, पर विचार-स्वातन्त्र्य और प्रतिनिधित्व की दृष्टि से आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य बाबू श्यामसुन्दर दास के काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर विचारों का अध्ययन यहाँ आवश्यक है क्योंकि यथार्थ विवेचन, प्रेरणा और पूर्णता इन्हीं में लक्षित होती है। अन्य लेखकों का विवरण विषयानुसार विवेचन के प्रसंग में अधिक उपयुक्त रहेगा।

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के, काव्यशास्त्र की प्राचीन और नवीन अनेक समस्याओं और विषयों पर, विचार दो दृष्टियों से महत्व के हैं। प्रथम तो इस कारण कि वे हमारे सामने उत्कृष्ट काव्य के सिद्धान्त उपस्थित करते हैं और द्वितीय इस कारण से कि वे प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन दृष्टि से और आधुनिक वादों को प्राचीन दृष्टि से देखने और समझने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। साथ ही साथ उन्होंने काव्यशास्त्र की जटिल समस्याओं को स्पष्ट करते हुए अलग निबन्धों के रूप में अपने विचार भी रखे हैं और आजकल की हानिकारक प्रवृत्तियों के विरोध में भी लेखनी का सचालन किया है। इसलिए उनकी लगन, प्रतिभा, गंभीर अध्ययन और निष्पक्ष विवेचन सभी के कारण उनके विचार चिरस्थायित्व और प्रेरकत्व के गुण रखते हैं। काव्यशास्त्र की लगभग सभी समस्याओं पर उन्होंने कुछ न कुछ प्रकाश डाला है। सबसे पहले हम काव्य का स्वरूप शुक्ल जी के विचार से क्या है, इसे ही देखते हैं।

*कविता का स्वरूप*

काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के पूर्व, काव्य और साहित्य का सम्बन्ध भी जान लेना आवश्यक है। शुक्ल जी के विचार से "साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कार पूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"[1] इस प्रकार शुक्ल जी के विचार से रचनात्मक और विवेचनात्मक दो प्रकार का साहित्य निर्धारित किया गया है। आलोचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत रचनात्मक साहित्य का विवेचन होता है। शुक्ल जी ने इसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन आवश्यक माना है। अर्थ, भावोन्मेष, और चमत्कार तीनों शब्दों को शुक्ल जी ने अपने इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति के आसन से दिये गये भाषण में इस प्रकार स्पष्ट किया है।

"भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि अरुचि से है और चमत्कार से अभिप्राय उक्ति वैचित्र्य के अनूठेपन से है। अर्थ से अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष,

१. इन्दौर वाला भाषण पृष्ठ १।

अनुमति, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निस्संग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है। आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।"[१]

इस प्रकार शुक्ल जी ने साहित्य का भाव व्यंजक या चमत्कार प्रकाशक अंग काव्य के भीतर माना है। इसमें रमणीयता का गुण रहता है। शुक्लजी ने इसके चार भाग किये हैं—श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य, कथात्मक गद्य काव्य और काव्यात्मक गद्य या लेख और आलोचना। अन्तिम भाग के अन्तर्गत विचार से भरे हुए लेख हैं, जिनमें भाव-व्यंजना है और रचनात्मक कृतियों की मार्मिक समीक्षा भी है। श्रव्य और दृश्यकाव्य तो संस्कृत साहित्य के से हैं। कथात्मक गद्यकाव्य, उपन्यास और कहानियों के रूप में है। काव्यात्मक गद्य या लेख वर्तमान युग की देन है। साहित्य के अन्तर्गत इस प्रकार काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य, निबन्ध और साहित्यालोचन हैं। इनमें से काव्य का सामान्यतः अर्थ कविता से लिया जाता है। शुक्ल जी ने भी अपने लेखों में काव्य का अधिकांश इसी अर्थ में प्रयोग किया है। काव्यशास्त्र के विषयों में वे शब्द-शक्ति, रस और अलंकार को प्रधान मानते हैं उनके मत से शब्द शक्ति, रस और अलंकार ये विषय विभाग काव्य समीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अन्तर्भूत करके संसार की नई पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है।[२]

शुक्ल जी, कविता को जीवन और जगत की अभिव्यक्ति मानते हैं। जगत उनके विचार से अव्यक्त की अभिव्यक्ति है[३] और कविता इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। अतः काव्य के अन्तर्गत प्रकृति और जीवन की विशद एवं यथातथ्य अभिव्यक्ति होती है।

इस जगत् और जीवन के अनेक रूपों और व्यापारों पर विमुग्ध होकर जब मनुष्य अपने को भूल जाता है और उन्हीं में तन्मय हो जाता है वही हृदय की मुक्तावस्था, काव्यानुभूति या रस की दशा कहलाती है और इस अवस्था की अनुभूति का प्रकाशन कविता है।[४]

---

१. इन्दौर वाला भाषण पृष्ठ २।

२. इन्दौरवाला भाषण पृष्ठ ४३।

३. काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ ११।

४. देखिये चिन्तामणि भाग १ पृ० १९२, १९३।

शुक्लजी इसी भावयोग को कर्मयोग और ज्ञानयोग के समान मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में कविता का क्या महत्त्व है, यह स्पष्ट हो गया। इस दशा में जो कवि की अनुभूति होती है वह उसकी व्यक्तिगत अनुभूति न होकर सबकी अनुभूति होती है। और हमारे मनोविकार परिष्कृत होकर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में बँध जाते हैं। प्रकृति के शाश्वत् जीवन और व्यापार के प्रभाव से हमारा संस्कार बनता रहा है अतः उनकी एक एक अभिव्यंजना हमारे हृदय पर चोट करती है। और इस प्रकार प्रकृति का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति के रूपों और व्यापारों का हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है।[१]

हम देख चुके हैं कि द्विवेदीजी ने सभ्यता के विकास के साथ-साथ कविता का ह्रास स्वाभाविक बतलाया है। शुक्ल जी की धारणा इस दृष्टिकोण को और स्पष्ट करके हमारे सामने रखती है। वे सभ्यता के विकास के साथ साथ कविता की आवश्यकता की वृद्धि मानते हुए कहते हैं कि सभ्यता के जटिल आवरणों के चढ़ जाने से कविता करना कठिन होता जायगा। इस विषय में उन्होंने 'कविता क्या है?' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—"ज्यों ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा।"[२] शुक्लजी की धारणा वैसे भी स्पष्ट है। प्रकृति के मूल और आदिम रूपों से हमारे हृदय का, हमारी वासना का संस्कार के रूप में लगाव हो गया है और बढ़ती सभ्यता में नगरों व कल-कारखानों के विस्तार में उनका दर्शन भी दुर्लभ है। उनकी ओर हृदय की ललक है पर उस पर कृत्रिम जीवन के आवरण पड़ते जाते हैं अतः उनके सम्बन्ध का प्रकाशन धीरे धीरे कठिन होता जाता है।

शुक्लजी के विचार से प्रकृति का सम्बन्ध या व्यापार कविता की भावना का पोषक है, क्योंकि उसमें नित्य नवीनता है, सरसता है और विकृति भी सृष्टि क्रम में मंगल कारिणी है। शारीरिक सुख ही नहीं, मानसिक शान्ति और हृदय के सन्तोष को भी प्रदान करनेवाली, प्रकृति है, जो अपने विशाल, भव्य, कोमल और कराल स्वरूपों में हमारे मन और हृदय पर प्रभाव डाला करती है। इसीलिये प्रकृति के प्रति इतना मोह है यहाँ पर एक और काव्य का मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है वह यह है कि कवित

---

१. देखिए चिंतामणि भाग १ पृ० १६४

२. „ „ „ „ १६७

का सम्बन्ध भावों से है और भावों को उकसाने में प्रमुख कारण 'साहचर्य' हुआ करता है।

साहचर्य

वर्णन की विलक्षणता और नवीनता हमारे हृदय में भावात्मक हिलोर नहीं उठाती वरन्, देखी-सुनी वस्तुओं का चित्रण और अनुभूत व्यापारों का वर्णन हमारे हृदय में भावों को जगाने में समर्थ होते हैं। किसी वस्तु के साहचर्य के साथ उसके प्रति मोह पैदा होता है और परिचय की घनिष्ठता में ही भावानुभूति छिपी रहती है।[1] शुक्ल जी ने साहचर्य की महत्ता पूर्णरूप से स्वीकार की है वे कहते हैं "सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुखभोग नहीं बल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।——साहचर्य सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य, सीधे-सादे चिर परिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है।[2] प्रकृति के दृश्या में शोभा और सौंदर्य के साथ प्राचीन साहचर्य की स्मृति वासना के रूप में रहती है। कवि, सहृदय या भावुक की इसी प्रकार की वासना प्रत्यक्ष या स्मृति के द्वारा जगती है जो कि कविता का आनन्द है।

इस वासना को जगाने के लिए दृश्यों का पूर्ण चित्र उपस्थित होना चाहिए। काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण भी अपेक्षित होता है।[3] इस बिम्ब ग्रहण कराने के लिए बुद्धि की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कल्पना और भावुकता की। कल्पना का कविता में महत्व पूर्ण स्थान है भावों के परिवर्तन के लिए कल्पना की बड़ी आवश्यकता होती है जिस कवि की कल्पना जितनी ही समर्थ होगी, उसमें भावमग्न कराने की क्षमता भी उतनी ही अधिक हो सकती है। कल्पना के शिथिल या निर्बल रहने पर यह गुण नहीं होता। पाठक या श्रोता के भीतर भी कल्पना का होना आवश्यक है। इस प्रकार शुक्ल जी ने कल्पना के दो प्रकार बताये हैं एक विधायक कल्पना और दूसरी ग्राहक कल्पना।[4] कवि में विधायक कल्पना की आवश्यकता होती है और श्रोता म ग्राहक कल्पना की। कल्पना का इतना महत्व होते–

१. देखिये 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० २०४
२. ,, ,, ,, ,, २०५
३. ,, ,, ,, ,, १९८
४. ,, ,, ,, ,, २३०

हुए भी यह ध्यान में रहना चाहिए कि कल्पना ही सब कुछ नहीं है यदि कल्पना के साथ भाव सचार न हो सका तो उसमें का यगत रमणीयता का अभाव ही रहेगा।

कल्पना और भाव-सचार की तीव्रता पर काव्य की रमणीयता निर्भर करती है। कल्पना हमारे सम्मुख वस्तु का पूर्ण रूप खड़ा करती है और उसके साथ यदि हमारी अनुभूति का सम्बन्ध हुआ तो हम अपनी सत्ता को भूल कर उसमें तन्मय हो जाते हैं।

जिस वस्तु में तल्लीन करा लेने का गुण जितना ही अधिक होता है वह वस्तु हमारे लिए उतनी ही सुन्दर होती है साथ ही साथ सुन्दर वस्तु के दर्शन या चित्रण के द्वारा जितनी ही अधिक तल्लीनता हम प्राप्त कर सकेंगे हमारी सौंदर्यानुभूति उतनी ही अधिक समझी जायगी।[1] बात यह होती है कि जो वस्तु सुन्दर ठहराई गई है उसको कोई एक दम कुरूप नहीं कह सकता उसे कम या अधिक सुन्दर कहा जा सकता है। सौंदर्य को शुक्ल जी ने एक दिव्य[2] विभूति माना है। उनका कथन है कि जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी सत्ता को खो देता है, वह दिव्य अवश्य है। सौंदर्य केवल दृष्टि का अवलम्बन ही नहीं होता, आकार या रग रूप में ही सौंदर्य की छटा नहीं वरन् कर्म और मनोवृत्ति में भी सौंदर्य होता है। उदारता, दया, वीरता, प्रेम, सहानुभूति आदि में भी सौंदर्य है यहाँ तक कि क्रोध मे भी सौंदर्य है। किसी अत्याचारी के अत्याचार पर किसी के क्रोध प्रकट करने म हमें सौन्दर्य की अनुभूति होती है। कविता के क्षेत्र म वस्तुयें सुन्दर हैं या असुन्दर, इस विषय मे शुक्ल जी का मत है कि सुन्दर और कुरूप काव्य में बस यही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ अशुभ, पाप पुण्य, मगल अमगल, उपयोगी और अनुपयोगी ये शब्द काव्य क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यौहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी। न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं, सुन्दर और असुन्दर[3]। सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति ही काव्य है। सौंदर्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी बातें भी काव्य म सहायता या विषमता द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही करती हैं। कवि की दृष्टि सौन्दर्य को ही खोजती है वस्तुओं के रूप रग में या प्राणियों के मन-वचन कर्म में जहाँ कहीं सौन्दर्य होता है,

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १ पृष्ठ २२५।

२ „ „ „ २२६।

३. „ „ „ २२८।

लाकर हमारे सामने रखती है। शुक्ल जी सौंदर्य और मंगल को पर्याय मानते हैं और दोनों को ही गतिशील। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में वे लिखते हैं कि "ब्रह्म की व्यक्त सत्ता नियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर सौन्दर्य और मंगल कहीं नहीं, गत्यात्मक मंगल ही है, पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय है कलापक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है।[1]"

प्रयत्न और उपभोग को लेकर शुक्ल जी ने काव्य के दो विभाग किये हैं। पहले प्रकार के वे हैं जो कि आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलते हैं और दूसरे वे हैं जो आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलते हैं। आनन्द की साधनावस्था लेकर चलने वाले काव्यों में अधिकांशतः जीवन का संघर्ष और प्रयत्न छिपा रहता है रामचरितमानस, पद्मावत, पृथ्वीराज रासो, आल्हा आदि इसी प्रकार के काव्यों में से हैं, किन्तु बिहारी सतसई, सूरसागर, रास पंचाध्यायी तथा अन्य अनेक रीति-कालीन रचनायें उपभोग पक्ष लेकर चलती हैं।[2] स्वाभावतः यदि काव्य का सम्बन्ध जीवन से है तो इनमें दोनों बातों में से एक न एक, काव्य के भीतर रहेगी।

कल्पना से सम्बन्धित होने पर भी, शुक्ल जी, काव्य और स्वप्न को एक नहीं मानते। कविता स्वप्न से भिन्न वस्तु है, स्वप्न से उसका सामान्य केवल इसी बात में है कि दोनों बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहते। दोनों के आविर्भाव का स्थान भर एक है। स्वरूप में भेद है। कल्पना में आई हुई वस्तुओं की प्रतीति से स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की प्रतीति भिन्न प्रकार की होती है। स्वप्नकाल की प्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष के ही समान होती है। दूसरी बात यह है कि काव्य में शोक के प्रसंग भी रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो।[3]

शुक्ल जी काव्य को जीवन से सम्बन्धित मानते हैं जीवन के भीतर ही काव्य का तथ्य है और काव्य के अन्तर्गत जीवन का चित्रण। सुख दुख, शान्ति, हाहाकार, सफलता, असफलता आदि जीवन की बातें ही काव्य में चित्रित होकर उसे तन्मयता का गुण

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद' पृ० १० ।

२. देखिए 'चिन्तामणि' भाग १ ,, २६३, २६४ ।

३ ,, ,, ,, ,, २६४ ।

प्रदान करती है। इसलिए शुक्ल जी का यह कथन नितान्त सत्य है कि जो आँख मूँद कर काव्य का पता जगत् और जीवन के बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं।[१] जीवन और काव्य दोनों की सफलता का मूल मन्त्र एक ही है और वह है सामंजस्य।[२] शुक्ल जी ने इस बात पर जोर दिया है कि काव्य की यथार्थ अनुभूति जीवन में ही प्राप्त होती है। जिस कविता में जीवन और जगत् की यथार्थ अनुभूति नहीं मिलती, उसको शुक्ल जी ने असत्काव्य कहा है। वे कहते हैं कि सत्काव्य और असत्काव्य में, काव्य और काव्याभास में यही भीतरी मार्मिक अन्तर होता है कि सच्चा काव्य, सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे वर्णनों की केवल नकल करता है।[३] जीवन और लोक मंगल से सम्बन्धित होने पर भी काव्य, नीति या उपदेश के पथ पर नहीं चलता। शिक्षा देना, काव्य का काम नहीं। वह तो जो कुछ करता है भावानुभूति द्वारा ही।[४]

इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा निर्धारित काव्य का स्वरूप बड़ा व्यापक है। जीवन की गति को अपने साथ अपनाये हुए, कल्पना के सहारे वस्तु का बिम्ब चित्रण करता हुआ वासना के रूप में भावों को उकसा कर जो हमारे हृदय और मनोविकारों का परिष्कार करता है और जीवन को बल देता है, वही पूर्ण काव्य है। ऐसा काव्य विश्व में चिरस्थायी रहेगा।

*काव्य के विषय एवं प्रयोजन*

शुक्ल जी ने सम्पूर्ण विश्व को अव्यक्त की अभिव्यक्ति माना है। "जगत भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति।"[५] अतएव जगत् भी शुक्ल जी की दृष्टि से एक काव्य है और जो आनन्द, एक रसिक को काव्य के अवलोकन से होता है वही आनन्द एक कवि या रहस्य द्रष्टा को जगत के अवलोकन से। शुक्ल जी ने तो यहाँ तक कहा है कि इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए भी निमग्न न हुआ उसके

---

१. देखिए 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ ७।
२ ,, ,, ,, ,, ,, १४।
३. ,, ,, ,, ,, ,, ६।
४ ,, 'चिन्तामणि' भाग १ ,, २१७।
५ ,, 'काव्य में रहस्यवाद' ,, ११।

जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।[1] इस प्रकार प्रेरणा का ताँता बराबर चलता जाता है। एक रचना देख कर दूसरी रचना करता है और जो उस रचना का बिम्ब, दर्शक का मन ग्रहण करता है उसकी अभिव्यक्ति पुनः पुनः काव्य तो नहीं होती पर काव्य की प्रेरणा उससे अवश्य मिलती है। पर प्रारम्भिक प्रेरणा जिससे मिलती है वह है जगत्, विश्व या जीवन। अतः काव्य के विषयों की कोई सीमा नहीं। वे इतने ही असीम हैं जितना विश्व, उतने ही व्यापक हैं जितना जीवन। इस प्रकार शुक्ल जी. कविता के विषयों को सम्पूर्ण सृष्टि प्रसार में मानते हैं। वे कहते हैं कि "काव्य दृष्टि कहीं तो १—नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २—मनुष्येतर बाह्यसृष्टि के और ३—कहीं समस्त चराचर के।"[2]

इनमें से अधिकांश काव्य नरक्षेत्र के भीतर ही हुए हैं, क्योंकि कविता, मनुष्य की रचना होने के कारण मनुष्य जीवन से ही उसका सबसे अधिक सरकार होता है किन्तु इस बीच में भी प्रकृति, भावों के उद्दीपन के रूप में बराबर आई। प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति की पृष्ठभूमि व्यापक रूप से देखी जाती है। इसे आलम्बन के रूप में प्रकृति वर्णन कह सकते हैं। देखे सुने प्राकृतिक वर्णन भी भावों को उकसाते हैं और उनका वर्णन बिम्बग्रहण के रूप में बड़ा सन्तोषकारी होता है। शुक्ल जी के विचार से प्रकृति की सच्ची व्यंजना प्रकट करने वाली अन्योक्ति आदि भी काव्य की रमणीयता को बढ़ाती है और प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण भी। उनका कथन है कि प्रकृति के केवल यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रकट करता है। प्रकृति के किसी खंड के ब्योरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की बात है। प्रकृति की व्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कवि की दृष्टि मनुष्य जीवन पर रहती है। इस भेद को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। दोनों विधानों का महत्व बराबर है।[3]

काव्य के विषय में शुक्ल जी ने एक और महत्वपूर्ण बात बतलाई है और वह यह है कि काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं।[4] पर इस विशेष का वर्णन, यह आवश्यक नहीं कि विलक्षण ही हो।

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १ पृष्ठ १६६।

२. 'चिन्तामणि' भाग १ ,, १६६।

३. 'काव्य में रहस्यवाद' ,, २४, २५।

४. 'चिन्तामणि' भाग १ ,, ३०१।

विलक्षण गुणों वाली वस्तु या व्यक्ति हमारे आश्चर्य का आलम्बन ही होगा, इसमें हमें चमत्कार ही मिलेगा, कुतूहल रहेगा। पर इस विशेष व्यक्तित्व के भीतर सामान्य गुणों, भावों, मनोविकारों का आरोप कवि का काम है। कवि, इस विशिष्ट व्यक्तित्व के द्वारा सामान्य जन समूह का चित्रण करता है। अत काव्य का विषय सदा विशेष होता है। जब विषय विशेष न होकर सामान्य हो जाता है या व्यक्ति को छोड़कर जाति का वर्णन होता है तब वह इतिहास या समाजशास्त्र हो जाता है काव्य नहीं।

अब काव्य के प्रयोजन पर विचार करना चाहिए। काव्य के स्वरूप-वर्णन के प्रसग में इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि काव्य, उपदेश नहीं होता। उपदेश धर्म शास्त्र के अन्तर्गत है। उपदेश जो कुछ रहता भी है वह प्रकृति की सच्ची व्यञ्जना के आधार पर हमारी भावानुभूति के साथ ही। किन्तु काव्य का प्रयोजन बड़ा व्यापक है। काव्य का सदेश बड़ा ही उदार है। काव्य, तल्लीनता या भाव परिणति के साथ जो सदेश देता है वह शुक्ल जी के शब्दों म निम्नाकित है।

"आजकल कवि के सन्देश ( Message ) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदि कवि का—आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की—सन्देश है कि सब भूतों तक, सम्पूर्ण चराचर तक, अपने हृदय को फैलाकर जगत् में भावरूप में रम जाओ, हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से पहले पहल निकली उसम यही सन्देश भरा था।"[1]

काव्य का यह सन्देश और यह प्रयोजन चिरन्तन है जिसे इस रूप में शुक्ल जी ने ही पहले पहल उद्घाटित किया है। इस प्रकार काव्य का उद्देश्य लोक जीवन म लय होना है और दुख सुख से भावनाओं का परिष्कार करना है। काव्य का प्रयोजन हृदय प्रसार है। इस हृदय-प्रसार के साथ ही साथ हम विश्व व प्राणियों के साथ घुल मिल जाते हैं। शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि इस हृदय प्रसार का स्मारक स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन म एक नयी स्फूर्ति आ जाती है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर रस मग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे ससार में व्याप्त हो गया है।[2] शुक्ल जी कविता को एक

१. 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ १६।
२ 'चिन्तामणि' भाग १ ,, २१८।

दवा[1] मानते हैं। जिनका हृदय क्रूर कर्मों से कठोर हो गया है, जो दीन दुखियों का दुख देखकर द्रवित नहीं होते हैं, जो अपने स्वार्थ को छोड़कर और संसार के किसी भी कार्य से अपना मतलब नहीं रखते, वे सब मानसिक रोगी हैं, उन्हें भावयोग का अभ्यास करना चाहिए और कविता सेवन का नियम बनाना चाहिए। जो कविता का अभ्यासी, सरस सहृदय और भावयोगी होता है उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास विलास में जगत के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन तर्जन में जगत के गर्जन तर्जन का आभास मिलता है।[2]

शुक्ल जी के विचार से कविता का प्रयोजन केवल मनोरंजन नहीं है; वरन् वे तो मनोरंजन, कविता का गौण उद्देश्य मानते हैं जैसा कि उनके ऊपर के विचारों से प्रकट है और उन्होंने अन्यत्र भी कहा है।[3] मनोरंजन यथार्थ में कविता का एक अस्त्र मात्र है उसका उद्देश्य लक्ष्य या प्रयोजन नहीं। मनोरंजन द्वारा कविता अपना प्रभाव डालकर हमारी चित्तवृत्ति को एकाग्र कर लेती है और इस प्रकार इस अवस्था में कही गई बात का असर होता है। अतः कविता के विषय में मनोयोग एक अवस्था है किन्तु पथ का ध्येय नहीं। शुक्ल जी को कविता का उद्देश्य, मनोरंजन मानने में एक और दृष्टि से आपत्ति है। वे कहते हैं कि मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुचाना, ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझ कर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक और सहारा मिल जायगा। क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था।[4] अवश्य था, वे राम के चरित्र को स्पष्ट करके एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे। इस प्रकार कविता, यथार्थ जीवन की प्रेरणा देती है। कविता सुधार करती है, कविता कर्म क्षेत्र में कर्मठ बनाती है, मनोरंजन द्वारा हमें दूसरे के साथ अपनापन जोड़ने की शक्ति देती है, व्यापक दृष्टि देती है और एक सामजस्य प्रदान करती है। इन प्रयोजनों के साथ यथार्थ, काव्य का सेवन जितना ही फैलेगा उतना ही हमारा भला होगा। कविता को केवल मनोरंजन मान

१. 'चिन्तामणि' भाग १, पृ० २१६।

२. ,, ,, ,, २१६।

३. "कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है पर, उसके उपरान्त कुछ होता है और वही और सब कुछ है।" चिन्तामणि, भाग १ पृष्ठ २२१।

४. 'चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ २२३।

लेने से कवि का भी जीवनादर्श बदल जाता है और काव्य-रसिकों का भी। जब कविता, मनोरंजन द्वारा जीवन के अन्य महत्वपूर्ण कार्य करने में समर्थ है तब हम उसे सीमित एवं उसके प्रयोजन को संकीर्ण बनाकर उसका आदर्श क्यों खो दें। अत. शुक्ल जी के द्वारा कहे प्रयोजनों को लेकर कवि और रसिक दोनों को नवीन शक्ति प्राप्त होती है।

*भाषा और छन्द*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से काव्य की भाषा में बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्नता रहती है। कवि को बोलचाल की प्रचलित भाषा से ही कभी कभी शब्दों को चुनना पड़ता है और कभी कभी उनको शक्ति और सौन्दर्य देना पड़ता है, पर बोलचाल की सजीवता को खोकर नहीं। इस प्रकार काव्य की भाषा की चार विशेषताओं का उल्लेख उन्होंने 'चिन्तामणि' ग्रन्थ के 'कविता क्या है' निबन्ध के अन्तर्गत 'कविता की भाषा' के प्रसंग में किया है। कविता, स्वाभाविक रूपों और व्यापारों को ग्रहण करती है, अत. चित्र उपस्थित करने के लिए भाषा का लक्षणा शक्ति से सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि सीधे ढंग से कहने पर मन के रमने में सन्देह है, अत. चित्र उपस्थित करने का विधान आवश्यक है। उदाहरणार्थ 'समय बीता जा रहा है' की अपेक्षा 'समय भागा जा रहा है' हमारे मन पर विशेष प्रभाव डालता है क्योंकि भागने का एक चित्र उपस्थित होता है। अत पहली विशेषता कविता की भाषा की यही है कि वह हमारे सामने जो भी वस्तु व व्यापार लाये वह साकार हो, मूर्त हो, जिसे कल्पना ग्रहण कर सके।

इसी भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं।[1] काव्य में जाति-संकेत करने वाले, तत्व निरूपण करने वाले, शास्त्रीय परिभाषा के शब्द या साम्प्रदायिक शब्दों का उपयोग अच्छा नहीं होता क्योंकि वे हमारे सामने कोई एक पूर्ण चित्र नहीं उपस्थित करते। विशेष दृश्यों को लेकर जो शब्द चलते हैं वही कविता के लिए महत्वपूर्ण हैं। कवि, अर्थ की ओर संकेत, दृश्यों को हमारे सामने उपस्थित करके ही करता है। उदाहरण के लिए प्राणी आयु भर क्लेश निवारण और सुख प्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख शान्ति प्राप्त नहीं करता, इस बात को गोस्वामी जी यों सामने रखते हैं। "डासत

---

१. 'चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ २३६, २४०।

ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो"[1] और "चरे हरित तृन बलि पशु जैसे" को शुक्ल जी ने लिखा है। इन दोनों में विशेष दृश्य, अर्थ के द्योतक हैं।

जिस प्रकार कविता हमारी आँखों के सामने चित्र उपस्थित करती है, इसी प्रकार संगीत मयिता या नाद-सौष्ठव भी हमारे हृदय पर प्रभाव डालता है और यह कविता की भाषा की तीसरी विशेषता है। वर्ण विन्यास का सौन्दर्य कविता के लिए आवश्यक गुण है। शुक्ल जी के विचार से "श्रुतिकटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य साधन के लिए ही हैं।"[2] पर इस नाद-सौन्दर्य के पीछे पड़कर भाव व अर्थ को छोड़, अनुप्रास आदि को ही अपना लेना ठीक नहीं। यह भावाभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। इस नाद-सौन्दर्य का एक और गुण होना है कि कविता बहुत दिनों तक जीवित रहती है। शुक्ल जी ने लिखा है कि नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र, भोजपत्र, कागज़ आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिल्कुल हटा नहीं सकते।

चौथी विशेषता व्यक्तियों के प्रसंग वश आवश्यक गुण-सम्पन्न नामों का प्रयोग है। प्रायः एक ही व्यक्ति के कई नाम होते हैं, पर जो नाम जिस प्रसंग में आवश्यक हो उसी नाम का उस प्रसंग में प्रयोग आवश्यक होता है। शुक्ल जी ने इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे किसी अत्याचारी से छुटकारा पाना है तो उस समय कृष्ण की पुकार 'राधिका रमण, वृन्दाविपिन विहारी' नामों से उपयुक्त नहीं, उस स्थान पर 'मुरारी या कंस निकंदन' नाम ही आवश्यक है।

भाषा की इन उपर्युक्त चार विशेषताओं के अतिरिक्त शुक्ल जी ने शब्दशक्तियों पर भी अपने स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों का क्षेत्र काव्य है। शुक्ल जी का मत है :—"भाषा का पहला काम है शब्दों द्वारा अर्थ

---

१. 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० २४२।
२. " " " २४४।

का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है, इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई झगड़े में और काव्य में भी। भावोन्मेष, चमत्कार-पूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अर्थ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण-सम्बद्धता नहीं दिखाई पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और 'योग्य' अथवा 'प्रकरण-सम्बद्ध' अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या सम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह वाक्य या कथन, प्रलाप मान मान लिया जाता है।.....अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।"[1]

व्यंजना के विषय में शुक्ल जी का, प्राचीन आचार्यों से कुछ मतभेद है। अभिधा मूला व्यंजना के संलक्ष्यक्रम व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य दो भेद पूर्व-मान्य हैं। शुक्ल जी इन्हें वस्तुव्यंजना और भावव्यंजना कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि पहले प्रकार में या वस्तु-व्यंजना में वाच्यार्थ, से व्यंग्यार्थ में आने का क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, पर असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में यह क्रम लक्षित नहीं होता। इन दोनों के अन्तर्गत इतना ही भेद प्राचीन आचार्यों ने माना है। पर शुक्ल जी इन दोनों का अन्तर इतना ही नहीं मानते। उनके विचार से तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तु-व्यंजना कहलाती है और भाव की व्यंजना जिसमें रहती है वहाँ भाव व्यंजना होती है केवल वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक के क्रम का लक्षित न होना ही लक्षण नहीं। इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ में जाना नहीं है। अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है' पर इस बात का ज्ञान स्वयं क्रोध या रति भाव, का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। अतः भावव्यंजना या रसव्यंजना सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।"[2] ऊपर कहे हुए कथन में शुक्ल जी ने अप्रत्यक्ष

---

१. इन्दौर साहित्य सम्मेलन में दिया गया भाषण पृ० ७।

२. इन्दौर का भाषण पृ० ६।

क्रम व्यंग्य की ओर अधिक व्याख्या की है और उसकी यथार्थ वृत्ति स्पष्ट की है, पर इससे उसकी असंलक्ष्य क्रमता पर कोई आरोप या आपत्ति नहीं लगती। आचार्यों ने इसकी असंलक्ष्य क्रमता के आगे विचार नहीं किया, इस दृष्टि से शुक्ल जी के विचार आदरणीय हैं, पर प्राचीन आचार्यों की धारणा त्रुटिपूर्ण नहीं।

दूसरी बात जो शुक्ल जी के शब्द शक्ति के विवेचन में महत्वपूर्ण है वह इस प्रश्न में है कि 'काव्य की रमणीयता किसमें रहती है?' शुक्ल जी का मत है कि वह वाच्यार्थ में रहती है लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में नहीं। इस विषय में इन्दौर में दिये भाषण में कहे शुक्ल जी के पूरे तर्क का उद्धृत करना आवश्यक है। वे उदाहरण देते हुए कहते हैं :—

> "आप अवधि बन सकूँ कहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊँ।
> मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊँ॥

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही असंगत, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब आप ही मिट जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या, पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि के अग्राह्य वाच्यार्थ में है। इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।"[1] इसी विवेचन को और आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि "तो फिर लक्ष्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? लक्षणा, व्यंजना के सहारे योग्य व बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है? इस प्रयास का अभिप्राय यही है कि काव्य की उक्ति चाहे जितनी ही अतिरंजित दूरारूढ़ और उड़ानवाली हो, उसका वाच्यार्थ चाहे कितना प्रकरणच्युत, व्याहत और असमन हो, उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य व बुद्धि-ग्राह्य अर्थ होना ही चाहिए।"[2] अब प्रश्न यह उठता है कि यदि उसमें रमणीयता नहीं, तो उसके प्राप्त करने की काव्य में आवश्यकता क्या है? इसका भी उत्तर वे देते हैं। "वह काव्य नहीं, काव्य को धारण करने वाला सत्व है जिसकी देख रेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। व्यंजना करने वाली उक्ति की साधुता और सच्चाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों या

१. 'इन्दौर वाला भाषण' पृ० १४।
२. ,, ,, ,, १४।

आलोचकों की पद्धा करती है। वे उस सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देखकर यह निर्णय करते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक ठिकाने का है या ऊटपटाँग। इस प्रकार यहाँ के साहित्य मीमांसकों की दृष्टि में काव्य का योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए, योग्यता चाहे खुली हो, चाहे छिपी हो। अत्यन्त अयोग्य, असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी कभी काव्य के प्रयोजन भर की योग्यता छिपी रहती है जैसे शोकोन्मत्त या वियोग विक्षिप्त प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही 'योग्यता' है।"[1]

इस प्रकार शुक्ल जी ने वाच्यार्थ में ही काव्य की रमणीयता मानी है। पर यहाँ भी विचारणीय बात यह है कि शुक्ल जी का कथन यथार्थ से प्राचीन मान्यता के विरोध में है या नहीं। प्राचीन आचार्य, व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ से युक्त वाच्यार्थ को ही काव्य मानते हैं, इससे उनका विरोध नहीं है, रमणीयता का कारण व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ ही है, पर लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ की सत्ता बिना वाच्यार्थ के है ही नहीं अतः शुक्ल जी की यह खोज कि काव्य की यथार्थ रमणीयता वाच्यार्थ में ही रहती है सत्य अवश्य है, पर यह भी मानना होगा कि वह होती लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के समावेश से ही है। व्यंग से जो अर्थ निकलता है वह काव्य नहीं वरन् वाच्यार्थ में छिपा या अर्द्धोन्मीलित व्यंग्य ही काव्य सौष्ठव से युक्त होता है।

अब छन्द पर शुक्ल जी के विचार देखना चाहिए। तथ्य तो यह है कि वे छन्द के पक्षपाती हैं। वे जिस प्रकार रूप विधान के लिए चित्र-विद्या को आवश्यक मानते हैं उसी प्रकार नाद विधान के लिए संगीत को। उनका स्पष्ट मत है कि "छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद सौन्दर्य की, प्रेषणीयता ( Communicability of Sound Impulse ) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है। हाँ, नए नए छन्दों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।"[2] नए छन्द, नये भावों के हिसाब से होना चाहिए पर छन्दों का त्याग वे अनुचित मानते हैं। कुछ लोग आजकल छन्दों को बन्धन मानते हैं। द्विवेदी जी भी छन्दों को बहुत आवश्यक न समझते थे। पर शुक्ल जी की सम्मति है कि कविता एक पूर्ण कला है। भाव निर्वाह में कभी कभी छन्द की गति के द्वारा शब्द चयन में कठिनाई अवश्य होती है, पर कविता कला के संगीत और चित्र दोनों पक्ष पूर्ण होने चाहिए, अन्यथा वह स्वयं अपूर्ण रहेगी। छन्द का त्याग कर देने से कविता संगीत की सहायता भी न ले सकेगी और कवि अपनी संगीतात्मक प्रतिभा का

१. 'इन्दौर वाला भाषण' पृष्ठ १४, १५।
२. 'काव्य में रहस्यवाद' ,, १३१।

उपयोग न कर सकेगा जो कि कविता को आकर्षण और रमणीयता प्रदान करती है। कविता का पूरा सौंदर्य छन्द को लय के साथ जोर से पढ़े जाने में ही मिलता है। छंदों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य होता है।[1] शुक्ल जी केवल बन्धन के कारण ही छन्द से कविता की स्वच्छन्दता को ठीक नहीं समझते, क्योंकि कला के लिए कुछ न कुछ बन्धन अवश्य रहेंगे, किसी न किसी नियम का अनुसरण अवश्य होगा और फिर यदि यह माना भी जाय तो हमारे सामने छन्दों में बँधकर भी उत्तम से उत्तम कविता करने वाले कवि हैं। अतः बन्धन मानकर छोड़ना ठीक नहीं इससे उसके एक अंग का ह्रास होता है। उसे स्वाभाविक बनाने के पक्ष में तो शुक्ल जी भी हैं। उनका मत है '—

"लय भी एक प्रकार का बन्धन ही है। जब तक नाद सौन्दर्य का कुछ भी भाग कविता में हम स्वीकार करेंगे, तब तक बंधेज कुछ न कुछ रहेगा ही। नाद सौन्दर्य की जितनी मात्रा आवश्यक समझी जायगी उसी के हिसाब से यह प्रतिबन्ध रहेगा। इस बात का अनुभव तो बहुत से लोगों ने किया होगा कि संस्कृत के मन्दाक्रन्ता, स्रग्धरा, मालिनी, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा इत्यादि वर्णवृत्तों में नाद सौंदर्य का पराकाष्ठा है, पर उनका बन्धन बहुत कड़ा होता है। अतः भावधारा या विचारधारा पूरी स्वच्छंदता के साथ कुछ दूर तक उनमें नहीं चल सकती। इसी से हिन्दी में मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रचार रहा है। वर्णवृत्तों में सवैये इसलिए ग्रहण किये गये कि उनमें लय के हिसाब से गुरु-लघु का बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो जाता है।"[2]

इस प्रकार शुक्ल जी भावानुसार स्वाभाविक छन्दों के पक्षपाती हैं जिससे संगीत की मधुरता के साथ साथ भाव अधिक से अधिक स्वच्छंदता से प्रकाशित हो सकें।

### कविता और कला

शुक्ल जी 'कला कला के लिए है' यह सिद्धान्त नहीं मानते। जैसा कि 'काव्य के स्वरूप' के प्रसंग में कहा जा चुका है भावानुभूत रसात्मक तन्मयता काव्य का प्रधान अंग है। भाव के बिना कला, वस्तु व्यंजना या लाक्षणिक चमत्कार चाहे जितना हो 'प्रकृत कविता न होगी' केवल वह कुतूहल वर्धक होगी, तन्मयता की पोषक न होगी। कला एक बहुत बड़ा साधन है शुक्ल जी इसे साध्य कभी नहीं मानते हैं, उनका कथन है कि

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ११९।

२ ,, ,, ,, १३७, १३८।

एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होना है।[1] वे मनोरंजन न काव्य का उद्देश्य मानते हैं और न कला का। इसके अर्थ में कला को वे काव्य के अन्तर्गत नहीं रखते। कला का अर्थ, अभिव्यक्ति का कौशल है। उनका विचार है कि यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए।[2] 'कला' को सजावट के अर्थ में शुक्ल जी अवांछनीय वस्तु समझते हैं यदि अभिव्यक्ति का कौशल जो भावों को उठा सके कला का अर्थ है तो शुक्ल जी को मान्य है अन्यथा उसका विरोध स्थान स्थान पर देखने में आता है। उदाहरणार्थ: "सारांश यह कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मनबहलाव। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य-चर्चा में बहुत ज़रूरी सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था"[3] इस प्रकार शुक्ल जी 'कला' को कविता का एक साधन मानते हैं। कला के अन्तर्गत काव्य को वे मानने के लिए तैयार नहीं। हाँ, कविता में अभिव्यक्ति-कौशल, वर्ण-विन्यास, चित्रण आदि कला के पक्ष रहते हैं जो कविता की आत्मा रस या भाव को ठीक ठीक प्रभावकारी रूप में प्रकट करने के लिए होते हैं।

### अलङ्कार

कथन की विशेषता को 'अलंकार' कहते हैं। यह विशेषता कभी वर्ण-विन्यास में पाई जाती है, कभी शब्द व अर्थ की क्रीड़ा में, कभी वाक्य के बाँकपन में, कभी प्रस्तुत-अप्रस्तुत के सादृश्य सम्बन्ध में, और दूर की कल्पना में। इन्हीं के विचार से अनेक अलंकार होते हैं। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में जो जो विलक्षणता दिखाई पड़ती है, उन्हीं के आधार पर अलंकारों का नाम रक्खा गया है। शुक्ल जी के विचार से वस्तु या व्यापार के तीव्र करने, रूप व गुणों का उत्कर्ष दिखाने के लिए कथन के ढंगों को अलंकार कहते हैं। पर अलंकार है साधन ही, साध्य नहीं। शुक्ल जी अलंकारों को भाव या भावना के उत्कर्ष के लिए ही मानते हैं। वे कहते हैं:—

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १०४।
२. 'चिन्तामणि', भाग १ ,, २४३।
३. ,, ,, ,, १४१।

"अलकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में हो (जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में) चाहे वाक्य वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशसा, परिसख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि मे) चाहे वर्ण विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास मे), लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही।"[1]

शुक्ल जी ने यह भी स्वीकृत किया है कि प्राचीन आचार्यों ने अलकारों से रस, रीति, गुण आदि सभी प्रकार के काव्य-सौष्ठव का तात्पर्य ग्रहण किया है। पर धीरे धीरे जैसे ही अन्य सिद्धान्तों का स्वरूप साफ होता गया अलकारों का भी स्पष्ट रूप निखर आया। और अब वर्तमान विद्वत्समुदाय अलकारों को वर्णन की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ ही मानता है। शुक्ल जी स्वाभावोक्ति को अलकारों की कोटि मे नहीं मानते, क्योंकि अलकार, वर्णन प्रणाली है और वस्तु-वर्णन प्रणाली या तथ्य-निर्देश, अलकार का काम नही। वस्तुओं, चेष्टाओं और व्यापारों का वर्णन, रसों और भावों के अन्तर्गत ही जायेगा, अलकार कहना ठीक नहीं है। रसवत् आदि भी इस प्रकार अलकार नहीं हैं। सभी वर्णन अलंकार के भीतर हों ही यह आवश्यक नहीं। वे अलकारों की भरमार, कविता में आवश्यक नहीं मानते। वर्णन की बहुत सी नवीन प्रणालियाँ ऐसी हो सकती हैं जो अभी तक नहीं खोजी गयी हैं क्योंकि कविता का क्षेत्र भी असीम है और अभिव्यक्ति का ढग भी। उमडते भाव की प्रेरणा से कथन की जो स्वाभाविक वक्रता होती है उसी के भीतर यथार्थ और सार्थक अलकार होते हैं। अतः शुक्ल जी ने अलकार की स्वाभाविकता पर जोर दिया है। स्वाभावतः आये अलकार अधिकाश किसी साम्य पर आधारित रहते हैं इस साम्य को शुक्ल जी ने तीन प्रकार का माना है जैसा कि उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण मे बताया है। "अलकारों मे अधिकतर साम्य मूलक अलकार ही अधिक चलते हैं। अत इस साम्य के सम्बन्ध मे थोड़ा विवेचन कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार के माने गये हैं। सादृश्य (रूप की समानता) साधर्म्य (धर्म अर्थात् गुण आदि की समानता) तथा शब्द-साम्य (केवल शब्द या नाम के आधार पर समानता)। इनमे से तीसरे को लेकर तमाशे खड़े करना तो केवल केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है। प्रथम दो के सम्बन्ध में ही कुछ निवेदन करने की आवश्यकता है। सादृश्य के सम्बन्ध में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि काव्य मे उसकी योजना, बोध या जानकारी करने के लिए नहीं की

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ २४७।

जाती है, बल्कि सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने के लिए की जाती है। जैसे कुछ व्यक्तियों की आँखों के सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि वे 'अंगारे सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि 'कमल' के समान लाल है।"[१]

इस प्रकार अलंकारों की स्वाभाविकता पर उनका विचार, समीचीन है। रीति को वे शुद्ध नाद से सम्बन्धित मानते हैं भाव से नहीं। उनका कथन है कि रीति का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों, रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया है।[२] शुक्ल जी प्राचीन काव्य-पद्धतियों को काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा के लिए बड़े काम की बताते हैं। पर यथार्थता यह है कि उनके द्वारा काव्य के नव निर्माण को अधिक प्रेरणा नहीं मिलती। उनका आधार लेकर चलने वाले काव्यों में रूढ़िगत एक रसता आजाने का डर रहता है।

रस

शुक्ल जी रस सिद्धांत के समर्थक थे अतः रस पर उन्होंने बहुत ही अधिक अपने विचार प्रकट किये हैं। वे रस को ही कविता का सब कुछ मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य की आत्मा रस है इस बात को ही अन्य विद्वानों ने दूसरे दूसरे शब्दों कहा है जिससे उनका नवीन विचार प्रकट हो। पण्डितराज जगन्नाथ का रमणीयार्थ प्रतिपादक काव्य भी रसात्मकता प्राप्त किये हुए है। भावमग्नता और रमणीयता को वे एक ही मानते हैं। जहाँ मन रमेगा वहीं हृदय भी प्रभावित होगा और रस का अनुभव होगा। अतः रस ही काव्य में प्रधान है। फिर कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है, इस परिभाषा में केवल भाव-पक्ष ही आता है, कल्पना और कलापक्ष छूट जाता है। इस आपत्ति का भी शुक्ल जी उत्तर देते हैं। उनका मत है कि भाव कोई अकेली मानसिक वृत्ति नहीं है वरन् इसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा और शरीर-धर्म सम्मिलित हैं यह मनोविज्ञान-द्वारा भी निरूपित हो चुका है। ये सभी भाव के अंग हैं। शुक्ल जी के मत से विभावों और अनुभावों का वर्णन कल्पना की अपेक्षा रखता है। अतः कल्पना पक्ष इसी के अन्तर्गत अपने आप ही आ जाता है।[३]

---

१. इन्दौर वाला भाषण पृ० ८६।
२. इन्दौर वाला भाषण ,, ६८।
३. 'काव्य में रहस्यवाद' ,, ५८।

शुक्ल जी रसात्मक प्रतीति के लिए कवि-कर्म के दो पक्ष मानते हैं, अनुभाव और विभाव। अनुभाव के भीतर कवि का उद्देश्य आश्रय (अर्थात् जिसके भीतर भाव उत्पन्न होते हैं) के रूप चेष्टा वचन आदि का वर्णन होता है और विभाव पक्ष के अन्तर्गत आलम्बन के रूप, चेष्टा और वचन का। इस विषय में शुक्ल जी दूसरों से भिन्न हैं। वे शृंगार रस में जो स्त्रियों के हाव या अलंकार होते हैं उन्हें विभाव पक्ष के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि इनके द्वारा मनोमोहकता बढ़ती है। नायिका, आलम्बन-रूप में है और हाव या अलंकारों का संयोग उद्दीपन का काम करता है। इन दोनों में कल्पना, कवि और पाठक या श्रोता दोनों के लिए अपेक्षित है। कवि के लिए अपेक्षित कल्पना को वे विधायक कल्पना कहते हैं और पाठक के लिए 'ग्राहक कल्पना' की आवश्यकता वे मानते हैं।[1]

फिर रसात्मक प्रतीति की दो कोटियाँ शुक्ल जी मानते हैं। उनका कथन है कि रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है :—

१. जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना।

२ जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन तो न होना, पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।[2]

इसमें प्रथम तो उत्तम प्रकार के प्रभाव को व्यक्त करता है और दूसरा मध्यम। यहीं शुक्ल जी ने स्थायी भावों का महत्व भी स्पष्ट किया है। पूर्ण रस की अनुभूति के लिए जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन हो जाना आवश्यक है, पर यह तभी होता है जब कि साहित्य के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा रस के रूप में प्रकट हुए हों या विकसित हुए हैं। अन्य भाव, विभाव, अनुभाव और संचारियों से मिलकर भी पूर्ण तादात्म्य की अनुभूति नहीं देते। इसीलिए आचार्यों ने स्थायी भावों को अलग रखकर उन पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है :—

"पूर्ण रस की अनुभूति अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्य-दृष्टि से

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ५६।

२. ,, ,, ,, ,, ५६।

जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत-रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय हो जाता है वही पुनीत रस-भूमि है। आश्रय के साथ यह तादात्म्य, आलम्बन का यह साधारणीकरण जो स्थायी भावों में होता है, दूसरे भावों में चाहे वे स्वतंत्र रूप में भी आये हों नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं"[१] रसानुभूति या रस की प्रतीति का और अधिक विश्लेषण शुक्ल जी ने साधारणी-करण के अन्तर्गत किया है। साधारणी-करण की क्रिया रसानुभूति के तत्त्व को स्पष्ट करती है। जब आश्रय का आलम्बन केवल उसी का आलम्बन न रहकर पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है और वह भी उसके प्रति उन्हीं भावों का अनुभव करता है जो आश्रय करता है तब उसे साधारणीकरण की दशा कहते हैं। शुक्ल जी का कथन है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। विशेष व्यक्ति में ही वर्णन या अभिनय के द्वारा ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है कि उसके प्रति सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। रस-मग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। अपना अलग हृदय नहीं रहता।

इस अवस्था को तादात्म्य की अवस्था कह सकते हैं। रस प्रतीति की यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। शुक्ल जी इसके अतिरिक्त रस की एक नीची अवस्था[२] और मानते हैं, इस अवस्था का हमारे प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों में विवेचन नहीं हुआ है। इस अवस्था में पाठक या श्रोता, पात्र के भावों का अनुभव स्वयं नहीं करता। आश्रय, आलम्बन के प्रति जिन भावों में मग्न होता है पाठक या श्रोता उन भावों में मग्न न होकर दूसरे प्रकार के भावों में मग्न होता है जैसे कि कोई अत्याचारी पुरुष किसी निरपराध व्यक्ति पर क्रोध का भाव दिखला रहा है तो श्रोता के अन्तर्गत क्रोध दिखलानेवाले व्यक्ति के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि के भाव, जाग्रत होंगे। यह रस-प्रतीति की नीची अवस्था है।

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ६०।

२. 'चिन्तामणि' भाग १, ,, २१४।

इस दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव रसात्मक ही होगा। इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की मान सकते हैं।[1] शुक्लजी का कथन है कि इस अवस्था में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है किन्तु पहली अवस्था और इसमें अन्तर इतना ही है कि पहली अवस्था में पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का भी आलम्बन होता है और इस अवस्था में आश्रय, जिस के अन्दर स्वयं भाव उठ रहे हैं पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है और तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। कभी कभी जहाँ कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ तादात्म्य कवि के भावों के साथ होता है क्योंकि कवि ने किसी न किसी भाव से प्रेरित होकर के ही यह चित्रण किया है।

दूसरी अवस्था का एक और रूप शुक्ल जी ने बताया है जिसमें दोनों अवस्थाओं का थोड़ा अंश रहता है। जब कभी कोई विचित्रशील वाला व्यक्ति हमारे सामने आता है और उसके प्रति घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल आदि भावों में से कोई अपरितुष्ट दशा में रह जाता है और कोई दूसरा पात्र आकर पहले पात्र के प्रति उठे हुए भावों की व्यंजना करता है तब पाठक या दर्शक एक अपूर्व तुष्टि का अनुभव करता है। यह भी रसानुभूति की एक दशा है जिसमें दोनों दशाओं का योग रहता है यद्यपि दोनों अलग अलग रहती हैं। इस प्रकार शील द्रष्टा के रूप में भावानुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य, दोनों को, दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ शुक्ल जी ने मानीं हैं। उनका अन्तर उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता सँभाले रहता है और द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।

इस रसानुभूति के लिए जो कि साधारणीकरण-द्वारा सिद्ध होती है यह आवश्यक है कि पात्र जो भावों का आलम्बन होता है वह व्यक्तिविशेष होकर के भी हमारी सामान्य भावनाओं का आलम्बन हो सके। उनके चरित्र चाहे जितने ऊँचे या नीचे हों हम उनके प्रति प्रेम श्रद्धा या घृणा क्रोध आदि भावों का अनुभव कर सकें। यदि वह सामान्य-विशेष व्यक्ति न होकर विरल विशेष व्यक्ति होगा अर्थात् उसका चरित्र ऐसा होगा जैसा

---

१. 'चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ ३१६।

कि हम नित्य प्रति के जीवन मे नहीं देखते तो उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्भव नहीं, वह केवल कुतूहल का पात्र होगा। यहाँ यह बात बता देना आवश्यक है कि हमारे यहाँ महाकाव्य या नाटक के नायक प्रसिद्ध व्यक्ति को ही मानने का जो निर्देश किया गया है वह इसी तादाम्य की गहराई के लिए ही। जो प्रसिद्ध और ऊँचे चरित्र वाले होते हैं उनके प्रति हमारे कुछ न कुछ भाव पहले से ही रहते हैं। इसलिये काव्य में उनके प्रति भावानुभूति ही शीघ्र होती है।

शुक्ल जी भाव के अन्तर्गत विभाव पक्ष को प्रधान स्थान देते हैं। उनका कहना है कि अपने मुख से अपने भावों का विश्लेषण उतना अच्छा नहीं जितना कि वस्तु स्थिति का सजीव चित्रण करके पाठक या दर्शक के भीतर अनुभूति जाग्रत करना। उन्होंने कहा है कि अपनी अनुभूति या सम्वेदना का लम्बा चौड़ा ब्योरा पेश करने की अपेक्षा उन तथ्यों या वस्तुओं को पाठक की कल्पना मे ठीक ठीक पहुँचा देना जिन्होंने वह अनुभूति या सम्वेदना जगाई है कवि के लिए हम अधिक आवश्यक समझते हैं। सहृदय या भावुक पाठक अपनी अनुभूति का पथ बहुत कुछ आपसे आप निकाल लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे कवियों की अनुभूति का आभास बहुत कुछ उनकी वस्तु योजना की शब्द-भंगी में ही मिल जाता है[1] इसी भाव को उन्होंने अपने 'काव्य में प्रकाशित दृश्य' नामक निबन्ध में प्रगट करते हुए कहा है "मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता मे रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"

रसानुभूति में हम अपने नित्य प्रति के जीवन को भूलकर एक काल्पनिक जीवन में तन्मय हो जाते हैं। इसलिये इसको अलौकिक अनुभव के रूप मे विद्वानों ने ग्रहण किया है। शुक्ल जी उसे इस रूप में नहीं मानते। वे इस अनुभव को भी जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों के समान ही ग्रहण करते हैं। वे जीवन मे ही एक सामजस्यपूर्ण दशा मे किया गया अनुभव, रसानुभव के समान मानते हैं। उनका कहना है कि रसानुभूति या काव्यानुभूति को उपर्युक्त विशेषता के कारण उसे लोकोत्तर जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है। पर वास्तव में वह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं है।[2] इसके साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शुक्ल जी सभी रसों के अनुभव को आनन्दमय नहीं मानते। उनका स्पष्ट विचार है—

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ७६, ७७।

२. [illegible] ८२।

"क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्बन्ध में साहित्य-प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनन्द-स्वरूप कहा गया है, अतः दुःख रूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है। यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर "आनन्द" शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ में हृदय की व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। इस दशा की प्राप्ति के लिए समय-समय पर प्रवृत्ति होना आश्चर्य की बात नहीं। करुणरस प्रधान नाटक में दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं" केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्तदशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[1]

यह हृदय की मुक्त दशा का अनुभव ही जो कि सत्वोद्रेक के अवसर पर होता है रस से युक्त है, पर सुख-प्रधान रस और दुख-प्रधान रस की अनुभूतियाँ एक सी ही हों ऐसा नहीं। आनन्द व उल्लास की अनुभूति करुणा और क्रोध की अनुभूति से बहुत भिन्नता रखती है जो विचारणीय है। रसानुभूति के पहले की अवस्था का भी शुक्ल जी ने वर्णन किया है। (रस की अवस्था तो वस्तु या भाव की पूर्ण व्यंजना होने पर होती है। काव्य के पूर्ण होने पर रस की प्रतीति मानी गयी है। इसके पूर्व की अवस्था, या पूर्व की उमंग को शुक्ल जी ने रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कहकर व्यक्त किया है।[2]

रसानुभूति के ही प्रसंग में एक और महत्वपूर्ण विश्लेषण शुक्ल जी का है। भावों की प्रक्रिया के भीतर भाव का कुछ अंश वे आश्रय की चेतना के प्रकाश में मानते हैं और कुछ अन्तस्संज्ञा के भीतर छिपा हुआ। उदाहरण के लिए रति भाव के अन्तर्गत ही कभी कभी असूया संचारी इस तीव्रता के साथ अपनी चरम सीमा में व्यक्त होता है कि आश्रय के भीतर स्वयं ही रतिभाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता। यहाँ असूया, प्रकाश में और स्थायीभाव रति, अंतस्संज्ञा के भीतर है। शुक्ल जी इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में प्रधान पात्र के अन्तर्गत मूल, प्रेरक भाव या बीज-भाव मानते हैं। इसी बीज भाव की

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ८२।

२. ,, ,, ,, , ,, ७१।

प्रेरणा से घटना-चक्र चलता है और अनेक भाव स्थायी और संचारी बीच में जगते हैं। इसे शुक्ल जी दोनों से भिन्न मानते हुए कहते हैं:—"इस बीज भाव को साहित्य-ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।"[1]

शुक्ल जी ने बीज-भाव के अन्तर्गत कोमल और मधुर, कठोर और तीक्ष्ण दोनों ही प्रकार के भावों को माना है। यदि बीज-भाव मङ्गलमूलक है तो उसकी अभिव्यक्त के क्षेत्र में आये सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होंगे। और इस प्रकार के बीज भाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र के अन्तर्गत होगी इसके भावों के साथ पाठकों का तादात्म्य हो सकता है। पर दूसरे प्रकार के पात्र जिनके भावों के साथ पाठकों के भावों का तादात्म्य नहीं होता, मङ्गलमूलक बीज-भाव की प्रतिष्ठा वाले पात्रों की क्रिया में बाधा डालने वाले होते हैं। उदाहरण के लिए राम, मङ्गल मूलक बीज-भाव को लेकर चलते हैं। यदि वे रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यजना करेंगे तो इनके साथ पाठक का तादात्म्य होगा पर यदि रावण राम के प्रति क्रोध या घृणा का भाव प्रकट करेगा तो उसके साथ पाठकों के भावों का तादात्म्य नहीं होगा। यही दोनों बातें दो प्रकार की शुक्ल जी द्वारा वर्णित रसानुभूति की कोटियों के कारण रूप हैं।

यह तो हुआ रसानुभूति की दशा का विश्लेषण। इसके लिए कल्पना और भावुकता दोनों ही कवि के लिए आवश्यक है। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।[2] अतः कल्पना और भावुकता के सम्बन्ध से जो रसात्मक बोध के विविधरूप होते हैं उन पर आचार्य शुक्ल ने विस्तार के साथ अपने विचार प्रगट किये हैं। इसके अन्तर्गत उन्होंने काव्यगत रसानुभूति तथा जीवन में रसात्मक बोध के रूपों का वर्णन किया है। इस प्रसंग में भी उनकी नवीन धारणा महत्व की है। शुक्ल जी हमारे बीच में उठने वाले भावों को हमारे चारों ओर फैले हुए जगत् के ही रूपों में प्रतिष्ठित मानते हैं। उनका कथन है कि जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत होती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं। जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।[3] उनका स्पष्ट विचार है

१. 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० २०२।
२. 'काव्य में रहस्यवाद' ,, ७१।
३. 'चिन्तामणि' भाग १ ,, ३२६।

कि हमारे भीतर दिखाई पड़ने वाले रूप विधानों का आधार प्रत्यक्ष देखे हुए रूप ही रहते हैं। अंतःकरण में उठने वाले रूप भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो ऐसे रूप होते हैं जो हमारे पहले ही प्रकार से देखे हैं जिनका हमारा साहचर्य भी गहरा है और एक एक करके अधिक हमारे अन्तस्तल पर छा जाकर नहीं होते हैं और हम उस समय कहीं बैठे हैं; पता नहीं रहते हैं; सब भूल जाते हैं। अपने को भूल कर उन्हीं भाँकी दृश्यों में घुल मिल जाते हैं। ऐसी स्मृति रहती है। पर उनकी बाहर की ओर प्रेरक शक्ति निकल उन्हीं में लीन हो जाती है। इन दृश्यों के साथ हमारी किसी न किसी भावना का सम्बन्ध है। या तो वह बाल्यकाल के दृश्य होंगे या माता-पिता सम्बन्धी, मित्रों के साहचर्य के या युवावस्था के। तात्पर्य यह कि उनमें अतीत की स्मृति ही, उनकी मोहकता और मार्मिकता का मूल-कारण है। इस प्रकार की अन्तःकरण की अनुभूति को 'स्मृति' कहते हैं। इनमें देखे सुने दृश्य ज्यों के त्यों रहते हैं बुद्धि से सम्बन्धित न होकर हमारी भावुकता के ही ये सगे होते हैं। दूसरी प्रकार के अन्तःकरण में अनुभूत रूप वे होते हैं जो हमारे प्रत्यक्ष किये रूपों या ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब न लेकर उनके आधार पर नये रूप खड़े करते हैं। इस प्रकार की रूप-योजना कल्पना के अन्तर्गत है। इस प्रकार समस्त रूप विधानों को शुक्ल जी ने तीन कोटियों में रखा है[1]—

१. प्रत्यक्ष रूप-विधान।
२. स्मृत रूप-विधान।
३. कल्पित रूप-विधान।

इन रूप विधानों में से कल्पित रूप विधान के अन्तर्गत तो रसानुभूति जाग्रत करने की क्षमता को सभी ने माना है पर शुक्ल जी का विचार है कि प्रत्यक्ष और स्मृत रूप-विधानों द्वारा भी मार्मिक अनुभूति जागरित होती है और वह रसानुभूति की कोटि में आ सकती है। बात यह है कि हमारे हृदय में प्रत्यक्ष रूप, परम्परा से अतीत काल से प्रभाव डालते हैं और उन्हीं के आधार पर हमारी वासना बनी है। शुक्ल जी का कथन है कि इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होगी वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं[2]। प्रत्यक्ष रूपों की यही मार्मिक अनुभूति ही भावुक का लक्षण है। प्रत्यक्ष के अन्तर्गत शुक्ल जी ने केवल चाक्षुष् ज्ञान को ही नहीं लिया वरन्

१. 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० ३३०।
२. ,, ,, ,, ३३१।

इसके अन्तर्गत शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श को भी माना है क्योंकि जब कभी वस्तु-व्यापार का वर्णन होता है तब इन सभी का महत्वपूर्ण स्थान होता है। पर साहित्य-समीक्षक प्रत्यक्ष रूप-विधानों को काव्यानुभूति के अन्तर्गत नहीं मानते क्योंकि काव्य, शब्द-व्यापार है। अतः प्रत्यक्ष का कल्पना के भीतर आया रूप ही शब्द-व्यापारों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। काव्य की प्रक्रिया के अन्तर्गत ये रूप कल्पित ही होते हैं अतः जो केवल कवि-कर्म का ही विवेचन करते हैं उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे कल्पना-पक्ष पर विचार करते और रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष-बोध से कोई सम्बन्ध न रखते।

प्रत्यक्ष रूपों के अनुभव को रसात्मक अनुभूति से अलग करने वाली मुख्य बात साधारणीकरण है। इस प्रत्यक्ष अनुभव में साधारणीकरण अर्थात् एक साथ अनेक लोगों का अनुभव रहता है या नहीं रहता, यह प्रश्न विचारणीय है। शुक्ल जी का इस विषय में मत है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।[1] यह दशा उन दृश्यों के द्वारा प्राप्त होती है जो मनुष्यमात्र या सहृदयमात्र पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। अब हम रस-दशा का और अधिक विश्लेषण करके प्रत्येक रस को लेकर रस दशा की विशेषताओं-द्वारा यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि प्रत्यक्ष रूपानुभूति के अन्तर्गत भी उन विशेषताओं का समावेश कहाँ तक रहता है।

रसात्मक अनुभूति के शुक्ल जी ने दो लक्षण कहे हैं—१. अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार और २. किसी भाव के आलम्बन का सहृदय-मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में भी भाव का उदय।[2]

---

१. 'चिन्तामणि' भाग १ पृष्ठ ३३७।

२. " " " ३३६।

इन दोनों का समावेश शुक्ल जी प्रत्यक्ष रूप विधान के अन्तर्गत करते हैं उनका कथन है कि "यदि हम इन दोनों बातों को प्रत्यक्ष उपस्थित आलम्बनों के प्रति जगने वाले भावों की अनुभूतियों पर घटाकर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।"[1] इसकी पुष्टि शुक्ल जी ने एक स्थायी भाव को लेकर की है। रति भाव के अन्तर्गत गहरी प्रेमानुभूति में व्यक्ति अपने तन बदन को भूला रहता है। बीच बीच में यदि उसे स्मरण हर्ष, विषाद आदि होता है तब भी आत्म विस्मृति की अवस्था रहती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रेमानुभूति सदैव सभी सहृदयों के हृदयों में उसी भाव का उदय नहीं कराती, पर इसके साथ यह भी कथन असत्य होगा कि कोई भी रति भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति, सब के हृदय में भाव नहीं उठा सकती। जैसा कि आलम्बन यदि अत्यन्त मोहक होता है तो सभी को उसकी रमणीयता के प्रभाव वश उसके प्रति प्रेम का अनुभव होता है।

'हास' में तो यह बात होती है। ऐसे पात्र होते हैं कि उनके सामने आने पर अपने व्यक्तिगत सुखदुख भूल सभी या बहुतेरे एक विचित्र आल्हाद का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार 'उत्साह' की भी बात है। यदि उत्साह ऐसा है जिसमें केवल व्यक्तिगत लाभ के सम्बन्ध का साहस आता है तो बात दूसरी है पर यदि काम ऐसा है जिसमें सभी का या अधिकांश व्यक्तियों का भला होता है तो अवश्य सहृदय व्यक्ति उन व्यक्तियों की भावनाओं के साथ एक हो जाते हैं और अपने व्यक्तित्व को कुछ क्षणों के लिए भूल जाते हैं। यही बात क्रोध के सम्बन्ध में भी है। क्रोध यदि किसी सार्वजनिक हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति है तो उस क्रोध का रसात्मक अनुभव हमें अवश्य होगा। 'शोक' स्थायी भाव के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने कहा है :—

"'शोक' अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है।"[2] इस प्रकार 'शोक' की अनुभूति रसात्मक नहीं पर 'करुणा' की अनुभूति को तो हम रसात्मक मान ही सकते हैं। प्रकृति के नाना प्रकार के मधुर दृश्यों में अपने को भूल जाना तो और भी स्वाभाविक और स्वय सिद्ध सा है और इस प्रकार शुक्लजी का निष्कर्ष यही है कि "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से

---

१. देखिये 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० ३४०

२ „ „ „ „ ३४२

सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[1]

शुक्लजी के इस विवेचन से 'रसानुभूति के अलौकिकत्व' का भी झगड़ा साफ हो जाता है। आजकल बहुत से लोग रस की अनुभूति को अलौकिक नहीं मानना चाहते हैं उनका कथन है कि रसात्मक अनुभूति हमें लोक के बीच जीवन के मध्य भी होती है। शुक्लजी ने अपने प्रत्यक्ष रूप विधान के अन्तर्गत कुछ उसी समस्या को हल किया है। शुक्लजी प्रत्येक रसात्मक अनुभूति को समूहगत मानते हैं और ये व्यक्तिगत सभी अनुभूतियों को भी रस की कोटि में ले जाते हैं। रसानुभूति के लिये व्यक्तिगत अनुभूति को रस की कोटि में मानने के दोनों लक्षण जो कि ऊपर कहे गये हैं होने चाहिये।

रसात्मक बोध का दूसरा स्वरूप शुक्लजी स्मृत रूप विधान मानते हैं। शुक्लजी के ही शब्दों में "जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आये हुए कुछ रूप व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है।"[2] इस स्मृति को वह दो प्रकार की मानते हैं—एक विशुद्ध स्मृति और दूसरी प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

विशुद्ध स्मृति के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं जिनका प्रत्यक्ष अतीतकाल में हमने किया था और वही हमारे अन्तःकरण में उपस्थित होकर हमें भावमग्न करती हैं। इनमें रसानुभूति का कारण साहचर्य भी विशेष रूप में होता है। साहचर्य का प्रत्यक्ष दशा के समय चाहे उतना प्रभाव न हो पर समय और स्थान का व्यवधान पड़ते ही उसका माधुर्य अनोखा हो जाता है। "इस साहचर्य का प्रभाव सबसे प्रबल रूप में स्मरण काल के भीतर देखा जाता है"[3] यह शुक्लजी का भी विचार है। शुक्लजी स्मरण द्वारा रसानुभूति के भीतर रति, हास और करुणा को ही विशेष रूप से मानते हैं अन्य भाव इसके भीतर कम आते हैं।

प्रत्यभिज्ञान तब होता है जब किसी प्रत्यक्ष देखी वस्तु या दृश्य से उसके सम्बन्ध की अनेक बातें याद हो आती हैं। इसमें कुछ अंश रहता है और बहुत सा अंश उसके

१. देखिए 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० ३४४।
२ ,, ,, ,, ,, ३४५।
३. ,, ,, ,, ,, ३४६।

सम्बन्ध से स्मरण में आता है। शुक्लजी इसमें भी रस संचार की गहरी शक्ति मानते हैं। प्रत्यभिज्ञान का वर्णन बराबर काव्यों में आता है।

स्मृत रूप विधान के अन्तर्गत शुक्ल जी एक और दशा लेते हैं वह है 'स्मृत्याभास कल्पना' की। इसका सम्बन्ध अध्ययन से है।? किसी इतिहास में पढ़ी घटना की स्मृति जो पहले कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष हो चुकी है इसके अन्तर्गत है। शुक्ल जी आप्त शब्द या इतिहास इसका आधार मानते हैं। दूसरे प्रकार की 'स्मृत्याभास कल्पना' वे किसी ऐसे दृश्य के प्रत्यक्ष होने पर अध्ययन द्वारा कल्पना से प्रत्यक्ष किये गये दृश्यों की स्मृति के भीतर मानते हैं। यथार्थ में यह कोई अलग विधान नहीं। निरीक्षण द्वारा नहीं वरन् अध्ययन द्वारा प्रत्यक्ष किये गये रूपों का ही यह स्मृत रूप होता है। इस रूप विधान के अन्तर्गत अतीत का आकर्षण काम करता है और उसी के कारण ही इसे रसात्मक स्वरूप प्राप्त होता है।

तीसरा और अन्तिम तथा प्रधान रसात्मक बोध का रूप कल्पित रूप विधान है। काव्य में कल्पना का बड़ा महत्व पूर्ण स्थान है। कल्पना हमें रसात्मक बोध अथवा रसानुभूति में सहायता देती है। पर यह कल्पना साधन ही है साध्य नहीं। शुक्ल जी ने स्पष्ट कह दिया है ("कविता में कल्पना को हम साधन मानते हैं साध्य नहीं"[1] )रसात्मक बोध का कल्पित रूप विधान सभी को मान्य है। शुक्ल जी कल्पना से केवल 'नूतना सृष्टि का जो चमत्कार उत्पन्न करने में ही सहायक होती है, तात्पर्य नहीं लेते, वरन् उनके विचार से कल्पना हमारे सामने मार्मिकता से भरे रूपों को खड़ा करती है जिनमें हमारी भावनायें मग्न होती हैं। रूप उपस्थित करना कल्पना का ही व्यापार है अत: भावों का भी मूर्त रूप खड़ा करना कल्पना का ही काम है। चिन्तामणि में शुक्ल जी कहते हैं।

"सारा रूप विधान कल्पना ही करती है अत अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है वह भी कल्पना ही द्वारा।"[2] अनदेखे चित्र भी कल्पना उपस्थित करती है, पर हमारी अनुभूति को उकसाने वाले चित्रों व रूपों का आधार देखे चित्र ही हो सकते हैं। नितान्त अलौकिक रूप विधान केवल वैचित्र्य का ही भंडार रहेगा। भाव का आगमन उसमें नहीं हो पायेगा। अत

१. काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ ८७।

२. चिन्तामणि भाग १ ,, २६१

विभाव को पूर्ण रीति से हमारे सामने उपस्थित करना कल्पना का मुख्य कार्य है। कहने का अर्थ यह है कि कल्पना का कार्य प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों को ही कविता में प्रत्यक्ष करा देना है। अप्रस्तुत भी भाव के साथ हो क्योंकि भाव की प्रेरणा से जो, अप्रस्तुत लाये जाते हैं उनकी प्रभविष्णुता पर कवि की दृष्टि रहती है इस बात पर रहती है—कि इनके द्वारा भी वैसी ही भावना जगे जैसी प्रस्तुत के सम्बन्ध में।"[1]

इसके अतिरिक्त कल्पना का कार्य भाषा को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कार पूर्ण बनाने में भी रहता है। लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियाँ कल्पना द्वारा ही उपस्थित होती हैं जो हमें रसात्मक बोध में सहायता देती हैं। यह एक एक व्यापार को एक एक क्रिया का रूप देकर उसका दृश्य सामने उपस्थित कर देती हैं। अमूर्त भावनाओं को मूर्त बना देना कल्पना का ही काम है। अतः कल्पना का भाव के सम्बन्ध में काव्य में बड़ा महत्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी रस सिद्धान्त के दृढ पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि यथार्थतः काव्य, रस में ही है। उसका रूप युग युग में बदलते आदर्शों और बदलती मनोवृत्तियों के साथ नवीन होता रहता है, किन्तु आधार में वही प्राचीन आचार्यों द्वारा स्थापित गहरी नींव अवश्य रहेगी। 'काव्य में रहस्यवाद' के अन्तिम पृष्ठ में उन्होंने लिखा है।

"इस परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा के लिए हमें अपनी रस निरूपण पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार और संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गयी है, पर इसके ढाँचों का नए नए अनुभवों के अनुसार, अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है।"[2] इस प्रकार रस सिद्धान्त की व्यापकता शुक्ल जी के विचार से स्पष्ट है।

काव्य के सम्बन्ध में प्राचीन सिद्धान्तों पर शुक्ल जी के विचार जान लेने के पश्चात् आधुनिक वादों पर उनके विचार जानना भी आवश्यक है। आधुनिक वादों में प्रमुखतः प्रचलित, यथार्थवाद आदर्श वाद, अभिव्यंजनावाद, छायावाद, रहस्यवाद आदि हैं। शुक्ल जी का विचार साहित्य में अनेकवादों के प्रचलन में सहयोग नहीं देता। यथार्थ में वादों के चक्कर में पड़कर सुन्दर काव्य पनपता ही है। यह बात दूसरी है कि काव्य सम्बन्धी आलोचना के लिए हम इन वादों की विशेषताओं का वर्णन करें। पर वाद के

---

१. 'चिन्तामणि' भाग १ पृष्ठ ३६१।

२ काव्य में रहस्यवाद ,, १११।

भीतर आकर सांप्रदायिक संकीर्णता सी आ जाती है। शुक्ल जी काव्य को सांप्रदायिकता से दूर की वस्तु मानते हैं, इसी दृष्टिकोण से उन्होंने इन सभी वादों पर विचार किया है। सबसे पहले हम रहस्यवाद को लेते हैं।

### रहस्यवाद

रहस्यवाद पर उनकी स्वतंत्र, पुस्तक है 'काव्य में रहस्यवाद', जिसमें उन्होंने रहस्यवाद के अतिरिक्त, अभिव्यंजनावाद, कलावाद, छायावाद, रस, छंद अलंकार आदि पर भी विचार किया और जिससे आवश्यक उदाहरण विचारणीय प्रसंगों में दिये जा चुके हैं। रहस्यवाद के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने यह विचार किया है कि काव्य में रहस्यवाद का क्या स्थान है? कहाँ तक रहस्य भावना काव्य के लिए उपयुक्त है और कहां तक अनुपयुक्त, तथा हिन्दी काव्य में रहस्यवाद को लेकर लिखे गये काव्य कहां तक काव्यत्व का समावेश करते हैं और कहाँ तक वे भारतीय हैं, इन सभी बातों का विचार उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका' तथा 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में किया है। रहस्यवाद यथार्थ में एक दार्शनिक सिद्धान्त है जो अद्वैतवाद से विशेष सम्बन्ध रखता है और इसको लेकर भारत में ही नहीं अन्य देशों में अनेक सम्प्रदाय बने हैं, सूफी रहस्यवादी, निर्गुणी आदि इसी से सम्बन्धित हैं। साधन की दृष्टि से अनेक प्रकार की क्रियाओं के बीच अपने को परमात्मामय और अपने भीतर उसका अनुभव करना या उस अव्यक्त और असीम से कोई सम्बन्ध स्थापित करना आदि बातें इसके भीतर प्रचलित थीं। पर शुक्ल जी का विचार है कि काव्य के लिए साम्प्रदायिक साधना का कोई महत्त्व नहीं। उनकी दृष्टि से काव्य के स्वरूप भौतिक और लौकिक है। हमारी देखी सुनी इन्द्रियगोचर या इन्द्रिय गम्य बातें या भावनायें ही काव्य का आधार और विषय बन सकती हैं अलौकिक अगोचर और अज्ञात नहीं। इस प्रकार का आचार एवं विषय ग्रहण करने पर काव्य विलक्षण और चमत्कार पूर्ण चाहे भले हो पर व्यापक व प्रभावशाली नहीं हो सकता। और इस विचार के तो वे विरोधी हैं कि रहस्यवाद काव्य ही काव्य है अन्य नहीं। इस विचार को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है:—

"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय सा ताण्डव करने या मुन्दे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना कहाँ तक ठीक है?"[1]

१. काव्य में रहस्यवाद पृ० ४७।

शुक्ल जी कविता को मनोभावों का चित्रण मानते हैं और हमारे मनोभावों का सम्बन्ध गोचर जगत से ही विशेष है। जो अगोचर है, अव्यक्त है, अनसुना है उसके साथ प्रेम सम्बन्ध कैसा ? अतः भारतीय दृष्टि कोण से उसे प्रेम या श्रद्धा का पात्र बनाने के लिए उस अव्यक्त, असीम व निराकार को सगुण व साकार रूप में प्रतिष्ठित किया है और उसके पश्चात् उसे भक्ति व काव्यगत भावों का विषय बनाया है जो सर्वथा संगत है। चाहे राम की भक्ति हो, चाहे विष्णु, शिव या शक्ति की इन सभी का एक स्वरूप हमारे सामने है और उनके गुण भी हमारे बीच में हैं अतः ये काव्य के विषय हो सके हैं। पर अव्यक्त व असीम अपने अव्यक्त रूप में कैसे भावों का विषय हो सकता है? भाव कैसे उस पर टिक सकते हैं ? यह बात उनके लिए समस्या है। वह जिज्ञासा का विषय हो सकता है जैसा कि दर्शनों में है पर प्रेम या अभिलाषा की वस्तु नहीं। उनका कथन है कि:—"भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं।"[१] और इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं:—

"जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान से होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रति भाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त सगुण ईश्वर या भगवान् के सान्निध्य की अभिलाषा, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात की अभिलाषा, यह बिलकुल विदेशी कल्पना है।——अव्यक्त, अगोचर, ज्ञानकाण्ड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासना क्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्य-क्षेत्र में।"[२]

यहाँ पर शुक्लजी ने यह बात मान ली है कि अव्यक्त व असीम ब्रह्मज्ञान का या खोज का विषय है और सगुण, साकार अथवा अवतार के रूप में प्रतिष्ठित ब्रह्म भक्ति या उपासना का विषय। निराकार और असीम ब्रह्म को वे अज्ञात मानते हैं। यहीं पर दोनों दृष्टियों में भेद उपस्थित होता है। शुक्लजी ज्ञात या सगुण ईश्वर ही को उपासना का विषय मानते हैं। पर यदि हम सगुण का अर्थ अवतार में प्रतिष्ठित लेते हैं तब तो आज कल की सामान्य मान्यता एवं विश्वास पर धक्का लगता है। यह अवतार वाद ही

१. काव्य में रहस्यवाद पृ० ४७

२. ,, ,, ,, ४८

विलक्षणता लिये है। अवतारवाद के रूप में तो हम मनुष्य की ही उपासना और गुणगान करते हैं। हमारी बुद्धि और जिज्ञासा की तृप्ति भी इस बात से ही होती है कि ब्रह्म असीम है, निराकार है। वह अज्ञात अब नहीं रहा, हाँ, पूर्ण ज्ञात अवश्य नहीं है। वह असीम और निराकार रूप में ही ज्ञात है, और सभी रहस्यवादी उसे अव्यक्त भी नहीं मानते, वरन् अधिकाश रहस्यवादी तो उसे अंशतः व्यक्त ही मानकर अपना प्रेम या श्रद्धा प्रकट करते हैं और उस व्यक्त रूप में असीमता एवं निराकारता की कल्पना करके मानों भावों और बुद्धि दोनों का ही सामंजस्य उपस्थित करते हैं अतः यह बात कि रहस्यवादी काव्य का विषय असीम या निराकार ब्रह्म है इसलिये उसमें भाव नहीं आ सकते, पूर्ण सत्य नहीं है। रहस्यवादी उस ज्ञात और व्यक्त ईश्वर को लेते हैं जो उन्हें अंशत ज्ञात और अंशतः व्यक्त जान पड़ता है, पर जिसका स्वभाव निराकार और असीम है और उसकी सत्ता तथा उसकी अभिव्यक्ति की एक झलक पाकर वे आत्म विभोर हो जाते हैं अतः रहस्यवाद की भावना में काव्य का क्षेत्र खुला है।

यथार्थतः शुक्ल जी का विरोध 'रहस्यवाद' के भीतर काव्य में कही गई साम्प्रदायिक बातों से है जो कबीर आदि निर्गुणियों में भरी पड़ी हैं और जिनकी ओर ही उनका संकेत भी है। ये सचमुच काव्यभावना को किरकिरा कर देती हैं, पर यथार्थतः उदार रहस्य-दृष्टि को शुक्ल जी काव्य मे महत्व देते हैं। रहस्य भावना को वे काव्य की एक उच्च भावना मानते हैं। उनका विश्वास यह है कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित होकर जब रहस्यवाद काव्य मे आता है तो उसके भीतर सार्वजनिक अनुभूति को प्रभावित करने की शक्ति नहीं रहती। काव्य का उद्देश्य सार्वजनिक प्रभाव है। रस सिद्धान्त में साधारणीकरण का विशेष महत्व है जो कि साम्प्रदायिक भावना मे सम्भव नहीं है। किन्तु स्वाभाविक रहस्यभावना सभी की अनुभूति हो सकती है। जैसे अपने अनुभव से परमात्मा की शक्ति पर सभी लोगों का या अधिकाश का विश्वास होता है वैसे ही अधिकाश को इसका भी अनुभव हो सकता है, कम से कम उसके बीज तो रहते ही हैं। अत इस प्रकार की स्वाभाविक रहस्यभावना अपना प्रमुख स्थान रखने की क्षमता रखती है। शुक्ल जी इस बात को मानते हैं वे कहते हैं "स्वाभाविक रहस्य भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमे सन्देह नहीं। रसभूमि मे इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा मानते हैं जिसका अनुभव ऊंचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। पर किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे

हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग ( Creed ) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।"[1]

काव्य सिद्धान्त के रूप मे रहस्यवाद कभी नहीं आ सकता। क्योंकि रहस्यवाद का सम्बन्ध एक प्रकार के भाव, मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से है और सभी काव्य के क्षेत्र पर इसका प्रभाव नहीं है। काव्य का कोई भी सिद्धान्त पूरे काव्य पर लागू होता है इसी प्रकार के सिद्धान्त ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार आदि हैं जो सभी उत्तम काव्य में होते हैं। पर रहस्य भावना काव्य गत एक भावना हो सकती है, जिसे हम जीवन की उच्च भावना कह सकते हैं, पर सर्वव्यापी नहीं।

काव्य के अन्तर्गत सामान्य अनुभव ही आते हैं और इस दृष्टि से ईश्वर या आत्मा का अनुभव सामान्य अनुभव नहीं, विशिष्ट अनुभव है अत शुक्ल जी इसे काव्य के क्षेत्र से बाहर की वस्तु मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य का सम्बन्ध मनोमय कोश से ही है "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य भूमि है, यही हमारा पक्ष है"[2] हमारी लालसा, सुख, दुख आदि की भावनाओं का यहीं तक क्षेत्र रहता है इसके ऊपर नहीं। सुख या आनन्द प्राप्ति के लिए ही मनुष्य अभिलाषा करता है क्योंकि जितना सुख या आनन्द वह पाता है उससे उसकी तृप्ति नहीं होती अतः वह उसे अधिक पूर्णता के रूप में देखने के लिए शुक्ल जी के विचार से चार क्षेत्रों का सहारा लेता है।

"१—इस भूलोक के बाहर पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक मे।
२—इस भूलोक के भीतर ही पर अतीत के क्षेत्र मे।
३—इस भूलोक के भीतर ही पर भविष्य के गर्भ में।
४—इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अव्यक्त क्षेत्र में।"[3]

इनम से प्रथम में स्वर्ग या वैकुण्ठ या इन्द्रपुरी आदि की कल्पना है, द्वितीय का स्वरूप इतिहास, पुराण, कथा आदि के ग्रथों में मिलता है, तृतीय की कल्पना नवीन है, इसमे आगे की नवीन दुनिया बनाने के सुख स्वप्न चलते हैं। चौथे रूप को ~~ के अन्तर्गत ही मानते हैं। उनका कथन है—

"जो भविष्य प्रेम कहा जाता है वह वास्तव में प्रस्तुत जीवन का प्रेम है जो

१. काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ ११५।
२. ,, ,, ,, ३७।
३ काव्य में रहस्यवाद पृ० ४३, ४४।

का सचरण कराके कवि को भविष्य सुख सौन्दर्य के चित्रण मे प्रवृत्त करता है। वही बात यहाँ भी है। वास्तव मे वह इसी जगत् के सुख-सौन्दर्य की आसक्ति या प्रेम है जो सचारी के रूप मे आशा या अभिलाषा का उन्मेष करके, इस सुख-सौन्दर्य को किसी अज्ञात या अव्यक्त क्षेत्र मे ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है। अतः तात्विक दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से, "अज्ञात की लालसा" कोई भाव ही नहीं है। वह केवल "ज्ञात की लालसा" है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा कही जाती है'[1] अब हमे यह देखना चाहिये कि यदि यह ज्ञात की ही लालसा है तो और प्रकार की लालसा में और इसमें क्या भेद है? और इसी निर्णय मे इसकी काव्यगत महत्ता भी स्पष्ट हो जायगी। भौतिक वस्तुओं की लालसा में उनकी प्राप्ति असम्भव नहीं। 'लालसा' के साथ प्रयत्न और सफलता पर उसके पश्चात् उस वस्तु के साथ जीवन भर सम्बन्ध या विछोह दो ही बातें होती हैं। लालसा के बाद प्रयत्न की अवस्था मे काव्य का पूरा क्षेत्र आ सकता है। विछोह तो 'लालसा' के साथ अभाव के सम्बन्ध से है ही। इसलिए यदि हम 'ज्ञात की लालसा' मान लें तो काव्य का क्षेत्र उपस्थित हो जाता है और यह क्षेत्र जगत् के रूप मे व्यक्त असीम का है। सम्पूर्ण विश्व में एक सम्बन्ध सूत्र ढूँढना, सब को एक से सम्बन्धित करना, ही रहस्यवादी दृष्टि के अन्तर्गत है। (रहस्यवादी, जगत् को परमात्मा की रचना नहीं मानता वरन् उसकी अभिव्यक्ति मानता है अतः उसका कण कण से मोह है और इस दृष्टि से काव्य का क्षेत्र उसके लिए खुला है उसकी लालसा सभी उच्च एव पवित्र आत्माओं की लालसा है। हाँ, यह अवश्य है कि इसका अनुभव हम जीवन-सघर्ष के बीच मे नहीं करते, वरन् उसे शान्ति के क्षणों में ही प्राप्त करते हैं। शुक्ल जी ने सूफी रहस्यवाद के अन्तर्गत इस प्रवृत्ति को स्वीकार किया है।[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे अज्ञात या अव्यक्त के प्रति हृदय का सम्बन्ध असम्भव मानते हैं और कहते हैं कि :—

"हमारा कहना यही है कि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। प्रेम, अभिलाष, जो कुछ प्रगट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा।"[3]

शुक्ल जी के विचार से जहाँ भक्ति के भारतीय स्वरूप को किसी प्रकार से बाधा

१. काव्य में रहस्यवाद, पृ० १४।

२. काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १०।

३. " " "।

पहुँची वहाँ ही मनुष्य के भीतर की स्वाभाविक भक्ति भावना इस रूप में प्रकट हुई। अतः यह भक्ति-भावना का ही एक स्वरूप समझना चाहिए उससे भिन्न नहीं। शुक्लजी के विचारानुसार यह समझ रखना चाहिए कि काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की रचनात्मक व्यंजना के लिए ही फारस, अरब, तथा योरप में हुई जहाँ पैगम्बरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा बँधा ऊब रहा था। वे इस प्रकार की परिस्थिति को रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का कारण मानते हैं। इस प्रकार की बाधा यहाँ पर न रहने के कारण भारतीय भक्ति-प्रकृति के अन्तर्गत जहाँ एक ओर सगुण व साकार भक्ति का स्वरूप मिलता है वहाँ ही उपनिषदों तथा अन्य ग्रंथों में, प्रकृति के कण कण में चेतन शक्ति की अनुभूति का भी स्पष्ट प्रकाशन है। वर्तमान समय में यह दूसरा रूप रहस्यवाद के अन्तर्गत ही आ गया है। इस प्रकार भक्ति और रहस्यवाद में भावना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं केवल प्रकाशन-शैली अथवा प्रणाली के भेद से ही दोनों की बीच गहरी खाई सी जान पड़ती है। शुक्लजी अवतारवाद के मूल में भी रहस्यवाद मानते हैं। उनका कहना है कि भारतीय भक्ति मार्ग रहस्यभावना का विकसित स्वरूप है। जब तक उसमें रहस्य या गुह्य भाव रहे तब तक वे योग-तंत्र आदि से सम्बन्धित रहे पर उसे स्पष्टरूप में प्रतिपादित करने के बाद भक्ति प्रबल रूप से आई। अवतारवाद दोनों के बीच की अवस्था है। यथार्थ में भक्ति का पल्ला अवतारवाद को लेकर ही भारी पड़ा और काव्य, भक्ति को लेकर चला, रहस्य को लेकर नहीं। इस विषय पर शुक्लजी ने लिखा है:—

"अवतारवाद मूल में तो रहस्यवाद के रूप में रहा, पर आगे चल कर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप में पल्लवित हुआ। रहस्य का उद्घाटन हुआ और राम कृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोक-विभूति का विकास हुआ। उसी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या कला को लेकर हमारा भक्ति-काव्य अग्रसर हुआ, छिपे रहस्य को लेकर नहीं।"[1]

छिपे रहस्य को लेकर उसे हम भावनाओं का विषय नहीं बना सकते। भावनाओं का विषय वही बन सकता है जो स्पष्ट और गोचर हो। चाहे वह परमात्मा का स्वरूप हो चाहे मनुष्य का। जिसका जीवन में किसी न किसी रूप में मनुष्य को अनुभव हुआ है वही भावों का और कविता का विषय हो सकता है। इसलिए साम्प्रदायिक रहस्यवाद को लेकर चलने वाली कविताओं में शुक्ल जी दो विरक्ति-जनक बातें बताते हैं। एक भावों की सच्चाई का अभाव और दूसरी, व्यंजना की कृत्रिमता

1. काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १०१।

उनमें व्यजित 'अधिकाश भावों को कोई हृदय के सच्चे भाव नहीं कह सकता। अत उनकी व्यजना की उछलकूद भी एक भद्दी नकल सी जान पडती है।'[1] जहाँ पर सच्चे भावों का अभाव होगा वहाँ श्रोता या पाठक को काव्यानुभूति न होगी और इस प्रकार काव्य प्रभावहीन होगा। इसलिए शुक्ल जी का निर्णय यह है कि साम्प्रदायिक या धार्मिक रूप मे जो रहस्यवाद का स्वरूप योग, तत्र या पाश्चात्य सम्प्रदायों में है वह काव्य का विषय नहीं हो सकता। काव्य की रहस्य भावना उनसे स्वच्छन्द वह भावना है जिसमें कवि और उसके साथ ही साथ श्रोता या पाठक भी विश्व के कण कण में, प्रकृति के अंग अग म उसकी एक एक गति में असीम परमात्मा की भावाभिव्यक्ति देखता है और मानव तथा प्रकृति के जीवन का प्रत्येक व्यक्ति समस्त विश्व की सूक्ष्म भावनाओं से सम्बन्धित है।

*अभिव्यजनावाद*

रहस्यवाद के बाद हम अभिव्यजनावाद पर शुक्ल जी के विचारों को लेते हैं। चिन्तन द्वारा उत्पन्न विषयों को सम्मुख रखना, सत्य के विविध स्वरूपों को स्पष्ट करना, असत्य का खडन करना आदि दर्शन या विज्ञान का कार्य है। अत विचार की नवीनता को हम काव्य का गुण नहीं मान सकते, क्योंकि नवीन विचार सदैव काव्य नहीं होते। फिर काव्य है क्या? काव्य को कथन की विशेषता कह सकते हैं। साधारण जनता की भाषा में भी इस मत का प्रकाशन किया गया है 'उक्ति विशेषो कव्वम् भाषा जा होय सा होय।' तो उस उक्ति विशेष, अभिव्यक्ति के ढग म ही काव्य विशेषता मानना, काव्य की आत्मा समझना, कुछ विद्वानों की दृष्टि से ठीक समझा गया और इसी के आधार पर कथन की वक्रता को काव्य की आत्मा माना गया। संस्कृत का 'वक्रोक्तिवाद' इसी विचार को लेकर चला और आचार्य कुन्तल के 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है, यह प्रतिपादित किया गया। अभिव्यजनावाद भी इसी कथन की विशेषता पर ही जोर देता है। कथन की विशेषता पर जोर देने से ही अनेक प्रकार के अलकारों का समावेश हुआ है और कल्पना, सूझ, ऊहा का इतना अधिक प्रयोग रीतिकालीन साहित्य म देखा जाता है। शुक्ल जी के विचार से अभिव्यजनावाद धीरे धीरे शब्दाडम्बर की ओर हम ले जाता है। उनका कथन है कि —

"अभिव्यजनावाद किस प्रकार व्यजन प्रणाली की वक्रता और विलक्षणता पर ही

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १०३।

जोर देता है, यह हम देख चुके हैं। यह हमारे यहाँ का पुराना वक्रोक्तिवाद ही है, यह भी हम निरूपित कर आये। उसके कारण शब्दाडम्बर की कितनी अधिकता हुई है, यह बात भी हम देख रहे हैं।"[1] 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक में इसका भली प्रकार निरूपण शुक्लजी ने किया है। अभिव्यक्ति की विलक्षणता काव्य का एक अंग अवश्य है, पर सब कुछ नहीं है, उसकी आत्मा भी नहीं है, क्योंकि केवल अभिव्यक्ति की वक्रता पर ही जोर देने से काव्य का स्वरूप केवल चमत्कारमय हो जाता है। उसमें रमणीयता या तन्मयता का गुण रहना भी स्वाभाविक है इसलिए हमें भाव की अभिव्यंजना को काव्य कहना चाहिए, यदि अभिव्यंजना को उक्ति की विलक्षणता के रूप में लिया जाय। पर कवि के लिए साध्य 'भाव' है। अभिव्यक्ति की वक्रता नहीं। भावानुभूति के साथ साथ वह स्वाभाविक रूप में आकर ही काव्य का गौरव बढ़ाती है। उदाहरण के लिए छोटे बच्चे अपने भाव की अभिव्यक्ति में स्वभावतः जो अंग-संचालन, मुख-नेत्र विकार आदि उपस्थित करते हैं उनमें आनन्द रहता है, पर यदि कोई उनका अनुकरण करे उसके भीतर भाव, स्वाभाविक रीति से न आये हों तो वह उपहास का पात्र है, यही भाव से रहित केवल वक्रता, को लेने से भी होता है। शुक्लजी ने इसे काव्य के बाह्य स्वरूप के अन्तर्गत रखा है। अभिव्यंजनावाद, उनके विचार से विधान विधि है। छायावाद, रहस्य वाद पर लिखते हुए उन्होंने कहा है—

"अब तक जो लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है। जैसा कि हम पहले दिखा आये हैं रहस्यवाद या छायावाद काव्यवस्तु (Matter) से सम्बन्ध रखता है और अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध विधान विधि (form) से होता है। अभिव्यंजनावाद के साथ संयुक्त होकर बंगला से हिन्दी में आने के कारण साधारणतः छायावाद के स्वरूप की ठीक भावना बहुत से रचयिताओं को भी नहीं होती। वे केवल ऊपरी रूप रंग (form) का अनुकरण करके समझते हैं कि हम रहस्यवाद या छायावाद की कविता लिख रहे हैं। पर वास्तव में उनकी रचना में केवल 'अभिव्यंजनावाद' का अनुकरण रहता है। 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो।"[2]

इससे स्पष्ट है कि जहाँ वास्तविक अनुभूति नहीं वहाँ पर कोरी वाक्पटुता का कोई

१. काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ १४४।

१. काव्य में रहस्यवाद ,, १३८।

महत्व नहीं रहता है उसका स्थान तो अनुभूति के साथ ही है, अलग नहीं, हाँ अनुभूति के साथ उसकी जितनी ही अधिक विशेषता हो उतना ही अच्छा। इसलिए 'अभिव्यजनावाद' को लेकर चाहे कुछ कहा जाय, भाव का सहारा छोड़कर वह केवल बौद्धिक और काल्पनिक चमत्कार मात्र ही रह जाता है और किसी गंभीर भावुकता को नहीं उकसाता। प्राचीन कवियों की रचनाओं में भी इसका आधिक्य 'दृष्टिकूट' या उलटबाँसी आदि के रूप में देखा जाता है जो कि काव्य की दृष्टि से अधम कोटि के ही हैं। शुक्ल जी ने केवल 'अभिव्यंजनावाद' का बाहुल्य होने पर अनेक प्रकार के दोषों का स्पष्ट आगमन देखा है। साहित्य सम्मेलन के इन्दौर वाले अधिवेशन के समय सभापति के रूप में जो भाषण उन्होंने दिया था उसमें इनकी ओर संकेत अनेक प्रवृत्तियों के रूप में किया है। उनका कथन है कि—

"कलावाद और अभिव्यंजनावाद से उत्पन्न कुछ प्रवृत्तियां ये हैं :—

१. प्रस्तुत मार्मिक रूप-विधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप-विधान में ही प्रतिभा या कल्पना-प्रयोग।

२. जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

३. जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम-सम्बन्धी-मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों ( Lyrics ) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

४. 'अनन्त' 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों द्वारा उनपर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

५. काव्य के स्वरूप के सम्बंध में शिल्प अर्थात बेल बूटे और नक्काशी वाली हल्की धारणा।

६. समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास"[1]

इन सभी प्रवृत्तियों पर उन्होंने विस्तारपूर्वक विचार किया है और काव्य के विकास व स्थायित्व में इन्हें हानिकारक सिद्ध किया है। वे अभिव्यजनावाद से अधिक भावानुभूति पर बल देते हैं। केवल कल्पना को ही सब कुछ मानने से भावपक्ष हल्का पड़ जाता है बोधपक्ष ही प्रधान रहता है। भाव का योग शुक्ल जी के विचार से काव्य की आत्मा है। अभिव्यंजना उसके साथ ही आनी चाहिए, अलग होकर नहीं। क्रोचे के

१. इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ४० तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७८८।

'अभिव्यजनावाद' मे भी कल्पना पर ही जोर मिलता है। इसी कारण उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण मे उसका खडन किया है।

अन्य शिल्प कलाओं के समान हम काव्य को भी सुन्दर कहने लगते हैं। पर शुक्ल जी के विचार से काव्य के लिए सुन्दर शब्द इतने काम का नहीं जितना 'रमणीय'। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है[1] कि सुन्दर शब्द से अधिक 'रमणीय' शब्द काव्य के लिए उपयुक्त है इसी कारण पडितराज जगन्नाथ ने काव्य के लक्षण मे काव्य को रमणीय अर्थ का उत्पादक कहा है। रमणीय वह है जिसमें मन रम सके और बार बार अपने सामने लाना चाहे। उसकी परीक्षा यह है कि आप काव्य खड को सुनकर कहते हैं, फिर कहिए। सुन्दर शब्द का सकेत चक्षु से विशेष है। रमणीय शब्द का हृदय से। इसलिए यह सुन्दर शब्द अभिव्यजनावाद को प्रेरित करता है। रमणीयता की ओर ध्यान रक्खें तो अभिव्यंजनावाद इस रूप में नहीं आसकता है। सुन्दर, शब्द का काव्य म प्रयुक्त करने का कारण यह है कि सौन्दर्य शास्त्र मे चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों के साथ साथ काव्य का भी विचार होने लगा जो कि उपयुक्त नहीं है। इस विषय मे उनके शब्द ये हैं—

"सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसीलिए काव्य के स्वरूप की भावना धीरे धीरे बेल बूटे और नकाशी की भावना के रूप मे आती गयी। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौसठ कलाओं म नहीं की गयी है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि अभिव्यजनावाद जो केवल कल्पना पर ही अधिक बल देता है शुक्ल जी के विचार से काव्य की सम्पूर्ण विशेषता को अपना नहीं सकता है वह एकागी है क्योंकि काव्य विधान में कल्पना का स्थान भावयोग मे ही है। विभाव को चित्रित करने मे और भाव को प्रेरित करने में जो कल्पना काम करती है वही काव्य के लिए उपयुक्त है, हृदय की अनुभूति से दूर, स्वप्न और अप्रत्यक्ष का बेढगा रूप खींचने वाली नहीं और अभिव्यंजनावाद साध्य होकर कल्पना के इसी रूप को विकास देता है। अतः शुक्ल जी के विचार से भावयोग के साथ स्वभावतः आया हुआ अभिव्यक्ति कौशल ही आवश्यक है उसके अतिरिक्त उक्ति विशेष के फेर मे पडकर अनोखी बातें कहने वाला अभिव्यजनावाद नहीं।

---

१ इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ ३६ तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७८१।

*छायावाद*

छायावाद का कोमल, सचेतमय, प्रतीक एवं चित्रभाषा से सम्पन्न स्वरूप वर्तमान काव्य के तृतीय विकास का लक्षण है। छायावाद के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक बड़ा मतभेद चलता रहा, परन्तु शुक्ल जी के इतिहास, काव्य में रहस्यवाद एवं इन्दौर वाले भाषण में सन्निहित छायावाद-सम्बन्धी विचारों ने अस्पष्टता का परदा फाड़कर इस नवीन वाद की विवाद-हीन स्पष्ट व्याख्या की। छायावाद, रहस्यवाद का ही समानार्थी है या उससे भिन्न है, इस समस्या पर भी बहुत कुछ विचार प्रकट किये गये। जैसा कि आगे बताया जायगा, श्री जयशंकर प्रसाद के विचार से 'छायावाद' वक्रोक्ति या अभिव्यंजना की आभामयी प्रणाली ही है।[१] किन्तु छायावाद का यह रूप बाद का रूप है, प्रारम्भ में यह रहस्यवादी उक्तियों से सम्पन्न कविता की प्रवृत्तियों के लिए आया है जिनमें कथन का कौशल सन्निहित है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने दोनों स्वरूपों की व्याख्या छायावाद के अन्तर्गत की है।

छायावाद के प्रारम्भ की ओर संकेत यद्यपि उन्होंने इस सम्बन्ध वाले सभी लेखों में किया है पर उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में इसका इतिहास सा दे दिया है। उनका कहना है कि ईश्वर के आभास का रूप देने के लिए बातों को अन्योक्तियों एवं रूपकों द्वारा कहना पड़ता है अतः कबीर आदि रहस्यवादी सन्तों और योरप के रहस्यवादी कवियों की उक्तियों में विचित्र रूपक-जाल रहता है। ईसवी सन् ६०४ में प्रसिद्ध महात्मा सन्त 'ग्रेगरी' ने मूर्च्छोन्माद की दशा में होने वाले ईश्वर के समागम के लिए कहा है कि साधक ईश्वर का सोपाधिरूप देखता है। हमारे भीतर का कल्मष अन्धकार की भाँति उस शुद्ध ज्योति को हमारे समक्ष तक नहीं आने देता। वह कुछ धुँधले प्रकाश की भाँति दीखती है। बारहवीं शताब्दी के सन्त 'बर्नार्ड' ने 'हाल' की दशा में ईश्वरानुभूति के विषय में कहा है कि ईश्वर की ज्योति-किरण की झलक को दूसरों के सम्मुख उपस्थित करने के लिए विचित्र लौकिक रूपकों का सहारा लेना पड़ता है। उस चकाचौंध पैदा करने वाली ज्योति को व्यक्त करने वाले अनूठे विधानों को छाया दृश्य कह सकते हैं।[२]

इन छाया दृश्यों के विषय में शुक्लजी का विचार है कि छाया दृश्य के लक्षणों का अनुकरण सभी मज़हबों के भीतर चले हुए भक्ति-रहस्य-मार्गों में पाया जाता है।

---

१. काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध।

२. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, छायावाद और यथार्थवाद लेख।

सूफियों में इसी परम्परा का निर्वाह शराब, प्याले, आदि रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक से हो गये हैं। निर्गुण पन्थ की बानियों में विशेषतः कबीरदास की बानी में जो वेदान्त, हठयोग आदि की साधारण बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पाई जाती है वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है। रहस्यवादी अँगरेज-कवि 'ब्लेक' ने कल्पना का जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया उसका भी यही साम्प्रदायिक मूल है। इधर क्रोचे ने जो 'वाद' खड़ा किया है, वह भी इसी का आधुनिक वाग्विस्तार है।

ईसाई भक्ति मार्ग के इस छाया दृश्य ( Phantasmata ) वाले प्रवाद का प्रभाव योरप के काव्य-क्षेत्र में भी समय-समय पर प्रगट होता रहा। सन् १८८५ में फ्रांस के रहस्यात्मक प्रतीकवादियों ने कविता का जो ढंग पकड़ा था उसमें उक्त 'छायादृश्य' वाली धारणा का पूरा अनुसरण था। इसी से जब उक्त रहस्यवाद का ढंग ब्रह्म-समाज के भजनों में दिखाई दिया तब पुराने ईसाई भक्तों के उसी छायादृश्य के अनुकरण के कारण उसी ढंग की रचनाओं को 'छायावाद' कहने लगे।

यह है हिन्दी के वर्तमान कला-क्षेत्र में प्रचलित 'छायावाद' शब्द का मूल और इतिहास[1], किन्तु छायावाद एकदम एक नई लहर के रूप में नहीं आया, वरन् इसने एक उठती हुई प्रवृत्ति को प्रबल बना दिया। इसके पूर्व भी धार्मिक विषयों और मार्मिक वर्णन-पद्धति की ओर हिन्दी-कविता का झुकाव था। हाँ, व्यंजक शैली, कल्पना और संवेदना इतने प्रबल रूप में नहीं आई थी। अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली धीरे धीरे विकसित हो रही थी, जिसे छायावाद ने द्रुतगति प्रदान की। छायावाद ने आते आते काव्य के उद्देश्य में अवश्य एक अन्तर डाल दिया, क्योंकि बहुत से कवि इसके आगमन के साथ रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु विन्यास की विशृङ्खलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चलने लगे।[2]

छायावाद में विभावपक्ष अस्पष्ट और अधूरा रहा जिसके कारण जीवन की गहरी अनुभूति जगाने में यह कविता अधिक समर्थ न हुई और आज भी इसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप 'प्रगतिशीलता' का आन्दोलन, कविता को जीवन के समीप लाने और जीवन के तथ्यों की अभिव्यंजना करने के लिए चल रहा है।

---

१ इन्दौरवाला भाषण, पृ० ३८ तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ७८४।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७८१।

ऊपर के विश्लेषण एवं रहस्यवाद के सम्बन्ध मे प्रकट किये गये शुक्ल जी के विचारों से यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद या छायावाद की प्रवृत्ति का समावेश कविता मे वे बाह्य प्रभावों द्वारा ही मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् इस प्रवृत्ति को भारतीय काव्य की शाश्वत् धारा के अन्तर्गत रखते है।[1] शुक्ल जी इसका विरोध करते हैं, वे साम्प्रदायिक एव दार्शनिक विचार धारा को भारतीय काव्य धारा से भिन्न मानते हैं। उनका कथन है :—

"अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रख कर कामवासना के शब्दों में प्रेम व्यजना भारतीय काव्यधारा मे कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात 'हमारे यहाँ यह भी था वह भी था' की प्रवृत्तिवालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद् से लेकर तन्त्र और योगमार्ग तक की दौड़ लगाते है। उपनिषदों में आये हुए आत्मा के पूर्ण आनन्द-स्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानन्द की अपरिमेयता को समझाने के लिए स्त्री पुरुष-सम्बन्ध वाले दृष्टान्त या उपमायें, योग के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीच वे बड़े सन्तोष के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मतमतान्तरों की साधना के क्षेत्र मे रहस्यमार्ग नहीं चले? योग रहस्यमार्ग है, तन्त्र रहस्यमार्ग है, रसायन भी रहस्यमार्ग है पर ये सब साधनात्मक हैं, प्रकृत-भाव भूमि या काव्य भूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परम्परा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर तरह तरह के रग महल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।"[2]

इससे स्पष्ट है शुक्ल जी काव्य में रहस्यवाद को प्राचीन धारा नहीं मानते। उनका मत है काव्य में रहस्यवाद का समागम विदेशी प्रभाव के कारण है। अपने यहाँ रहस्यवाद काव्य से अलग रहा है।

छायावाद के इतिहास के पश्चात् छायावाद के स्वरूप के विषय मे विचार करना चाहिए। आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो काव्य-वस्तु को लक्ष्य करके रहस्यवाद के अर्थ में होता है जिसमें चित्रमयी भाषा मे अज्ञात प्रियतम के प्रेम की व्यजना की जाती है। इसे शुक्ल जी पुराने सतों या साधकों की तुरीयावस्था मे कही गयी बानी का अनुकरण मानते हैं जिसमें आध्यात्मिक

---

१. देखिए जयशकर प्रसाद के काव्यकला तथा और निबंध का रहस्यवाद पर लेख

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७८५, ७८६।

ज्ञान का अभाव रहता है।' जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस आध्यात्मिक ज्ञान को साधक लौकिक रूपकों में व्यक्त करते थे जिसे उस ज्ञान या अनुभव की छाया कहा जा सकता है और बगाल में इसी अनुकरण पर जो गीत बने वे 'छायावादी' कहलाने लगे। हिन्दी से भी इनका सम्पर्क हुआ और इन छायावादी गीतों के अन्तर्गत पुराने सत कवि कबीर व जायसी के से रहस्यात्मक उद्गारों का भी समावेश हुआ। यह छायावाद का स्वरूप काव्य वस्तु की दृष्टि से हुआ।

दूसरे अर्थ में इसका प्रयोग अभिव्यजना की शैली के लिए हुआ जिसमें भाव प्रकाशन के लिए प्रतीकवाद का अवलम्ब लिया गया। इसलिए दूसरे अर्थ में शुक्ल जी के शब्दों में "हिन्दी में छायावाद शब्द का, जो व्यापक अर्थ में रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ, वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यत अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी भी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।"[२] इसीलिए प्रारम्भ में अधिकतर छायावाद शब्द के अन्तर्गत दोनों स्वरूपों का सन्निवेश था, पर धीरे धीरे रहस्यवादी रचनायें छायावादी रचनाओं से भिन्न समझी जाने लगीं।

रहस्यवाद काव्य वस्तु से सम्बन्ध रखता है और इसका परिगणन एक प्रवृत्ति विशेष के ही अन्तर्गत होना ठीक है जैसे देश प्रेम आदि, पर छायावाद, काव्य की एक शैली विशेष के रूप में आया। अत इस शैली विशेष या प्रणाली विशेष के रूप में इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। रीति, अलकार या वक्रोक्ति सिद्धान्तों की भाँति इसकी व्याख्या या प्रतिपादन नहीं हुआ, फिर भी छायावादी कविताओं में लगभग सभी भावों की व्यजना, ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व आदि दोषों का परिहार करके अब तक प्रचलित शैली से भिन्न ढग पर हुई है। इसका प्रचलन विदेशी प्रभाव ही हो, ऐसी बात नहीं, खड़ी बोली के सुष्ठु रूप देने के प्रयत्न में भी इसका विकास प्रारम्भ हुआ था और बाह्य प्रभाव के अतिरिक्त दूसरा कारण देश प्रेम की भावनाओं के स्पष्ट कथन पर प्रतिबन्ध भी था। ऐसी दशा में सर्वव्यापी एव साधारण भावों को भी ढग से, सकेतमय, रूपकमय एव लाक्षणिक शैली पर प्रकट करना पड़ा। इसी कोटि का दूसरा एव और कारण रहा। वर्तमान खड़ी बोली कविता ने अपने विकास के साथ साथ रीतिकालीन

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८०६।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८०७।

काव्य वस्तु का तिरस्कार किया, नायिका-भेद एवं मानव-सौन्दर्य वर्णन के प्रति प्रतिक्रिया हुई। ऐसा होने हुए भी कवि-समुदाय अपनी लेखनी को मानव-सौन्दर्य वर्णन से थाम न सका, अतः उसी प्रकार के भावों को घुमा फिरा कर कभी अन्योक्ति, कभी रूपक आदि के बहाने वर्णन किया गया। पन्त की 'छाया' और निराला की 'जुही की कली' की प्रेरणायें लगभग रीतिकालीन ढग पर ही हैं पर वर्णन है छायावादी। इस प्रकार भावों के सीधे प्रकाशन पर समाज या देश के अधिकारियों को आपत्ति होने के कारण इस प्रकार की शैली का विकास हुआ।

शुक्ल जी ने इस छायावादी शैली का विश्लेषण करते हुए लिखा है "पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाये।" तथा इस विषय मे उनका स्पष्ट विचार है कि चित्रभाषा शैली या प्रतीक-पद्धति के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदो के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसग के स्थान पर उसकी व्यजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति-पद्धति का अवलम्बन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा की भरमार के रूप मे भी हुआ। इनमें से उपादान और लक्षण-लक्षणाओं को छोड और सब बातें किसी न किसी प्रकार की साम्य-भावना के आधार पर ही खडी होने वाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलकृत रचनायें बहुत पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं अत. छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्य ग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ।[1]

साम्य के अन्तर्गत शुक्ल जी ने प्राचीन परिपाटी के विचार से सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्द साम्य को लिया है और इनका स्पष्ट मत है कि छायावाद, बडी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है।[2] और आभ्यतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०७,८०८।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०८।

काव्य शैली की असली विशेषता है।[1] इस प्रकार शैली की दृष्टि से छायावाद में उत्कृष्ट काव्य शैली निखरी। जितना अधिक लक्षणा का प्रयोग हम छायावादी कविता में मिलता है उतना शायद ही कुछ ब्रजभाषा कवियों की कविता में मिल सके। किन्तु लक्षणा का प्रयोग सर्वत्र प्रभाव-साम्य पर न होकर आरोप मात्र भी हुआ है। इसका कारण भी शुक्ल जी बाहरी वादों का प्रभाव मानते हैं।[2] इस प्रकार काव्य शैली के रूप में आय छायावाद के अन्तर्गत भाव प्रकाशन की एक सुष्ठु प्रणाली विकसित हुई, पर उसका विषय अधिकाश प्रेम-गातात्मक ही रहा।

छायावाद की प्रशंसा एवं उसके कुछ दोषों का परिष्कार करने के विचार से शुक्ल जी ने लिखा है—"यहाँ पर यह सूचित कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि छायावाद के अन्तर्गत बहुत-सी रचनायें ऐसी हुई हैं, जिनमें अभिव्यंजनावाद के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुन्दर लाक्षणिक चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। भावना का बहुत ही साहस पूर्ण संचालन, मूर्तिमत्ता का बहुत ही आकर्षक विधान और व्यंजना की पूरी प्रगल्भता पाई जाती है। ऐसी रचना करने वाले कवियों से आगे चलकर कुछ आशा है। अपनी इस आशा की सफलता के लिए हम अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे दो तीन बातों का अनुरोध करते हैं। पहली बात तो यह कि वे 'वाद' का साम्प्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओं सहित, प्रकृत काव्य भूमि पर आयें जिस पर संसार के बड़े बड़े कवि रहे हैं और हैं। दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिए वे बँगला, अंग्रेजी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिल्कुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें। तीसरी बात है, लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जिस भाव से कोई शब्द लाया गया है उसके साथ वह ठीक ठीक बैठता है या नहीं।"[3]

ऊपर की तीनों बातों पर ध्यान दिया जाता तो छायावाद का विकसित रूप हमारे काव्य का पथप्रदर्शन करता, पर इन्हीं बातों को छोड़, कल्पना और कला के

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ८०१।

२ छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप में पड़ता रहा है इससे बहुत सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामने आता है—हिन्दी सा० का इतिहास, पृ० ८१३

३ काव्य में रहस्यवाद पृ० १२६

फेर में पड़कर उसने जीवन की प्रकृत भूमि को छोड़ दिया और शैली एव विषय दोनों की दृष्टि से एकांगी हो गया। लाक्षणिकता यहाँ तक बढ़ी कि दुरूह हो गयी, यथार्थ भावों का यहाँ तक गोपन हुआ कि वे अनुभूति से अछूते रह गये।

छायावाद के प्रति शुक्ल जी के विचार यथार्थवादी हैं। छायावाद जिस प्रकार रहस्यवादी भाव के रूप मे आया और काव्य शैली के रूप में परिणत हो गया उसको उन्होंने स्पष्ट प्रगट कर दिया है। अनेक भावों के फलस्वरूप छायावाद का स्वरूप प्रकट हुआ पर उसकी जड़ हिन्दी काव्य में अधिक गहराई तक न जा सकी। और प्रगतिवाद के रूप में भावमय, प्रभावपूर्ण, प्रसादगुण सम्पन्न रचनाओं की ओर छायावादी कवितायें पढ़ते पढ़ते लोगों की ललक जाग्रत हुई। यह सब होते हुए भी छायावाद की शैली को अधिक उपयोगी बना कर काव्य की स्वाभाविक शैली के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

ऊपर काव्यशास्त्र के अनेक विषयों पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का विश्लेषण रखा गया है जिससे हमें कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह है कि शुक्ल जी रस सिद्धान्त को ही काव्य मे सर्वोपरि समझते थे और काव्य को केवल मनोरंजन का साधन नहीं वरन् लोक-मंगल का मार्ग मानते थे। दूसरी बात यह है कि वे प्राचीन आचार्यों की चिन्तनप्रणाली एव उनके द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों पर आस्था रखते थे, पर उसके साथ ही उसमें विकास के पक्षपाती भी थे। तीसरी बात यह है कि वे एक दम नवीन सिद्धान्तों को भी उदारता की दृष्टि से देखते थे, यदि वे यथार्थतः नवीनता लिए और सच्चे मार्ग पर चलने वाले हों। वे काव्य परक साधना एव स्पष्ट तथा प्रभावशाली कथन को महत्व देते थे। अन्त में भारतीय काव्यशास्त्र के विषय में उनके विचार उद्धृत कर इस प्रसग को समाप्त किया जाता है। उनका कथन है:—

"यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का हमारे साहित्य शास्त्र का, एक स्वतन्त्र रूप है जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतन्त्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को, पहले जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतन्त्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं"[1]

---

१, काव्य में रहस्यवाद पृ० १४८।

## आचार्य श्यामसुन्दरदास

आचार्य श्यामसुन्दरदास का महत्व काव्य-शास्त्र के विविध अंगों पर सामग्री प्रस्तुत करने में एव एक ही विषय पर पश्चिमीय विद्वानों तथा भारतीय पंडितों के विचार एकत्र करने में है। उनका 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ शिक्षोपयोगी है और बड़े परिश्रम का परिणाम है, पर प्राचीन या नवीन सिद्धान्तों को हिन्दी में स्पष्ट रूप से रखने की विशेषता को छोड़कर, उन्हें सद् या असद् सिद्ध करने या उन्हें विकास देने का प्रयत्न इसमें नहीं किया गया है। डा० श्यामसुन्दरदास ने इसका उल्लेख स्वय ही अपनी पहले संस्करण की भूमिका में कर दिया है—

"मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने का यह रहा है कि भारतीय तथा योरपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उनके तत्वों को लेकर इस रूप में सजा दूँ कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण दोष की परख करने और साथ ही ग्रन्थ निर्माण या काव्य रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिन्दी भाषा में व्यक्त करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है।"

'साहित्यालोचन' में प्रत्येक विषय पर महत्वपूर्ण विचारों को एकत्र किया गया है, परन्तु उन विचारों की आलोचना, उनके गुण दोष-कथन का इसमें अभाव है। काव्य शास्त्र और आलोचना की प्रचुर एवं प्रामाणिक सामग्री का यह भाण्डार है और अपने क्षेत्र में अभी तक हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से है।

'साहित्यालोचन' में प्रत्येक प्रसग पर वैज्ञानिक रीति से विचार का प्रयत्न किया गया है और विषय प्रतिपादन बहुत ही सुलझा हुआ है। इसमें विशेष महत्व की बात भारतीय तथा योरपीय सिद्धान्तों का सामजस्य स्थापित करने का उद्योग है। ग्रन्थ स्वत ही अलग अलग विषयों को लेकर लिखा गया है। इसलिए उनका परिचय देना व्यर्थ है। अत इस अवसर पर विभिन्न विषयों पर भारतीय और योरपीय सिद्धान्तों के सामजस्य रूप में जो कुछ भी नवीनता मिलती है उसका अध्ययन ही अधिक उपयुक्त होगा।

*कला*

कला के विषय में श्यामसुन्दरदास ने पाश्चात्य मतानुसार कहा है कि कला का सम्बन्ध नियमों से नहीं है, यह तो भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र है।[१] पाश्चात्य मत के अनुसार भावना, मनुष्य की मानसिक क्रिया के तीन रूपों में से एक है जिनके दो रूप ज्ञान और इच्छा संस्कृत साहित्य के बुद्धि व्यापार की तीन प्रक्रियाओं में से दो हैं तीसरी प्रक्रिया 'प्रयत्न' का मेल नहीं मिलता। आचार्य श्यामसुन्दर दास जी ने इसका निर्णय करते हुए लिखा है कि मनोविज्ञान के अनुसार ये शक्तियाँ एक अविच्छिन्न रूप से मिली हुई हैं और अलग नहीं की जा सकतीं। यद्यपि कला के मूल में भावना शक्ति का प्राधान्य है, पर भावना-शक्ति का विश्लेषण करने पर उसमें भी ज्ञान और इच्छा की शक्तियाँ सन्निहित देख पड़ती हैं। भारतीय साहित्य और कलाओं के मूल में जो स्थायी भाव माने गए हैं वे केवल विक्षिप्तों की विवेकरहित भावनायें नहीं हैं, उनके साथ ज्ञान शक्ति का भी समन्वय है, इस प्रकार भावना को इच्छा के अन्तर्गत मानकर उन्होंने सिद्ध किया है कि इच्छा शक्ति का बहुत कुछ भावना पर नियन्त्रण रहता है। कला का सम्बन्ध भावना से है। इस प्रसंग में उन्होंने भाव और भावना को समानार्थी माना है (जैसा कि साहित्यालोचन के पंचम आवृत्ति पृष्ठ ५ के फुट नोट से प्रकट है)।

आगे चलकर वे कला और प्रकृति के सम्बन्ध में बताते हैं कि कला और प्रकृति का घनिष्ट सम्बन्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाँति डा० श्यामसुन्दर दास का भी विश्वास है कि प्रकृति के प्रत्यक्ष अनुभव में भी रसानुभूति होती है जैसा कि उनके इस कथन से प्रकट है —"किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर कलाकार के हृदय में जो भावना जितनी तीव्रता के अथवा स्थायित्व के साथ, उदय हो यदि उतनी ही वास्तविकता सच्चाई के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ हो तो उस अभिव्यक्ति से दर्शक, श्रोता अथवा पाठक समाज की भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है।"[२] पर उन्होंने संस्कृत आचार्यों की विवेचना पर इस प्रसंग में प्रकाश नहीं डाला कि पहले जो प्रत्यक्ष अनुभव हो चुकता है उसकी अभिव्यक्ति में आनन्द छिपा रहता है और उस अनुभव को जाग्रत करने वाले जो व्यापार होते हैं उनमें भी आनन्द-प्रदान की शक्ति छिपी रहती है। प्रत्यक्ष अनुभव का आनन्द, इन्द्रियजन्य अनुभव है जो काव्यगत मानसिक आनन्द से भिन्न कोटि का है।

---

१. साहित्यालोचन परिवर्द्धित संस्करण पृ० ३।

१. साहित्यालोचन, परिवर्द्धित संस्करण „ ६।

कला और आचार के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि कला की कृतियाँ सभ्यता और शिष्टता के विकास के साथ साथ अपने सौष्ठव की वृद्धि प्राप्त करती हैं। कला के सम्बन्ध में प्रायड के स्वप्नवाद, यथार्थवाद और कलावाद आदि पर भी उन्होंने विचार किया है, और यह बात मान्य है कि भारतीय सिद्धांत इस विषय पर अधिक गहरे हैं। कला को लेकर इन बातों पर विचार हमारे शास्त्रों में नहीं हुआ है क्योंकि कला के लिए सम्पूर्ण जीवन ही, रहस्यभरा विश्व ही, क्षेत्र है, स्वप्नवाद की भाँति कोई एक प्रवृत्ति के सहारे इसका विश्लेषण करना सकीर्ण प्रयास है। कला कला के लिए है और आचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसकी पुष्टि हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी होती है। पर यह बात विचारणीय है कि कला-सम्बन्धी शास्त्र, आचार-सम्बन्धी शास्त्रों से भिन्न होने का अर्थ यही है कि दोनों का विचार अलग अलग पूर्णता के साथ किया गया है। उनका यह तात्पर्य नहीं है कि कला का आचार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

कला और प्रकृति का सम्बन्ध बताते हुए आचार्य श्यामसुन्दरदास जी ने लिखा है.— "प्रकृति की ओर मनुष्य निसर्गतः आकृष्ट होता रहता है, क्योंकि उसमें उसकी वासनाओं की तृप्ति होती है। इस नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य, प्रकृति के उन चित्रों को अपने हृदय के रस से सिक्त कर अभिव्यंजित करता है और वे भिन्न भिन्न कलाओं के रूप में प्रकट हो मानव हृदय को रसान्वित करते हैं।"[१] यहाँ पर कला और प्रकृति के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि प्रकृति की ओर स्वभावतः मनुष्य आकृष्ट होता है, या जीवन में उसका इतना सहचर्य है कि कलाओं में उसका आना आवश्यक है। यथार्थ में प्रकृति, मानव-जीवन के आसपास रहने वाली आवश्यक, निर्दोष, मूक किन्तु स्थायी वस्तु है। जीवन के यथार्थ वर्णन की कुछ ही बातें ऐसी होंगी जिनमें प्रकृति एक अंग बनकर न आयी हो। ग्राम, वृक्ष, नक्षत्र, बादल, आकाश, पक्षी, लता, कीट, नदी, पर्वत, निर्झर, उपत्यका, पथ, फूल, फल आदि के रूप में मूक भाव से प्रकृति मनुष्य जीवन के साथ है। अतः कला यदि मनुष्य जीवन का वर्णन करती है तो प्रकृति उसके साथ अवश्य आयेगी। प्रकृति से वासनाओं की तृप्ति होती है इसे हम इसी रूप में मान सकते हैं कि चिर सहचर, प्राकृतिक दृश्य हमारे सामने कलाओं के रूप में आकर संस्कार के रूप में उपस्थित वासनाओं को उकसाते हैं। इसी कारण से प्राचीन काव्यों में प्रकृति के जितने विस्तृत वर्णन प्राप्त होते

१. साहित्यालोचन, छठी आवृत्ति, पृष्ठ ७।

है, आंजकल के काव्यों में उतने नहीं क्योंकि हमारा साहचर्य, स्वच्छन्द प्रकृति से कम रह गया है। अपनी ही निर्मित वस्तुओं से अधिक है जिनको भी हम काव्य मे स्थान देने लगे हैं।

कला को प्रकृति की अभिव्यंजना बताते हुए श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि यद्यपि कला को प्रकृति की अभिव्यजना ही कहा जाता है तथापि भारतीय विद्वान् प्राकृतिक आनन्द और काव्यानन्द मे वही भेद मानते हैं जो शरीर और आत्मा में है। यह कथन भी विचारणीय है। इसमे यथार्थतः दो विचार देखने को मिलते हैं जिनका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हुआ है। प्राकृतिक आनन्द क्या है और काव्यानन्द क्या है; इस विषय पर आचार्य ने आगे विचार किया है। प्राकृतिक आनन्द का अर्थ है इन्द्रियों-द्वारा भोगा हुआ आनन्द, और काव्य का आनन्द इन्द्रियों-द्वारा नहीं वरन् अन्तःकरण के द्वारा प्राप्त आनन्द है। अतः काव्य, प्रकृति की अभिव्यजना होते हुए भी अन्तःकरण को मानसिक आनन्द दे सकता है। आनन्द देने का व्यापार अभिव्यंजना की शक्ति पर निर्भर करता है। इस बात का सकेत इसी प्रसग में आगे चलकर उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में किया है।

"भारत के दार्शनिक और काव्यज्ञ मन और अन्तःकरण को ही सुख दुःख का कारण मानते हैं। इसी से वे साधारण इन्द्रिय जन्य प्राकृतिक अनुभव से मानसिक अनुभव और रससम्भव काव्यानन्द को बहुत भिन्न मानते हैं। भारतीय मत के अनुसार आनन्द आत्मा का गुण है। उस आत्मानन्द की तुलना भला स्थूल इन्द्रिय-सुख से कैसे की जा सकती है?"[1]

कला के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे आचार्य डॉ० श्यामसुन्दर दास ने यह स्वीकार किया है कि कलाओं के वर्गीकरण का कोई भी आभ्यतर आधार नहीं है और क्रोचे के विचार से कि कला एक अखड अभिव्यक्ति है, वे सहमत हैं। उसका जो भी वर्गीकरण सम्भव हो सकता है वह व्यवहारिक सुविधा के लिए बाह्य रूप का वर्गीकरण होगा। इस दृष्टि से वर्गीकरणों के अनेक आधारों का विवेचन डॉ० दास ने किया है और अपना इस व्यवहारिक वर्गीकरण पर विश्वास प्रकट करते हुए लिखा है कि हमारे विचार में कलाओं का वर्गीकरण असम्भव नहीं है, वरन् बहुत कुछ क्रम तथा नियम-पूर्वक यह वर्गीकरण किया जा सकता है। जो वर्गीकरण उन्होंने दिया है वह प्रचलित है। उपयोगी और ललित कलाओं के रूप में कला का वर्गीकरण यद्यपि वैज्ञानिक नहीं, क्योंकि जिन्हें हम उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत लाते हैं उनमें भी लालित्य है और

१. साहित्यालोचन, छठीं आवृत्ति, पृष्ठ ८।

जिन्हें हम ललित कलायें कहते हैं उनमें भी उपयोगिता होती है पर जो उपयोगि-ता अन्य कलाओं में है जिन्हें हम [illegible] कहते हैं उनकी दृष्टि से हम उनका नामकरण करते हैं। जैसे तो ललित कलाओं में भी उपयोगिता और उपयोगी कलाओं में भी लालित्य, कला के इस स्वरूप को ध्यान में रखकर [illegible] कला के सौन्दर्य या लालित्य एवं उपयोगिता दोनों की विभिन्नता होने मात्र भेद है। [illegible] कहा जा सकता है कि जो उपयोगी वस्तु है वह सुन्दर होती [illegible] उपयोगी [illegible] करते हैं वह उसमें सौन्दर्य का विधान किसी रूप में [illegible] हो जाता है।

यहाँ पर हम थोड़ा कुछ तो 'कला' शब्द के प्रयोग और अर्थ पर विचार कर लें तो यहाँ पर हमें यह कठिनाई और भी ठीक समझ में आ जाए। [illegible] में प्रयुक्त किस रूप में किया है उसे छोड़ दीजिये। यह देखिये कि साधारण और व्यावहारिक जीवन में कला किस अर्थ में प्रयुक्त होती है। लोग कहते हैं—अमुक व्यक्ति चोरी की कला में बढ़ा-चढ़ा है' 'वह तो बात बनाने की कला खूब जानता है', इन वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि 'कला' का अर्थ है विशेष दक्षता, चातुर्य, कौशल। अतः साधारण अर्थ में कला ऐसी भी हो सकती है जो न उपयोगी हो और न ललित। चोरी की कला न उपयोगी है और न ललित। पर ऐसे व्यापारों को विद्वानों ने कला नहीं कहा है। उसे व्यसन, या दुर्व्यसन की संज्ञा देकर सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि में रखकर ही कलाओं का स्वरूप निश्चय किया गया है। अतः व्यवहार की दृष्टि से हम कलाओं के उपयोगी और ललित वर्ग करते हैं वे शुद्ध वैज्ञानिक नहीं हैं।

ललित कलाओं के पाँच वर्ग किये गये हैं—वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। और ललित कलाओं के विषय में यह बात उन्होंने मानी है कि ललित कला वह वस्तु या कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ करती हैं। काव्य को आँखों से देखकर पढ़ते हैं पर आँखें देखकर लिपि रूप का ज्ञान करती हैं, अर्थ द्वारा उत्पन्न अनुभव, उससे सर्वथा भिन्न है। उसका अनुभव मन करता है। अतः यह कथन ठीक है।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो मत हैं, कला कला के लिए और कला जीवन के लिए। यथार्थ में कला कला के लिये यौक्तिक चिन्तन की रंकता को स्पष्ट करता है, यदि कला, कलाकार को और जैसा कि कला का उद्देश्य है श्रोता, दर्शक या पाठक को, आनन्द प्रदान कर सकी तो उसका उद्देश्य जीवन के लिए बन चुका, क्योंकि, आनन्द प्राप्त करना जीवन का स्वयं सबसे व्यापक उद्देश्य है। इस प्रकार कला उद्देश

जीवन के लिए ही होती है। आचार्य डॉ० श्यामसुन्दरदास का भी यही मत है कि कला अपने यथार्थ और सफलरूप में सदैव जीवन के लिये ही होती है।[1] और यही सिद्धान्त भारतीय विचारकों की दृष्टि से भी समीचीन है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्य-कला को सगीत और चित्रकला से भिन्न माना है, उसका सब से बड़ा कारण यह है कि काव्य मे सगीत और चित्र दोनों का ही आनन्द रहता है। काव्य का आनन्द क्षण-क्षण में नवीन रहता है, चित्रकला का प्रभाव एकरसता लिए रहता है। यद्यपि चित्र हमारे ऊपर एक साथ प्रभाव डालते हैं और वर्णन की भाँति कोई एक क्रम से एक एक अंग सामने नहीं लाते, पर काव्य को अपने दिये शब्द की पृष्ठभूमि मिलती है और भाव की सूक्ष्मता की ओर संकेत रहता है, प्रत्येक वस्तु का पूर्ण प्रकाशन रहता है जो कि चित्र में नहीं। हाँ, चित्र भी कहानी की सहायता लेकर चलते हैं और इस प्रकार यदि काव्य का सहारा लेकर चित्रकला चलती है तो अधिक सूक्ष्मता और प्रचुर प्रभाव को प्राप्त करती जाती है।

'साहित्यालोचन' के दूसरे अध्याय मे आचार्य ने व्यापक दृष्टि से साहित्य का विवेचन किया है। हमारे यहाँ कुछ विद्वानों ने काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं माना[2] क्योंकि अन्य कलाओं के समान काव्य की दक्षता अभ्यास से नहीं आती। यदि ऐसा होता तो आज के युग में जैसे चित्रकला, सगीत कला आदि के बडे बडे विद्यालय हैं वैसे ही काव्य रचना सिखाने वाले भी बडे बडे विद्यालय होते। जो विद्यालय हैं वे हमें काव्य और साहित्य का समझना, उसका आनन्द उठाना, उसका गुण-दोष देखना ही बताते हैं, उसकी रचना कला नहीं बताते। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तात्विक विचार से काव्य, कलाओं से भिन्न हैं।

मूर्तिरचना, चित्राकन, सगीत तथा कविता की प्रणालियाँ प्राचीन काल की भाँति आज भी प्रचलित हैं और सभ्य देशों में इनका लगभग साथ साथ विकास देखा जाता है। इतिहास के खोजी, इनके आधार पर प्राचीन सभ्यताओं की विशेषताओं का पता लगाते हैं। इन बातों के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कहा है :—

---

१. देखिये 'साहित्यालोचन', छठी आवृत्ति, पृ० २४।

२. देखिए शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'प्रसाद' जी का 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध'।

"ऐसी अवस्था में यह भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता कि साहित्य-कला किसी अन्य कला से तत्वतः भिन्न अथवा; पृथक् है। साहित्य की उत्पत्ति और विकास भी उसी प्रकार से हुआ है जिस प्रकार अन्य कलाओं का हुआ है।"[१]

यहाँ पर यह कहना अधिक उचित था कि बाह्य रूप से साहित्य-कला, और कलाओं से भिन्न नहीं है, क्योंकि आचार्य का यह विश्वास अवश्य है कि अन्य कलायें अभ्यास से आजाती हैं, नियमों को समझने से आजाती है, पर काव्य कोरे अभ्यास से नहीं आता। इस बात का स्पष्टीकरण नीचे लिखे उनके वाक्यों से हो जाता है।

"नियम निर्धारण के लिए साहित्य शास्त्र की रचना उचित नहीं जान पड़ती, और न स्वाभाविक ही है। साहित्य की वेगवती सरिता नियमों की अवहेलना कर स्वच्छंदता पूर्वक बहने में ही प्रसन्न रहती है। साहित्य-सम्बन्धी शास्त्रकार को अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए।"[२] इससे यह स्पष्ट है काव्य अन्य कलाओं से तत्वतः भिन्न है उसका उनसे केवल बाह्य साम्य है यह बात डॉ० श्यामसुन्दर दास मानते हैं। संगीत शास्त्री संगीत-सृष्टि में दक्ष होता है, चित्रकला-विशारद, सुन्दर चित्र-रचना कर सकता है, पर काव्यशास्त्री के लिए यह कदापि निश्चित नहीं कि वह कुछ भी काव्य रचना कर सकेगा या नहीं। इसीलिए भारतीय दृष्टि से ६४ कलाओं के अन्तर्गत काव्य नहीं वरन् 'समस्या पूर्ति' रखा गया है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने पाश्चात्य मत का निरूपण किया है और उनके विचार से 'कला' का अर्थ आनन्दमयी अभिव्यक्ति है, दक्षता या कुशलता जो अभ्यास से आती है नहीं है और उस दृष्टि से काव्य 'वस्तु', कला के अन्तर्गत नहीं आपायेगी। हाँ, यदि हम प्रत्येक कला के विद्यांश और कलांश को अलग कर लें तो ये सब विद्यायें हो सकती हैं जिसका कुछ या अधिकांश भाग हम अभ्यास द्वारा प्राप्त कर सकते हैं जिसे हम कला कह सकते हैं। किन्तु आजकल विद्या और कला के भी अर्थों में अधिक अन्तर नहीं रह गया। इसलिए काव्य को हम कला के अन्तर्गत न लायें तो ही अच्छा है।

साहित्यालोचन के सम्बन्ध में आचार्य डॉ० श्यामसुन्दर दास का यह मत सर्वमान्य है कि इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत मत निरूपण को सदैव दूर रखते हुए साहित्य के स्वभाव का निरूपण हमारा लक्ष्य होना चाहिए।[३] साहित्य के स्वरूप के विषय में उनका स्पष्ट

---

१. 'साहित्यालोचन' छठी आवृत्ति पृष्ठ ३१।

२. 'साहित्यालोचन' ,, ३२।

३. ,, ,, ३२।

मत है कि साहित्य, सृष्टि-चक्र और जीवन की विविधता को लेकर ही अपना महत्व प्राप्त करता है। आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग ये क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं, प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न हैं इस भिन्नता और विशेषता का चित्रण साहित्य का ध्येय है। विविधता को अपने में समाविष्ट करके ही साहित्य, साहित्य की संज्ञा प्राप्त करता है।

प्रायः इस विषय में भी मत-भेद रहता है कि काव्यानन्द का क्या स्वरूप है। काव्य के आनन्द को रस के नाम से निरूपित किया गया है। यह रस, ब्रह्मानन्द-सहोदर या अलौकिक कहा गया है। अलौकिक का क्या अर्थ है और रस किस अर्थ में अलौकिक है, ये विचारणीय प्रश्न हैं। 'क्रोचे' के विचार से भी काव्य आध्यात्मिक प्रक्रिया है। किन्तु विद्वानों के द्वारा इसका इस रूप में खण्डन किया गया है कि यदि अलौकिक आनन्द रस है तो इसका अर्थ यह हुआ कि लोक में हमें वैसा आनन्द नहीं मिलता, परलोक में ही मिलता है। पर काव्य की कोटि का आनन्द लोक-जीवन के बीच में भी प्राप्त होता है। प्राकृतिक दृश्यों को देखने में, किसी निष्ठुर को किसी निरपराध व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार करने में, तथा अन्य ऐसे समयों पर जो अनुभूति होती है वह काव्यानुभूति से मिलती जुलती है। अतः इसे अलौकिक क्यों कहा जाय ?

इनका समाधान आचार्य दास ने बड़ी सुन्दरता से किया है। अलौकिक का अर्थ है, इन्द्रियों के आनन्द से भिन्न आनन्द। उन्होंने अलौकिक का अर्थ संवेदनजन्य, मानसिक और सूक्ष्म लिया है। यह उस आनन्द से भिन्न है जिसमें इन्द्रिय-सुख ही या उसका प्राधान्य रहता है। इसमें कल्पना के योग से अनुभूति होती है और व्यक्तिगत भौतिक चेतना तिरोहित हो जाती है। इस आनन्द में यही आत्मविभोरता की विचित्र अवस्था होती है इसी कारण से इसको अलौकिक कहा गया है। इस आनन्द में लोक का सम्बन्ध पूर्व लौकिक अनुभव और वासना के रूप में रहता है पर वह अनुभूति, कल्पना की अवस्था में होती है। तत्कालीन लोक अनुभव नितान्त विस्मृत रहता है। हमारी रसानुभूति लौकिक अनुभव पर ही आधारित रहती है। पर सभी प्रकार के अनुभव, रस उत्पन्न नहीं करते हैं। लौकिक अनुभवों को, षट्‌रस आदि के आनन्द को भी रसास्वाद कहते हैं, इसे मनु ने "सौहित्य" की संज्ञा दी है कि "नाति सौहित्यमाचरेत" अतः यह मानसिक अनुभूति जिसमें सभी इन्द्रियाँ तन्मय होती हैं, इन्द्रियजन्य आस्वादों से भिन्न हैं, और इसी को साहित्य में रस कहते हैं।

इस विषय का स्पष्टीकरण डॉ० भगवानदास के लेख 'रसमीमांसा' से और भी हो जाता है। उन्होंने रस की भावस्मरण के रूप में व्याख्या की है और इसी रूप में जब सहज भावस्मरण होता है तभी रस की अनुभूति माननी चाहिए। उन्होंने इसे उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे किसी दुःखी, दरिद्र को देखकर मन में दया या करुणा उपजे और कोई उसे धन दे या सहायता करे तो दाता को करुणा का, दया का, अनुकम्पा का, 'भाव' हुआ, पर रस नहीं आया। यदि सहायता कर चुकने पर भी उसके मन में यह वृत्ति उत्पन्न हो "कैसा दुःखी था, कैसा दरिद्र था" तो रस की अनुभूति समझनी चाहिए।[1]

साहित्य व्यापक रूप से सभी प्रकार की पुस्तकों के लिए प्रयुक्त होता है और इतिहास, भूगोल, विज्ञान, ज्योतिष, आदि के ग्रन्थ भी किसी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। पर साहित्य का उद्देश्य मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। साहित्य के सहारे मनुष्य सांसारिक दुःख और सकटों को क्षण भर के लिए भूल सकता है। साहित्य अपने सीमित अर्थ में काव्य के लिए प्रयुक्त होता है। और काव्य का प्रयोजन हमारे मन को आनन्द देना है, इसी अर्थ में संस्कृत के विद्वानों ने 'रसात्मक वाक्य' या, 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहा है। साहित्य के विषय में आजकल यह विवाद चल रहा है कि इसमें यथार्थ का चित्रण होना चाहिए और इस यथार्थता के नाम पर बहुत सा भ्रष्ट और कुरुचिपूर्ण साहित्य निर्मित हो रहा है। इस बात को दूर करने के लिए डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अपना मत प्रकट किया है कि हमारी बेकारी के क्षणों को काटने के लिए जो कुछ लिख दिया जाय वह सभी साहित्य नहीं हो जायगा। साहित्य और सुरुचि का अभेद्य सम्बन्ध है और साहित्य को हमारी उस रुचि को तृप्त करने में समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हों।[2]

साहित्य पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओं में साहित्यकार का व्यक्तित्व, जातीयता, एवं देश की तत्कालीन परिस्थितियाँ होती हैं। सभी महत्वपूर्ण साहित्यकारों के व्यक्तित्व की छाप उनके साहित्य में अलग देख पड़ती है, यह लेखक की प्रतिभा के रूप में होती है, पर इसके अतिरिक्त राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण भी प्रत्येक युग के

१. 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ ७।
२. 'साहित्यालोचन'. ,, ४३।

साहित्य पर कुछ प्रभाव पड़ा करता है। एक युग के साहित्य की दूसरे युग के साहित्य से भिन्नता समझने के लिए हमें इन बातों का समझना आवश्यक हो जाता है और इन नवीन परिस्थितियों के अनुसार हमारी शैली एव भावों का मूल्य भी बदलता रहता है, पर इस युग युगीन परिवर्तन के अतिरिक्त साहित्य का एक अपरिवर्तन शील रूप भी रहता है, जिसके आधार पर हम एक जाति के साहित्य को दूसरी जाति के साहित्य से पृथक् करके देख सकते हैं। अतः साहित्यालोचन को हम अनेक प्रकार से निर्धारित करते हैं। किसी समय की विशेषताओं का अध्ययन, साहित्य पर स्थिति और समय के प्रभाव का अध्ययन, जातिगत साहित्यिक विशेषताओं का अध्ययन और इसके साथ साथ ही देश, काल, जाति आदि के बन्धनों से मुक्त साहित्य की विशेषताओं का निर्णय आदि इसमें सहायक होते हैं। साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत, व्यापक और शाश्वत् सत्य की महिमा है। अत. इसमें सबसे अधिक महत्व साहित्य के सम्बन्ध मे निर्धारित उन सिद्धांतों का है जो सबकालीन और सार्वदेशिक हो सकें। इसी आदर्श को सामने रख कर ही साहित्य शास्त्र अपने सिद्धान्तों की खोज, निरूपण, तथा प्रतिपादन किया करता है। साहित्या, लोचन के दूसरे अध्याय में साहित्य-सम्बन्धी सार्वभौम एवं शाश्वत् सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है।

तीसरा अध्याय काव्य के विवेचन पर है। आचार्य श्यामसुन्दर दास के विचार से साहित्य और काव्य का भेद व्यवहारिक है, तात्विक नहीं। साहित्य शब्द में रचनाओं के समूह का अर्थ है; सामुहिक रूप से काव्य रचनायें 'साहित्य' का नाम धारण करती हैं और गुण एव विशेषता के रूप में रचनायें "काव्य" की संज्ञा प्राप्त करती हैं। काव्य वह रचना है जिसमें रस, भाव, आनन्द, जीवन, मनोरंजन आदि हों। साहित्य लिपि बद्ध रचनाओं के सामुहिक नाम को कहते हैं। इसलिए काव्य, आन्तरिक विशेषता का द्योतक है, साहित्य वाह्य स्वरूप का। इन दोनों का अन्तर्गत गद्य, पद्य, चम्पू आ जाते हैं। मनुष्य की बुद्धि, कल्पना आदि भाव जगत के विकास एव प्रकाशन में योग अवश्य देती है, पर उसकी सत्ता स्वतंत्र है, ऐसा आचार्य का मत है, इस मत को क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित उन्होंने माना है। भावसत्ता स्वतंत्र इसी रूप मे है कि कल्पना और बुद्धि भी भावों के द्वारा प्रभावित होते हैं, बुद्धि तत्व होने पर भी भाव तत्व नहीं हों यह सम्भव है और कल्पना के द्वारा भी भाव उत्पन्न नहीं किए जाते हैं। पर भाव जगत का कल्पना से सम्बन्ध अवश्य है। कोमल कल्पना के साथ भावुकता जाग्रत होती है। कम से कम काव्य-रचयिता के लिए कल्पना और भाव दोनों ही आवश्यक हैं। प्राय. ऐसा देखा

जाता है कि भावुकता के साथ कल्पना का लगाव रहता है। साहित्य या काव्य के लिए यही भाव-जगत् ही महत्व का है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्य के उपकरणों में सौंदर्य, रमणीयार्थ, अलकार और रस तथा भाषा को माना है। सौन्दर्य, रमणीयार्थ को अपने अन्तर्गत ले लेता है अथवा यों कहें कि काव्यगत सौन्दर्य, रमणीयार्थ ही के रूप में होता है। यदि रमणीयार्थ के अतिरिक्त सौन्दर्य है तो वह सगीत का है और केवल सगीत का। अलकार एव गुण इसी रमणीयार्थ के उपकरण हैं। भाषा काव्य का आवश्यक अग है। अतः काव्य के उपकरण के रूप में हम शब्द और अलकार को मान सकते हैं। कवि की दृष्टि से भाषा, भाव, एव कल्पना अनिवार्य काव्य-सामग्री हो सकती है।

'काव्य का सत्य' नामक प्रसग में आचार्य श्यामसुन्दरदास ने सभी कलाओं की भाँति काव्य के सत्य को भी असाधारण बताया है, क्योंकि वह प्राय. सभी के अपने अनुभवों से कुछ भिन्न होता है, यदि ऐसा न हो तो कवि में नवीनता, मौलिकता एव रोचकता का अभाव रहे। अत कवि वस्तुजगत् और कल्पना जगत् की अनोखी अनोखी बातों का वर्णन करता है। प्रत्येक वस्तु का जो वह कल्पना के सहारे एक मनोहारी रूप उपस्थित करता है, वही रूप सामान्य सत्य न होकर सर्वसाधारण के सत्य के रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि उस वस्तु का यथार्थ रूप हमारी दृष्टि मे उतना मनोहारी नहीं है। परन्तु इस प्रकार कल्पना-द्वारा दिया गया रूप. सदैव सामान्य सत्य एव वास्तविकता के ही आधार पर टिक सकता है, वास्तविकता विहीन केवल काल्पनिक रूप प्रभावहीन ही होता है। कभी कभी वर्णन ऐसा होता है कि जो हमें स्थूल दृष्टि से आश्चर्यमय जान पड़ता है, पर भावों पर प्रभाव डालने के लिये उस रूप म वर्णन ही आवश्यक होता है। जैस मन की गति, पैरों की गति से तेज होती है वैसे ही कल्पना का मापदण्ड भी साधारण स्थूल दृष्टि के मापदण्ड से सूक्ष्म और ऊँचा होता है, इसी कारण हम कल्पना के उद्दाम के लिये वर्णनों में अतिशयोक्ति अथवा अत्युक्ति को स्थान देते हैं।

काव्य चाहे जिस प्रकार का हो, वह जितना ही लोकमगल से प्रेरित होगा उतना ही ऊँचा और महत्व का होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य में धार्मिक उपदेश हों। उद्देश्ययुक्त सबल और प्रभावपूर्ण लौकिक जीवन के चित्र एव आदर्श स्वरूप सदैव काव्य के उत्तम विषय रहे हैं और एसे ही कवि विश्वव्यापी ख्याति भी प्राप्त कर चुके हैं। हमें यह देखना है कि स्वान्तःसुखाय, या कलावाद को लेकर रचा गया काव्य कहाँ

तक सफल और लोक-कल्याण से दूर रहकर ही प्रभावपूर्ण हो सकता है। सत्य बात तो यह है कि स्वान्तःसुखाय भी यदि काव्य होगा, तो भी उसमें परान्तःसुखाय की भावना होगी, क्योंकि अनेक विभिन्नताओं के होने पर भी मनुष्य के अनेक सामान्य गुण एवं भावनायें मानव-जाति को एक सूत्र में बाँधती हैं। कला का तात्पर्य है प्रभाव सम्पन्न अभिव्यक्ति और प्रभाव की सार्थकता ही है सत्प्रेरणा। अतः काव्य का उद्देश्य लोक जीवन की हितैषणा स्वयं सिद्ध-सी है।

इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि किसी भी लेखक या कवि की कृतियों की आलोचना या उनका रसास्वादन पूर्ण सहानुभूति के बिना नहीं प्राप्त हो सकता। अतः हमें सबसे प्रथम श्रद्धा और सहानुभूतिपूर्वक लेखक के व्यक्तित्व से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। उसका व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण उसके जीवनचरित्र सम्बन्धी ज्ञान और उसकी रचना शैली के द्वारा हो सकता है, पर पूर्ण प्रतिभा का परिचय पाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम किसी भी कवि या लेखक के एकाध ग्रन्थ पढ़ कर ही सन्तुष्ट न हो जाँय। प्रयत्न यह करना चाहिए कि हम उसके सभी ग्रंथों का अध्ययन करें और तब अपनी उस कवि या लेखक-सम्बन्धी धारणा दृढ़ करें। काव्यरसिकों के रसास्वाद के लिए तो जिन बातों का ध्यान रखना है वे हैं तुलनात्मक अध्ययन एवं समयानुसार विकासक्रम,[1] क्योंकि इनके द्वारा ही लेखक की प्रतिभा की जाँच होती है और उसकी महत्ता स्पष्ट हो सकती है। तुलना के द्वारा हम और लेखकों, और कवियों के पैमाने पर उसे नापते हैं और समयानुसार विकासक्रम के द्वारा हम उसे नवीन अथवा प्राचीन परम्परा में स्थान दे सकते हैं। इसलिए हमें किसी लेखक या कवि की प्रतिभा का परिचय पाने के लिए उसके जीवन चरित्र, शैली, ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन और समय से सम्बन्ध आदि बातों का ध्यान रखना पड़ेगा।

*कविता*

'कविता का विवेचन' नामक चौथे अध्याय में आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पद्य काव्य का विवेचन किया है। काव्य के अन्तर्गत जहाँ पर सभी प्रकार की रसमयी, रमणीय रचना का समावेश हो जाता है, वहाँ कविता भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। पर कविता के अन्तर्गत केवल पद्य काव्य रहता है। डॉ० दास का कथन है काव्य का गद्य और पद्य की कोटियों में विभाजन किसी तात्विक आधार पर नहीं है और यह विभाजन

१ 'साहित्यालोचन' छठी आवृत्ति, पृष्ठ ८२, ८३।

केवल व्यवहार की दृष्टि से है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है'—"यद्यपि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद्य से कम नहीं हैं और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत् भासित होती है तथापि पद्य मे संगीत-कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी देख पड़ती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है।"[1] काव्य के पद्य क्षेत्र मे सीमित न होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि छन्दबद्ध काव्य और गद्य काव्य में बड़ा अन्तर होता है। जब हम पद्य में कवित्वहीन तुकबन्दी प्राप्त कर, खेद करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का केवल छन्द ही अनिवार्य अंग है। यह उसका एक अंग है। और काव्य के अन्य उपकरणों से युक्त होकर यदि वह छन्दों से भी सम्पन्न है तभी उसे 'कविता' का नाम देना चाहिए, अन्यथा नहीं। यह बात अनुभव द्वारा निश्चित करने की है कि गद्य बिना कथानक के उतना प्रभावकारी नहीं होता जितनी कविता, गद्य में कविता की कल्पना और भावना कम शोभा देती है, जब कि कथानक, वस्तु वर्णन, विवेचन आदि गद्य मे ही अधिक प्रभाव कारी होते हैं। यदि हम उपमा से काम लें तो हम कह सकते हैं कि पद्य यदि नृत्य की गति है तो गद्य साधारण चाल। दोनों में भाव होते हैं पर दोनों का कलात्मक महत्व भिन्न भिन्न है। नृत्य का आकर्षण और प्रभाव नित्यप्रति की सामान्य चाल को नहीं मिल सकता। इसका प्रयोग द्वारा निर्णय हो सकता है। यदि कविता गद्य में और गद्य काव्यपद्य में रख कर हम देखें तो पता चलेगा कि कौन सा ढंग कविता के लिए सुन्दरतर है।

कविता के विषय मे दो सिद्धान्त प्रचलित हैं जिन पर आचार्य दास ने विचार किया है और वे दोनों ही अंशत सत्य हैं। प्रथम तो यह है कि कविता का सभ्यता के साथ साथ ह्रास होता जाता है और दूसरा यह कि कविता असाधारण परिस्थिति की उपज है और गद्य, हमारी दैनिक सामाजिक परिस्थितियों के साथ चलता है, अतः कविता स्वभाव से ही यथार्थ से कुछ दूर आदर्श पर है। पहले सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि हम सभ्यता के विकास के साथ साथ कविता का ह्रास देखते हैं, पर वह किन्हीं अन्य कारणों से।[2] इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कविता का सम्बन्ध

१. 'साहित्यालोचन' ६ठी आवृत्ति पृष्ठ ८७।

२. देखिए पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार और उनका विवेचन।

ही अर्द्धसभ्यावस्था रो है। इसके मूल मे राजनीतिक और सामाजिक कारण पड़ते हैं और कविता के आनन्द या समाज में ह्रास हो जाने का अर्थ यह भी है कि समाज ने अपने आनन्द को खो दिया। हम कह सकते हैं कि मनुष्य आनन्द के पीछे उतना नहीं जितना आत्म-रक्षा के पीछे पड़ा हुआ है। वह वर्तमान को आनन्दमय कम बनाता है, भविष्य का अपने वश में रखने के लिए विशेष प्रयत्नशील है। ऐसी दशा म किसे अवकाश है कि कविता का अलौकिक आनन्द प्राप्त कर ले। यह तो शुचिता, निर्द्वन्द्वता का आनन्द है, जो कवि की प्रतिष्ठा करने पर प्राप्त हो सकता है।

दूसरे सिद्धात का अर्थ यह नहीं है कि समाज से कविता आदर्शवादिनी होने के कारण दूर है, परन् उसका जोर इस बात पर है कि आदर्श की सृष्टि करने के कारण उसके भीतर कल्पना और नूतन उद्भावना का क्षेत्र खुला है। पर यह कल्पना मय चित्रण हमारे हृदय में जिस आधार पर भाव उकसा सकेगा, वह आधार हमारा यथार्थवाद का ही है अत कविता में सामाजिक जीवन के अनुभव के साथ आदर्श और कल्पना दोनों का व्यापार चलता है उसका ध्येय यथार्थ पर उगा हुआ आदर्श सींचना है।

कविता के भावपक्ष और कलापक्ष दो पहलू हैं। भावपक्ष पर विचार करने का क्षेत्र आचार्य श्यामसुन्दर दास के विचार से दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र आदि में है। इस पक्ष म मानव-समाज की व्यापक अनुभूतियाँ ही कविता का अक्षयभंडार है, परन्तु इन भावों की अभिव्यक्ति की शैली कविता के कलापक्ष से सम्बन्ध रखती है। कला के अन्तर्गत गुण, दोष, अलंकार आदि हैं। इसी प्रसंग म उन्होंने इस बात को भी समझाने का प्रयत्न किया है कि काव्य का आनन्द किस बात में है और अभिनय देखने और कविता पढ़ने या सुनने की अनुभूति मे क्या अन्तर रहता है।

पश्चिमीय विद्वानों ने अभिनय का कारण सत्य या यथार्थ जीवन की अनुकृति को माना है, पर आनन्द वस्तुत में अनुकृति म नहीं, यथार्थ कृति में ही मिलता है काव्य या नाटकाभिनय के माध्यम से जो अनुभूति हमें प्राप्त होती है उसके आनन्द का रहस्य है जीवन का चित्रण। कवि के अनुभवों के बीच जब हम स्वयं अपने को पाते हैं तभी हमें यह अनुभूति होती है। यदि हम उसे अनुकृति समझते हैं तो यथार्थ आनन्द से वंचित रह जाते हैं। वह चाहे हो अनुकृति ही, पर अनुकृति का तत्वज्ञान आनन्द को नहीं देता। आनन्द तो जीवन की यथार्थता का अनुभव करने से प्राप्त होता है। अभिनीत और पठित काव्यों की अनुभूति में केवल उसकी प्रक्रिया का ही अन्तर है। अभिनय देखने

वाला अपने सामने विभाव, अनुभाव आदि प्रत्यक्ष देखकर, उनके विषय में भी स्वल्प कल्पना करता है और पाठक विभाव, अनुभाव आदि का स्वरूप केवल अपनी कल्पना के बल पर ही गढ़ा कर लेता है। एक में कल्पना एक प्रत्यक्ष दृश्य को सत्य मानती है, और दूसरी में हम स्मृति और कल्पना के सहारे वर्णित वस्तु का साक्षात्कार करते हैं अतः दोनों में अनुभूति की तीव्रता का अन्तर हो सकता है, कोटि का नहीं। काव्य और कला-कृतियों की सफलता इसी बात में आँकी जा सकती है कि वे मानसिक रूप को ग्रहण कराने में समर्थ हों।

भाव-पक्ष और कला पक्ष के सम्बन्ध के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये दोनों अलग अलग पक्ष नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तु को देखने के भिन्न दो दृष्टिकोण हैं जहाँ पूर्ण सफलता है वहाँ दोनों ही समर्थ हैं, ऐसा आचार्य श्यामसुन्दरदास ने 'क्रोचे' के विचार और महापात्र विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक काव्य' के सिद्धान्त द्वारा ही सिद्ध किया है। भारतीय पद्धति के विचार से कविता का स्वरूप आँकने पर डॉ० श्याम सुन्दरदास मम्मट के काव्यप्रकाश में दी हुई कविता की परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' को सबसे व्यापक परिभाषा मानते हैं क्योंकि 'वाक्य रसात्मक काव्य' और 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्य' दोनों परिभाषाओं में उत्तम काव्य का ही लक्षण है। चित्रकाव्य को कोई भी परिभाषा अपने में समेट नहीं पाती, पर मम्मट की परिभाषा के अन्तर्गत यह भी आ जाता है। उनके विचार से यद्यपि ध्वनि, उत्तम काव्य है पर चित्रकाव्य अधम ही सही, काव्य है अवश्य, और इस प्रकार प्राचीन परम्परा से माने जानेवाले चित्रकाव्य का भी काव्य-क्षेत्र से निष्कासन नहीं होता। फिर इसके साथ साथ शब्द अर्थ को महत्व देकर, वाचक, लक्षक, व्यंजक शब्द उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ तथा अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ भी काव्य विवेचन के अन्तर्गत आ जाती हैं। इसलिये उनका दृष्टिकोण सबसे व्यापक है। यद्यपि हम पहले देख चुके हैं कि यह मत सर्वमान्य नहीं है।[१]

जैसा कि इस प्रसंग के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि छन्द शास्त्र, काव्य का अनिवार्य अंग न भी हो, पर हिन्दी कविता का अनिवार्य अंग है, कविता के अन्तर्गत हम कोई न कोई छन्द अवश्य पाते हैं। आचार्य श्यामसुन्दरदास का विचार है कि कविता का आधार शब्द है, और स्वर, संगीत का आधार है, इसलिये यह छन्द आदि

---

१. देखिये 'काव्यप्रभाकर' का काव्य निर्णय प्रसंग।

-संगीत शास्त्र के अन्तर्गत विशेष है। यह ठीक है पर छन्द का एक रूप जो स्वर से सम्बन्ध न रखकर गति से सम्बन्ध रखता है वह कविता का अनिवार्य अंग है। कविता में संगीत और चित्र दोनों का सामंजस्य है इसलिये संगीत के नाम पर हम छन्दों को कविता से अलग नहीं कर सकते, जैसे चित्रकला के नाम पर शब्द चित्रों को। कविता चित्रकार को चित्रों का रूप देती है, प्रेरणा देती है, ऐसे ही वह संगीत के बोल देती है जिसमें संगीतज्ञ अपने कण्ठ का स्वर भरता है। इसलिये कविता में यह प्रधान न हो पर है उसका आवश्यक अंग।

कवि-कल्पना, अभिव्यंजक शक्ति, आदर्श आदि पर जो विचार व्यक्त किये गए हैं उनका आशय यही है कि कवि-कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है। वैज्ञानिक की बुद्धि, और दार्शनिक की दृष्टि ही के समान कवि की कल्पना है, जो कि हमारे बीच प्रचलित लोकोक्ति, "जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि," के रूप में व्यक्त है। अभिव्यंजक शक्ति, कवि कल्पना के ही प्रकाशन में है। कवि की अभिव्यंजना किसी भी वस्तु के सौन्दर्य और रहस्य का उद्घाटन ही नहीं करती वरन् हमें स्वयं अभ्यास के द्वारा एक सौन्दर्य को परखने वाली दृष्टि प्रदान करती है, अतः हमारी अपनी अभिव्यंजना प्रणाली में भी कवि की अभिव्यंजक शक्ति का प्रभाव पड़ता है। आदर्श के विषय में यही बात मुख्य है कि कवि केवल एक यथातथ्य चित्र ही उपस्थित नहीं करता वरन् वह जीवन की व्याख्या कर मनुष्य को सदादर्शों द्वारा सत्य-पथ पर ले जाने वाला होता है, क्योंकि उसमें हमारे भावों पर अधिकार करने की शक्ति होती है, वह उन्हें जिस दिशा में चाहे प्रेरित कर सकता है। अत: ऐसे शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के लिए यह एक सैद्धान्तिक आवश्यकता है कि वह आदर्श को लेकर चले तभी संसार को कल्याण हो सकता है।

कविता के विभागों में डॉ० दास ने आत्माभिव्यंजक और बाह्यदृश्य-निरूपिणी या विषय-प्रधान कविता नामक दो विभाग बताये हैं जिन पर अधिकांश कविता हुई हैं। गीत आदि जिनमें कवि का आत्मविश्लेषण प्रधान होता है, भावात्मक कविता है और प्रबन्ध काव्य खंड काव्य, नाटक आदि में विषय प्रधान कविता रहती है। ये विभाग ठीक हैं, पर व्यावहारिक दृष्टि से ही। तत्वतः देखने से हमें कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही सभी स्थानों में व्याप्त मिलता है। पर वह ऐसा अवश्य होता है जो सब की आँखों में समा सकता है। महाकाव्य या खंड काव्य अथवा नाटक के पात्रों की जिह्वा से बोलने वाली कवि की ही आत्मा है जहाँ प्रत्येक पात्र के रूप से कवि अपनी भावना को ही व्यक्त

करता है। परन्तु प्रक्रिया के विचार से तथा व्यवहार की सुगमता के लिए दो विभाग मान लेना ठीक है अवश्य।

गद्यकाव्य के अन्तर्गत आचार्य श्यामसुन्दरदास ने, दृश्य काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्धों को रक्खा है। गद्य काव्य को लेकर इतना विस्तृत विवेचन इसके पूर्व नहीं हुआ था। नाटकों का विवेचन तो पश्चिमी दृष्टिकोण और संस्कृत के नाट्यशास्त्र दोनों ही को लेकर किया गया। संस्कृत में नाट्यशास्त्र का बहुत ही विस्तृत विवरण मिलता है और उसके भीतर लगभग सभी आधुनिक एवं प्राचीन रूपक ( Drama ) विशेषतः नाटकों ( Plays ) की समस्याओं पर प्रकाश मिलता है। अतः डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने अर्थ प्रकृति और सन्धि आदि को लेकर कथावस्तु का विवेचन और रूपक के दस भेदों को उपस्थित किया है और अठारह उपरूपकों का भी परिचय दिया है किन्तु इसके साथ साथ ही उन्होंने उद्देश्य, चरित्र चित्रण, संकलनत्रय आदि पर पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार भी विवेचन उपस्थित किया है। इन सब बातों के साथ साथ वे अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह वही है जिसके आधार पर संस्कृत काव्य के विषय में प्रचलित लोकोक्ति है "काव्येषु नाटकं रम्य" डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी लिखा है "अन्त में हम इतना ही कहना यथेष्ट समझते हैं कि नाटक लिखना सहज नहीं है और इसके लिए बहुत कुछ विद्या, बुद्धि, ज्ञान, रचना कौशल की आवश्यकता होती है।"[1]

गद्य काव्य में नाटकों का स्थान दृश्य भाग के अन्तर्गत है, और श्रव्य भाग के अन्तर्गत उपन्यास, आख्यायिका और निबन्ध है। भारतीय साहित्य में इन तीनों का अधिक विकास प्राचीन काल में नहीं हुआ है अतः इनके विवेचन की वैसी विस्तृत पद्धति भी नहीं मिलती जैसे कि काव्य अथवा नाटक की। अतः इनका विवेचन विशेष रूप से पश्चिमीय विवेचन-पद्धति के अनुसार ही है। उपन्यास के विषय में उन्होंने कहा है कि "पाश्चात्य साहित्य में श्रव्य काव्य के इस अंग की इतनी अधिक उन्नति हुई है और पश्चिम की प्रणाली पर भारतीय भाषाओं में भी इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि अब यह काव्य-साहित्य में स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व दृढ़ कर चुका है और अपनी एक अलग कोटि भी बना चुका है। इस कोटि में साधारणतः कल्पना प्रसूत वह सम्पूर्ण कथा साहित्य आजाता है जो गद्य की रीति से व्यक्त किया गया

१. 'साहित्यालोचन' छठी आवृत्ति पृ० १७०।

है।[1] प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा, पुराण, वार्ता, आख्यायिका आदि रही हैं, उनमें अधिकांश का विवेचन काव्य के भीतर उदाहृत नहीं हुआ है। पर पाश्चात्य साहित्य में इसका वर्गीकरण हो चुका है। उसके अनुसार उपन्यासों की कोटियाँ, घटनाप्रधान, सामाजिक, अन्तरंग जीवन के उपन्यास तथा देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास के रूप में 'साहित्यालोचन' में विवेचित हुई हैं। उपन्यास के तत्वों में वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य आदि हैं जिनका उपयुक्त विवरण दिया गया है। उपन्यास की रचना, नीति, वास्तविकता के विषय में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा गद्य एवं जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा होने के कारण, पद्यमय काव्य से अधिक जीवन के समीप और यथातथ्य पूर्ण होती है। कवि की सी उड़ान, उपन्यासकार नहीं भर सकता। वह जीवन की बातों को स्पष्ट करने के लिए जीवन की घटनाओं का ही सहारा लेता है, जबकि कवि अनेक, अनुभूतियों, व्यापारों, चेष्टाओं के स्पष्टीकरण के लिए उनकी तुलना अलौकिक और काल्पनिक वस्तुओं से भी कर सकता है। इस प्रकार उपन्यास में जीवन की सबसे अधिक यथातथ्य एवं पूर्ण व्याख्या हो सकती है।

छोटी कहानी ( Short Story ) के लिए आचार्य श्यामसुन्दरदास ने छोटी कहानी, गल्प एवं आख्यायिका शब्दों का प्रयोग किया है। संस्कृत में गद्य साहित्य के अन्तर्गत कथा और आख्यायिका आती हैं। कथा को हम उपन्यास कह सकते हैं, पर आख्यायिका का भी अपना निश्चित स्वरूप है और पारिभाषिक रूप से हम छोटी कहानी के स्थान में उसका प्रयोग नहीं कर सकते हैं। साहित्य दर्पणकार ने 'आख्यायिका' की निम्नलिखित परिभाषा की है।

आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥

—साहित्यदर्पण।

अतः आख्यायिका में पूरा आख्यान रहता है, आवश्यक नहीं कि वह छोटी ही हो। इस दृष्टि से 'कहानी' शब्द ही इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त है और प्रचलित भी। उसमें 'छोटी' विशेषण के जोड़े बिना ही काम चल सकता है। कहानी-साहित्य का विकास नवीन है और छोटी होने के कारण इसमें उपन्यास की भाँति घटना और चरित्र प्रमुख स्थान नहीं पाते, वरन् लेखक की शैली के आगे, पीछे पड़ जाते हैं। जितनी अधिक

१. 'साहित्यालोचन', छठी आवृत्ति पृ० १७१।

शैलियाँ कहानी के लिए प्रयुक्त हो सकती हैं उतनी उपन्यास के लिए नहीं। इस दृष्टि से कहानी में रोचकता और नवीनता का बड़ा अधिक स्थान एवं क्षेत्र रहता है, शैली लेखक की सूझ और अनुभूति पर निर्भर करती है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने उपन्यास और कहानी में विभेद दिखाते हुए कहा है कि उपन्यासों में घटनाओं का अनिर्दिष्ट क्रम और कथा का स्वच्छंद विकास किया जा सकता है किन्तु छोटी कहानी या आख्यायिका में उसकी सुविधा नहीं। कहानी को एक ही निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ना पड़ता है।[1] दूसरे कहानी लेखक अप्रत्यक्ष नहीं वरन् प्रत्यक्ष होता है। वह उपन्यासकार की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाकर नहीं रखता वरन् वह सर्वत्र व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से यह गीति-काव्य से साम्य रखती है और दोनों ही सर्वश्रेष्ठ काव्य के अन्तर्गत हैं। तीसरे कहानी एक उद्देश्य को लेकर चलती है, परन्तु वह उद्देश्य पूर्ण होने तक कलापूर्ण शैली के आवरण में ढका रहता है। कहानी में उपदेश का अवसर नहीं, पर भाव-पूर्ण चित्रण, एवं आदर्श निष्कर्ष से जो उपदेश मिलता है उससे बड़ी समाज सेवा होती है। रूसी कहानी तो प्रचार का सबल साधन रही है। चौथे कहानी की अभिव्यक्ति संक्षिप्त प्रणाली पर सारगर्भित शब्दों में रहती है।[2] एक एक बात और एक एक शब्द महत्व का होता है। कथोपकथन की सजीवता के कारण इसमें नाटकीय तत्व का अधिक समावेश रहता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने इसे एक स्वच्छन्द कलाकृति मानते हुए भी यह स्पष्ट कह दिया है कि कहानी के सिद्धांत काव्य के अन्य सिद्धांतों से अलग नहीं हैं। "प्रकृति के रहस्यों का गम्भीर निरीक्षण, सांसारिक अनुभव की प्रचुरता तथा नवीन उद्भावना की शक्ति जिस प्रकार अन्य साहित्यिक रचनाओं के लिए आवश्यक है उसी प्रकार आख्यायिकाओं के लिए भी है।"[3] जीवन के रहस्यों की विविधता को कहानीकार बातचीत, वर्णन, आत्मविश्लेषण, पत्र, दिनचर्या आदि अनेक रूपों से प्रकट कर सकता है, जहाँ पर एक रहस्य का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है वही कहानी सफलता पा जाती है।

गद्य साहित्य के अन्तर्गत ही निबन्ध भी आते हैं। आचार्य श्यामसुन्दर दास का विचार है कि जो निबन्ध, साहित्य या काव्य की कोटि में आते हैं वे व्यक्तित्व-प्रधान

---

१. 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २२०।

२. 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २२०।

३. 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २२८।

और सरल होने चाहिए। भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रतिपादन करने वाले गवेषणा-पूर्ण, चिन्तनप्रधान विश्लेषण को लेकर लिखे गए निबन्ध, काव्यान्तर्गत निबन्धों की श्रेणी में नहीं आ सकते हैं। निबंधों का अधिकाश विकास पश्चिमीय साहित्यों म हुआ है। हिन्दी में भी निबंध वर्तमान काल की ही देन है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही इनका प्रादुर्भाव समझना चाहिए। उनके समकालीन प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि के निबंधों म विनोदपूर्ण साहित्यिकता की प्रचुर मात्रा मिलती है और आजकल साहित्यालोचना को भी गद्य काव्य के अन्तर्गत ही रखा जाता है।[1] परन्तु जिनमें भी विषय प्रतिपादन वैज्ञानिक रीति से हुआ हो उसे साहित्यक या काव्यगत रचना मानना ठीक नहीं है। साहित्यिक रुचिवाले निबंधों में शैली, एवं विषय प्रतिपादन की प्रगति के विचार से एक प्रकार का साम्य रहता है, आचार्य श्यामसुन्दर दास ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है '—दोनों ही एक निश्चित विषय या लक्ष्य लेकर लिखे जाते हैं और उसके पूर्ण हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं। दोनों ही अपना पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार किसी उपन्यास का एक परिच्छेद या प्रकरण आख्यायिका नहीं कहा जा सकता वरन् आख्यायिका कहलाने के लिए उसमें आख्यायिका शैली की विशेषतायें तथा उसकी कलात्मक पूर्णता आवश्यक है उसी प्रकार किसी दार्शनिक या साहित्यिक ग्रन्थ का एक अध्याय निबन्ध के नाम से अभिहित नहीं हो सकता। निबन्ध की कोटि तक पहुँचने के लिए उसम वह सब सामग्री सन्निहित की जानी चाहिये जिससे उसका व्यक्तित्व प्रकट हो सके।"[2]

इस प्रकार हम निबन्ध के सम्बन्ध म इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि यदि विषय का वर्णन रोचक, साहित्यिक, कवित्वमय शैली पर हुआ हो तो निबन्ध साहित्यिक कोटि मे आता है, यदि वह विवेचनात्मक, वैज्ञानिक पद्धति पर हो तो निबन्ध गद्य-काव्य की सीमा से बाहर हो जाता है किन्तु यह विचार शुक्लजी के विचार से भिन्न है।

### रस और शैली

रस और शैली के विवेचन में आचार्य श्यामसुन्दरदास ने यथार्थ में काव्य के दो प्रमुख पक्षों पर विचार किया है। शुद्ध काव्य का विवेचन इन दो प्रसगों म पूर्ण रीति से किया जा सकता है। रस, काव्य के आन्तरिक और आनुभूतिक पक्ष की सफलता स्पष्ट

१. 'साहित्यालोचन' पृष्ठ २४१।
२. 'साहित्यालोचन' पृष्ठ २३१।

करता है और शैली उस आन्तरिक भाव या अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के पक्ष को। यहाँ पर एक बात विचारणीय यह है कि कहाँ तक ये दोनों पक्ष एक दूसरे के आश्रित हैं और कहाँ तक स्वच्छन्द। रस और शैली एक दूसरे को पुष्ट करते हुए भी अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। यदि भावानुभूति तीव्र है तो उसके लिये उपयुक्त शैली भी मिल जाती है। इसलिये एक दृष्टिकोण से हम शैली को अनुभूति के आश्रित कह सकते हैं, परन्तु नहीं, शैली यथार्थतः अनुभूति के आश्रित नहीं है। अनुभूति सबके पास होती है; पर शैली सबके पास नहीं होती, इसीलिये अनुभूति का सफल प्रकाशन सभी नहीं कर सकते। बहुधा हम यह भी अनुभव करते हैं कि अनुभूति का प्रकाशन उस प्रकार का नहीं हो पाया जैसा कि हम चाहते हैं, कारण, अभिव्यक्ति का कौशल हमारे पास नहीं है। इसके विपरीत बहुधा हम यह भी देखते हैं कि जो अभिव्यक्ति के कौशल को प्राप्त किये होते हैं, वह अनुभूति के न होने हुये भी काव्य रचना करते रहते हैं। केवल साहित्य सृजन की प्रेरणा में अनुभूति का अभाव हो सकता है, सभी साहित्यिक अनुभूति के वशीभूत होकर ही नहीं लिखते हैं, और हम ऐसे कवि और साहित्यिक भी मिलते हैं जिनकी रचना साहित्यिक होते हुये भी अनुभूतिहीन है।

साहित्य के भीतर मनुष्य की मूल मनोवृत्तियों का विश्लेषण भावपक्ष के अन्तर्गत है और अभिव्यक्ति-सम्बन्धी कुशलता का विश्लेषण शैली के भीतर है इसलिये ये दोनों पक्ष काव्य के विवेचन के लिये पूर्ण हैं। डाक्टर श्यामसुन्दर दास के विचार से इन पक्षों के अपने युग से होते हैं, किसी युग में कला-पक्ष की प्रधानता होती है और किसी युग में भावपक्ष की। काव्य के क्षेत्र में यह परिवर्तन रात दिन की भाँति बराबर आया करता है। भावपक्ष में सहायक, मनुष्य की सात्विक वृत्ति होती है। शुद्ध सात्विक वृत्ति का व्यक्ति दूसरे के भावों के भीतर प्रवेश कर सकता है और इस प्रकार के उदात्त भावनावाले व्यक्ति भाव-पक्ष में सफलता दिखलाते हैं, परन्तु कला-पक्ष के भीतर, मनुष्य की कल्पना, अनुभव तथा शब्दभंडार आता है। इन पर जिसका जितना ही अधिक अधिकार होता है, अभिव्यक्ति में वह उतना ही सफल होता है।

काव्य के तीन तत्व आचार्य ने माने हैं, बुद्धितत्व, कल्पना तत्व और रागात्मक तत्व। बुद्धितत्व की आवश्यकता तो जिस प्रकार जीवन में है उसी प्रकार काव्य में भी है। प्रबन्ध और कथा-काव्य में मुक्तक की अपेक्षा बुद्धि तत्व की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इन तीन तत्वों का विवेचन रस और शैली दो पक्षों के विवेचन के साथ साथ भी

इस कारण से आवश्यक हुआ कि बुद्धितत्व का समावेश पूर्णरीति से शैली के अन्तर्गत नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यह पश्चिमीय दृष्टिकोण भी हमारे सामने उपस्थित करता है। कल्पना की आवश्यकता हमें काव्य में बहुत अधिक पड़ती है। काव्य में कल्पना, स्मृति के रूप में भी उपस्थित होती है और नई परिस्थिति के चित्रण में भी इसकी आवश्यकता होती है। यह बुद्धितत्व को भी सहायता पहुँचाती है और संस्कार और वासनाओं के उकसाने में भावतत्व को भी योग देती है। रस का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त के अनुसार है जिसका प्रारम्भ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से ही पूर्णरीति से माना जाता है। भरत मुनि के अनुसार तो कोई भी काव्यार्थ रस से हीन नहीं होना चाहिए। 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। अतः रस का विश्लेषण और स्पष्टीकरण प्रमुखतः भरत के अनुसार ही किया गया है। रस के सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत निबन्ध की भूमिका में किया जा चुका है। यहाँ पर उन विशेषताओं का ही बतलाना आवश्यक है जिन्हें आचार्य ने इस प्रसंग में समाविष्ट किया है। विभावों के सम्बन्ध में कहते हुए उन्होंने संचारी और स्थायी भावों के भेद को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि :—

"संचारी और स्थायी भावों में इतना भेद है कि संचारी भाव के लिए स्वल्प विभाग ही पर्याप्त होते हैं, परन्तु स्थायी भाव के उदय के लिए अल्पसामग्री से काम नहीं चलता, उसके लिए विभावों का बढ़ा चढ़ा होना आवश्यक है।"[1] यह बात स्वतंत्र संचारी भाव के लिए तो मान सकते हैं, पर जो संचारी भाव, स्थायी भाव के जाग्रत हो जाने पर आते हैं, उनका अन्तर इससे स्पष्ट नहीं होता है। वहाँ तो हम यही कहेंगे कि उस प्रबल भाव को सहायता देने के लिए अन्य अचिरस्थायी भाव ही संचारी हैं।

अनुभाव के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है—कायिक, मानसिक और सात्विक। मानसिक अनुभाव की परिभाषा उन्होंने यह की है:—"स्थायीभाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं।"[1]

परन्तु स्थायी भाव के कारण उत्पन्न अन्य भाव संचारी भाव भी हैं, इसलिए मानसिक अनुभाव अनुभावों का एक प्रकार नहीं हो सकते हैं। कायिक और सात्विक की परिभाषायें करते हुए उन्होंने लिखा है "आन्तरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षण कायिक अनुभाव कहलाते हैं। यही अनुभाव जब मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा

१. साहित्यालोचन पृ० २६६।

से उत्पन्न होते हैं तब सात्विक कहलाते हैं।"[1] इस प्रकार से सात्विक और कायिक अनुभावों में प्रकार का अन्तर नहीं, केवल तीव्रता का ही अन्तर है। जैसे स्थायी भाव को मानकर अन्य सभी भावों को संचारी के अन्तर्गत माना गया है, इसी प्रकार से आठ सात्विक भावों के अतिरिक्त अन्य अनुभावों को कायिक कह लेते हैं। रस-सिद्धान्त के विकास को दिखाने के पश्चात् आचार्य श्यामसुन्दर दास ने अनेक आचार्यों का भी रसानुभूति के विषय में बताते हुए लिखा है कि भाव के अनुभव और रस के आस्वादन में भेद है। भावानुभूति, प्रकृति एवं परिस्थिति के अनुसार सुख दुःखमय हो सकती है। पर रसानुभूति आनन्दमय ही मानी गयी है। यह रस जिसकी अनुभूति किसी को होती है केवल वर्तमान में ही है, अभिनय के भीतर नायक की भावानुभूति भूतकाल की वस्तु थी और अभिनेता उसका केवल अनुकरण ही करता है। इसलिए रस की यथार्थ अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक के हृदय में होती है। रस का आस्वाद केवल आनन्दमय ही है जब कि भावानुभूतियाँ सुख दुखमयी होती हैं इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अंत में आचार्य श्यामसुन्दर दास ने स्पष्ट कहा है:—

"इस प्रकार रसों की संख्या नौ मानी गयी है। इससे यह न समझना चाहिए कि रस के वस्तुतः भेद होते हैं। रस तो सदा भेद-रहित और एकरस है। यह जो भेद माने जाते हैं वह केवल स्थायी भावों के भेदों के आधार पर किये गए हैं जिससे रस प्रक्रिया के ज्ञान में सुगमता हो।"[2]

रस सर्वथा आनन्दमय होने पर भी स्थायीभावों के भेद के अनुसार उसके आस्वादन में आनन्दानुभूति की भिन्नता रहती अवश्य है, पर तत्वतः वह आनन्दमयी ही है यद्यपि अनेक रसों का आनन्द भिन्न भिन्न है जैसा शुक्ल जी का मत है।

*शैली*

शैली के सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का यही मत है कि कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और भावतत्व से अलग शैली है। यह अभिव्यक्ति का चमत्कार है। उन्होंने रचना-चमत्कार को शैली कहा है। कालिदास के रघुवंश के सबसे प्रारम्भिक श्लोक को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं।

"वाक् और अर्थ की भाँति संयुक्त जगत के माता पिता पार्वती और परमेश्वर की

१. साहित्यालोचन पृ० २६७।
२. साहित्यालोचन „ २६७।

पढना इसलिए करता हूँ कि जिससे वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति हो। यहाँ वाक् और अर्थ से यही प्रयोजन है जो कलापक्ष और भावपक्ष अथवा भाव और शैली से है। इसीलिए रचना-चमत्कार को शैली का नाम दिया जाता है।"[1]

आगे चलकर उन्होंने एक विद्वान् के मत का, कि शैली विचारों का परिधान है, खडन किया है, क्योंकि परिधान शरीर से अलग और निज का अस्तित्व रखने वाली वस्तु है, पर शैली नहीं। शैली भाव का परिधान नहीं भाव की आकृति, भाव का स्वरूप है और इस दृष्टि से हमे यह भी देखना है कि शैली को रचना-चमत्कार हम कहाँ तक कह सकते हैं। रचना-चमत्कार कहने मे प्रत्येक भाव-प्रकाशन के साथ चमत्कार आवश्यक होगा, पर ऐसी भी रचना होती है जिनमें चमत्कार नहीं, सीधे और स्वाभाविक ढंग से ही भाव प्रकाशित होता है, अतः शैली को हम अभिव्यक्ति का ढंग या स्वरूप मात्र ही कहे तो अधिक अच्छा है क्योंकि हम कभी कभी यह भी कहते हैं कि अमुक की शैली चमत्कारपूर्ण है, अमुक की शैली बडी सरल, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। अतः अलंकारों का वर्णन, शैली का आवश्यक और अनिवार्य अग नहीं, हाँ, शैली का एक रूप अवश्य ऐसा हो सकता जिसे हम 'आलंकारिक शैली' कह सकते हैं। अलंकारों का स्थान इस प्रकार शैली, एवं कल्पनातत्व के अन्तर्गत आता है।

अन्त मे डा० श्यामसुन्दर दास स्वयं भी इसी निष्कर्ष पर आते हैं और कहते हैं—"अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हममे नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान ही रहती है और साथ साथ ही उन्हे व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममे रहती है। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।"[2]

शैली के अन्तर्गत अर्थ-गौरव और प्रभावशीलता दो गुण बडे आवश्यक हैं। अतः इसका विकास प्रौढ़ लेखकों में देखने को मिलता है जिनकी शैली शब्दबहुला न होकर भावगाम्भीर्य को लिये हुए होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली में शब्दों का और उनके प्रयोग का महत्त्व होता है। शब्द का महत्त्व उनकी शक्ति, गुण और वृत्ति के विचार से होता है। शब्द की शक्तियाँ, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तथा प्रसाद-ओज माधुर्य गुण एव उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियाँ यथार्थ में शब्द को अपने आप नहीं मिल जातीं, वरन्

१. साहित्यालोचन पृ० २८०।

२. साहित्यालोचन पृष्ठ २१८।

वाक्यों के सम्बन्ध से मिलती है। अतः शब्दों का वाक्य रचना में महत्व होते हुए भी शैली अर्थात् भाव प्रकाशन की प्रक्रिया के लिए वाक्य का ही महत्व है। वाक्य का भाव या विचार से भी सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति के ढंग से भी। वाक्यों या शब्दों का वह संगठन आवश्यक है जो हमारे मन्तव्य को ठीक प्रकार से पूरा करे, जो वस्तु जिस रूप में हमारी कल्पना या अनुभूति या बुद्धि के भीतर आई है उसको उसी प्रकार व्यक्त करे। इनमें वाक्य जिस तत्व से सम्बन्धित रहता है, उसी प्रकार से शैली के भेद भी प्रज्ञात्मक, कल्पनात्मक या भावात्मक हो जाते हैं। वाक्य, अभिधा, लक्षणा या व्यंजना प्रधान हो सकता है। काव्य के लिए व्यंजना का ही महत्व अधिक है और इस प्रकार व्यंजनात्मक वाक्य उत्कृष्ट शैली के लक्षण हैं। ध्वनि, उत्तम काव्य है। शैली शब्दों के प्रयोग के अनुसार, अलंकारों के प्रयोग के अनुसार, तथा वृत्तों के प्रयोग के अनुसार विविध भेदों में विभाजित हो सकती है। शैलियाँ व्यक्ति विशेष के साथ बदलती भी रहती हैं। शैली के वर्गीकरण का अधिक प्रयत्न साहित्यालोचन में नहीं है केवल संस्कृत रीति के अनुसार ही गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी, तीन भेदों का उल्लेख है जो प्रदेशों में प्रयुक्त भाषा एवं ढंग के अनुसार सम्भवतः किए गए हैं। शैली को प्रौढ़ बनाने में मुहावरे, और क्रियायें अधिक ध्यान देने की वस्तु हैं, क्योंकि हमारे कार्य और अनुभूति का यथार्थ चित्रण उन्हीं के द्वारा होता है और संज्ञा, एवं विशेषण शब्दों का स्थान इनके बाद का है। खेद का विषय है कि आधुनिक हिन्दी के कवियों ने मुहावरों और क्रिया-पदों की बहुत बड़ी अवहेलना की है। इसी कारण उन्हें दुरूहता और सीमितप्रसिद्धि का अभिशाप मिला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्यशास्त्र-सम्बंधी सभी समस्याओं पर सैद्धान्तिक ढंग से विचार किया है। उनका चिन्तन जैसा कि उनका स्वयं ही कथन है मौलिक और शास्त्र को विकास देनेवाला नहीं है फिर भी उनका प्रतिपादन विद्वत्तापूर्ण है और निर्णय आधार रूप में ग्रहण किया जा सकता है। साहित्यालोचन जैसी पुस्तकें यथार्थ में मौलिक विचारकों के लिए नींव का काम देती हैं। ऐसी पुस्तकें जिस में शास्त्रीय विवेचन इतना प्रामाणिक हो हिन्दी में बहुत कम हैं। यद्यपि इस आदर्श पर लिखी अनेक पुस्तकें आई हैं, पर वे अधिकांश पुनरावृत्ति ही हैं। अतः उनका विचार छोड़ दिया गया है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास के समान ही सूर्यकान्त शास्त्री ने साहित्य-समीक्षा-सार पुस्तक लिखी है जिसका विद्यार्थियों के लिए ही उपयोग है, और साहित्यालोचन के समान

भी वह स्पष्ट और पूर्ण नहीं है। नवीनता की दृष्टि से भी उसमें कोई विशेषता नहीं है अतः हम उससे अधिक स्वच्छन्द और सामयिक विचार उपस्थित करने वाले लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' जी के ग्रंथों का अध्ययन करेंगे।

## लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'

'सुधांशु' जी ने काव्य की समस्याओं पर कुछ व्यापक और अति अर्वाचीन दृष्टिकोण से विचार किया है। इस सम्बन्ध में आपके दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, प्रथम 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और द्वितीय 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त'। आपकी अनेक धारणायें और मान्यतायें *चाहे पूर्णतः सत्य न हों पर यह मानना पड़ेगा कि आपकी* प्रणाली नवीन और विचार स्वच्छन्द रीति से प्रकट हुए हैं। अनेक अंग्रेजी और संस्कृत के सिद्धान्तों के निष्कर्ष से आपने हिन्दी कविता की जाँच की है।

*'काव्य में अभिव्यंजनावाद'*

इस पुस्तक में साहित्यिक सिद्धान्तों और विवादों को लेकर सात आठ निबन्ध में लिखे गये हैं जिनमें थोड़ा बहुत प्रसंग अभिव्यंजनावाद का आता है, पर जैसा पुस्तक का नाम है, इसमें अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त का भली भाँति विश्लेषण नहीं है और न सर्वत्र उसका प्रसंग ही। सबसे प्रथम अध्याय में सुधांशु जी ने संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का परिचय दिया है। इसमें रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का संक्षिप्त विवरण है। इस प्रसंग में इनके दो एक निरीक्षण विचारणीय हैं। अलंकारों के प्रसंग में आपने लिखा है —

"भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने, काव्यवस्तु की प्रकृति पर विचार न कर एक प्रधान विषय की अवहेलना की है। उनकी सारी प्रतिभा काव्यवस्तु के विधान में ही खर्च हुई है। केवल स्वाभावोक्ति और भाविक से यह आभास मिलता है कि वे इस समस्या से परिचित तो थे, पर उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान देना किसी कारण उचित नहीं माना।"[1]

इस काव्य वस्तु की प्रकृति से तात्पर्य यदि सांसारिक ज्ञान से है तो काव्य कारण में काव्यशास्त्र के विद्वानों ने बराबर इसकी चर्चा की है और इसको आवश्यक माना है।

---

१. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० १०।

और यदि इसका अर्थ स्वाभाविक वर्णन के दृश्यों का विश्लेषण है तो वह भी काव्य शिक्षा में बराबर मिलता है। अतः 'सुधांशु' जी का यह कथन अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। हाँ, इस स्वाभाविक अनुभव या बाह्य वस्तु के ज्ञान का विशेष विवरण इस कारण नहीं कि उनके द्वारा हर प्रत्येक कवि अपने अनुभव के अनुसार अपनी व्यक्तिगत विशेषता प्रकट कर सकता है। शास्त्र के अन्तर्गत इसकी इतनी आवश्यकता भी नहीं है। इसी प्रकार अलंकारों की संख्या और परिभाषा के प्रसंग में आपने लिखा है "अलंकारों की संख्या और प्रत्येक की परिभाषा के विषय में आरम्भ से ही बड़ा मतभेद रहा है। ज्यों ज्यों साहित्यशास्त्र पर विचार होता गया, त्यों त्यों अलंकारों की संख्या और जटिलता भी बढ़ती गयी। जो अलंकार, काव्य की शोभा के लिए साधन रूप में प्रयुक्त होते थे वे ही परम्परा चल पड़ने से स्वतन्त्र काव्य के साध्य बन गये।"[1]

इस विषय में यही कहा जा सकता है कि यह बात हिन्दी काव्यशास्त्र के लिए तो सत्य है पर संस्कृत के लिए उतनी सत्य नहीं। साहित्यशास्त्र के विकास के साथ साथ अलंकारों की संख्या और जटिलता अवश्य बढ़ गयी, पर अलंकार, साधन से साध्य नहीं हुए, वरन् सत्य तो यह है कि जब साहित्यशास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त का प्रचार हुआ तब यथार्थ में जो अलंकार साध्य थे वे ध्वनि या रस के प्रकाशन के साधन बन गये। 'अभिव्यंजना और कला' के प्रसंग में सुधांशु जी ने प्रकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अन्तर बताते हुए कहा है कि काव्य विधान के लिए हम निरलङ्कृत अवस्था में सत्य को बाहर नहीं निकालते।[2] इस कथन से यह प्रकट होता है कि सत्य के प्रकाशन करते समय कवि उसे अलङ्कृत रूप में ही रखना चाहता है, पर बात ऐसी नहीं है, जिसे सुधांशु जी ने प्रकृत सत्य की संज्ञा दी है वह बौद्धिक सत्य है और वह पूर्ण नहीं है, उसकी पूर्णता कल्पनागत और अनुभूतिगत पक्षों के उद्घाटन द्वारा होती है और कवि सत्य के इन्हीं पक्षों के प्रकाशन द्वारा उसका पूर्ण स्वरूप हमारे सामने व्यक्त करता है। अतः वह अलङ्कृत सत्य नहीं वरन् पूर्ण सत्य होता है।

काव्यानुभूति को अन्य अनुभूतियों से विशिष्ट बताते हुए सुधांशु जी ने लिखा है कि काव्यानुभूति में प्रेषणीयता का होना अनिवार्य है। अपनी अनुभूतियों को दूसरे हृदय तक पहुँचाने में हम असमर्थ रहे तो वह काव्यानुभूति न होकर सामान्य अनुभूति ही रा

१. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० ११।
२. ,, ,, ,, ,, २७।

जायगी।[1] इस कथन पर यदि सूक्ष्मता के साथ विचार किया जाय तो पता लगता है कि प्रेरणीयता का गुण अनुभूति में नहीं, वरन् प्रकाशन में होता है। अनुभूति तो बहुतों की एक सी होगी। पर उस अनुभूति का प्रकाशन सबका एक नहीं हो सकता है अतः अन्तर अभिव्यंजना का है। काव्यात्मक अभिव्यंजना और सामान्य वर्णन में यही अन्तर होता है कि प्रथम का प्रभाव सभी हृदयों पर पड़ता है, पर दूसरे का प्रभाव सब पर नहीं पड़ता। पर यह भ्रम इस कारण हुआ कि सुधांशु जी सहजानुभूति और अभिव्यंजना को एक मानते हैं। उनका कथन है:—"सहजानुभूति और अभिव्यंजना में अन्तर नहीं है। सहजानुभूति होते ही अभिव्यंजना प्रस्तुत हो जाती है। यह दूसरी बात है कि उसे वर्णों से अलग रक्खा जाय।"[2] किन्तु यह बात भी समझ में नहीं आती। अनुभूति का प्रकाशन अभिव्यंजना होता है, जब तक प्रकाशित नहीं तब तक वह अभिव्यंजना नहीं हो सकती। बहुत सी अनुभूति वर्णों से या अन्य प्रकाशन-प्रणाली से अलग रहती है, पर उस अवस्था तक, जब तक कि उसका प्रकाशन नहीं हो जाता उसे अभिव्यंजना की संज्ञा नहीं प्राप्त होती, वह अनुभूति ही कहलाती। अतः अनुभूति और अभिव्यंजना के बीच अन्तर मानना आवश्यक ही है। सभी सहजानुभूति भी अभिव्यंजना नहीं हो पाती, अतः दोनों को एक कहना ठीक नहीं।

काव्यानुभूति और रसानुभूति का भेद 'सुधांशु' जी ने ठीक ही बताया है। उनका विचार है कि काव्यानुभूति की स्थिति कलाकार में विशेष रूप से मानी जाती है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में। पाठक या श्रोता ही रस मग्नता की अवस्था में होता है। वह अवस्था ऐसी होती है जब मनुष्य स्वयं गतिहीन हो सकता है, पर काव्यानुभूति में प्रकाशन का कार्य भी चलता है अतः वह कवि से ही सम्बन्धित है, फिर भी यह भेद समझाने भर का ही है, तत्वतः नहीं। तत्वतः दोनों अनुभूतियाँ आनन्दायिनी हैं और भेद का स्थान दोनों के बीच नहीं है।

अलंकार भावप्रकाशन के भिन्न भिन्न साँचे हैं। अतः इसी दृष्टि से उन पर विचार किया गया है। इस दृष्टि से उनका मुख्य कार्य भावोत्तेजन में योग देना है और वर्ण्य वस्तु से वे पृथक् हैं। वे वर्णन के ढंग मात्र हैं भाव नहीं हैं और न वस्तु ही। अतः अनेक अलंकार जो वस्तु से पृथक् नहीं हैं, यथार्थतः अलंकार की कोटि में नहीं आते। 'सुधांशु' जी

---

१. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० ३४।

२. " " " " ३७।

ने उनकी एक लम्बी संख्या गिनाई है। उनके विचारानुसार असम, अधिक, अनुमान, असम्भव, उल्लेख, उदाहरण, उदात्त, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिषेध, परिसंख्या, पर्याय, प्रहर्षण, भ्रान्ति, भाविक, मुद्रा, युक्ति, लेश, लोकोक्ति, वीप्सा, विरोध, विषादन, विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र, विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय, सामान्य, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, स्मरण, सन्देह, हेतु आदि अनेक अलंकार, वस्तु या भाव से पृथक् सत्ता रखने में असमर्थ हैं।[1] प्रायः इनमें वस्तु अथवा भाव अपने प्रकृत रूप में ही आकर्षक है। अतः अलंकारत्व की कोई आवश्यकता नहीं और ये अलंकार इस दृष्टि से अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं करते। अलंकारों की इतनी अधिक संख्या वृद्धि का कारण भी यही है कि उसमें वस्तु और भाव-वर्णन भी सम्मिलित कर लिया गया है।

अलंकारों के मूल में वर्णन का चमत्कारपूर्ण ढंग अन्तर्निहित है और इस ढंग को ही अलंकार कहते हैं। जहाँ पर उस ढंग का अभाव है, वहाँ पर वर्णन का प्रभाव चाहे जैसा हो अलंकार नहीं मान सकते। सुधांशुजी का इस विषय में निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं :—

"जिस अलंकार विधान में कल्पना की सहायता नहीं रहती उसमें अलंकार मानने या मनाने का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। भाव की महत्ता स्वतन्त्र रहने में ही है। कभी कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है, वहीं उसमें अलंकारत्व मिलता है। स्मरण, भ्रम, सन्देह, विषाद, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं। इनमें अलंकार मानना इनके प्रकृत रूप का निरादर करना है।"[2] सचमुच जैसा भाव हो वैसा ही वर्णन, उस वर्णन में कोई कल्पना या चमत्कार न रहने पर अलंकार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। इसी कारण कुछ विद्वानों ने स्मरण[3] भ्रम, सन्देह आदि की परिभाषाएं ऐसी दी हैं कि उनमें कल्पना का चमत्कार आ जाता है। तब उनमें अलंकारत्व अवश्य है, अन्यथा नहीं। अलंकार का कार्य वर्णन के प्रभाव को तीव्र करना है, अतः जहाँ वर्णन किसी भी प्रकार से ढंग की विशेषता रखता है वहीं अलंकार है।

---

१. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० ८६।

२. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' ,, ८६।

३. देखिए मिश्रबन्धु का 'साहित्य पारिजात' भ्रम, सन्देह आदि की परिभाषा, तथा दूलह का 'कविकुलकंठाभरण'।

सुधांशु जी[1] प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत का जुटाना ही अलंकार का मुख्य तत्व मानते हैं। प्रस्तुत के साथ ऐसे अप्रस्तुत को उपस्थित करना जो हमारे भाव या कल्पना का आधार है, अलंकार के लिए आवश्यक होता है। मुख्य अलंकार इसी को लेकर चलते हैं। सादृश्य या साधर्म्य का आधार ग्रहण करके ही प्राय अप्रस्तुत का आयोजन किया जाता है। इस दृष्टि से शुद्ध अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप आदि ही हैं। आधुनिक भावाभिव्यजन में उपमा दो विशेष रूपों मे प्रयुक्त हो रही है, एक तो मूर्त की सूक्ष्मोपमा के रूप में जिसम स्थूल वस्तु का सादृश्य किसी सूक्ष्म और रूप हीन वस्तु से दिया जाता है और दूसरा सूक्ष्म की मूर्तोपमा के रूप में जिसम रूपहीन, सूक्ष्म पदार्थ या भाव आदि का सादृश्य साकार और स्थूल वस्तुओं से दिया जाता है। ये दोनों ही अभिव्यजना के प्रभावशाली ढग हैं जिन्हे आधुनिक कवियों ने अपनाया है।

सुधांशु जी ने प्रतीक और उपमान दोनों का सक्षेप म भेद बताया है। प्रतीक में सादृश्य न रहते हुए, परम्परा और रूढ़ि के बल पर हमारे विशेष प्रकार के भावोद्बोधन की शक्ति रहती है, पर उपमान सादृश्य के आधार पर ही टिकते हैं। और उनके लिए परम्परा का बल रहना अवश्यक नहीं, वे नित्य नवीन रूप म आ सकते हैं। कभी कभी कुछ उपमान प्रतीक रूप मे भी आ जाते हैं पर उनका महत्व देश, काल के अनुसार बदलता रहता है। भावाभिव्यजना में दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार 'काव्य में अभिव्यजनावाद' पुस्तक में अभिव्यजना के कुछ आधारों और साधनों पर ही विचार हुआ है, उसका पूर्ण विवेचन नहीं है।

*'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त'*

लेखक ने इस पुस्तक म यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीवन के तत्वों और काव्य के तत्वों का घनिष्ट सम्बन्ध है। काव्य की प्रेरणा, प्रकृति और प्रवृत्तियाँ जीवन द्वारा ही निश्चित हुआ करती हैं। लेखक ने दश अध्यायों म अपने अध्ययन को स्पष्ट किया है। छ अध्यायों में सम्बन्ध निरूपण का प्रयत्न है। सातवें में लय और छंद का वर्णन है और आठवें, नवें और दसवें अध्यायों म उनको स्वाभाविक काव्य प्रवृ[illegible] और कवियों के विश्लेषण द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न है। काव्य पर बड़ी व्यापकता और सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है। प्रथम अध्याय, भाव विन्यास और जीवन पर है इसमें लेखक ने जीवन के मूल दो भावों, सुख दुःख को माना है। द्वन्द्व भावों स

---

१. 'काव्य में अभिव्यजनावाद' पृ० ६७।

राग और द्वेष वृत्तियों की उत्पत्ति होती और जो धीरे धीरे आश्रय और आलम्बन की विविधता के परिणामरूप अनेक भावों का रूप ग्रहण करती है। जीवन में तो ये दो तत्व हैं ही, साहित्यशास्त्र में भी रस-पद्धति इन्हीं दो तत्वों पर निर्भर करती है। श्री सुधांशु जी ने लिखा है कि विशिष्ट के प्रति राग, सम्मान हो जाता है, समान के प्रति, प्रीति और हीन के प्रति करुणा और इसी प्रकार द्वेष भी विशिष्ट के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध और हीन के प्रति दर्प का रूप ग्रहण करता है।[1] जीवन में अनेक भावों का दिग्दर्शन तभी सम्भव है जब कि उसको काफी दूर तक गतिशील दिखाया जाय। जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक रूप के बिना मनुष्य के हृदय में भावों का आन्दोलन नहीं होता। भाव की सफलता काव्य में तभी होती है जब वह सामान्य जीवन को स्पर्श करता हुआ चलता है।[2]

सुधांशु जी ने जहाँ, अपने इस विचार-द्वारा कवि को सामान्य जीवन से स्पर्श करते हुए भाव-विन्यास उपस्थित करने की आवश्यकता बताई है वहीं उन्होंने इसको भी स्पष्ट कर दिया है कि कवि का विशिष्ट कार्य क्या है। जन साधारण मनुष्य के बाह्य जगत् का ज्ञान रखते हैं उसके सौन्दर्य का उपयोग भी करते हैं, पर कवि का काम साधारण जनों के उसी अनुभव और ज्ञान की नींव पर मनुष्य और जगत् की अन्तर्प्रकृति के सौन्दर्य को सामने रखना है। कवि रूप-सौन्दर्य के साथ गुण-सौन्दर्य का भी चित्रण करता है।[3] अतः कवि के दोनों कर्म जीवन में ही प्रेरणा पाते हैं। रस-वर्णन में अनुभावों का जो निरूपण होता है वह भी एक प्रकार से मनुष्य के कर्म-विधान के अन्तर्गत है। कर्म में धर्म का बड़ा हाथ रहता है और धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण में पूर्व और पश्चिम की धारणाओं में अन्तर है इसी कारण कर्म में, और अन्त में जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भी अन्तर हो जाता है। इच्छापूर्वक कर्म नियोजन ही जीवन है। भाव और विचार से जीवन की सत्ता पृथक् नहीं है।[4] अतः भावों की सच्चाई और सत्यनिष्ठा के साथ कर्म करनेवाला व्यक्ति सच्चा जीवन बिता सकता है, जब कि प्रतिभावान व्यक्ति भी इनका उपयोग न करने पर सच्चे जीवन का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। अतः कवि को प्रतिभा-सम्पन्न होने की उतनी

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ६।
२. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' ,, ८, ६।
३. ,, ,, ,, ,, ,, १०।
४. ,, ,, ,, ,, ,, १३।

आवश्यकता नहीं, जितनी भावों की सच्चाई के साथ, सच्चे और उच्च जीवन के परिचय की। प्रेमानन्द में उतनी प्रतिभा न थी जितना सच्चे जीवन का अनुभव। यही भावों की सच्चाई काव्य में यथार्थ प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। जीवन सुख दुखमय है। अतः काव्य में भी यथार्थ में किसी एक भाव को ही चित्रण कर प्रभाव नहीं डाला जा सकता है। श्री सुधांशु जी का कथन है कि :—

"जीवन के साथ विषाद का सम्बन्ध उतना ही गहरा है जितना आनन्द का। काव्य का आनन्द जीवन का स्वार्थ है, परन्तु यह स्वार्थ, परमार्थ की परिधि के भीतर रहता आया है। स्थायी आनन्द वृत्ति जब जगत् और जीवन में किसी आधार को पाकर जाग्रत् होती है तब प्रफुल्लता होती है और विषाद वृत्ति में झुँझलाहट"[1] अतः दोनों भावों का वर्णन आवश्यक है। इस प्रकार हमारे काव्यगत भावों का जीवन की यथार्थता से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

भावों का जीवन से सम्बन्ध है और भावों का काव्य से भी। मानव जीवन एक सामाजिक जीवन है। अतः यदि काव्य का जीवन से सम्बन्ध है तो उसका समाज से भी सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस विचार को स्पष्ट करते हुए लेखक ने प्रतिपादित किया है कि काव्य की उपयोगिता और आनन्द ही समाज के साथ है। इसके साथ ही साथ हमारे जितने भी भाव हैं वे सब समाज पर ही अवलम्बित हैं। क्षमा, क्रोध, उत्साह, करुणा, प्रेम आदि भाव मनुष्य में स्वाभाविक होते हुए भी उनकी सत्ता समाज में ही प्रकट होती है और समाज में ही उनका पोषण होता है।[2] अतः काव्य का जीवन से पूर्ण सम्बन्ध है। काव्य-प्रकृति का जीवन के वातावरण से भी सम्बन्ध है क्योंकि किसी भी व्यक्ति या समाज के गुणों या अवगुणों अथवा उसके प्रति भावों के प्रकाशन के लिए, साधन और उपकरण के रूप में आसपास का वातावरण भी महत्व रखता है। किसी को भला, बुरा, महात्मा या दुरात्मा कह देने से ही काम नहीं चलता। उसे सिद्ध करने के लिए पूरी परिस्थिति का चित्रण आवश्यक है अतः काव्य की प्रकृति का विस्तार जीवन के यथार्थ वातावरण में ही होना सम्भव है।

परन्तु इसके साथ ही साथ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि जीवन का काव्य से अनिवार्य सम्बन्ध है फिर भी सब का सब जीवन काव्य में नहीं उतर सकता।

---

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० २०।

२. ,, ,, ,, ,, ,, २२।

काव्य के विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार, आवश्यक चरित्र के विकास का ध्यान रखकर जुटाई गई परिस्थितियों के अनुकूल, काव्य बहुत कुछ जीवन की बातें छोड़ देगा और बहुत कुछ उससे चुन लेगा। यह चुनाव, हमारे विशेष भावों के सहारे प्रतिभा और कल्पना किया करती हैं। पर यह चुनाव होगा मानव जीवन से ही, उसके बाहर नहीं।

इसके पश्चात् लेखक ने इस बात पर विचार किया है कि आत्मभाव का काव्य विधान के अन्तर्गत क्या स्थान है? जीवन का काव्य से सम्बन्ध है और आत्मभाव तो कवि का सबसे अधिक परिचित जीवन का अंश है। अतः वह तो काव्य में रहेगा ही और उसका होना लेखक के इस सिद्धांत को और भी स्पष्ट करता है कि काव्य का जीवन से अनवरत और अनिवार्य सम्बन्ध है। लेखक का विश्वास है कि सृष्टि में ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है वही काव्य में कवि की रहती है।[1] वह व्याप्त तो है वर्ण वर्ण में पर वह भी लक्षित नहीं होता। यह बात सत्य है पर बहुत कुछ द्रष्टा पर निर्भर करती है, जो यथार्थ द्रष्टा हैं वे कवि को भी इसी प्रकार ढूँढ लेते हैं जैसे तत्वदर्शी सृष्टि के बीच ईश्वर को। इसी प्रसंग में लेखक ने काव्य के उद्देश्य की ओर भी संकेत किया है। वह कहता है कि कवि अथवा कलाकारों से हम ज्ञान प्राप्त नहीं करते हैं, वरन् उनसे तो हम शक्ति ग्रहण किया करते हैं, प्रेरणा प्राप्त करते हैं। हमारे हृदय के अन्तर्गत छिपे हुए शक्ति के अर्द्ध विकसित अंकुरों को प्रस्फुटित कर देना सच्चे कलाकार का काम है।[2] काव्य से हम शक्ति प्राप्त कर आत्मविकास कर सकते हैं। केवल ज्ञान सूचना मात्र है।

इस प्रकार लेखक की दृष्टि में काव्य का स्थान ज्ञान से ऊँचा है। सम्भव है कि इस निष्कर्ष से सभी सहमत न हों, क्योंकि प्रत्येक काव्य में उस शक्ति को विकास देने की सामर्थ्य नहीं मिलती जो ज्ञान से ऊँची कही जा सके। अतः या तो अभी तक के काव्य को बदला जावे या काव्य की इस परिभाषा को, पर इतना तो सत्य है ही कि काव्य में ये गुण होने से वह उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण हो जाता है। आत्मभाव और काव्य विधान का एक और सम्बन्ध दिखाते हुए सुधांशु जी ने लिखा है कि "कलाकार वस्तुतः उन दृश्यों का चित्रण नहीं करता, प्रत्युत अपने हृदय की उन वृत्तियों का

---

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ४४।
२. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' ,, ४५।

विश्लेषण करता है जो उन दृश्यों के योग से उत्पन्न होती है।"[1] अतः दृश्यों के चित्रण में भी कवि की आत्मभावना प्रधान है। दृश्य तो सभी के देखे होते हैं, पर कवि की विशेष दृष्टि से, उसके उन दृश्यों के प्रति विशेष भाव से जहाँ पर दृश्यों का दर्शन करते हैं वहीं पर कवि का भाव भी समझते हैं। अतः काव्य में आत्मभाव की उपस्थिति ही वर्णन या चित्रण में एक नवीनता और ताजगी भर देती है। तीसरी बात इस प्रसंग में यह है कि हम सूचना या नवीन अनुभव को तुरन्त व्यक्त नहीं कर सकते, भाव के रूप में पकने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है, बुद्धिग्राह्य विषय को भाव रूप बनाने में कुछ समय लगता है।[2] बस इसी बीच में काव्य के अन्तर्गत आत्मभाव का समावेश होता है। इस सम्बन्ध में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि यह समय ऐसा ही होता है जैसा अचार उठने का जिससे अधिक समय पर वह भाव फिर विलीन हो जाता है और जिसके पहले उसका सुन्दर रूप नहीं बन पड़ता। नवीन सूचना या अनुभव, भावगत काव्यात्मक रूप ग्रहण करने पर परिस्थिति, अवसर और समय के अनुकूल शिर उठाते हैं और यही उनके प्रकाशन का उपयुक्त समय होता है। ये तीनों बातें जिससे कि काव्य-विधान में आत्मभाव की सत्ता प्रकट होती है, यह सिद्ध करती हैं कि काव्य-जीवन से आन्तरिक रूप में भी सम्बन्धित वस्तु है, केवल बाह्य रूप में ही नहीं।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने काव्य के रस का सम्बन्ध मन के ओज के साथ दिखाया है। सुधांशु जी की धारणा है कि मनुष्य को काव्यगत आनन्द, मन के ओज के अनुसार ही मिला करता है। इसीलिए मन की ओजपूर्ण अवस्था में काव्य का आनन्द अधिक और हीन अवस्था में कम मिलता है। काव्य का पाठक यह समझता है कि आनन्द उसे काव्य से मिल रहा है, पर मिलता उसे अपने ही मन के ओज से है।[3] हाँ, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मन के ओज को जाग्रत करने की क्षमता काव्य में अवश्य होनी चाहिए। लेखक के अपने विश्लेषण के अतिरिक्त इसे हम इस रूप में समझ सकते हैं कि जैसे, अग्नि, ईंधन के अनुसार ही प्रज्वलित होती है। प्रथम अग्नि की प्राथमिक आवश्यकता है, पर ज्वाला को प्रज्वलित रखने के लिए ईंधन की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य की अग्नि के लिए मन के ओज का ईंधन आवश्यक है। इसकी

---

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ २६।

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ६४।

३. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७१।

और ठीक रूप देकर हम कह सकते हैं कि काव्य की दीपशिखा के लिए मन के ओज का मधुर स्नेह आवश्यक है। अतः आनन्द मन के ओज के कारण हैं। काव्य में आनन्द भरा नहीं रहता। काव्य हमारे अन्तर्गत आनन्द को जाग्रत करता है। यदि काव्य में आनन्द हो तो एक ही काव्य को पढ़कर सदा आनन्द प्राप्त कर लिया जा सके पर ऐसी बात नहीं है। एक या दो बार के पश्चात् उस काव्यखण्ड में मन के ओज को उकसाने की वह क्षमता नहीं रहती। मन के ओज के साथ काव्य के रस को सम्बन्धित करके लेखक ने अपने इस सिद्धान्त को कि 'जीवन और काव्य का संबन्ध है' पुष्ट किया है।

इस सम्बन्ध में यह भी मत है कि जिसके पास मन का ओज अधिक होगा उसको काव्य का आनन्द अधिक मिल सकेगा। मन के ओज को संचित करने के लिए शान्ति, विश्राम और शक्ति की आवश्यकता है। बिना विश्राम के मन का ओज व्यय होता रहता है, और बिना शक्ति या परिश्रम के उसका अर्जन नहीं होता। परिश्रम की आवश्यकता एक रसता को दूर करने के लिए भी है। सौंदर्य क्षण क्षण नवीन होता है अतः इस नवीनता को ग्रहण करने के लिए एक सा विलासी जीवन समर्थ नहीं होता है और न इसी प्रकार अत्यधिक परिश्रमशील जीवन ही। अतः दोनों का ही ध्यान रखना आवश्यक है। नवीनता लाने के लिए काव्य में वैचित्र्य या चमत्कार की आवश्यकता पड़ती है। जगत के सत्य को कुछ विचित्र रूप में व्यक्त करके भी नवीनता या चमत्कार उपस्थित किया जाता है। पर काव्यगत इस चमत्कार का महत्व तभी तक रहता है जब तक कि वह पाठक या श्रोता के हृदय में सत्य की प्रतीति उत्पन्न कर सकता है। अतः इस विषय में लेखक का निरीक्षण बड़ा सुन्दर है। वह कहता है:—"काव्य और चमत्कार दोनों में अंतर है और वह अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य को एक प्रतीति के रूप में लेकर हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते हैं, किन्तु वैचित्र्य या चमत्कार के समय हम अपना मौन भंग कर 'वाह वाह' कह उठते हैं।"[1]

यहाँ पर इतना मानना चाहिए कि चमत्कार और 'वाह वाह' के साथ भी जब काव्य का प्रभाव रहता है तब तन्मयता भंग नहीं होती, पर केवल 'वाह वाह' में तो अवश्य ऐसी क्षमता नहीं रहती। उसका उद्देश्य तो आश्चर्ययुक्त करना ही है।

---

१. यह निष्कर्ष यथार्थ में उस सिद्धांत से सम्बन्ध रखता है जिसमें कि अभिनवगुप्त के आधार पर विद्वानों ने माना है कि रसास्वादन हमारे भीतर उपस्थित वासनाओं को उकसाने पर होता है।

सुधांशु जी का इस विषय में रसवादी दृष्टिकोण ही है, क्योंकि वे काव्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं मानते वरन् मनोरंजन को वे काव्य का साधन मात्र मानते हैं।[१] उनके विचार से काव्य का अन्तिम उद्देश्य जगत् के साथ मानव हृदय का सामंजस्य स्थापित करना है। इस दिशा में मनोरंजन का अपना महत्व है। वह काव्य में पाठक को एक आकर्षण उपस्थित करता है और उस भाव भूमि पर पहुँचा देता है जहाँ से तादात्म्य सम्भव है। अतः काव्य में महत्व होते हुए भी उसे उद्देश्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

'काव्य का अर्थबोध' नामक प्रसंग में 'सुधांशु' जी ने काव्य में बुद्धि की अग्राह्यता और हेत्वाभास के महत्व पर विचार किया है।[२] बुद्धि की अग्राह्यता होने पर भी हम काव्य के कुछ स्थल रमणीय लगते हैं। तर्क या विचार की दृष्टि से जिनमें कोई तत्व नहीं होता, उनमें काव्यगत प्रभाव है। इसी प्रसंग में उन्होंने प्राचीन साहित्याचार्यों के व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ से वाच्यार्थ को अधिक सरस माना है। इसमें वह यह प्रतिपादित करते हैं कि व्यंग्यार्थ से या लक्ष्यार्थ से जो अर्थ-ग्रहण होता है वह उतना रमणीय नहीं होता, जितना वाच्यार्थ। यह बात सत्य है पर इसमें प्राचीन आचार्यों का मत खंडित नहीं होता, जो कहते हैं कि व्यंजना में अधिक रमणीयता होती है, अभिधा में कम। यहाँ पर उनका तात्पर्य है वह अभिधा जिसमें कोई व्यंजना या लक्षणा न हो। व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ का तात्पर्य वह वाच्यार्थ नहीं जो व्यंजना को स्पष्ट करके प्राप्त होता है, वरन् वह व्यंग्य अर्थ है जो अभिधा के साथ साथ ही संवेत रूप में विद्यमान रहता है। स्पष्ट करने या खोलकर रख देने पर तो वह वाच्यार्थ से अधिक मूल्यवान् नहीं रह जायगा। अतः लक्षणा और व्यंजना में अधिक रस होता है। वह वाच्यार्थ अधिक आनन्ददायी है जिसमें लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ छिपा हुआ है। हेत्वाभास की रमणीयता तो स्वयं सिद्ध है ही। हेतूत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य ही यही है। बुद्धि-द्वारा हेतु चाहे अग्राह्य हो, पर इस काल्पनिक अहेतु में हेतु का सम्बन्ध काव्योक्ति को

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ ७१, तुलना कीजिए —

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

—मैथिली शरण गुप्त।

२. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ८२, ८३।

रमणीय अवश्य बना देता है। जायसी में हमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस प्रसंग में सुधांशु जी की यह धारणा भी सत्य है कि कला में कल्पना चाहे भले ही हो पर स्पष्टता अवश्य होनी चाहिये।

काव्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार करते हुए सुधांशु जी ने यह सिद्ध किया है कि काव्य की प्रधान प्रेरणा, आत्मसुख या आत्मविस्तार है। काव्य के जो अन्य अनेक हेतु संस्कृत कवियों ने माने हैं[1] उन सबके मूल में भी प्रधान रूप से यही आत्मसुख की ही भावना विद्यमान है। उनका कथन है कि यश, कीर्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की सुखलिप्सा छिपी हुई है।[2] यथार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशंसा है। अपनी प्रशंसा, यश और कीर्ति आदि में आत्मसंतोष की भावना है। इसी प्रकार द्रव्यप्राप्ति के अन्तर्गत भी आत्मसुख और आत्मविस्तार की भावना छिपी हुई है, क्योंकि धन की प्राप्ति आत्मसुख के एक साधन के रूप में ही अभिवाञ्छनीय है। आत्मविस्तार की भावना के भीतर आत्मसुख ही रहता है। क्योंकि काव्य में आत्मविस्तार की भावना प्रमुख है। "काव्य में मनुष्य अपने आत्मविस्तार के द्वारा समस्त मानवता को एक सामान्य कोटि के भीतर लाता है।... साधारणीकरण का यही काव्यगत तात्पर्य है।"[3] इस आत्मविस्तार की भावना की ही सिद्धि में कवि सम्पूर्ण प्रकृति, विश्व और प्राणियों में तादात्म्य ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में लेखक की धारणा बड़ी स्पष्ट है। उसका कथन है —"काव्य जीवन प्रकृति का अन्तर्दर्शन है, उसकी अनुभूति है। यह अनुभूति कोई भावुकता जन्य स्फूर्ति नहीं, न कोई आध्यात्मिक कल्पना है बल्कि अखंड मानव जीवन के व्यक्तित्व की अनुभूति है।"[4] अतः काव्य की इस धारणा के अनुसार आत्म विस्तार की भावना कवि की प्रमुख भावना है। पर उसके भीतर भी, इस आत्मविस्तार के रूप में काव्य प्रेरणा के भीतर भी, प्रधान कारण आत्मसुख है। इस को गोस्वामी जी ने 'स्वान्तःसुखाय' कह कर व्यक्त किया है। पर यहाँ भी एक प्रश्न उठ सकता है कि काव्य

---

१ "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—मम्मट, काव्यप्रकाश।

२ 'जीवन का तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ १२८।

३. ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ६८।

४ ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १०३।

के भीतर परान्तसुख और जनहित की भावना जो रहती है, उसका क्या रहस्य है ? सुधांशु जी के विचार से यह जनहित भावना, करुणा, दया, सहानुभूति आदि की भावना भी स्वान्तःसुखाय का ही रूप है। दूसरों के दुःख को देखकर हमारे भीतर जो संवेदना जाग्रत होती है उसको दूर करने के लिए ही, उस संवेदना के कष्ट से मुक्ति पाने के लिए ही, हम दूसरों पर करुणा, दया या उपकार आदि करते हैं। अतः जनहित में भी आत्मपरितोष ही है। इस आत्मसुख का आत्मविस्तार के साथ लगाव है, जब कि अन्य स्वार्थों के साथ जो जनहित विरोधी हैं, आत्म विस्तार का नहीं, वरन् आत्मसंकोच का सम्बन्ध है। अतः काव्य की मुख्य प्रेरणा आत्मविस्तार के साथ आत्मसुख की भावना है।

'लय और छन्द' के प्रसंग में सुधांशु जी ने आजकल की मुक्तछंद या छंदमुक्ति की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है और इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि छन्द चाहे जितने नवीन हों या नए रूप धर कर आवें, कविता से लय का बलिदान नहीं किया जा सकता। अनेक छन्द, जीवन के स्वाभाविक उल्लास और विषाद की गति और स्पन्दनों के साथ चलते हैं। हमारी यथार्थ भावनायें भी जिन स्वाभाविक छन्दों में अपना प्रभाव-पूर्ण प्रकाशन प्राप्त करती हैं, कवि का काम उन्हीं स्वाभाविक छंदों को ढूंढना है, छंदों को तिलांजलि देना नहीं। स्वच्छन्दता और मुक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ तक तो प्रत्येक प्रकार के प्रकाशन में कहीं व्याकरण का, कहीं गति का, कहीं एक और कहीं दूसरा बन्धन तो रहता ही है, पर वही अभ्यास या अनुभूति द्वारा सुविधाजनक हो जाता है। कवि की प्रतिभा का भी निर्णय उपयुक्त छन्द के चुनाव और उसके स्वाभाविक निर्वाह में हो जाता है। छन्द में प्रकाशन की स्वाभाविक शक्ति होती है, उसके लिए पिंगल का ज्ञान या छन्द के लक्षण ज्ञान की आवश्यकता नहीं। छन्द के विषय का सहज ज्ञान ही प्रयोग में लाकर स्वच्छन्दता का परिचय दिया जा सकता है। छन्द का सम्बन्ध जीवन की मनोवृत्तियों से है और उन्हीं का स्वाभाविक ज्ञान कवि को होता है। हाँ, छन्द का उपयोग पांडित्य-प्रदर्शन के लिए करना और छन्द निर्वाह के लिए भावों की हत्या करना, हानिप्रद है। छन्द जीवन की स्वाभाविक गति से सम्बन्ध रखता है। उसकी कृत्रिमता बनाने से बनती है, अन्यथा नहीं। सुधांशु जी का इस विषय में निम्नांकित निष्कर्ष वर्तमान काव्य के हेतु बड़ा ही स्वास्थ्यकर है —

"महाकाव्य में भिन्न भिन्न प्रकार के छन्दों के व्यवहार की जो परिपाटी है वह कवि के पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं, प्रत्युत जीवन व्यापी भिन्न भिन्न भाव विचार की

अभिव्यक्ति को अनुकूल मार्ग देने के लिए। लय और छन्द के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय, तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है और कवि को अनुरूप कीर्ति प्राप्त होती है।"[१]

इस प्रकार जितने भी काव्य के उपकरण हैं सभी का जीवन से सीधा सम्बन्ध है। ग्रामगीत जीवन के स्वाभाविक गान हैं जो बिना प्रयास कंठों से निस्सरित हुए हैं। उनके अन्तर्गत काव्य के विद्यमान तत्व यह सिद्ध करते हैं कि काव्य जीवन का ही प्रकाशन है और कुछ नहीं। ग्रामगीत सम्भवतः जातीय आशुकवित्व है जो भाव की उमंग में बहा है।[२] ग्रामगीत हृदय की वाणी है, जीवन के उल्लास और वेदना की मधुर धारा है। इस जीवन के स्वाभाविक उद्गारों में ही भारतीय जीवन का यथार्थ दर्शन होता है। कलागीतों में उस जीवन के कुछ संस्कृत, शिष्ट और रूढ़ रूप ही देखने को मिलते हैं। पर उन गीतों की प्रवृत्तियाँ भी यह सिद्ध करती हैं कि काव्य जीवन को छोड़कर सफल नहीं।

कलागीत की प्रवृत्तियों पर विचार कुछ अधिक विस्तार के साथ है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर सबसे पहली प्रवृत्ति जो कलागीतों में अभिव्यक्त है वह युद्ध और प्रेम। यह एक साथ भी है और युद्ध और प्रेम दो अलग अलग प्रवृत्तियों के रूप में भी है। वीर गाथा युग के आगे युद्ध की प्रवृत्ति की परिस्थिति अधिक अनुकूल न रह गयी। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रकाशन हमें रीतिकाल में भी यत्र तत्र मिलता है जिसमें प्रेम की प्रवृत्ति का विकास हुआ। भक्तिकाल में इस प्रवृत्ति को अलौकिक आलम्बन प्राप्त हुए और निर्गुण और सगुणवाद के रूप में कलागीतों को अपने पूरे प्रकाशन का अवसर मिला। रीतिकाल में फिर लौकिक आलम्बन सामने चले और नायिका भेद प्रमुख अंग रहा। इसके अन्तर्गत स्त्री, प्रमुख रूप से गीतों का आधार बनी। यद्यपि सगुण भक्ति धारा के साथ साथ सामंजस्य और उसकी परम्परा के कारण कृष्ण का भी नाम है, पर सामान्यतः कृष्ण और राधा को लेकर भी नायक नायिकाओं का ही वर्णन रहा, नायिका का विशेष रूप में। स्त्री को पुरुष ने अनेक भावनाओं के रूप में देखा अतः उसी का विशेष वर्णन है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सुधांशु जी ने लिखा है कि :—

"एक स्त्री शब्द ही ऐसा है जो अपनी मूल अर्थ स्थिति में है, अन्यथा इसके जितने

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० १०३।

२. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ १०४।

भी काव्योपयुक्त पर्याय या समानार्थक शब्द हैं सब पुरुष की भिन्न भिन्न भावनाओं के द्योतक हैं। पुरुष की सौन्दर्य लिप्सा ने स्त्री को सुन्दरी, रमण प्रवृत्ति ने रमणी, कामना ने कामिनी, प्रेम ने प्रिया, प्रेमिका या प्रणयिनी, विलास ने विलासिनी बनाया ...इन शृङ्गारिक रूपों के अतिरिक्त, गंभीर काव्यों में उसकी गंभीर प्रकृति का विधान भी धर्म-संगिनी, जाया, महिला, देवी, गृहिणी, आर्या आदि के रूप में किया गया है, लेकिन शृङ्गारिक कवियों को स्त्री के इन रूपों को देखने की फुरसत न थी।"[1] स्त्री को पुरुष अनेक भावनाओं से देखता है, पर रीति काल में उसे प्रायः विलास और प्रणय भावनाओं से ही देखा गया। अतः यही अभिव्यक्ति हमें देखने को मिलती है।

प्रकृति का रूप अनेक कलागीतों में उद्दीपन के रूप में ही रहा। वर्तमान काल में भी यद्यपि आलम्बन के रूप में प्रकृति को ग्रहण किया गया है पर भलीभाँति नहीं क्योंकि इसी के साथ छायावादी अस्पष्ट शैली ने उसको और भी विचित्र रूप दे दिया। अतः प्रकृति का आत्मविभोर कर देने वाला रूप हमें प्राप्त नहीं हो सका। छायावाद की प्रवृत्ति भी कलागीतों के सम्बन्ध में बड़ी महत्व की है। विषय की दृष्टि से तो प्रायः प्रकृति और प्रिय ही छायावाद के क्षेत्र में विचरण करते हैं, पर शैली की सूक्ष्मता, मनोवैज्ञानिकता, भावुकता आदि विशेषतायें अस्पष्टता और वर्णन की विशृङ्खलता के साथ भी प्रिय लगीं। छायावाद की प्रकृति पर विचार करते हुए सुधांशु जी ने लिखा है :—

"छायावाद की काव्यवस्तु अज्ञेय और अव्यक्त की झाँकी लेने के अतिरिक्त जीवन के किसी दूसरे क्षेत्र में प्रसारित नहीं हो सकी। वस्तु विन्यास की विशृंखलता, रमणीय-कल्पना, चित्रविचित्र लाक्षणिक वैचित्र्य ही उनका साध्य रहा। विभाव पक्ष का आभास ऐसी कविताओं में अस्पष्ट ही बना रहा।"[2]

आधुनिक कालीन कलागीतों की राष्ट्रीयतामूलक प्रवृत्ति भी है जिसका कोई भी रूप प्राचीन काव्य में नहीं मिलता। राजभक्ति, देशभक्ति, स्वतन्त्रता, क्रांति, विप्लव आदि की भावनाओं ने इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अपना विकास पाया है। अतः इसका भी अपना और प्रमुख महत्व है।

इसके अतिरिक्त छायावादी शैली पर आध्यात्मिक संकेतों को लेकर रहस्यवादी प्रवृत्ति भी कलागीत का एक अंग बनकर आई है, पर इसका एक रूप हमें भक्ति युग में देखने

१. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ २२३।
२. 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० २३६।

को मिल जाता है। आज कल का रहस्यवाद बहुत कुछ उसका ऋणी है। रहस्यवादी प्रवृत्ति, काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण तो है पर युगव्यापी भावनाओं से आजकल उसका सम्बन्ध टूट सा रहा है। अब प्रगतिशीलता का नाम देकर आजकल व्यापक भावनाओं और जीवन को काव्य का विषय बनाकर कलाकृतियों की सृष्टि हो रही है। इसमें मुख्य धारा, मानवता के प्रति, दलितों, पीड़ितों और कृषकों के प्रति विशेष रूप से सहानुभूति की है। काव्य का आदर्श, प्रसिद्ध पुरुष, राजा, धनिक या महापुरुष न होकर जनसाधारण हो रहा है। पर इस प्रवृत्ति का कलात्मक रूप अभी विशेष निखर नहीं पाया। प्रगतिवाद आदर्श से यथार्थ को विशेष महत्व देता है। अतः ऐसी दशा में यह प्रवृत्ति तो इसी निष्कर्ष पर हमें प्रतिष्ठित कर ही देती है कि काव्य का जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध है।

इस प्रकार सुधांशु जी ने इस पुस्तक में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रतिपादन की प्रणाली विशेष तर्क सगत नहीं, पर उनके दृष्टिकोण को ढ़ूंढ निकालना कठिन भी नहीं है। पुस्तक के निबन्ध एक दूसरे से स्वतंत्र से लगते हैं। एक का दूसरे से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। प्रत्येक निबन्ध अपनी नवीन भूमिका लेकर उठता है और समाप्ति के साथ दूसरे के प्रारम्भ का सूत्र नहीं देता। पीछे का तारतम्य नहीं। पर यह सिद्धान्त सभी निबन्धों में व्याप्त है कि काव्य के सिद्धान्त जीवन के तत्वों पर आश्रित हैं।

———

# पंचम अध्याय

# ५

# कवियों की स्वच्छन्द रचनाओं में प्राप्त काव्यादर्शों का अध्ययन

## १. पूर्वकालीन कवियों का काव्यादर्श

वर्तमान काल में आलोचना के ग्रन्थों में ही काव्य-सम्बन्धी विचारों को देखने का हमारा अभ्यास पड़ गया है, किन्तु कभी कभी कवि की कविता में ही उसका काव्यगत आदर्श एवं विचार छिपा मिल जाता है। हिन्दी साहित्य में कविता से अलग आलोचना आधुनिक काल की देन है। इस प्रकार के केवल आलोचना सम्बन्धी लेख हमें पुराने साहित्य में अलग नहीं मिलते हैं, किन्तु जहाँ तहाँ बड़े बड़े कवियों के काव्यग्रन्थों में ही ऐसे कथन देखने को मिल जाते हैं जो उनके काव्य सम्बन्धी आदर्शों को प्रगट करते हैं। छोटे बड़े सभी लेखकों की कविता से ऐसे वाक्य छाँटना बड़ा कठिन काम है और फिर सभी में कोई नवीनता भी मिलने की सम्भावना नहीं। परन्तु बड़े बड़े कवियों की कविता से उनका काव्य-सम्बन्धी तथा कलापरक आदर्श खोजना काव्य के स्वभाव की परख के लिए आवश्यक है। उसका महत्व हिन्दी काव्यादर्शों के विकास के अध्ययन में तो और भी अधिक है। जैसा कि कहा जा चुका है इसके लिए कवियों की रचनायें भी वैसे ही महत्व की हैं जितनी उन पर की गयी आलोचनाएँ।

हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्य में कविता का आदर्श या तो धार्मिकता से भरा हुआ है या वीर पुरुष और राजा महाराजाओं की प्रशंसा से और उसका कला-सम्बन्धी आदर्श संस्कृत काव्य या संस्कृत काव्यशास्त्र है। वीरगाथा युग की कविता राजाओं की वीरता की प्रशंसा तथा उनके शृंगारिक क्रियाकलाप से ही भरी है और उसकी वर्णन-पद्धति पर रामायण, महाभारत एवं संस्कृत के काव्यशास्त्र तथा कवि शिक्षा के ग्रन्थों का प्रभाव

है। महाकवि चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' ऐसा ही ग्रन्थ है और अन्य 'रासो' भी इसी पथ के अनुसरण करने वाले हैं। चन्द 'पृथ्वीराज रासो' के प्रथम समय ( ३६ वें छन्द ) म लिखते ह —

"उक्ति धर्म, विसालस्य। राजनीतिं नव रस।
षट्भाषा पुराण च। कुरान कथित मया॥"

इस उद्देश्य से स्पष्ट है कि 'पृथ्वीराज रासो' में सभी प्रकार के ज्ञान व व्यवहार की चर्चा है जैसी कि महाभारत में है। उसमें धर्म, राजनीति के वर्णन का ध्येय तथा नवों रसों से उन्हें युक्त करना है। 'पृथ्वीराज रासो' है भी वर्णन-प्रधान, कला-सम्बन्धी वर्णन का समन्वय उसमें कम है। मनमाना वर्णन अधिक है, किन्तु फिर भी 'पृथ्वीराज रासो' ऐसे ग्रन्थ की उत्पत्ति विशाल प्रतिभा और व्यापक कल्पना द्वारा ही हो सकती है।

चन्दवरदाई के पूर्व भी सिद्ध और जैन कवियों में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी कोई विशेष विचार नहीं मिलते, पर हम कह सकते हैं कि सिद्धों का उद्देश्य तो सरल बोलचाल की भाषा में रहस्यवाद, तन्त्र, हठयोग अथवा खंडन मंडन के उपदेश देना था। काव्य सम्बन्धी कोई अन्य आदर्श उनके पास नहीं था, पर पुरानी हिन्दी के कुछ अन्य कवियों का निश्चय रूप से काव्य-सम्बन्धी आदर्श वही था जो चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' में है। अथवा इससे भी अधिक वे साधारण जनता की बातों जैसे गरीबी, आदि का वर्णन भी करते थे, पर बहुत से कवि[१] यही संस्कृत कवियों के काव्य और काव्यशास्त्र का ही आदर्श रखते थे और रामायण महाभारत आदि ग्रन्थ ही उनके आदर्श थे। इस आदर्श पर चन्द के पूर्व भी बड़े उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे गये हैं जैसे —स्वयंभू कवि के रामायण, हरिवंशपुराण तथा पुष्पदन्त के महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ आदि। इनमें स्वयंभूदेव ने तो तुलसीदास की भाँति ही अपनी दीनता और काव्य विद्या से अनभिज्ञता प्रदर्शित की है, यद्यपि उनकी रचना में काव्य के उत्कृष्ट गुण प्राप्त होते हैं। अपने आत्मपरिचय में वे लिखते हैं —

"बुहयण सयभु पइँ विण्णवइ। मइ सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ।
वायरणु कयाइँण जाणियउ। णउ वित्ति सुत्त वक्खाणियउ।

---

१ देखिए पुष्पदन्त, अब्दुर्रहमान आदि की रचनायें, हिन्दी काव्यधारा,
—राहुल सांकृत्यायन।

णा णिसुणिउँ पच महायकव्वु । णउ भरहुण लक्खणु छंदु सव्वु ।
णउ बुज्झउँ पिंगल पच्छार । णउ भामह, दण्डियऽलंकार ।"

अर्थात् स्वयभू बुधजनों के प्रति विनती करता है कि मेरे समान अन्य कुकवि नहीं है। मैं कुछ व्याकरण नहीं जानता, न वृत्ति-सूत्र का वर्णन कर सकता हूँ, न पाँच महाकाव्य सुने हैं, न भरत का शासन जानता हूँ और न छन्दों व लक्षण। न पिंगल का विस्तार जानता हूँ और न भामह, दडी के अलकार ही।"[1] इसके साथ साथ एक बात और इनकी रचनाओं म प्राप्त होती है और वह है बोलचाल या लोकभाषा में काव्य-रचना की प्रेरणा। यही बात आगे चलकर हमें विद्यापति, कबीर, तुलसी आदि म भी मिलती है। स्वयभू ने भी इसका परिचय अपनी रामायण के वर्णन म दिया है —

अक्खर वास-जलोह मणोहर । सुयलंकारछंद मच्छोहर ।
दीह समास पवाहा बंकिय । सक्कय पायय पुलिणालंकिय ।
देसी भाषा उभय तडुज्जल । कवि-दुक्कर घण सद्द सिलायल ।
अत्थ बहल कल्लोला णिट्ठिय । आसा सय सम ऊह परिट्ठिय ।
रामकहा सरि एह सोहती । इत्यादि

—( रामायण, हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ २६ । )

अर्थात् अक्षर जिसमें मनोहर जलौक, (जोंकें) हैं, सुन्दर अलकार और छद मछलियाँ हैं। दीर्घ समास टेढ़ा जल प्रवाह है। सस्कृत प्राकृत के पुलिन अकित हैं। देशी भाषा के दोनों उज्जवल तट हैं। कवियों के लिए कठिन विषम घने शब्दों के शिलातल हैं। अनेक अर्थों वाली कल्लोलें हैं, और सैकड़ों आशाओं के समान तरगें उठती हैं। इस प्रकार रामकथा की सरिता शोभित हो रही है।"

उपर्युक्त बातों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि काव्यादर्श इस युग में लगभग सस्कृत महाकाव्य का सा है, पर लोकभाषा को महत्व देना ही एक नवीन बात है।

विद्यापति की रचना का आदर्श भी प्रेम, शृङ्गार और भक्ति का चित्रण करना था, किन्तु इनमें शब्दों के प्रयोग की कला और कौशल तथा माधुर्य बड़ी उच्चकोटि का है। इनका उद्देश्य साहित्यिक था और कविता को ये ईश्वरदत्त प्रतिभा के रूप म मानते थे जैसा कि इनके जीवन की कथाओं के साथ साथ सद्यस्नाता और आगतपतिका स्त्री का

---

१ रामायण स्वयभूदेव ( १।३ ) हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ २३ ।

वर्णन स्पष्ट करता है। कविता का प्रधान उद्देश्य इष्ट सिद्धि और मनोरंजन था। कीर्तिलता के प्रथम पल्लव में उन्होंने लिखा है :—

> बालचन्द्र विज्जावइ भाषा। दुहुँ नहि लागइ दुज्जन आसा।
> ओ परमेसर हर सिर सोहई। ई निच्चय नायर मन मोहई।

नागर या रसिकों का मनोरंजन कविता का चरम उद्देश्य है। भाषा-विषयक उनका विचार 'कीर्तिलता' में व्यक्त हुआ है। यद्यपि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में भी रचनायें की हैं पर सबसे अधिक मधुरता वे प्रचलित लोक भाषा में मानते हैं।[1] इस प्रकार उनका काव्यादर्श स्वाभाविक भाषा में रस और अलकार-पूर्ण वर्णन प्रकट होता है।

कबीर के पास कविता के विषय में अधिक कहने को नहीं हो सकता, क्योंकि कवि उनकी दृष्टि में कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं था,[2] और न विद्वान् ही, इन सभी को वे मरा हुआ कहते हैं क्योंकि इन्होंने अमर आत्मा को नहीं पहचाना। फिर भी उनकी साखी सबदी और रमैनी कविता हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं प्रथम यह कि कबीर कविता को एक सीमित अर्थ में ही लेते थे और द्वितीय उनके समय कविता केवल मनोरजनार्थ ही होती थी। इसीलिए उन्होंने ऐसे कवि के व्यक्तित्व से अपने को अलग रखा है, केवल उक्ति-विशेष या अलंकार-वर्णन कबीर की दृष्टि से कविता हो सकता है, पर उसमें कोई सार नहीं रहता। उनके कथन यदि कविता हैं तो उस कविता को वे जीवन से, सत्य से और कल्याण से सम्बन्धित समझते हैं। जीवन के विषय में जो उनका दृष्टिकोण था उनकी रचना से स्पष्ट है। वह रचना चाहे जैसी हो, पर जैसा जीवन वे समझते थे उनकी

---

१. सक्कय वाणी बुहयन भावई, पाउंअ रस को मम्म न पावई।
देसिल बयना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा।
—कीर्तिलता प्रथम पल्लव।

अर्थात् संकृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी लगती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती, अर्थात् सरस नहीं है, देशी भाषा सब को मीठी लगती है, इसी से मैं अवहट्ठ में रचना करता हूँ।

२. 'कवि कबीने कविता मुए।'
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
—( कबीर की साखी )

रचना उससे सीधे ढंग से सम्बन्धित थी। उनकी कविता जीवन के कल्याण के लिए या सत्य के उद्घाटन के लिए है। वह उपदेश और स्वानुभूति प्रधान है।

कबीर हमारे सामने एक साधक और उपदेशक के रूप में आते हैं और दोनों ही रूपों में उनकी स्पष्टवादिता और सच्ची लगन के कारण हम कविता मिलती है। सहज भावनाओं को स्वाभाविक ढंग से प्रकट करना ही उनका उद्देश्य था। अत भाषा के सम्बन्ध में उनका विचार भी स्पष्ट है। जनसाधारण के हेतु ही उन्होंने अपने कथन कहे हैं अत: जन-साधारण की ही भाषा खरे रूप में उनकी काव्य भाषा है। संस्कृत गर्भित या स्वय संस्कृत भाषा की, अपेक्षा बोलचाल की भाषा वे अधिक पसन्द करते थे, जैसा कि उनके कथन :—"ससकिरत कूपजल कबीरा, भासा बहतानीर" से भलीभाँति प्रकट है। इस स्वाभाविक भाषा द्वारा सहज अनुभूति के प्रकाशन में अनेक सहज और स्वाभाविक भाव तथा रस आ जाते हैं, किन्तु कबीर का काव्यादर्श अपनी ही अनुभूति का प्रकाशन था, बन्धन में बँधकर कवि कहाने के लिए लिखी गयी रचना द्वारा कल्पित अनुभूति नहीं, यह बात उनकी रचनाओं में स्पष्ट है।

जायसी का काव्यविषयक आदर्श अधिक व्यापक और साहित्यिक है। उनकी कविता म कला पक्ष भी मौजूद है। कबीर की भाँति जायसी कवि-यश की आकाँक्षा से रहित न थे वरन् उनकी रचना में वह यश की भूख बराबर विद्यमान मिलती है, वे पद्मावत के अन्त में कहते हैं .—

> "जोरी लाइ रक्त के लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई।
> औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यहु रहै जगत महँ चीन्हा।
>
> —पद्मावत।

जगत् में अपना नाम, यश अथवा चिह्न रखने के लिए अपनी रचना को उन्हें रक्त की लेई से जोड़ना पड़ा, इससे जायसी का यह विश्वास टपकता है कि वे किसी काव्य रचना के स्थायी होने के लिए साधना और अनुभूति आवश्यक समझते थे। बिना कष्ट सहे हुए किसी का यश ससार म नहा रहता। इसके आगे भी वे कहते हैं —

> "कहँ सुरूप पद्मावत रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
> धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।

केहि न जगत जस बेचा, केहि न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सवरे दुइ बोल।"

—पद्मावत

इससे स्पष्ट है कि कितनी नम्र भावना अपने नायक को अमर रखने के साथ साथ स्वयं अमर रहने की है। इस अमरता के लिए किस बात की आवश्यकता है, उसका ऊपर निर्देश हो चुका है। अब उत्तम कविता के अमरत्व के मूल में क्या कारण विद्यमान रहता है, इसको भी जायसी ने अनजाने व्यक्त किया है। अनजाने इस कारण से कि उन्होंने स्पष्ट रूप से शास्त्रीय पद्धति के अनुसार यह नहीं कहा कि उत्तम कविता के लिए अमुक गुण होना चाहिए, पर उनकी उत्तम कविता की कसौटी का संकेत उससे मिल जाता है। कवि का स्थान जायसी की दृष्टि में बहुत ऊँचा था और उसके पीछे वे अन्य सभी समृद्धियों को भी त्याग सकते थे। इतना स्वाभिमान उनमें था। अतः कुछ अपना परिचय देते हुए ही वे उत्तम कविता के अन्तर्गत 'विमोहकत्व'—मोह लेनेवाला तत्व काव्य उत्कृष्टता का प्रधान कारण बताते हुए कहते हैं :—

'एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेहि कवि सुनी।'

इसी 'विमोहकत्व' में ही कवि की सफलता और कवि का जादू है, यह जायसी मानते हैं। अपनी कविता में विमोहकत्व लाने के लिए कवि को स्वयं अपने विषय में विमोह जाना, तन्मय हो जाना आवश्यक है। जायसी के वर्णन से ही यह स्पष्ट है कि जो कुछ भी वह वर्णन करते हैं उसमें घुल मिल जाना उनका स्वभाव है। जहाँ कहीं उन्हें सौंदर्य या गुण मिलता है वे उसमें ही लीन हो जाते हैं और उसी अवस्था में उसका वर्णन उनके काव्य में जादू का असर भर देता है। इस तन्मयता के साथ उनकी व्यापक दृष्टि भी रहती है।

फिर कविता के प्रभाव के लिए कवि और कविता का ही गुण-सम्पन्न होना पर्याप्त नहीं, सुनने वाले या पाठक के भीतर भी कुछ गुणों का समावेश होना चाहिए। जायसी ने काव्य-रसिक की उपमा चींटी और भौंरे से दी है। वे कहते हैं कि चींटी के लिए कहीं भी गुड़ रक्खा हो वह सूँघ कर उसको प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार भौंरा के लिए कहीं भी वन में 'कमल' खिला हो वह जाकर उसका रस लेगा। पर कमल के पास रहने वाले काँटे और कमल के पास ही रहने वाले मेंढक उस रस से अनभिज्ञ हैं, जिससे मोह लेती है। यही 'अरसिकों' का हाल है। जायसी ने स्पष्ट कह दिया है :—

"आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।
कवि बिलास रस कँवला पूरी। दूरि सो नियरे नियरे सो दूरी।
नियरे दूर, फूल जस काँटा। दूरि सो नियरे जस गुड़ चाँटा।
भंवर आइ बन खंड सन, लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलेहिं जो आछै पास॥"

(पद्मावत)

जायसी की दृष्टि में श्रेष्ठ कवि व्यास के रूप में होता है और उसमें रस ऐसा ही रहता है जैसा कि कमल में मकरन्द श्री। प्रतिभा, कल्पना और अनुभूति से सम्पन्न कवि की कविता, रसिक भ्रमरों के लिए कमल श्री के समान ही आकर्षण रखती है।

स्वानुभूति और तन्मयता के साथ ही साथ कवि को रहस्य-दर्शन की एक दृष्टि प्राप्त होती है जो न केवल पाठक के लिए गहरी रुचि और आनन्द का सम्पादन करती है वरन् कवि को भी अनवरत और चिरन्तन उत्साह से भरती रहती है। यह साधना प्रसूत दृष्टि, प्रकृति केर हस्यवादियों की विशेषता है। जायसी के सिंहल के उपवन का वर्णन, समुद्र का वर्णन, षटऋतु का वर्णन आदि इसी दृष्टि को छिपाये हैं। ऐसा नहीं जान पड़ता कि जायसी ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से सीखा है कि यह वर्णन करना चाहिए यह नहीं, वरन् यह उनकी अनुभूति, रुचि, सौन्दर्य प्रेम और रहस्य-दृष्टि है जो उनके वर्णन के अंग अंग में रस और चमत्कार भर देती है। इसमें जायसी की सशक्त कल्पना व्यक्त होती है।

इसके अतिरिक्त जायसी के भीतर हमें एक करुणा और वेदना भी मिलती है जो उनके चित्रण और वर्णन को इतना हृदयस्पर्शी बना देती है। कुछ लोगों का विश्वास है कि 'अभाव' कविता की एक प्रबल प्रेरणा देता है। यही वेदनापूर्ण गीतों के मूल में भी रहता है और आदर्श चित्रण का भी कारण होता है। कवि जिस रूप, जिस शील को चाहता है उसका विश्व में अभाव ही उसकी अनुभूति का एक स्रोत बहाता है। अभाव जन्य आदर्श सम्बन्धी संकेत के अनेक स्थल पद्मावत में हैं। आगे लिखित पंक्ति देखिए :—

"जेहि पाई वह छाँह अनूपा। फिर नहिं आइ सहै यह धूपा।"

जिसे वह अलौकिक आदर्श, अलौकिक सौन्दर्य देखने को मिल गया वह इस संसार के सन्ताप में जहाँ पर अभाव, दुख, कुरुपता, भरे पड़े हैं, कुछ भी रुचि न रख सकेगा। इसे

हम उनका आध्यात्मवाद भी मान सकते हैं और यही आदर्श चित्रण उनके काव्य की प्रेरणा भी है। जायसी का सम्पूर्ण प्रकृति का तथा मानव गाथा का वर्णन इन्हीं संकेतों से भरा हुआ है। जायसी प्रबन्ध काव्य में भी व्यक्तिगत करुणा एवं वेदना को उकसाते चलते हैं।

भाषा जायसी की स्वाभाविक और बोल चाल की है। उनका कविता का उद्गार भी स्वाभाविक और सहज उद्भूत है। जायसी के विश्वास के अनुसार यही कविता के मूल उपकरण ठहरते हैं। (शुद्ध और सरल कल्पना, विमोहकत्व, रहस्य दृष्टि और स्वाभाविक एवं सहज अनुभूति का स्वाभाविक बोलचाल की भाषा में प्रकाशन ये ही जायसी की दृष्टि से काव्य के तत्व हैं।) आधुनिक कवियों का उद्देश्य कलात्मक होता है, अनुभूत्यात्मक नहीं। वह कवि बनने के लिये कवियों की शैली सीखते हैं जब कि जायसी, कबीर ऐसे कवि बिना कला सम्बन्धी प्रयत्न के कवि हैं, क्योंकि उनमें कवि की शैली से अधिक कवि की अनुभूति और कवि की दृष्टि विद्यमान है जिसको हम कवि की सहज प्रतिभा कह सकते हैं। काव्य सम्बन्धी यही भाव अन्य प्रेमाख्यान लिखने वाले कवियों के भी रहे हैं।

## सूर का 'काव्यादर्श'

सूर के काव्यादर्श विषयक विचार कहीं भी नहीं मिलते किन्तु उनका काव्य का उद्देश्य धार्मिक भावना लिये हुए आनन्दात्मक था। वह आनन्दात्मक उद्देश्य बहुत कुछ प्रचार और प्रतिपादन की भी भावना लिये हुए था। उन्होंने भक्ति के आवेश में गाया है, पर भ्रमरगीत के पदों में भक्ति भावना होते हुए भी निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान के विपक्ष में सगुण ब्रह्म और भक्ति के प्रचार की भावना भी थी। फिर भी हम उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि सामान्य रूप से कविता का वे इस प्रकार का उद्देश्य मानते थे। जहाँ तक कविता का कलापक्ष है वे संस्कृत काव्यशास्त्र से प्रभावित थे। संस्कृत की शब्दावली के साथ साथ अलंकारों और रसों का सन्निवेश उनकी कविता में बहुत अधिक है और अलंकार तो अपनी काव्य-कल्पना दिग्दर्शन के अर्थ ही अनेक, एक के ऊपर लदे से रक्खे गये हैं। शृंगार का वर्णन सूर के गोपी प्रसंगों में भली भाँति मिलता है। सूर के काव्यशास्त्र विषयक आदर्श पर 'सूरसाहित्य' की भूमिका में लिखा है।

"सूर ने काव्य विषय कृष्ण भक्ति को इन साहित्यिक धाराओं और इनके अतिरिक्त युग की सामान्य प्रवृत्ति, विलास प्रियता अथवा शृंगार प्रियता, से भी प्रभावित किया।

यही कारण है कि सूर साहित्य के भाव पक्ष में हमें भक्ति और शृङ्गार के दर्शन होते हैं और कला पक्ष में रीति, रस और अलंकार निरूपण के। इस सत्य को भुला कर सूर साहित्य पर अनैतिकता का दोष लगाया जाता है और उसमें हमें ऐसे पदों को स्थान प्राप्त करते देख कर आश्चर्य होता है जो कूट निरूपण और अलंकारों के प्रदर्शन के लिए लिखे गए।"[1]

इससे स्पष्ट है सूर के काव्य का उद्देश्य साहित्यिकता से शून्य नहीं था और कला पक्ष को भी उन्होंने अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा था वरन् उसका पूरा सम्मान किया था। सूर के कूट पदों में उस युग की साधारण आलंकारिक प्रवृत्ति ही खेलती हुई दिखलाई पड़ती है। उनके अधिकांश वर्णन का आधार भागवत पुराण था। भावाभिव्यक्ति का आधार उनकी स्वाभाविक प्रतिभा तथा कवि-परम्परा है।

सूर का कलात्मक पक्ष तो अलंकारिक ज्ञान प्रदर्शन था, किन्तु उनकी यथार्थ वृत्ति, भाव में तन्मयता थी। सूर ने अपनी भक्ति के वर्णन में वात्सल्य रस का जो प्रबल स्रोत बहाया है उसमें सभी मग्न हो जाते हैं। वात्सल्य को रसत्व की कोटि में लाने वाली सूर की ही प्रतिभा है। हिन्दी काव्य में 'वात्सल्य' भाव को रस के रूप में प्रतिष्ठित करना सूर का ही कार्य था। इसके संयोग पक्ष का वर्णन अधिक पूर्ण है। अभिव्यक्ति कौशल की दृष्टि से सूर की रचनाएं साहित्यिक हैं। वे साधारणजनों और विद्वानों सभी के लिए हैं। अनुभूति के साथ साथ कला को समान स्थान देना सूर की दृष्टि में दोनों के समान महत्व को स्पष्ट करता है।

## तुलसी का 'काव्यादर्श'

सूर और कृष्णभक्त कवियों का आदर्श लगभग एक ही था। इन्होंने कविता के द्वारा सामाजिक जीवन का आदर्श अंकित करने की चेष्टा नहीं की, किन्तु तुलसी की कविता का आदर्श लोक जीवन का कल्याण था और 'स्वान्तस्सुखाय' का उद्देश्य रखते हुए भी उनकी कविता 'परान्तस्सुखाय' भी उतनी ही थी। कविता विषयक उनका आदर्श 'रामचरित मानस' में कई स्थलों पर व्यक्त हुआ है। तुलसीदासजी काव्य को बहुत ही उच्च और पवित्र वस्तु समझते थे। धार्मिक पवित्रता कविता का प्राण है और कविता का केवल परमात्मा के गुणगान एवं चरित्र चित्रण में ही, प्रयोग करना चाहिए यह उनका विश्वास था। कविता, वाणी, शारदा या सरस्वती तुलसी के विचार से

१ देखिए रामरतन भटनागर की, सूर साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १२०।

देवी है। अपने भक्त या उपासक की भक्ति या उपासना से संतुष्ट होकर वह उसके पास आती है, इसलिए पूजा के लिए भगवान का गुण-गान ही ठीक है, मनुष्य का गुणगान उस शक्ति का दुरुपयोग है। वे कहते हैं :—

"भगत हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाय न कोटि उपाये।"[१]

इसलिए वाणी का आह्वान केवल भगवान के चरित या गुण गान के निमित्त ही करना ठीक है। जन साधारण के गुणगाने से काव्य की देवी असन्तुष्ट होती है। उनका कथन है :—

"कवि कोविद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुण नाना। सिर धुनि गिरा लगत पछताना।"[२]

अतएव परमात्मा का गुणगान ही कविता का शुद्ध उपयोग है। कविता-सम्बन्धी अन्य विवेक और उपकरणों के न होने पर भी यह हरि यश गाने का उद्देश्य तुलसी को परम सन्तोष देने वाला है। उन्होंने रामचरितमानस के बालकाड में कहा है :—

"कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥"

अन्तिम चरण से यह भी स्पष्ट है कि कविता-विवेक पर वे जोर नहीं दे रहे हैं और यह बात वह सपथ पूर्वक, कागद में लिखकर, कहते हैं और यह भी कि वे कविता विवेक के न होते हुए 'सत्य कहने' के उद्देश्य से लिख रहे हैं, कविता करने के उद्देश्य से नहीं। 'जानकी मगल' में उन्होंने इसे और भी स्पष्ट किया है :—

"कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
सिय रघुवीर विवाह यथा मति गावौं।"

ऐसा कह कर और सर्वोत्कृष्ट काव्य लिखकर उन्होंने न जाने कितने कविता रीति के उपासक और पंडितों की रचनाओं पर धूल डाल दी है। तुलसी का स्पन्दन राम की भक्ति का स्पन्दन था जिसके वर्णन के लिए ही वे वाणी का आवाहन करते थे और

---

१. बालकांड, दोहा १०, चौपाई ३,४।

२. बालकांड दोहा १० । ५,६ ।

वाणी उन पर कितना प्रसन्न थी इसके कहने की आवश्यकता नहीं। अपनी इस कलात्मक उद्देश्य हीनता और भक्ति भाव की व्यापकता का निर्देश उन्होंने निम्नलिखित दोहे में कर दिया है :--

"भनिति मोर सब गुण रहित, विश्व विदित गुण एक।
सो विचारि सुनिहहि सुमति, जिनके विमल विवेक॥"

तुलसीदास अपने को कवित विवेक से हीन कहते हैं और अपनी भनिति को गुण रहित मानते हैं। परन्तु 'कवित विवेक' और 'कविता के गुण' क्या हैं, यह भी उन्होंने बतला दिया है। 'बालकाड' रामचरितमानस, में उन्होंने लिखा है।

"आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥"[1]

शब्द, अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबन्ध, भाव, रस, दोष, गुण के अनेक भेदों का ज्ञान कवित विवेक है। इसका उद्देश्य न होने पर भी उनकी कविता इस काव्य विवेक से भरपूर है। इन सब को जानते हुए भी उन्होंने इन्हें साधन माना है और इनमें से लगभग सभी अपनी उचित मात्रा में उनके काव्य में उपस्थित हैं। फिर भी उनका साध्य उनका अकेला निर्दिष्ट कविता विवेक का प्रदर्शन न था। वह कविता का उपयोग रामचरित्र के पवित्र चित्रण में ही करना चाहते थे। यही उनके जीवन का ध्येय था। कवित-विवेक गौण वस्तु है उससे कविता उत्पन्न नहीं होती। तुलसी का विचार है कि परिष्कृत हृदय में सरस्वती की कृपा से कविता के मुक्ताफल उत्पन्न होते हैं और सज्जन उनका आदर करते हैं। वे कहते हैं।

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहि सुजाना।
जो बरसइ वर बारि बिचारू। होइ कवित मुकुतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिहहि, रामचरित वर ताग।
पहिरहि सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग॥"[2]

हृदय के भीतर बुद्धि और बुद्धि के भीतर विचार, वाणी की कृपा से कविता रूप धारण करता है पर उसकी शोभा रामचरित्र के सुन्दर तागे से पुहे जाने पर ही है, बिना

१. रामचरित मानस बालकांड ८। ८, ६।
२. ,, ,, ,, ११।

इससे वह हृदय पर धारण करने वाले हार के रूप को नहीं पा सकता। इस पवित्र भावना के कारण तुलसी का काव्य आदर्शात्मक है। आदर्श चरित्र-चित्रण-द्वारा उन्होंने विश्व की मानवता का जीवन-पथ प्रदर्शन किया है। वे एक पूर्ण और आदर्श विश्व स्थापित करना चाहते थे, और उसमें वे सफल हैं। आदर्शात्मक चित्रण वर्तमान युग के यथार्थवादी लेखकों के द्वारा प्रशंसनीय नहीं है, पर यथार्थता यह है कि उच्च काव्य सदा एक आदर्श विश्व की स्थापना करता है, आन्तरिक पवित्रता और शान्ति तुलसी के काव्य का उद्देश्य है। इस विषय में अंग्रेजी के समालोचक कवि 'हनरी न्यूबोल्ट' के विचार दृष्टव्य हैं —

"मनुष्य ने वैज्ञानिक खोजों के बौद्धिक चमत्कार के रूप में विजय पाई है और बड़ी ललक के साथ उनके व्यौहारिक उपयोगों का आनन्द उठाया है, किन्तु अपने सुख के नगर में, अपने जीवन के घर में, स्मृति और आशा के अन्तराल में, आकुलता की ध्वनि निरन्तर होती रही है। वह कभी नहीं भूल सका कि दूसरा पथ हार का नहीं, जीत का है। कल्पनामय कला का है। वह विश्व के पुनर्निमाण में, वस्तुओं के सुखद कार्यक्रम में और उन्हें अपनी हार्दिक रुचि के अनुसार फिर रचने में, सन्तोष और आनन्द को ढूँढना कभी नहीं भूला। यहीं, मेरे विश्वास में, सामंजस्य का बिन्दु है, यहीं वह सामान्य तत्व है जिसको कविता प्रदान करती है, सब के लिए, केवल कवि के लिए ही नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी। यही महान काव्य की कसौटी है कि वह आदर्श जगत् देखने की सार्वजनिक इच्छा को स्पर्श करती है।"[1]

इसी प्रकार की आदर्श जगत् की व्यवस्था करना तुलसी का उद्देश्य रहा है। एक आदर्श समाज और एक आदर्श राजा को अवतरित करना तुलसी की सफलता है। कौन रामराज्य में नहीं रहना चाहता, यही रामराज्य, आदर्श जगत् था जिसके स्वप्न ने ही तुलसी को काव्य-सम्बन्धी प्रेरणा प्रदान की थी।

---

1 He "(man)" has triumped in intellectual splendour of the discoveries of Science and reaped rather greedily their practical results but always in his inner chamber of memory and hope the murmur of his unrest has been ceaseless. He has never forgotten that other way is the way not of subjection but Supremacy the way of imaginative art. Here in my belief is the point of reconciliation, here is the common element, which poetry holds for us all not only for the poets but for every man. This is the criterian of great poetry that it touches the universal longing for a perfect world."

"A New Study of English Poetry" by Henry Newbolt P. 14

तुलसीदास कवित्व की दैवी प्रतिभा पर विश्वास करते हैं और कहते हैं कि यदि देवता प्रसन्न हो तो कवि जो कुछ कहे वह सत्य होता है, सत्य होने का अर्थ है विश्वस नीय और प्रभाव पूर्ण होना है, जैसा कि व्यक्त है—

"सपनेहु साँचेहु मोहि पर जो हर गौरि पसाउ ।
तौ फुर होइ जो कहहुँ सब भाषा भनति प्रभाउ ॥"

इसलिये कवि के लिये सच्ची लगन और साधना आवश्यक है । भाव और भाषा के विषय में तुलसी का विचार है कि ये दो अलग अलग नहीं हैं । भाव वैसे आकार हीन हैं, भाषा के रूप या वाणी के रूप में वे आकार ग्रहण करते हैं ।

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।"

यह भिन्नता कहने की है । इस कथन से ही एक और संकेत मिलता है । वह यह है कि जिस शब्दावली में भाव का कोई आकार मौजूद न हो वह वाणी या कविता नहीं है । भाव का होना, अर्थ की उपस्थिति ही वाणी को वाणी बनाती है, भाषा को भाषा बनाती है और कविता को कविता ।

भाषा के सम्बन्ध में तुलसी का एक और विचार है जो कि कबीर, विद्यापति आदि के विचारों से मेल खाता है । उसमें उन्होंने भाषा विशेष को गौरव न देकर भाव को गौरव दिया है और भाषा अर्थात् लोकभाषा की कविता को ही स्वाभाविक माना है, दोहावली में जैसा कि उन्होंने कहा है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच ।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच ॥

जब देश भाषा से ही आन्तरिक भाव का प्रकाशन और प्रभाव निश्चय हो सकता है तब फिर संस्कृत आदि भाषाओं में कविता करना केवल पाण्डित्य प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, और ऐसा प्रयत्न जन साधारण के लाभ का नहीं है ।

अब उत्तम काव्य की परख पर तुलसी का विचार देखना चाहिये । तुलसी का उत्तम काव्य का मापदण्ड है सभी का कल्याण, सभी का हित, जैसा गंगा का जल का स्वभाव है । इस बात को उन्होंने इन शब्दों में कह दिया है —

"जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं । सो स्रम बादि बाल कवि करहीं ।
कीरति, भनति, भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥" [१]

---

१ रामचरित मानस, बालकाण्ड १३ । ८, ६ ।

अतः दो बातें देखने की हैं:—एक यह कि बुद्धिमान् लोग उसका आदर करते हैं और दूसरी बात यह है कि वह सबके हित की है। कीर्ति, यश, ऐश्वर्य और कविता तीनों की उपयोगिता इसी बात में है कि वह गंगा के समान सबका हित करनेवाली हो। हित करनेवाली कविता वही हो सकती है जो हमारे यथार्थ जीवन के तत्व धारण करती हो, जो जीवन का आदर्श हमारे सामने रख सके। तुलसी का अपना काव्य ऐसा ही है। फिर कविता की शोभा कवि या रचयिता के पास उतनी नहीं होती जितनी सहृदय, विद्वान् और बुद्धिमान व्यक्तियों के पास जाकर। मणि, रतन आदि भी अपनी उत्पत्ति-भूमि में उतनी शोभा नहीं पाते जितनी राजमुकुट में या रमणी के शरीर पर। यह कविता की सार्थकता है जिसे तुलसीदास ने नीचे की पंक्तियों में व्यक्त किया है—

"मणि माणिक मुकता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुणी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।"[1]

इस प्रकार काव्य की सार्थकता विद्वानों के बीच उसके शोभा पाने में है। अब विद्वानों के बीच शोभा पाने के लिए उसमें क्या गुण होने चाहिए, यह प्रश्न है। तुलसी के मत से ऐसा कवित्व सरल होना चाहिए और निर्मल कीर्ति का वर्णन करनेवाला होना चाहिए किन्तु ऐसी कविता के लिए कवि की बुद्धि का निर्मल होना बड़ा आवश्यक है। तुलसी की पंक्तियाँ देखिए—

"सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर विसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु विमल मति, मोहिं मति बल अति थोर।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में दो बातें स्पष्ट होती हैं एक तो यह कि उत्तम कविता जिसका आदर सज्जन और विद्वान् करते हैं, वह ऐसी सुन्दर एवं सरल होनी चाहिए कि उसकी प्रशंसा विरोधी तक करने लगें। अतः तुलसी अच्छी कविता कठिन नहीं परन् सरल, सर्वजन-सुलभ होना ही उपयोगी मानते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी कविता बिना निर्मल बुद्धि के नहीं होती है, अतः कविता के लिए निर्मल बुद्धि की आवश्यकता है। तुलसी अपने लिए कहते हैं कि मुझ में मति बल थोड़ा है, अतः तर्क के अनुसार वे उत्तम

१. रामचरित मानस बालकांड १० क। १,२,३।
२. " " " १४ क। १०।

कवि नहीं हो सकते हैं। इसी निर्मल बुद्धि के न होने से ही वे अपने को कवि भी नहीं मानते, परन्तु उन्हें निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है और उसके बाद वे अपने को कवि कहने का साहस करते हैं। यह निर्मल बुद्धि शभु के प्रसाद से मिलती है।

"शभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।"

शकर के प्रसाद से तुलसी को रामचरित लिखने की निर्मल बुद्धि प्राप्त हुई क्योंकि शकर रामचरित के सर्वप्रथम लेखक हैं। ऐसे ही और भी किसी की आराधना से निर्मल बुद्धि कवि को प्राप्त हो सकती है, जिसे तुलसी ने शभु कृपा और राम की भक्ति से ही प्राप्त किया था। तुलसी इसके लिए सभी की वन्दना करते हैं क्योंकि राम सभी मव्याप्त हैं —

"सीय राम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।"

अणु अणु राम की व्याप्ति के कारण वन्दनीय हैं। इस सब का अन्तिम निष्कर्ष तुलसी के विचार से कि उत्तम काव्य की प्रेरणा भक्ति है।

भक्ति कालीन ये काव्य सम्बन्धी आदर्श रीतिकाल म जाकर बहुत कुछ बदल गये थे। उस समय काव्य-सम्बन्धी क्या आदश थे? काव्य शास्त्र के कौन सिद्धान्त बरते जाते थे, इन सब बातों पर विचार दूसरे अध्याय म काव्यशास्त्र के इतिहास के अन्तर्गत किया जा चुका है। हिन्दी के रीतिकाल म रीति ग्रथों की भरमार थी, लगभग सभी काव्यशास्त्र के अगों का सहारा लेकर ही काव्य रचना म अपनी लेखनी चलाते थे। कविता नियमों और रूढ़ि से ग्रस्त थी। काव्य सम्बन्धी आदर्शों पर स्वच्छन्दता और उदारतापूर्वक विचार न किया जाता था। सस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रथ ही आधार हो रहे थे। अधिकाश लोगों का प्रयत्न एकसा ही था। अन्तर केवल उदाहरण देने म, या अलकार[१] रस, भाव भेद के क्रम या सख्या मे था। गुण और अलकारों पर ही विशेष जोर दिया जाता था। हाँ, भाषा सम्बन्धी परिष्कार इस युग म खूब हुआ। हिन्दी भाषा का मधुरतम स्वरूप इस काल म निखरा था, विशेषतया ब्रजभाषा का। पहले की भाँति भक्ति भावना प्रव काव्य की प्रेरणा न थी। यद्यपि भावना क रूप म अब भी उसकी व्याप्ति थी। बिहारी ने भी सतसइ के प्रारम्भ म लिखा है

"मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय।"

---

१—अलकारों के विकास का विशेष अध्ययन डा० रामशकर रसाल ने अपने ग्रन्थ अलकार पीयूष और 'Evolution of Hindi Poetics' में किया है।

और देव ने भी :

> "जो मैं ऐसो जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
> एरे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो।
> — — — —
> भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
> राधावर बिरद के वारिधि में बोरतो ॥"

देव ने यद्यपि रीति परम्परा,पर कई ग्रन्थ लिखे जिन पर विचार होचुका है पर स्वच्छन्द रूप से भी देव की कविता का ऊँचा आदर्श था। जैसा कि उनके निम्नलिखित छन्द से पता चलता है :—

> जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ की छाँहीं।
> मोह न जाहि रहै जग जाहिर मोह जवाहिर ता अति चाहीं।
> बानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस आरद सारद के गुन गाहीं।
> सील ससी सविता छविता कवितहि रचै कवि ताहि सराहीं ॥ २४ ॥"

(देवकृत प्रेमचन्द्रिका से।)

इससे स्पष्ट है कि देव उच्च प्रेम, रसार्द्रता, शील और रूप का वर्णन कवि की कविता का आदर्श मानते थे और कवि का आदर्श संसार के विषय विकारों से मुक्त पुरुष के रूप में था यह देव का स्वच्छ विचार कवि और काव्य के आदर्श पर है।

काव्य शास्त्र का आधार लेकर जो ग्रंथ लिखे गए हैं उनके अतिरिक्त काव्यादर्श सम्बन्धी परिवर्तन की छाप अन्य प्रसिद्ध कवियों की उक्तियों-द्वारा भी व्यक्त है। अब 'सरल कवित कीरति विमल सुनि आदरहिं सुजान' का आदर्श न था, अब तो श्लेषात्मक उद्देश्ययुक्त, अर्थ खोजियों को चुनौती देनेवाले, कवित्त का प्रचलन सा हुआ। सेनापति ने कवित्त-रत्नाकर के प्रारम्भ के छन्दों में कहा ही है :—

> "मूढ़न को अगम सुगम एक ताकों, जाकी तीछन विमल विधि बुद्धि है अथाह की।
> कोई है अभंग कोई पद है सभंग सोधि देखे सब बात सम सुधा परवाह की।
> ज्ञान के निधान छन्द कोष सावधान, जाकी रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
> सेवक सियापति को सेनापति कवि सोई, जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की ॥"

इससे स्पष्ट होता है कि सेनापति का कविता आदर्श तुलसी के आदर्श से भिन्न है। केशव की भाँति सेनापति भी अर्थ की क्लिष्टता को कविता का मुख्य तत्व मानते थे, सर्वजन सुलभ नहीं, वरन् तीव्र बुद्धि और काव्याभ्यासी पुरुषों की ही समझ में आ

वाली कविता को ही कविता कहते हैं। इसी कारण वे श्लेषयुक्त कविता करना ही गौरव की वस्तु समझते हैं।

सेनापति काव्यशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार काव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं:—

"दोष सो मलीन गुनहीन कविताई है तौ कीने अरबीन परवीन कोई सुनि है।
बिनु ही सिखाये सब सीखि हैं सुमति जो पै सरस अनूप रस रूप या मैं धुनि है।
दूषन को करियो कवित्त बिन भूषन को जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है।
राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है॥ ३॥
—( कवित्त रत्नाकर )

सेनापति के लिखे छन्द से प्रकट है कि दोष रहित, गुण-युक्त, रस, ध्वनि, अलकार से सम्पन्न कविता को वे उत्तम कविता मानते हैं। इन्हीं विचारों के इनके अनेक कवित्त हैं एक और छन्द देखिए:—

"राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन को, बुध कवि के जो उपकंठहि बसति है।
जो पै पद मन को हरस उपजावत है तजै को कुनर सै जो छंद सरसति है।
अच्छर है बिसद करत ऊखैं आपुस में जाते जगती की जड़ताऊ बिनसति है।
मानो छबि ताकी उदवत सविता की, सेनापति कवि ताकी कविताई बिलसति है॥ ४॥"

उपर्युक्त कथनों से सेनापति के काव्य का आदर्श इस प्रकार प्रकट होता है। कविता दोषों से रहित होनी चाहिए। छन्द और पिंगल के नियमों का पालन करने वाली होनी चाहिए, सेनापति शुद्ध छंद की कविता में बड़ी आवश्यकता समझते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विचार से कविता गुण और अलकारों से भी युक्त हो, साथ ही साथ रस और ध्वनि का भी उसमे समावेश हो। कविता की सफलता इस बात मे है कि उसका एक एक चरण हर्ष और प्रसन्नता को उपजाने वाला हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति का उद्देश्य सस्कृत काव्यशास्त्र का सा है। उनका ध्येय मनोरजन ही अधिक है लोक-कल्याण उतना नहीं।

इस प्रकार भक्ति की स्वाभाविक प्रेरणा, काव्य-कला की गूढ प्रेरणा मे परिणत हुई और चमत्कार, उक्ति विशेष पर बल कविता के लिए रीति काल में आवश्यक समझा जाने लगा। रीति परम्परा से स्वच्छन्द कवि भी चमत्कार और गूढार्थ पर जोर देने लगे। 'सरल कवित' की प्रवृत्ति उठ गई। हाँ, रीति काल के स्वच्छन्द प्रणीतों मे रचना करने वाले

कवियों में प्रेमानुभूति का आदर्श, काव्य का आवश्यक अंग था। घनानंद, अन्य अनेक गुणों के साथ प्रेमानुभूति या प्रेम की पीर का अनुभव अपनी कविता के समझने में आवश्यक मानते हैं —

> "नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औौर सुन्दरतानि के भेद को जानै।
> जोग वियोग की रीति मैं कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
> चाह के रग में भीज्यो हियो बिछुरे मिले प्रीतम साति न मानै।
> भाषा प्रवीन सुछद सदा रहै सो घन जी के कवित बखानै।"

ये भाषा, काव्य विवेक, सौन्दर्य-परख, प्रेम, स्वानुभूति, ये काव्य का मर्म समझने वाले के लक्षण बताते हैं। अत कवि और उसकी कविता में भी इन गुणों का होना आवश्यक है।

सेनापति जहाँ पर अलंकार, गुण, ध्वनि, श्लेष, दोष हीनता आदि पर अधिक जोर देते हैं, वहाँ घनानन्द प्रेम की पीर, अर्थात् स्वानुभूति या कविता के अन्तरंग पर। बिना इसके काव्य का आनन्द, विशेषकर इस प्रकार का जैसा वे लिखते हैं, नहीं उठाया जा सकता। सेनापति के लिये तीक्ष्ण बुद्धि, बौद्धिक प्रयत्न, आवश्यक है, पर घनानन्द के विचार से प्रेम की अनुभूति। दूसरे छन्द में भी इसी प्रकार का काव्य-सम्बन्धी आदर्श व्यक्त है—

> "प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै यहि भाँति की बात छकी।
> सुनि के सब के मन लालच दौरे पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
> जग की कविताई के धोखे रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
> समुझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी।

घनानन्द के काव्य का आदर्श तत्कालीन जग की कविताई से विलक्षण है। इसमें विद्वत्ता और बुद्धि की उतनी अपेक्षा नहीं जितनी प्रेम की पीर की, जिसके बिना 'बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।' इसे न समझने वाले चकित से आश्चर्य चकित होते हैं। यह घनानन्द द्वारा व्यक्त स्वानुभूतिपूर्ण रीतिकालीन अन्य कवियों के आदर्श से भिन्न है। इससे पहले अनुभूति पर जोर देने का काव्यगत आदर्श रह चुका है। जायसी, कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्त कवि भावानुभूति को ही प्रधान मानते थे। अन्तर केवल इतना था कि वहाँ पर ईश्वर प्रेम या राम व कृष्ण प्रेम की अनुभूति मुख्य थी और यहाँ लौकिक प्रेम को भी

कवि अपने भीतर ले लेता है।[1] घनानन्द में अनुभूति की तीव्रता और कलात्मक पटुता दोनों का समावेश है। किन्तु कविता का उद्देश्य इस युग में अधिकांश मनोरंजन ही रहा।

जीवन की प्रगति के साथ कविता का सम्बन्ध टूट गया। सामाजिक आचार-व्यवहार की ओर से कवि की दृष्टि उदासीन थी। लोक कल्याण की ओर कवि की लेखनी न चलती थी। धीरे धीरे रीति प्रवृत्ति के और सघन होने पर कला की बारीकी, शब्दों की खिलवाड़ ही कविता में रह गयी जिसके साथ साथ उसकी ताजगी तिरोहित हो गयी, विषय वही रूढ़िग्रस्त थे। कवि की दृष्टि, संकीर्ण सी लगती थी! मानव-जीवन के अन्तस् को स्पर्श करनेवाले कवि नहीं रह गये थे और न नवीन आदर्शों को सामने रखनेवाले ही। कवि की कविता विलास की सामग्रियों में से एक थी। ये सब बातें धीरे धीरे कविता को जीवन से दूर खींचती जाती थीं और ऐसी कविता के प्रति एक सामान्य अरुचि एवं जन-साधारण की अवहेलना जग रही थी। राजनीतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ धीरे-धीरे काव्यगत उद्देश्यों पर भी प्रभाव पड़ा। परिस्थितियाँ न भी बदलतीं तब भी उसके एकरस होने के कारण परिवर्तन आवश्यक था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि परिवर्तन का स्वरूप कैसा होता। इस परिवर्तन के सीमास्तम्भ, 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र' हैं, जिनके साथ ही आधुनिक काल का प्रारम्भ माना जाता है।

## आधुनिक कालीन काव्यादर्शों के परिवर्तन का प्रारम्भ

रीति-काल में कवि का पद बड़े ही गौरव और सम्मान का पद था। समाज में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसके अन्तर्गत दैवी प्रतिभा का बीज माना जाता था। कवि किसी गुरु के साथ शिक्षा पाता था, काव्यशास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने पर कवि कविता के योग्य समझा जाता था। किन्तु इस आधुनिक काल के प्रारम्भ होते ही आदर्श एवं विचार बदल गए। सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का भी बड़ा प्रभाव

---

१. इन अनेक बातों को लेता हुआ ठाकुर कवि का काव्य-सम्बन्धी आदर्श नीचे की पंक्तियों में व्यक्त है.—

मोतिन की सी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरि नाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै॥
'ठाकुर' सो कवि भावत मोंहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित हरै सो कवित्त कहावै॥

पड़ा। अंग्रेजी साहित्य का सम्पर्क और नये ढंग की शिक्षा के द्वारा नए विचारों से युक्त व्यक्तियों का दल खड़ा हुआ और इसके साथ काव्यगत आदर्शों के परिवर्तन में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन सबसे प्रभावशाली हुआ। इनके द्वारा जहाँ पर समालोचना का प्रारम्भ हुआ वहीं उन्हें कविता के नवीन विचारों के प्रचार और प्रसार का साधन भी बनाया गया। अभी तक सब विचार पद्य में ही रक्खे जाते थे। अब गद्य का भी विकास हुआ और उसके आ जाने से पद्य के विषय सीमित हुए। इस समय काव्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक और कुछ कुछ राजनीतिक सुधारों को लिए हुए था। काव्य की दो धारायें थीं। एक में तो रीति कालीन काव्य के आदर्शों के अनुसार ब्रजभाषा में कविता हो रही थी किन्तु यह धारा धीरे धीरे आगे चलकर क्षीण हो गयी। दूसरी धारा खड़ी बोली और नवीन विचारों को लेकर चली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काव्य सम्बन्धी विचार उदार था। उन्होंने परम्परा से आई हुई विचार-पद्धति और काव्य-धारा की उपेक्षा नहीं की, वरन् उसे भी अपनाये रहे और साथ ही साथ नवीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के कारण उपस्थित परिवर्तन को भी नए उत्साह और स्फूर्ति के साथ आवश्यक स्थान दिया।[१]

यद्यपि मूलरूप से हरिश्चन्द्र का विश्वास पूर्ववर्ती काव्यादर्शों पर ही था, फिर भी उन्होंने सभी शैलियों में लिखा है। प्राचीन काव्य की भक्ति-प्रधान, प्रेम और शृङ्गार-प्रधान तथा अलंकार-प्रधान पद, सवैया, कवित्त, दोहे, कुण्डलियाँ सभी प्रकार की रचनाएँ कीं और नवीन भावना के, भारत की दीन दशा और जागृति के गान भी उन्होंने गाये।

बाबू ब्रजरत्नदास के कथनानुसार हरिश्चन्द्र नवरसों के अतिरिक्त वात्सल्य, सख्य, दास्य और आनन्द चार और रसों को मानते थे जिसका उल्लेख ताराचरण तर्करत्न-द्वारा काशीराज की इच्छानुसार लिखे गए संस्कृत ग्रन्थ, 'शृङ्गार रत्नाकर' में है।[२] प्राचीन काव्य में उनकी रुचि गहरी थी, वरन् उनके हृदय का सम्पादन तो उसी से था फिर भी वे लोक प्रेरणा और नवीन जागृति की ओर से आँखें न मूँद सके। उनकी प्राचीन काव्य के प्रति अभिरुचि आगे के कथन से स्पष्ट होती है।

---

१. देखिये लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृष्ठ १२१, १२२, १३५।

२ हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्य सख्य भक्त्यानन्दाख्यमधिकं रसचतुष्टयं मन्यते।"

—देखिए ब्रजरत्नदास कृत, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ, २३५।

"यों ही शृङ्गार रस में भी वे अनेक सूक्ष्म भेद मानते थे जैसे ईर्ष्या भाव के दो भेद, विरह के तीन, शृङ्गार के पचधा, नायिका के पाँच और गर्विता के आठ, यों ही कितने ही सूक्ष्म भेद जिनको तर्क रत्न महाशय ने सोदाहरण इनके नाम अपने उक्त ग्रन्थ में मानकर उद्धत किये हैं।"[1]

दूसरी धारा परिवर्तन और विकास को लेकर चली। इसके अन्तर्गत अनेक नवीन प्रवृत्तियाँ आई जो इस प्रारम्भिक परिवर्तन के समय उतनी नवीनता और जोश लेकर चलती न दिखाई पड़ी, जितनी कि थोड़े समय बाद की प्रवृत्तियाँ। इस समय नवीनता के फलस्वरूप नीचे लिखी काव्य की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं :—

'देश प्रेम, सामाजिक सुधार, प्राचीन गौरव, प्रकृति वर्णन तथा नवीन हास्य विनोद, व्यंग्य आदि। इन वर्णनों में शैली की नवीनता भी दीखती है। अधिकतर इनमें खड़ी बोली और नवीन छन्दों का प्रयोग है।

हरिश्चन्द्र के समय में, विशेषतया उस समाज में जिस पर हरिश्चन्द्र का प्रभाव स्पष्टतया गहरा था, यह विश्वास सुदृढ़ था कि गद्य की भाषा, पद्य की भाषा से स्वाभाविक भिन्नता रखती है। गद्य की भाषा के लिए तो खड़ी बोली का उपयोग होता था, पर समाज-सुधारक उद्देश्यों को छोड़कर आनन्ददायी काव्य के लिए प्राचीन प्रयुक्त भाषाओं, विशेषतः ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया जाता था। उस समय हिन्दी की अनेक पत्रिकायें निकलीं जिनमें 'कविवचनसुधा', 'आनन्द कादम्बिनी', 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' जनता में विशेष प्रसिद्ध थीं जिन्होंने हिन्दी के प्रचार में बहुत अधिक कार्य किया। इनमें खड़ी बोली में कविता का स्वरूप धीरे धीरे दृढ़ता प्राप्त कर रहा था। काव्यशास्त्र-सम्बन्धी नियमों की ओर विशेष ध्यान न देकर स्वच्छन्दता पूर्वक कविता लिखी जा रही थी, कुछ कवि जैसे श्रीधर पाठक, प्रतापनरायण मिश्र, बदरीनारायण 'प्रेमघन' आदि परम्परागत ढग को छोड़कर अवसर विशेष के लिये उपयुक्त नवीन ढग से कवितायें भी लिखते थे जो उस समय के लिए बड़ी उपयुक्त होती थीं, किन्तु उनमें काव्यशास्त्र की दृष्टि से जिसका प्रभाव इसके पहले था कोई विशेष बात न थी। भारतेन्दु[2] के समान बहुतों का विश्वास यद्यपि यह था कि खड़ी बोली की कविता

१. देखिए ब्रजरत्नदास कृत भारतेंदु हरिश्चन्द्र पृष्ठ २८१।

२. "आप लोगों को ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रजभाषा ही है और दूसरी भाषाओं की कविता इतना चित्त नहीं पकड़ती।" भारतेन्दुकृत 'हिन्दीभाषा' पृ० ११, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर।

ब्रजभाषा की भाँति मधुर नहीं होती, किन्तु कुछ ऐसे थे जो उसमें धीरे धीरे मधुरिमा ला रहे थे। आगे चलकर प० श्रीधर पाठक म खडी बोली की स्वच्छन्द प्रकृति का दर्शन होता है।

इस समय भाषा और भाव प्रकाशन के माध्यम का प्रश्न महत्व का न था, पर नये विषयों पर लिखने की एक सामान्य प्रवृत्ति सी चल पडी थी। इन नवीन विषयों के अन्तर्गत समाज-सुधार, देश प्रेम और[1] पूर्वगौरव गान, भारतदुर्दशा[2], हिन्दी प्रचार[3] और प्रकृति के वर्णन[4] थे। इनके अन्तर्गत कला का कोई प्रयत्न नहीं दीखता, केवल भावों का छन्दोबद्ध रूप में प्रकट करना ही प्रधान उद्देश्य था। हिन्दी-साहित्य में लौकिक जीवन की दैनिक समस्याओं को लेकर इस रूप में कविता कभी नहीं लिखी गई थी। यह परिवर्तन, नवीन सस्कृति एव साहित्य के सम्पर्क के साथ-साथ दासता के भाव का अनुभव करने के कारण दिखलाई देता है। भाषा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कभी कभी एक ही कवि ब्रज और खड़ी बोली दोनों भाषाओं का विषय के अनुसार प्रयोग करता है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

---

१. "इस भारत में वन पावन तू ही तपस्वियों का तपआश्रम था।
जग तत्व की खोज में लग्न जहा ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था।
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा वनवास की थी तब और प्रभाव पवित्र अनूपम था।
(श्रीधर पाठक)।

२. तबहि लख्यौ जह रह्यो एक दिन कचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत।
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैमेहु नाहीं।
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन भारन।
तह तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन॥ 'क्रन्दन'॥ प्रतापनारायण मिश्र

३. निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥ भारतेन्दु

४. विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा।
बालशशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द नभ नील।
सुविशाल नभ पृष्ठ पर जा रहा था चढ़ा॥

—एकान्त अटन, श्रीधर पाठक

"इन कवियों में से अधिकांश तो दो रंगी कवि थे जो ब्रजभाषा में तो शृङ्गार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता, कवित्त, सवैयों या गेय पदों में करते जाते थे और खड़ी बोली में नूतन विषय लेकर चलते थे। बात यह थी कि खड़ी बोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य प्रवाह के लिये कुछ नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण-सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रहकर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी, पर गहराई के साथ नहीं।"[१]

इस प्रकार इस काल में परिवर्तन और विकास यथार्थ में भाषा में है, पर उतना नहीं जितना विषय निर्वाचन में।[२] यह विषय निर्वाचन निराकुल स्वतन्त्र था। जैसा कि कहा जा चुका है जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों को कविता का विषय बनाया गया। जहाँ कविता के विषय स्वतन्त्र थे वहीं उसके साथ भाषा के प्रयोग में भी स्वतन्त्रता थी। भाषा और भाव-प्रकाशन-सम्बन्धी प्राचीन नियमों का पालन तो होता न था, नवीन नियमों को बनाने वाले आचार्य नहीं हुए थे किंतु उसके बाद खड़ी बोली के साथ-साथ यह परिवर्तन के रूप में आया जिसे आधुनिक परिवर्तन का प्रथम चरण कह सकते हैं। पं० रामचद्र शुक्ल इस विषय में लिखते हैं—

"हरिश्चद्र के सहयोगियों में काव्यधारा के नये नये विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखलाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यञ्जना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन हुये। इस प्रकार स्वच्छंदता का आभास सबसे पहले पं० श्रीधर ने दिया। उन्होंने प्रकृति को रूढ़िबद्ध रूपों तक ही सीमित न रखकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा।"[३]

पं० श्रीधर पाठक में जिस प्रवृत्ति का प्रथम चरण देखने को मिलता है, पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसको स्वच्छन्दतावाद का नाम दिया जिसके अन्तर्गत अपनी अनुभूति के

---

१ देखिए पं० रामचद्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७११।

२. "भारतेंदु युग भाषा और शैली की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इस समय कवियों का ध्यान भाषा की ओर न होकर नवीन, भावना की ओर अधिक था। अत इस युग का वास्तविक महत्व नवीन चेतना की जागृति है।"

—डा० केशरी नारायण शुक्ल कृत आधुनिक काव्यधारा, पृ० १०४

३. देखिए शुक्ल जी का हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७२८।

अनुसार स्वतंत्रता-पूर्वक प्रकृति या मानव भावनाओं का वर्णन आता है। इसी को सम्भवत: डा० श्रीकृष्णलाल ने शब्दों के मित-प्रयोग के कारण 'स्वच्छन्दवाद'[१] कहा है।

भारतेन्दु युग की एक विशेषता गद्य का विकास है यद्यपि कविता में बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई देता, पर एक बड़े परिवर्तन की नींव इस समय पड़ गयी थी। जैसे पाश्चात्य प्रणाली पर शिक्षा का प्रचार बढ़ा वैसे ही साहित्य में नवीनता देखने की इच्छा भी जनता के हृदयों में प्रबल हो उठी। गद्य का शीघ्र विकास बहुत कुछ अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क का ऋणी है और दूसरा परिणाम इस सम्पर्क का यह हुआ कि हमारी सांसारिक जीवन के प्रति अभिरुचि जाग्रत हुई। मनुष्य और मानसिक जीवन को समझने की जिज्ञासा प्रबल हो उठी। इन्हीं दो बातों ने प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति विद्रोह खड़ा करके नवीन दृष्टिकोण और नए आदर्शों का बीज बोया, जिसको विकास देने में आगे के कवियों और लेखकों ने महत्वपूर्ण योग दिया।

इस विषय में "बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी साहित्य का विकास" ग्रन्थ का नीचे लिखा उद्धरण द्रष्टव्य है :—

"आधुनिक कवि जो स्वयं शिक्षित जनता के व्यक्ति थे, इस बात का अनुभव करने लगे कि उनके पूर्ववर्ती कवि पथभ्रान्त हो गये थे। उन्होंने उनके संकुचित दृष्टिकोण का विरोध किया। कालिदास, भवभूति, वाल्मीकि और व्यास आदि के संस्कृत काव्यों के अनुशीलन से उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि मनुष्य केवल नायक ही नहीं है और न उसका समस्त जीवन नायिकाओं के हास विलास तक सीमित है। मनुष्य, समाज का एक जीवित व्यक्ति है, वह अपने कर्तव्य-पालन में अपनी प्रियतमा पत्नी का परित्याग कर सकता है और निर्वासन की यातनाओं को सहर्ष सहन कर सकता है। अस्तु आधुनिक कवि जिन्हें मानव जीवन को समझना और उसकी भावपूर्ण व्यंजना करना अभीष्ट था, रीति कवियों के संकुचित दृष्टिकोण का विरोध और बहिष्कार करने लगे।"[२]

इस मानव जीवन को समझने और उसको चित्रित करनेके साथ ही इस युग में जो प्रधान प्रवृत्ति देखने को मिलती है वह है[३] यथार्थवाद। इस विषय में यह स्मरण रखना

---

१. ,, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास डा० श्री कृष्णलाल।

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ३१।

३. "यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के

चाहिए कि यह यथार्थवादी प्रवृत्ति केवल अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क की ही देन नहीं है, वरन् यह उसके ठीक पहले गतानुगतिक पथ पर चले जाने वाले साहित्य की प्रतिक्रिया स्वरूप भी उत्पन्न हुई थी। यथार्थवाद मनुष्य के देव-दुर्लभ कार्यों में अविश्वास ही नहीं रखता, वरन् मनुष्य की असफलताओं और दुर्बलताओं[1] से भी प्रेम करता है। अब कविता का आदर्शवादी स्वरूप नहीं रह गया था अब तो धीरे धीरे आगे चलकर देवताओं और अवतारों के चरित्र भी मनुष्यों के समान चित्रित किए गए, प्रियप्रवास, साकेत आदि इसके उदाहरण हैं।

इस यथार्थवाद का चित्रण भारतेन्दु काल में दो रूपों में देखने को मिलता है। १—जीवन के यथातथ्य चित्रण में और २—राष्ट्रीय दासता के वर्णन में। ये दोनों बातें उस समय की रचनाओं में मिलती हैं। हरिश्चन्द्र की प्रेमयोगिनी, नीलदेवी, भारतदुर्दशा नाटकों तथा प्रतापनारायण मिश्र,[2] श्रीधर पाठक,[3] प्रेमघन[4] और

---

लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया किन्तु श्री-हरिश्चन्द्र का सजाया यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।"

'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', जयशंकर प्रसाद पृ० १३८।

और भी देखिए 'आधुनिक काव्य धारा', डा० केसरीनारायण शुक्ल पृ० १०५।

१. "दैवी शक्ति से तथा महत्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, सकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युग वाणी में प्रकट होने का अवसर मिला।"

'काव्य कला और अन्य निबन्ध' का यथार्थवाद व छायावाद लेख पृ० १६८।

२. सब तजि गही स्वतन्त्रता, नहि चुप लातें खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाँव ॥ २० ॥

—प्रतापनारायण मिश्र, लोकोक्ति संग्रह पृष्ठ ३।

३ जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द, जय जयति जयति प्राचीन हिन्द।
हिन्द अनूपम अगम बन, प्रेम बेल रस पुंज,
श्रीधर मन मधुकर फिरत, गुंजत नित नवकुंज।

—हिमवदना, पृष्ठ ४८।

४. अचरज होत तुमहु सम गोरे बाजत कारे, तासों कारे कारे सब्दहु पर हैं वारे।
कारे काम, राम जलधर जल बरसन वारे, कारे लागत ताही सों कारेन को प्यारे।

हरिश्चन्द्र[1] की कविताओं में से व्याप्त है। हम देखते हैं कि धीरे धीरे राष्ट्रीय जागृति बढ़ती जाती है, देश-प्रेम की भावना बद्धमूल हो गई है और उसके साथ ही साथ समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन के आदर्श भी दीख पड़ते हैं। अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन, राधाकृष्णदास आदि लगभग सभी कवियों की रचनाओं में ये बातें मिलती हैं। भारतेन्दु युग में स्वच्छन्दवादियों के जीवन का यथार्थ चित्रण काव्य का नवीन आदर्श बन रहा था।

## द्विवेदी कालीन काव्यादर्श

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में काव्य-परम्परा में परिवर्तन दीख पड़ता है, पर काव्य-शास्त्र की वही प्राचीन परम्परा ही चलती है। न कवियों की कविता में और न स्वतंत्र रूप से ही कवियों के काव्य-सम्बन्धी व्यापक सैद्धांतिक विचार देखने को मिलते हैं। हिंदी भाषा के गौरव का मान अवश्य देखने को मिलता है। भारतेन्दु ने अपने 'हिन्दी लेक्चर' में मातृभाषा की उन्नति को सर्वोपरि स्थान दिया।[2] परिवर्तित विचार धारा के स्वच्छन्द और पुष्ट काव्यदर्शन बाद को ही मिले जिस समय कि 'सरस्वती' पत्रिका का प्रारम्भ हो चुका था और पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तथा कवि-शिक्षा के लेखों-द्वारा प्रभावित कवि खड़ी बोली में रचना प्रारम्भ कर चुके थे। परन्तु उस समय भी काव्यशास्त्र पर कवियों के लेख कम हैं। कविता में ही परिवर्तन दीख पड़ता है। स्वच्छन्द विचार जो इधर उधर मिलते हैं उनसे व्यक्तिगत तथा समयगत काव्यादर्शों का थोड़ा बहुत स्पष्टीकरण होता है। सरस्वती में, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'सत्कविता पर बातचीत' नामक लेख में काव्य-सम्बन्धी कुछ बातों का विवरण है, जिससे काव्य-सम्बन्धी अधिक व्यापक सिद्धान्त स्पष्ट न होकर साधारण परिवर्तित आदर्श ही स्पष्ट होना

---

यहे असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे, सफल होहि मन के सब ही संकल्प तुम्हारे ॥

—दादा भाई नौरोजी के काले कहे जाने पर, प्रेमघन।

१. "हाय पंचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत,
हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी ॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली खंड २, पृष्ठ ८०४।

२. कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परम्परागत पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेन्दु काल में न हुआ।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७७५।

है। भाषा, छन्द और विषय-सम्बन्धी उदार विचार इस लेख से स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए अग्रलिखित उद्धरण दिया जाता है।

"सुकवि—अच्छा, उत्तम रसिक की सम्मति में उत्तम कविता की भाषा कौन सी होनी चाहिये ?

रसिक—उड़िया, तैलगी, गुजराती, मारवाड़ी, पेशावरी, खड़ी, पड़ी, बैठी कोई भी हो, परन्तु जो भाषा हो अपनी प्रभा के अनुसार स्वच्छन्द हो। शब्दों का सौन्दर्य जितना अधिक होगा, उतनी ही कविता रोचक होगी, परन्तु शब्द-सौन्दर्य के लिए अर्थ बिगड़ने न पावे।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भाषा के विषय में रूढ़िगत विचार न था। भाषा में शब्दों का सौंदर्य शब्दों के चुनाव पर निर्भर है, पर यह शब्द का चुनाव व्यर्थ न हो सार्थ हो। अर्थ-गाम्भीर्य ही कविता की प्रमुख विशेषता है। इसी प्रकार—

"सुकवि छन्द कौन सा हो ?

रसिक कोई भी। परन्तु जो हो उसका निर्वाह अच्छी तरह हो।"

यहाँ पर छन्द के सम्बन्ध में रूढ़ि भावना नहीं कि ब्रजभाषा का सवैया अथवा छप्पय या कोई एक विशेष छद हो, पर छद की आवश्यकता अवश्य मानी गई है। अंत में विषय सम्बधी उल्लेख इस प्रकार है, रसिक कहता है :—

"मतलब यह है कि ऐसा कोई विषय नहीं है जो काव्य का विषय न हो सके। वेदांत ऐसा कठिन विषय भी समर्थ कवि के पाले पड़कर रोचक हो चुका है। श्री शंकराचार्य का 'विवेक चूड़ामणि' इस बात का उदाहरण है। परंतु महाशय, काव्य और वस्तु है और 'रिफार्मरी' और वस्तु है। काव्य सार वस्तु होती है। रस या आनंद जो अनेक विषयों के आधार पर हो सकता है, रिफार्म के विषय उसके लिए परित्याज्य नहीं हैं। पर इतना मैं और कहूँगा कि काव्य के गुणों के साथ उसका विषय भी उपयोगी हो तो सोने में सुगंध हो।" (सरस्वती, भाग ७, स० १, पृष्ठ ३६५, ६६।)

इसी प्रकार यत्र तत्र साधारण विचार मिलते हैं जिससे काव्य-सम्बंधी अधिक गम्भीर उद्देश्य व्यक्त नहीं होता है। सरस्वती भाग १०, स० ७, पृष्ठ ३०४ में रामचरित उपाध्याय की 'कवि और काव्य' शीर्षक कविता में भी दो एक पंक्तियाँ ही काम की हैं और विचार नितांत साधारण हैं। कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

"स्तुति से, गुण से, रस से अलंकृता भी तथा अलंकृति से।
कविता हो या वनिता, दोनों सब को लुभाती हैं।

.... .. ... ..

नवरत्नों को नव रस कवि कहते हैं सभी सुकाव्यों में।
भूल रहे हैं वे जो पत्थर को रत्न कहते हैं।"

—( सरस्वती भाग १०, सं० ७, पृष्ठ २०४। )

इसमें सुंदर काव्य या कुछ गौरव वर्णित हुआ है। कविता के नवरस, नवरत्नों से बढ़कर हैं और कविता गुण, रस से युक्त होने पर भी अलकृत होनी चाहिए। ये विचार प्राचीन हैं इनमें कोई भी अनुभव की नवीनता और विशेषता नहीं मिलती।

कविता में केवल मनोरंजन नहीं वरन् उचित उपदेश भी होना चाहिए। कवि की यथार्थ सामर्थ्य की अवहेलना इस बात से होती है कि अब हम उसे केवल मनोरंजन के लिये ही कविता की रचना करने वाला व्यक्ति समझते हैं। कविता सद्भावों को जीवित रखने वाली है और उसमें यह भी शक्ति है कि वह किसी मृत-जाति को जीवित कर सकती है। कविता की और कवि की इस प्रकार की शक्ति का संकेत श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की 'भारत भारती' की पंक्तियों में मिलता है जैसे :—

'केवल मनोरंजन न कवि का होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

इसी प्रकार।

"सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना"[1]

सुकविता सद्भावों की सृष्टि भी करती है, अपनी शक्तिमयी शब्दावली के द्वारा उन्हें स्मरणीय बनाती है और जीवित भी रखती है। जीवित रखना इस प्रकार से नहीं जैसे कि जंगल के उपेक्षित ढाक के पेड़, वरन् कविता सद्भावों का इस प्रकार जीवित रखती है जिस प्रकार कि कोई अपने सुघर और होनहार बालक को जीवित रखता है। सभी उसे चाहते हैं और प्यार करते हैं। इसी प्रकार से सुकविता गत भाव हैं। अत सद्भावों को जीवित, लालित और अमर बनाने के लिए कविता की परम आवश्यकता है, ऐसा गुप्त जी का विचार है। वे इस बात को भली भाँति समझते हैं कि साहित्य का किसी जाति के साथ क्या सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध का महत्व समझते हुए ही, कुवासनाओं को उद्दीप्त करने वाली कविता का वे विरोध करते हैं :—

"मृत हो कि जीवित जाति का साहित्य जीवन चित्र है।
वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह जाति भी अपवित्र है।

१. भारत भारती पृष्ठ १७१, १७२।

जिस जाति का साहित्य था स्वर्गीय भावों से भरा।
करने लगा अब वस विषय के विष विटप को वह हरा।"[1]

अतः यह स्पष्ट है कि काव्य के सम्बन्ध में गुप्त जी की भावना पूत है और वे काव्य का प्राचीन पवित्र आदर्श ही मानना चाहते हैं। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा इस आदर्श का अनुभव भी किया है। सभी काव्यों में सद्भाव और उच्चादर्श के साथ प्राचीन गौरव का गान है। गुप्त जी 'भक्ति' को काव्य की व्यापक प्रेरणा भी मानते हैं यद्यपि उसका प्रकाशन उन्होंने तुलसी की भाँति बहुत ही स्पष्ट शब्दों में नहीं किया फिर भी वह 'साकेत' में लिखित, इन पंक्तियों से प्रकट होता है :—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है॥

यहाँ पर उद्देश्य और संकेत राम के साधारण चरित्र की ओर नहीं है। वे उस चरित्र की ओर हैं जो भक्त के हृदय में है, क्योंकि गुप्त जी राम के भक्त हैं, राम चाहे जो कुछ भी हों। वे कहते हैं :—

"राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें।
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।"

—साकेत।

वे निरीश्वर हो सकते हैं पर राम विहीन नहीं। अत: उनका काव्य-सम्बन्धी आदर्श भी भक्त का आदर्श है। इसी पवित्र और उच्च आदर्श का निर्वाह उनकी सम्पूर्ण कविता में हुआ है। स्वयं द्विवेदीजी कविता को अलौकिक आनन्द देने वाली मानते हैं, उनका काव्यादर्श संस्कृत आचार्यों का सा है।[2]

---

१. भारत भारती, पृष्ठ १२०।

२. सुरम्य रूपे! रसराशिरंजिते! विचित्र वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानन्द विधायिनी महाकवीन्द्रकान्ते! कविते! अहो कहाँ? २६१॥
सुरम्यता ही रमणीय कान्ति है, अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे!
शरीर तेरा सब शब्दमात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही यही॥ २६४॥

—द्विवेदी काव्यमाला।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के समय खड़ी बोली की कविता को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की कविता को प्रोत्साहन और विकास इसी समय मिला। पर खड़ी बोली की द्विवेदी जी द्वारा प्रतिष्ठित शैली को न अपनाने वाले एक समुदाय की कविता ने खड़ी बोली का भंडार भरा है और द्विवेदी जी की स्पष्ट उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया-स्वरूप सांकेतिक, कलात्मक और कल्पनात्मक सूक्ष्म भावों को लेकर चलने वाले लोगों की रचना का प्रवाह भी वेग से बहा। ये छायावादी कवि कहलाये और प्रसाद जी इनके अग्रणी थे। इनकी शैली और विचार-धारा में कुछ नवीनता थी और कुछ प्राचीन परिपाटी का विरोध भी। अतः आचार्यों के आक्षेपों के उत्तर रूप तथा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए इन्हें काव्य सम्बन्धी अनेक बातों पर प्रकाश डालना पड़ा। यही कारण है कि जहाँ हमें श्री मैथिलीशरण जी के काव्यादर्श-सम्बन्धी विचार उनकी काव्यरचनाओं में यत्र तत्र आई पंक्तियों में ही प्राप्त होता है, वहाँ सर्व श्री जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि के अपने अथवा समुदाय के काव्यादर्श-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण, करने वाले निबन्ध अथवा भूमिकाएँ मिलती हैं। इसका दूसरा कारण विनम्रता अथवा व्यक्तिगत स्वभाव भी हो सकता है, पर प्रधान कारण इन लोगों का यही रहा। अतः इन कवियों के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विचार भी जहाँ जो मिलते हैं, बड़े ही रोचक हैं। इसके आगे के पृष्ठों में वर्तमान-कालीन कवियों के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर क्या विचार हैं, इसका अध्ययन किया जायगा। इस स्थिति में हमें काव्यशास्त्र के कुछ अंगों की धारणा में क्या विकास एवं परिवर्तन हुआ है, इसका अध्ययन कर चुके हैं, पर अब उस सम्बन्ध में क्या धारणा है, इसका अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

## २. काव्यशास्त्र सम्बन्धी आधुनिक धारणायें

चतुर्थ अध्याय में द्वितीय खंड के अन्तर्गत जिन विचारों पर प्रकाश डाला गया है, वे विद्वानों के विचार हैं जिन्होंने प्राचीन काल से चले आते हुए काव्यशास्त्र के अनेक विषयों से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन कर उनका स्वरूप प्रकट करने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि इन विचारों का कुछ अंशों में वर्तमान कवि और कविता पर प्रभाव भी पड़ा है। पर काव्यशास्त्र के विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के लिए समझने के निमित्त अधिक काम के हैं, कवि की रचना और उसकी स्वच्छन्द एवं मौलिक धारणा पर प्रभाव उतना नहीं डाल पाते हैं। इसी कारण इन विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना के बाद भी हमें, कवियों की दृष्टि से काव्य का क्या स्वरूप है, उसका क्या प्रयोजन है, उसके क्या उपकरण हैं, उन उपकरणों का क्या स्वरूप है, और होना चाहिए, तथा अन्य काव्य-सम्बन्धी सिद्धांतों में कौन सत्य और असत्य है, काव्य सम्बन्धी और अनेक क्या समस्यायें हैं, काव्य की क्या प्रेरणायें हैं, आदि बातों पर विचार करना आवश्यक है।

इस अध्ययन की सामग्री और आधार, कवियों के इन विषयों पर निजी विचार, एवं उनकी काव्य-सम्बन्धी रचनायें हैं, जिनके आधार पर काव्यशास्त्र के आधुनिक स्वरूप का भवन खड़ा किया गया है। आगे की पंक्तियों में आधुनिक कवियों के विचारों का यथातथ्य समावेश, उन्हीं के दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या के साथ साथ करके, अन्त में उससे उद्भूत निष्कर्ष को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा। इन अनेक विषयों पर छायावादी, स्वच्छन्द एवं प्रगतिवादी प्रमुख कवियों का ही दृष्टिकोण दिया गया है, जो कि अपने युग और वर्ग के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। और इनमें भी जिन विचारों में नवीनता है, उन्हीं का विशेष उपयोग किया गया है। इसके लिए आवश्यक का ही संकलन हुआ है, सबका उपयोग नहीं। इस विषय में सबसे पहले हम कविता के स्वरूप पर प्राप्त विचारों का अध्ययन करेंगे।

### काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप के विषय में वर्तमान कालीन लेखकों की धारणायें, लौकिक, आध्यात्मिक रहस्यवादी, आदर्शवादी, यथार्थवादी, चमत्कारवादी, प्रगतिवादी आदि अनेक रूपों और शैलियों में व्यक्त हुई हैं। छायावादी कवियों की धारणाएँ प्रायः आदर्शात्मक, रहस्यवादी और आध्यात्मिक हैं और उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वच्छन्द आधुनिक कवि उसे

यथार्थवादी और प्रगतिवादी रूप देते हैं। तथ्य तो यह है कि प्राचीनकाल से लेकर अब तक काव्य का स्वरूप अनिश्चित सा चला आ रहा है। कोई काव्य के स्वरूप का निर्णय अभिव्यक्ति सौष्ठव-द्वारा करता है,[1] तो कोई भाव द्वारा,[2] कोई कल्पना और सूक्ष्म अथवा ऊहा को प्रधान मानता है[3] तो दूसरा जीवन की व्याख्या[4] और प्रेरणा को काव्य का सार बताता है। कोई संगीत और छन्द काव्य के लिए अनिवार्य मानता है, तो दूसरा स्वाभाविक,[5] आडम्बर विहीन भावपूर्ण प्रकाशन को ही काव्य का प्रधान अंग समझता है। अतः इसके लिए भी कहा जा सकता है कि "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।" जितने ही मुँह हैं उतनी ही बातें हैं। ऐसी दशा में काव्य के स्वरूप के विषय में कोई भी निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं ठहर सकता। फिर भी यदि हम वर्तमान काव्य को देखें तो उसमें हमें काव्य स्वरूप विषयक, दो धारणायें ही अधिक बद्ध मूल देखने को मिलती हैं। प्रथम तो उस समुदाय की धारणा है जिसे हम 'छायावादी' कह सकते हैं और दूसरी उस समुदाय की जिसे हम 'प्रगतिवादी' कहते हैं। छायावादी समुदाय की धारणा आध्यात्मिक, काल्पनिक और व्यक्तिगत होने के साथ साथ अभिव्यक्ति-कौशल तथा कलात्मक प्रकाशन पर जोर देती है, जब कि प्रगतिवादी समुदाय काव्य को सर्वजन-सुलभ, जीवनोपयोगी और व्यावहारिक बनाना चाहता है। प्रगतिवादी समुदाय का स्वरूप अभी अपनी अन्तिम रेखा नहीं खींच सका है, उसकी धारणा और स्वरूप अभी अधूरे हैं और प्रतिभावान् प्रगतिवादी कवि के अभाव में प्रगतिवादी काव्य के लक्षण तो अधिक मिलते हैं पर उदाहरण कम। हाँ, एक बात और है कि प्रगतिवादी काव्य के उदाहरण यही स्पष्ट करते हैं कि धीरे धीरे कविता गद्य के स्तर पर आ रही है और यह निम्नगति केवल प्रसाद गुण प्रेरित नहीं वरन भाव और कल्पना की हीनता के भी कारण है। उदाहरण लक्षणकारों की धारणा से कम मेल खाते हैं।

छायावादी समुदाय की धारणा को स्पष्ट करने के लिए हमें छायावाद के प्रमुख कवियों के विचारों का अध्ययन करना आवश्यक है और इस दृष्टि से सर्व श्री जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, पन्त, निराला आदि के कविता-सम्बन्धी विचार महत्व के हैं।

---

१. ध्वनि तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त को मानने वाले आचार्य।

२. रस सिद्धान्त के अनुयायी।

३. अलंकारवादी, तथा छायावादी।

४. यथार्थवादी।

५. प्रगतिवादी।

साथ ही साथ यह जानना भी अभिप्रेत है कि इनकी धारणायें परस्पर कहाँ तक साम्य और कहाँ तक विषमतायें रखती हैं और प्रगतिवादी कवियों में भी पन्त, निराला, दिनकर आदि के विचार समीचीन हैं।

काव्य की परिभाषा देते हुए प्रसाद जी ने लिखा है, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प, या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।'[1] इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है "विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभयलक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" इस प्रकार जयशंकर प्रसाद के विचार से काव्य सत्य की ही अनुभूति है। और उनकी धारणा आध्यात्मिक धारणा है। रचयिता की दृष्टि से इसका महत्व अधिक है। इस परिभाषा पर अधिक विचार करें तो परिभाषा सर्वमान्य न होकर केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही स्पष्ट करती है।

पहली बात यह है कि काव्य को हम अनुभूतिमात्र ही नहीं मान सकते। हमारे साहित्य-भंडार में भरा हुआ विशेषोक्ति, लक्षणा और अलंकार को लेकर चलने वाला समस्त काव्य, अनुभूति के रूप में नहीं है। इसलिए यह लक्षण केवल काव्य के एक अंग पर ही लागू होता है। "आत्मा की अनुभूति" शब्द पर भी आक्षेप किया जा सकता है। अनुभूति का सम्बन्ध शरीर या हृदय से ही हो सकता है, आत्मा की अनुभूति कैसी? इस शंका का समाधान हम यों कर सकते हैं कि काव्य की अनुभूति आनन्दमय ही है, साधारण अर्थ में अनुभूति, दुखमयी और सुखमयी भी होती है, पर आत्मा का अनुभव सब आनन्दमय ही है। इसलिए आत्मा की अनुभूति, रसात्मक अनुभूति का अर्थ देती है। अब रहा 'संकल्पात्मक' विशेषण। सकल्प और विकल्प ये मन के लक्षण हैं जैसा कि प्रसाद ने स्वयं ही कहा है।[2] अनुभूति संकल्पात्मक या विकल्पात्मक नहीं हो सकती। अनुभूति संकल्पात्मक ही होती है अतः संकल्पात्मक शब्द व्यर्थ ही जान पड़ता है।

श्रेयमयी प्रेम ज्ञान धारा भी सदा ही काव्य नहीं हो सकती। श्रेयमयी प्रेय अनुभूति-धारा काव्य हो सकती है। अतः इस परिभाषा की सर्वमान्यता प्रमाणित नहीं हो पाती। पर

१. देखिए काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १७।

२. देखिए काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १७।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि प्रसाद जी की धारणा काव्य के विषय में आध्यात्मिक और भावात्मक है। सकल्पात्मक अनुभूति श्रेय और प्रेय से युक्त होकर काव्य बनती है। सत्य का समावेश श्रेय और प्रेय के रूप में काव्य में आवश्यक मानकर उन्होंने काव्य का यथार्थता से भी सम्बन्ध स्पष्ट किया है। सम्भवत प्रसाद जी का विचार यह है कि सत्य का विकल्प एव विश्लेषणात्मक प्रकाशन, विज्ञान और दर्शन आदि के भीतर है, पर सत्य का सकल्पात्मक प्रकाशन काव्य है। इस प्रकार केवल दर्शन या विज्ञान से काव्य का भेद स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि एक फूल की पखुडियाँ, रगों आदि का विश्लेषण वैज्ञानिक सत्य के अन्तर्गत है—भौतिक सत्य के अन्तर्गत है; पर उसके आकार रग आदि के सौन्दर्य की अनुभूति का प्रकाशन काव्य के भीतर है। यह सौन्दर्यात्मक सत्य है जो काव्य के क्षेत्र में व्याप्त रहता है।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने सकल्पात्मक मूल अनुभूति को अपना अभिप्राय बनाया है उनका कथन है "सकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में सकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है" और वे आगे लिखते है "कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि सकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण है, इसके क्या प्रमाण है?"[१]

इसका उत्तर वे युग की सामूहिक चेतना के भीतर सदा ही प्रेय और श्रेय होने की बात कहकर देते हैं। यहाँ प्रसाद जी की एक और धारणा स्पष्ट होती है। वे सत्य को सदैव ही चारुत्व युक्त मानते है पर उस चारुत्व का ग्रहण हमारी अपरिष्कृत मनः शक्ति नहीं कर पाती। परिष्कृत मन वाले भक्तों की साधारण अनुभूति में ही काव्य का आनन्द छिपा रहता है। मनन शक्ति की असाधारण अवस्था के द्वारा प्रसाद का, कवि की जन्म-जात या साधना-प्रसूत, असाधारण प्रतिभा पर भी कुछ विश्वास जान पड़ता है।

सत्य की अनुभूति की विविधता का कारण स्पष्ट करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है कि एक ही सत्य का प्रतिबिम्ब, भिन्न भिन्न सस्कारों पर भिन्न भिन्न अनुभूतियाँ उठाता है। इस प्रकार काव्यानुभूति की विविधता के मूल कारण सस्कार पर उनका विश्वास भी प्रकट है। प्रसाद जी का विचार है'—

---

१. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १८।

"संस्कार का, सामुहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है।"[1] "संस्कृति सौन्दर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।"[2] इस प्रकार संस्कारों का काव्यानुभूति से सीधा सम्बन्ध है। इसी के साथ साथ ही प्रसाद की एक और धारणा समझ में आजाती है। विभिन्न समाजों की सभ्यता और शिष्टिता में मूलरूप से कोई अन्तर नहीं है। एक ही सार्वभौम सत्य परिस्थितियों से प्रेरित और निर्मित संस्कारों के कारण विभिन्न समाज के लोगों में विभिन्न रूप में दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि एक स्थान की, या एक जाति की कविता दूसरी जाति की कविता से भिन्नता रखती है, पर विचारकों के लिए सत्य का एक ही प्रकार का आधार प्राप्त है। सभ्यता का सबसे बड़ा काम हमारी सौंदर्यानुभूति को विकसित और परिष्कृत करना है। और इस प्रकार एक ही सत्य के आधार पर खड़े होकर भी हम सभ्यता के विकास-द्वारा काव्य की विविधता और विकास प्राप्त करते हैं।

प्रसाद जी की काव्य-सम्बन्धी धारणा आदर्श प्रधान है। वह अभिव्यक्ति पर उतना जोर नहीं देते जितना अनुभूति पर। उनके विचार से काव्य का सामयिक या व्यक्तिगत उतना महत्व नहीं जितना सर्वकालीन, सार्वभौम और सामाजिक महत्व है। इस कारण यद्यपि उन्होंने विभिन्न संस्कारों को विभिन्न अनुभूतियों का कारण बताया है, फिर भी आत्मा की अन्तरतम अनुभूति में व्यक्तिगत, एकदेशीय, अनुभूति नहीं वरन् सामूहिक और सार्वभौम अनुभूति रहती है। काव्य का यथार्थ कार्य, सत्य और सौंदर्य का अनुभव कर उसका प्रकाशन करना है। सौंदर्य सत्य का ही एक अंग है। प्रेय और श्रेय सत्य के दोनों पक्षों से काव्य का सम्बंध है। इस प्रकार काव्य आध्यात्मिक अनुभूति के नये रहस्यों के उद्घाटन में ही तल्लीन रहता है और इसी कारण से प्रसाद जी रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा मानते हैं। रहस्यवादी अनुभूति सत्य होने पर भी सब की अनुभूति नहीं है, क्योंकि सबके संस्कार भिन्न भिन्न होने से उनकी अनुभूतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। अतः यह अनुभूति सार्वभौम और सार्वजनीय नहीं कही जा सकती।

काव्य की उक्त प्रकार की धारणा छायावादी कवियों की विशेषता अवश्य है पर प्रसाद की सी दार्शनिक भावना अन्य कवियों की नहीं। प्रसाद ने जहाँ पर अपनी कविता-सम्बंधी धारणा में आधार का विश्लेषण अधिक किया है वहाँ महादेवी वर्मा ने आधार के

---

१. काव्य कला पृष्ठ ४।

२. ,, ,, पृष्ठ ५।

साथ साथ अनुभूति का। कविता का स्थान महादेवी के विचार से बड़ा ऊँचा है, उसका स्वरूप बड़ा कोमल है, लौकिक स्पर्शों के बीच कविता का उपयुक्त क्षेत्र नहीं। उसके विषय में उनका आत्मविस्मय कथन सा जान पड़ता है, "अछूता कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री।" प्रसाद जी के समान महादेवी जी का भी यही विश्वास है कि काव्य का उद्देश्य सत्य को प्रकट करना है परन्तु जहाँ वे कविता में श्रेय और प्रेय दोनों का समाधान मानते हैं, वहाँ ही महादेवी जी ने सत्य को काव्य का साध्य माना है और सौन्दर्य को साधन।[1]

काव्य समाजशास्त्र, राजनीति, दर्शन तथा भौतिक विज्ञानों से इस बात में भिन्न है कि ये शास्त्र जहाँ पर मनुष्य और प्रकृति की बाहरी और भीतरी समस्याओं पर विचार करते हैं वहाँ पर काव्य या साहित्य का काम मनुष्य और प्रकृति के जीवन का सजीव चित्र उपस्थित करना है। साहित्य द्वारा उपस्थित मनुष्य के समग्र जीवन का चित्र राजनीति से शासित, समाज शास्त्र से नियमित, विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्याप्त हो चुका है।"[2] इसीलिए काव्य का महत्त्व दर्शन की भाँति न केवल विचारक्षेत्र तक ही सीमित है वरन् वह जीवन व्यापी भी है। जीवन के अव्यक्त रहस्य की भावना व्यक्त करना काव्य का मुख्य उद्देश्य है। इस कारण से किसी भी जाति और देश का एक युग विशेष में लिखा गया काव्य भी सर्वयुगीय होता है। साहित्य का शाश्वत् महत्त्व है, पर साहित्य के क्षेत्र में कविता का महत्त्व और भी विशेष है।

महादेवी जी के विचार से कविता हमें असीम सत्य की झाँकी दिखाती है जो कि साहित्य के अन्य अंगों द्वारा नहीं हो सकती। उन्हीं के शब्दों में "वास्तव में जीवन में कविता का वही महत्त्व है जो कठोर भित्तियों से घिरे हुए कक्ष के वायुमंडल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमंडल से मिला देने वाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह आकाशखण्ड को अपने भीतर बंदी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं बाँधता प्रत्युत हमें उस सीमा रेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टि प्रसार की सुविधा देने के लिए है, उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु न उनमें सामंजस्य की ऐसी परिणति होती है

१. आधुनिक कवि १, भूमिका पृष्ठ ३।

२. आधुनिक कवि १, भूमिका ,, ३।

न ग्रावाग्रहीनता। जीवन की विविधिता में सामजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्ठतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेक रूपता या रेखाओं की विषमता के सामजस्य पर स्थित हैं।"[१]

महादेवी वर्मा के विचार से ज्ञान और भाव दोनों क्षेत्रों से ही खोज कर कविता सत्य को हमारे सामने उपस्थित करती है। कविता का सत्य, भावक्षेत्र का सत्य अधिक है। दीपशिखा की भूमिका में उन्होंने लिखा है "बहिर्जगत् से अन्तजगत् तक फैले ज्ञान तथा भावक्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार किया होगा।"[२] और "कला सत्य को ज्ञान के सिकता विस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता तट से एक विशेष बिंदु पर ग्रहण करती है।" यहाँ पर कला शब्द भारतीय ६४ कलाओं का प्रतीक नहीं वरन् पश्चिमीय भाषाओं के "आर्ट" का पयार्यवाची है। प्रसाद जी इसी कारण से कला की कोटि में काव्य को नहीं रखते क्योंकि कला में केवल लाघव या चमत्कार का प्रदर्शन ही है पर काव्य सत्य की खोज भी करता है।

पुन इस विषय में थोड़ा मतवैषम्य जयशकर प्रसाद और महादेवी वर्मा में और है। महादेवी वर्मा का काव्य विषयक दृष्टिकोण यद्यपि आध्यात्मिक ही है, पर यह उनके लिए मान्य नहीं कि सर्व श्रेष्ठ काव्य रहस्यवादी ही है, जैसा कि प्रसाद का विचार है।[३] आधुनिक कवि की भूमिका म उन्होंने लिखा है "न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव म दोनों ही मनुष्य के मानसिक जगत की मूर्त और बाह्य जगत की अमूर्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्य कला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती तब उसका कारण विषय विशेष न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।"[४]

इतना होते हुए भी प्रसाद और महादेवी का दृष्टिकोण अध्यात्मवाद की दृष्टि से

---

१ आधुनिक कवि, १, की भूमिका पृष्ठ ४।

२. दीपशिखा का भूमिका पृष्ठ २। १४, १५ पंक्तियाँ।

३ काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृ० ३१,
"काव्य में आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"

४ आधुनिक कवि, १, पृ० १०।

बहुत अधिक मिलता है। प्रारम्भ से लेकर अब तक रहस्यवादी कवितायें होती रही हैं इसमें ज्ञान के आधार पर कवि उस पूर्ण पुरुष में मग्न होना चाहता है, फिर भी उसे उस अनुभव का प्रकाशन लौकिक रूपकों में ही करना पड़ता है, क्योंकि अन्यथा कोई और उपाय नहीं। हम अपने आस पास आदर्श की सृष्टि करना चाहते हैं। यह भी हमारी आध्यात्मिक कविता का कम महत्व नहीं है, न रहा है और न होगा।[3]

'पन्त' श्री सुमित्रानन्दन जी का दृष्टिकोण अधिक स्थूल एवं विकासवादी कहा गया है। वे सौन्दर्यमय और कल्याणकारी भावों के स्वच्छन्द प्रकाशन को कविता में महत्व पूर्ण स्थान देते हैं। सत्य का शिवत्व और सौन्दर्यत्व से युक्त कथन कवि कर्तव्य के भीतर नहीं है। उनका विश्वास है कि "सत्य शिव म स्वय निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिव में सत्य द्वारा ही होती है।[4] अत सत्य, सुन्दर और शिव के साथ अपने आप ही आ जाता है। पन्त जी की कविता को दृष्टि में रखकर यही निष्कर्ष निकलता है कि कविता का प्राण सौन्दर्य ही है। शिवत्व उतना नहीं, क्योंकि पन्त की वे रचनायें जिनमें सौन्दर्य का स्वच्छन्द वर्णन है, अधिक कवित्व-पूर्ण हैं और जिनमें शिवत्व का वर्णन है उतनी कवित्व पूर्ण नहीं। उदाहरणार्थ उनकी "आँसू स" कविता की नीचे लिखी पंक्तियाँ —

मेरा पावस ऋतु सा जीवन
मानस सा उमड़ा अपार मन
गहरे धुँधले धुले सावले
मेघों से मेरे भरे नयन।

इन्द्र धनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछूर
कभी कुहरे से धूमिल घोर
दीखती भावी चारों ओर।

तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर।

---

३. दीपशिखा भूमिका पृ० १० । पैरा ६,७ ।

४. आधुनिक कवि, २, पृ० ९, ( पन्त )

गूढ़ गर्जन कर जब गभीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सौन्दर्य की प्रेरणा के कारण कला और भाव, काव्य के दोनों पक्षों का सामञ्जस्य देखने को मिलता है, पर नीचे की पंक्तियों में जिनमें सौन्दर्य नहीं वरन् शिवत्व, प्रेरक है उतना काव्यगत सौन्दर्य नहीं :—

"मुक्त करो नारी को मानव मुक्त करो नारी को।
युग युग की बर्बर कारा से जननि सखी प्यारी को।"

तथा

"मानव के पशु के प्रति, हो उदार नव संस्कृति।
मानव के पशु के प्रति, मध्य वर्ग की हो रति।"

इसी प्रकार की युगवाणी और युगान्त की कुछ रचनायें हैं। पन्त जी प्राचीनता के विरोधी हैं और कविता में भी क्या छन्द, क्या शब्द चयन, क्या भाव, क्या अलंकार-सब में नवीनता को लेकर चलना चाहते हैं। प्रसाद और महादेवी की भाँति-प्राचीन संस्कृत साहित्य और शास्त्र पन्त जी को पृष्ठ भूमि नहीं दे सके, पर अंग्रेजी के 'रोमांटिक कवि-सम्प्रदाय' तथा बंगला के टैगोर का प्रभाव इन पर पड़ा है, अतः इन कवियों की कवितायें तथा प्रकृति का खुली आँखों निरीक्षण ही पन्त की कविता को मधुर और सुन्दर बनाने में सहयोग दे सका है। इसलिए पन्त में कला का स्वाभाविक स्वरूप है, परम्परागत और सांस्कृतिक स्वरूप नहीं है जो हमें प्रसाद और महादेवी में देखने को मिलता है। पन्त जी कला के अलंकार आदि प्राचीन सिद्धान्तों की रूढ़ि का विरोध करते हैं, यद्यपि इनका अभाव उनकी कविता में नहीं है। युग वाणी की 'नवदृष्टि'[१] शीर्षक कविता में वे स्वयं लिखते हैं।

"खुल गए छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त
औ, युग वाणी बहती अयास।

---

१. आधुनिक कवि, २, पृ० ७०।

बन गये कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम
जीवन, संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम,
सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित मान मान
बन गये स्थूल
जग जीवन से ही एक प्राण
मानव स्वभाव ही
बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण
असुंदर को सुंदर ।

—( युग वाणी । )

इन पंक्तियों में पन्त पर "प्रगतिवाद" का प्रभाव है जिसमें कि काल्पनिक एवं आध्यात्मिक जगत के चित्रण को महत्व न देकर युग की समस्याओं और मानव जीवन के स्वच्छन्द और स्वाभाविक चित्रण पर जोर दिया जाता है। ये उद्‌गार हिन्दी की प्राचीन छन्द, अलंकार इत्यादि काव्य के कलापक्ष सम्बन्धी कड़े नियमों की प्रतिक्रिया स्वरूप हैं, क्योंकि यद्यपि इसमें छन्द के बन्ध खुल जाने और अनुप्रास के पाश से मुक्त हो जाने की घोषणा है फिर भी कवि इनसे मुक्त नहीं है क्योंकि कविता के ये गुण हैं। हाँ, इनका प्रयोग अब अधिक स्वाभाविकता के साथ है। भाषा और भाव के अनुकूल छन्दों और अलंकारों का प्रयोग है।

फिर कवि का आदर्श किसी समय जीवन संघर्ष के दूर कल्पना के देश में रहना ही समझा जाता था, पर अब पन्त जी की विकासवादी दृष्टि यहाँ है कि "जीवन संघर्षण देता सुख, लगता ललाम।" यह मानों पन्त जी का अपने आप से ही समझौता करने का प्रयत्न है। जीवन से दूर प्रकृति की सौन्दर्यमयी क्रीड़ा-स्थली में विचरण करने वाला कवि इस प्रकार की भावना अपनाता है, परिस्थिति और प्रभाववश। इस प्रकार हमें काव्य के स्वरूप में परिवर्तन लक्षित होता है। यहाँ पर कवि की वाणी ( कविता ) स्वाभाविक एवं विकास शील है, रूढ़िग्रस्त नहीं। कविता के बाह्य रूप के सम्बन्ध में पन्त जी का आदर्श ऊपर के पद्य-खण्ड से स्पष्ट हो गया। आन्तरिक रूप का आदर्श भी

उनकी, 'वाणी' शीर्षक कविता से स्पष्ट है जिसमे वे 'वाणी' को अलंकार हीन और सब समाज को अपना संदेश देने के लिए उपयुक्त बनने का आदेश देते हैं।

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी, मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?

— — — —

चिद् शून्य, आज जग, नव निनाद से हो गुंजित,
मन जड़, उसमें नवस्थितियों के गुण हों जाग्रत,
तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार।
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार।

— — — —

युगकर्म शब्द, युगरूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार।
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?

इस प्रकार कवि ने संदेश भरी अलंकार के पीछे न चलने वाली और जागृति फैलाने वाली वाणी को ही कविता का आदर्श माना है। यथार्थ में यही वर्तमान कविता का नवीनतम आदर्श है जिसे हम प्रगतिवादी आदर्श कहते हैं। ऐसी कविता हमारे जीवन से सम्बन्ध रखने वाली होती है और कला के चक्कर में न पड़कर, सुबोध सर्वजन-सुलभ भाषा में प्रभाव पूर्ण ढंग से जीवन की व्याख्या और यथार्थ जीवन के चित्रण का आदर्श रखती है। पंत जी का यह भाव जितना प्रगतिवादी है यथार्थ में उनकी कविता इतनी प्रगतिवादी नहीं हो सकी, क्योंकि वह अलंकारों को छोड़ वास्तविक जीवन के चित्रण करने और युग को संदेश देने में अधिक समर्थ नहीं।

निराला जी छायावाद के कलाकार और स्वच्छन्दता प्रिय कवि हैं। काव्य के विषय में इनकी धारणा नवीन छन्दों और नवीन गीतों के आविष्कार में स्पष्ट होती है। कविता को ये बहुत सूक्ष्म कला मानते हैं, जिसके चित्र पूरे और अर्थ गहरे हों। पर निराला भावना ही कविता में प्राधान्य चाहते हैं। सूक्ति और उपदेश को कविता में वे कोई स्थान नहीं देते। अपने निबन्ध "मेरे गीत और कला" में इन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

"गतियाँ, उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल निरूपण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।"[1] निराला जी मुक्त छन्द और मुक्त गीता के पक्षपाती हैं, पर वे कविता के शब्दों में भाव और कला दोनों का ही होना आवश्यक समझते हैं। इस कला का रूप यह आवश्यक नहीं कि प्राचीन ही हो, वह जितनी भी नवीनता धारण कर सके उतना ही अच्छा। निराला जी छायावाद के कलासिद्ध कवि हैं तथा छायावाद और प्रगतिवादी दृष्टिकोणों के बीच की लड़ी हैं। कविता के प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अभी तक कोई बहुत बड़ा कवि नहीं मिला। प्रगतिवाद में कविता के और अधिक स्वाभाविक, प्रभावशील और सरल स्वरूप की कल्पना की गयी है, किन्तु बहुत से प्रगतिवादी कवितायें लिखने वाले कवि भी विश्वासतः छायावादी हैं।[2] अतः प्रगतिवाद के नाम पर सामयिक कवितायें ही आ रही हैं, स्थायी, सर्वजनीन और कला पूर्ण कवितायें अभी बहुत कम हैं।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण छायावादी धारणा के विरोध और प्रतिक्रिया की प्रेरणा से प्राप्त हुआ है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि कविता प्रगतिवादी कवियों की ही है छायावादियों की नहीं। प्रगतिवाद का साम्प्रदायिक और संकीर्ण दृष्टिकोण बड़ी सरल, विशेषतया, प्रभाव तथा कला से हीन कवितायें दे रहा है। यथार्थ में कवि किसी भी सम्प्रदाय में फँसने वाला प्राणी नहीं। वह अपने विश्वासों और अपने भावों का मुखर प्राणी है। प्रचार के झोंके उसे डिगा नहीं सकते। इन सब बातों का स्पष्टीकरण प्रगतिवादी कवियों में प्रमुख श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' के 'रसवन्ती' की भूमिका में लिखे विचारों से हो जाता है। वे लिखते हैं —

"सम्भव है, अपने अर्थ में मुझे प्रगतिवादी समझने वाले कुछ पाठक, रसवन्ती, से निराश भी हों। उनके आश्वासन के लिए मैं निवेदन करूँगा कि दिन भर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ के हृदय में भी चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी कभी बाँसुरी का सा कोई अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी जलधारा के बह जाने की व्याकुलता का नाद है।———

इसके सिवा प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं, बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित-चर्वण,

---

१. प्रबन्ध प्रतिमा, मेरे गीत और कला, लेख, पृ० २८४।

२. देखिए 'दिनकर' कृत रेणुका की भूमिका।

पुरातन विजृम्भन और गतानुगतिकता के निनाद हैं। वे सभी लेखक प्रगतिशील हैं जो अनुकरणशील नहीं बन सकते। प्रगति का प्रतिलोम युग विमुखता नहीं, बल्कि गति विमुखता अथवा अगति है। ——

सार्थक साहित्य हमेशा प्रगतिगामी ही हुआ करता है। साहित्य में प्राचीन शैलियों की आवृत्ति किसी भी युग में आदर नहीं पा सकी और अनुकरण कर्ताओं को कभी भी स्रष्टा का पद नहीं मिला। साहित्य की यात्रा में सदैव वे ही पूजनीय माने गये हैं जिनका पन्थ प्राचीन अथवा समकालीन यात्रियों से किंचित् भिन्न, कुछ नवीन अतः प्रगति की ओर था।"[१]

'दिनकर' के इन विचारों में कविता की यथार्थ प्रेरणा जाग करती है। प्रगतिवाद निषेधात्मक रूप में ही अपना उद्देश्य रक्खे तो ठीक है, पर आदेशात्मक प्रेरणा कवि को कवि या कविता से ही अधिक मिला करती है। काव्य के आलोचकों में मस्तिष्क के साथ साथ उससे अधिक हृदय की आवश्यकता है। प्रगतिवाद, छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में आया था। प्रतिक्रिया या विरोध के रूप में आये हुए वाद बहुत अधिक स्थायी महत्व के नहीं होते। पर इधर वर्तमान हिन्दी काव्य में कुछ दिनों से वादों का ही बोलबाला है। प्रतिक्रिया के रूप में आये प्रगतिवाद ने भी बहुत ही आशाजनक पथ प्रदर्शन नहीं किया। इसकी भावना भी हमें दिनकर की 'रसवन्ती' की भूमिका में मिलती है। वे लिखते हैं —

"जिन्होंने धरती के क्रन्दन से बचने के लिए कभी आकाश की शरण ली थी वे ही आज झोपड़ियों के पास बैठकर रो रहे हैं। एक दिन जिन स्वप्नों की रक्षा के लिए पृथ्वी का तिरस्कार किया गया था आज वे ही स्वप्न आहुतियों के रूप में अग्नि को समर्पित किये जा रहे हैं। तब जो साहित्य तैयार हुआ था, उसमें चिन्तना की कमी है। एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले ही कहला ले, लेकिन समय के बिना वह दीर्घायु नहीं हो सकता है।"[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता का स्वरूप किस प्रकार परिवर्तित हुआ है। बाह्य रूप से भी परिवर्तन हुआ है, जिसका विशेष अध्ययन छन्द, अलंकार आदि के प्रकरण में किया जायगा, पर आभ्यन्तर परिवर्तन हम इन पृष्ठों में देख चुके हैं। छायावाद

---

१ रसवन्ती की भूमिका पृ० २, ३।

२ „ „ „ „ १२।

और प्रगतिवाद के दृष्टिकोणों में पिछले रूप के प्रति विरोध भावना है, बस यहीं त्रुटि आ उपस्थित होती है। इसे हम परिवर्तन कह सकते हैं, विकास वहाँ होता है जहाँ पर हम पिछले स्वरूप, पिछले सिद्धांत को भी सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं, पर उसके जिस अंश को त्रुटिपूर्ण या अविकसित पाते हैं उसे छोड़ अन्य सभी अंगों को अपनाते हुए उस विशेष अंश का परिवर्तन और सम्वर्धन करते हैं। काव्य यदि यथार्थ काव्य है तो उसका किसी भी युग में नाश नहीं हो सकता। विकसित रूप में वह रहेगा अवश्य। पर खेद की बात है कि काव्य-स्वरूप के विकास की योग्यता के स्थान में विदेशीयता का अपनाव या नवीनता की सनक अधिक देखने को मिल रही है। प्रगतिवाद का उद्देश्य बड़ा ऊँचा हो सकता है, पर उसके भीतर वह कवि प्रतिभा अभी कम लक्षित होती है जिससे कि एक युग भर तक इसकी धूम मच जाय और हम यह न कह पावें कि इससे अच्छी कविता तो ठीक इसके पहले ही होती थी। इसके लिए आवश्यकता है कवि को जीवन के साथ घुल मिल जाने की, अपने उच्च आदर्श की, लगन की और साधना की, जीवन की स्वच्छता की, निर्भीकता और विश्वास दृढ़ता की। हम कवियों में इन बातों का अभाव ही पाते हैं, इसीलिए प्रगतिवाद इतना पवित्र सिद्धांत होते हुए भी अधिक प्रभावशाली साहित्य की सृष्टि नहीं कर सका। आशा है कि वह आगे कर सकेगा।

## कविता और कला

कविता और कला का क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न भी आजकल के कवियों के दृष्टिकोण से विचारणीय है। कला अपने व्यापक अर्थ में बहुत विस्तृत है और इस दृष्टि से कविता भी कला हो सकती है, पर क्या सम्पूर्ण कविता, कला के क्षेत्र के ही अन्तर्गत है, इस विषय पर भारतीय और पश्चिमीय दृष्टिकोणों में भेद है। पाश्चात्य मत से ललित कलाओं में कविता का स्थान है, वह सर्वश्रेष्ठ ललित कला है, पर कविता केवल कला नहीं है। वह कला के अतिरिक्त और कुछ है, क्योंकि कविता की कला मात्र से अभिज्ञ व्यक्ति निसर्गतः श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकता, उसका कलापक्ष अवश्य है पर वह एक पक्ष मात्र है। अतः या तो हम कला के अर्थ को अधिक व्यापक दृष्टि से देखें अथवा कविता की सीमा को संकीर्ण करें तभी यह सम्बन्ध निभ सकता है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कुछ महत्वपूर्ण आधुनिक कवियों के विचारों का अध्ययन करेंगे।

जयशंकर 'प्रसाद' कविता को कला में अन्तर्गत नहीं मानते। उनके विचार से कविता विद्या है जब कि कला उपविद्या है। कला का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से रहा है कविता का

अभिव्यक्ति सम्बन्धी स्वरूप उसका बाह्य रूप है। जिसके भीतर भावों का आवेग है, जिसे कुछ सुन्दर और कल्याणकारी भाव प्रकट करना है, उसकी अभिव्यक्ति भी रमणीय होती है। अतः दोनों आन्तरिक और बाह्य पक्षों का महत्वपूर्ण स्थान है, पर कला के भीतर बाह्य पक्ष ही आता है। अभिव्यक्ति और भाव के सम्बन्ध में भी अनेक सिद्धान्त हैं। कुछ लोग अभिव्यक्ति को ही प्रमुख मानते हैं पर जयशंकर प्रसाद कविता में भाव प्राधान्य के समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि व्यञ्जना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है।[1] यही एक कारण है जिससे बहुत से विद्वान् अभिव्यक्ति कला के अनेक ढंगों का ज्ञान रखते हुए भी कवि नहीं हो पाते। जब भाव तीव्र होते हैं तब उनकी अभिव्यक्ति भी सुन्दर होती है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'प्रसाद' जी एक उदाहरण लेते हैं। वात्सल्य वर्णन में सूर, तुलसी से आगे बढ़ जाते हैं। इस पर कोई यह निष्कर्ष निकाले कि सूर अभिव्यक्ति कौशल में तुलसी से बढ़कर हैं और तुलसी कला की दृष्टि से, और यदि कला को ही कविता मानें तो कविता की उत्कृष्टता में, सूर से पीछे हैं। पर क्या यह सत्य है? तुलसी की कलात्मक अभिव्यक्ति अन्य स्थलों पर सूर से भी बढ़कर है। तो इससे जयशंकर प्रसाद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिस भाव की तन्मयता जिस कवि में अधिक गंभीर जिस स्थल पर होती है वहीं वह अपनी अभिव्यक्ति में दूसरों से बढ़ा है। अतः अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता का, भाव की तीव्रता से ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कविता को कला के भीतर वर्गीकरण करने का चलन पश्चिमीय विचारों का प्रभाव है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जयशंकर प्रसाद की दृष्टि से यह बात समीचीन नहीं। काव्य की गणना विद्या में और कला की गणना उपविद्या में हुई है और उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वात्सायन के कामसूत्र में वर्णित ६४ कलाओं के अन्तर्गत 'समस्या-पूर्ति' भी एक कला है। 'श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीडार्थम् वादार्थंच'। इस प्रकार समस्या पूर्ति मनोरंजन के लिए थी किन्तु उसका आदर्श बहुत ऊँचा नहीं है। वह भी एक प्रकार का हुनर था, किंतु पश्चिम में कला का यह भाव नहीं है। वहाँ पर कला का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है यहाँ तक कि उसके भीतर कविता का समावेश भी हो गया।

उपकरण, सामग्री और उपयोगिता के विचार से कला का विभाजन उपयोगी और

---

१. कविता और कला तथा अन्य निबंध पृ० २१।

ललित कलाओं में हुआ है। ललित कलाओं के अंतर्गत वास्तु कला, मूर्ति कला, चित्रकला संगीत और काव्य हैं इनमें से एक दूसरे की उत्कृष्टता, उपकरण और सामग्री की सूक्ष्मता पर निर्धारित है। मूर्ति कला के भीतर पत्थर का प्रयोग किया जाता है, चित्रकला में रंग, कूँची कागज आदि का प्रयोग होता है, संगीत में नाद का प्रयोग होता है। इस प्रकार से यह सभी कविता से निम्नश्रेणी की कलायें हैं क्योंकि कविता में प्रयुक्त सामग्री बहुत सूक्ष्म है। जयशंकर प्रसाद इस प्रकार के भेद के आधार पर आपत्ति करते हैं क्योंकि कविता की सामग्री वर्ण और छंद उसी प्रकार स्थूल हैं जैसे चित्रकला और संगीत की सामग्री। और इस प्रकार से उपकरण की सूक्ष्मता के आधार पर कविता को अन्य ललित कलाओं से उत्कृष्ट बताना हास्यास्पद है। कविता को उत्कृष्ट[1] बनाने वाली उसकी अन्य विशेषतायें हैं।

जयशंकर प्रसाद का विचार है कि संगीत के भीतर काव्य का वर्गीकरण, जैसा कि 'प्लैटो' ने किया है, सम्भवतः इसकी आकारहीनता के कारण किया गया है किंतु प्लैटो का ढंग और भी विचित्र है। वह संगीत और व्यायाम उपयोगी कलाओं के अंतर्गत रखता है, क्योंकि जिस प्रकार से व्यायाम के द्वारा शरीर का विकास होता है उसी प्रकार से संगीत के द्वारा मनोरंजन। अरिस्टॉटिल कविता को अनुकरण कहता है। इस प्रकार से हम सहज ही देख सकते हैं कि काव्य विषयक पश्चिमीय दृष्टिकोण अधिक स्थूल है, अधिक भौतिक है और आध्यात्मिक नहीं, उसमें काव्य के भीतर लोकोत्तरानंद का अनुभव कम अभिव्यक्त हुआ है। जयशंकर प्रसाद का काव्य विषयक, पश्चिमीय वर्गीकरण का यह विवेचन बहुत सत्य है। 'बेकन' के निबंधों में एक वाक्य है जिसका अर्थ है कि इतिहास मनुष्यों को बुद्धिमान बनाता है, कविता प्रत्युत्पन्न-बुद्धि, प्राकृतिक दर्शन गम्भीर और तर्कशास्त्र वादविवाद के योग्य बनाते हैं।[1] इससे कविता का महत्व स्पष्ट है। कविता का तुरन्त बुद्धि से सम्बंध यह सिद्ध करता है कि उसका महत्व इन विचारकों की दृष्टि में अधिक गम्भीर नहीं है। भारतीय और पश्चिमीय दृष्टि में इस विभेद का कारण परम्परा और संस्कृति है जैसा कि प्रसाद जी का विश्वास है।[2]

हमारे यहाँ काव्य के विषय में दूसरी ही धारणा है। जयशंकर प्रसाद का विचार है

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १० और ११।

1. Histories make men wi e, poets w tty, natural philo-ophy deep and logic able to contend' —Bacon—Essay on stud es.

२. "संस्कृति का सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों

कि कवि और ऋषि शब्द वैदिक साहित्य म समानार्थी थे।[१] इस पक्ष के प्रमाण स्वरूप उपनिषदों से वे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं जैसे —

'तदेतत् सत्यम् मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेतायाम बहुधा सेतानि।'
'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार।' कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू.।' इत्यादि।

इस प्रकार से कवि के काव्य म केवल कला ही नहीं वरन् जीवन का यथार्थ रहस्य उद्घाटन भी था। ऊपर की पंक्तियों मे कवि शब्द का प्रयोग दार्शनिक या द्रष्टा के अर्थ म किया गया है।

जयशकर प्रसाद काव्य को इसी अर्थ में प्रयुक्त कवि की कृति के रूप मे लेते हैं। इस प्रकार उनके विचार से काव्य म आध्यात्मिक भाव ही प्रधान है। यद्यपि कुछ अशो में हिन्दी काव्य के सम्बध में यह धारणा ठीक है पर यह हमें मानना पडेगा कि इसमें भी एक समय ऐसा आया[२] जबकि कविता मे कला का प्रदर्शन ही अधिक महत्व का हुआ और कवि एक कलाकार ही के रूप मे परगणित हुआ, अध्यात्मवादी द्रष्टा के रूप में नही क्योंकि आध्यात्मिक पक्ष कविता के क्षेत्र से उठकर दर्शन के क्षेत्र म चला गया।[१] अलकारों के द्वारा प्रभावित कवि अधिकाश कलाकार ही रहे। आध्यात्मिक सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न उन्होंने बहुत कम किया, पर प्रधान रूप से काव्य का आध्यात्मिक महत्व रहा अवश्य।

(आचार्य दडी ने नृत्य और सगीत को कला कहा है अभिनव गुप्त ने भी कला का सम्बध गाने बजाने से ही रक्खा, आचार्य भामह ने काव्य को चार कोटियों म देव-चरित्रशसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय भेदों को रक्खा है और इस प्रकार से कला को प्रधानता देने वाली कविता काव्य की एक कोटि विशेष मानी गयी है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि कविता कला के अन्तर्गत नहीं। कला-पूर्ण कविता हो सकती है और कविता की कला भी, किन्तु कविता कला से उत्कृष्ट वस्तु है।

---

से मौलिक सबन्ध है।" 'काव्य और कला, पृष्ठ ४।
सस्कृति सौन्दर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है। काव्य और कला पृ० ६।

१ काव्य और कला पृ० १२।
२ १०वीं शताब्दी ईसवी।
३. काव्य और कला पृ० ६२।

काव्य, सभी प्रकार की रचनात्मक कृतियों के लिए प्रयुक्त शब्द है। कविता शब्द का प्रयोग हम कलापूर्ण काव्य के लिए कर सकते हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा का दृष्टिकोण काव्य और कला के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद के दृष्टिकोण से भिन्न है। प्रसाद की भाँति वे कला को केवल हुनर या चतुराई के अर्थ में नहीं लेतीं, वरन् उन्होंने कला शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। दोनों का ही उद्देश्य बताती हुई वे कहती हैं कि काव्य और कला दोनों ही सत्य को प्रकाशित करने का उद्देश्य रखती हैं, पर काव्य और कला द्वारा निरूपित और उद्घाटित सत्य, वैज्ञानिक के द्वारा निश्चित सत्य से भिन्न होता है। वैज्ञानिक द्वारा उद्घाटित सत्य के अन्तर्गत कला का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं, पर कविता में सत्य, कला का आवरण लेकर उतरता है। काव्य में कला की उत्कृष्टता है। उनका विचार है—

"काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया है जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीमती वर्मा का भी विश्वास यही है कि काव्य केवल कला ही नहीं, विद्या भी है। सत्य के प्रकाशन की विधि को और स्पष्ट करती हुई वे कहती हैं कि काव्य और कलाओं में प्रधान तत्व, सौन्दर्य तत्व है और इसी के द्वारा सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न, काव्य करता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि वस्तु का बाह्य सौन्दर्य ही कवि या कलाकार के काम का हो। कवि जीवन के सत्य को सौन्दर्य मय ढंग पर प्रकाशित करना चाहता है, अतः दर्शनीयता या बाह्य सौन्दर्य ही केवल उसके काम का नहीं, जीवन के भीतर का असुन्दर और कठोर अंश भी जीवन-व्यापी सत्य को सौन्दर्यपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिये आवश्यक है। इस विषय में उनका कथन है. "सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलायें जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है केवल बाह्य रूप-रेखा पर नहीं——गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में, कंकाल छिपाये हुए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय सब मूल्यवान हैं, पर अन्तर्जगत की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।"[1] इस प्रकार कविता के सौन्दर्य-तत्व को रमणीयता कहना अधिक उपयुक्त होगा। कवि और कलाकार जगत् और जीवन का चित्र उपस्थित करते हैं। वे

---

१ दीपशिखा, चिन्तन के कुछ क्षण पृ० ३।

१. दीपशिखा, चिन्तन के क्षण ,, ३।

जगत् और जीवन के चित्र, अनुभव में आने वाले जगत् और जीवन के यथार्थ चित्र होते हुए भी उससे अधिक रमणीय हैं। यथार्थ जगत् के जीवन में पीड़ा का अनुभव काँटा चुभने पर होता है, किन्तु कवि उसी पीड़ा का भावात्मक अनुभव काँटा लगने के यथार्थ अनुभव के बिना ही, हमें देता है और वह अनुभव कष्टकर नहीं वरन् आनन्दमय अनुभव है। इसी भावात्मक अनुभूति के गुण से विपन्न होने के कारण, समाज सुधारक के रूखे उपदेश-प्रभावहीन होते हैं, किन्तु कवि जीवन की किसी कहानी के साथ जिन उपदेशों को रखता है उनका प्रभाव हृदय पर पड़ता है। यहाँ पर हम इस बात का सहज अनुभव कर सकते हैं कि भारतीय पौराणिक साहित्य का क्या महत्त्व है। उपदेश से वास्तविक प्रभाव डालने के लिए अनेक ऐतिहासिक कथानक पुराणों में समाविष्ट होकर ही उस साहित्य को इतना रोचक बना सके हैं।

जयशंकर प्रसाद की भाँति महादेवी वर्मा भी काव्यानन्द को आध्यात्मिक मानती हैं। उनके विचार से सौन्दर्यानुभूति रहस्यात्मक है, क्योंकि यदि वह सौन्दर्य का एक कण हमारे सामने सर्वव्यापी और अखण्ड अन्तर्जगत के सौन्दर्य को नहीं खोल सकता तो वह प्रभावहीन है। प्रत्येक सौन्दर्य खण्ड अपने आकर्षण के गुण के सहित हमारे हृदय के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। जिस सामंजस्य की ओर सौन्दर्य स्वीकृति या अपनाव के लिए संकेत करता है, इसी सामंजस्य की ओर असौन्दर्य और कुरूपता अस्वीकृति या घृणा के लिए प्रेरणा देते हैं। इसलिए सौन्दर्यानुभूति व्यापक सौन्दर्य की अनुभूति है और घृणा के भाव उसकी विरुद्ध भावना है। हम सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं इससे यह स्पष्ट है कि इस भावना का वास हमारे अन्तर्गत है और असौन्दर्य की भावना विजातीय है। जगत् के पदार्थों का व्यक्तिगत सौन्दर्य भी महादेवी वर्मा की दृष्टि में उसी प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित है जैसे समुद्र की एक लहर समुद्र की असंख्य लहरों से।[1] इस प्रकार काव्यानुभूति भी व्यापक और आध्यात्मिक अनुभूति है।

किन्तु यहाँ यह तात्पर्य कदापि नहीं कि महादेवी वर्मा का दृष्टिकोण कलाकार को एक विचित्र अनुभूतियों का व्यक्ति बना देता है क्योंकि वह उपर्युक्त प्रकार का अनुभव लेकर आता है। तत्वतः सत्य यही है कि हम अपने आध्यात्मिक अनुभवों में बहुत कुछ एक हैं। अतः कलाकार की कृति या उसका स्थान विलक्षण न रहकर महत्त्वपूर्ण और पथ-प्रदर्शक सा होता है। वह हमारे भावों से परिचित अपने सगे व्यक्ति की भाँति है।

---

१ दीपशिखा, चिन्तन के कुछ क्षण पृ० १०, ११।

इस प्रकार के भाव उन्होंने 'दीपशिखा' की भूमिका 'चिन्तन के क्षण' में व्यक्त किये हैं :—

"कवि, कलाकार, साहित्यकार, सब समष्टिगत विशेषताओं को नव नव रूपों में साकार करने के लिए ही उनसे कुछ पृथक् से जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सके तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायेंगे। महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचय भरा-अपनापन ही जगायेगा, क्योंकि वह धूमकेतु सा आकस्मिक और विचित्र नहीं, किन्तु ध्रुव सा निश्चित और परिचित रहकर ही हमें मार्ग दिखाने में में समर्थ है।"[1]

महादेवी वर्मा के विचारों में कला का अर्थ चित्रकला के रूप में ही अधिक है। जयशंकर प्रसाद के समय कला शब्द का प्रयोग, 'आर्ट' के स्थान पर प्रारम्भ हुआ था, अतः उन्हें इसकी आवश्यकता जान पड़ी कि इस पश्चिमीय 'आर्ट' और भारतीय कला का विभेद स्पष्ट कर दिया जाय, पर उनके बाद कला का आज का प्रयोग, आर्ट के अर्थ में लगभग स्थापित हो चुका है और इसी स्थापित अर्थ को ही महादेवी वर्मा तथा अन्य लोगों ने लिया है।

कला के सम्बन्ध में निराला जी का मत प्रचलित, परम्परागत और बाह्य रूप पर विचार करने वाला है। कला उनके मत में वह सौन्दर्य है जो काव्य के अनेक गुणों से उत्पन्न होता है। उन अनेक गुणों में एक पर विचार करना कला को पूर्ण स्पष्ट न करना है। जैसे खट्टा, मीठा आदि अनेक विशिष्ट स्वाद अलग-अलग जो अनुभूति देते हैं उससे नितान्त भिन्न वह अनुभूति है जो इनके एक में मिश्रण द्वारा प्राप्त होती है, इसी प्रकार काव्य का सौन्दर्य है, जिसे निराला जी कला कहते हैं, उनका कथन है :—

"कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अङ्गों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह देह की दीप्तता, दीनता में तरंग सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में घुलकर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर लीन होती हुई—जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अङ्कुर से, न डाल से, न पौदे

१. दीपशिखा, चिन्तन के क्षण पृ० १५।

से, जड़ से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग, रेणु, गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण "[१]।

ऊपर के कथन पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निराला जी की कला विषयक धारणा प्रसाद और महादेवी की धारणा से भिन्न है, वे काव्य सौन्दर्य को कला कहते हैं। सौन्दर्य लाने की कुशलता को कला नहीं। पूरी काव्यकला के अन्तर्गत उनके विचार से वर्ण सौन्दर्य, शब्द सौन्दर्य, छन्द, अनुप्रास, अलंकार, रस, ध्वनि आदि सभी आजाने चाहिए। इस प्रकार काव्य सौष्ठव ही उनके विचार से कला है। यहाँ पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो दोनों में भेद है। काव्य-सौष्ठव, काव्य-कला नहीं हो सकता है। कला, सौष्ठव या सौन्दर्य को प्राप्त करने का, उपस्थित करने का प्रयत्न और चतुराई है। इस प्रकार कला साधन हुआ और सौन्दर्य साध्य या परिणाम। अतः दोनों में अन्तर अवश्य है, किन्तु बाह्य रूप से यह भेद उतना नहीं जान पड़ता। काव्य का सौन्दर्य, काव्य की कला ही जान पड़ता है। ऊपर के उद्धरण में निराला जी ने और सब बातें जो कला के लिए लीं वे ठीक हैं पर रस को भी काव्य-कला कहना ठीक नहीं जान पड़ता है, क्योंकि और सभी बातें साधन और रस साध्य हैं। इस प्रकार ऊपर के कथन में यह भ्रम स्पष्टतया विद्यमान है। हाँ निराला जी का यह विचार कि सभी उपकरण मिलकर कला को पूर्ण करते हैं एक उपकरण अकेला नहीं, वे कला के अंगमात्र हैं, पूर्ण कला नहीं, अवश्य समीचीन है।[२]

कला के विषय में निराला जी ने अपने "साहित्य का फूल अपने ही वृन्त पर" शीर्षक निबन्ध में और अधिक लिखा है, पर उसमें कोई विचार की स्पष्टता नहीं है। कला की प्रशंसा में ही कुछ शब्द हैं। किन्तु कला के विषय में विचार करते हुए निराला जी का यह निश्चित मत है कि कला के विकास के साथ साथ साहित्य में नई भाषा भी विकसित होती है। वे कहते हैं कि हरा कँडेदार मजबूत डंठल ही उभागी नवीन कला को चाहिए।[३] यही कारण है कि निराला जी ने भाषा और छन्दों के परिवर्तन की दिशा में इतना मार्ग तय किया है।

---

१. देखिए प्रबन्ध प्रतिमा, "मेरे गीत और कला" शीर्षक लेख, पृ० २७२।

२. "मैं लिख चुका हूँ कि केवल रस, अलंकार या ध्वनि कला नहीं। अगर हैं तो कला के खंडार्थ में पूर्णार्थ में नहीं।" प्रबन्ध प्रतिमा।

३. प्रबन्ध पद्म पृ० १७२।

पन्त जी का कला के सम्बन्ध में विचार बहुत कुछ निराला जी से मिलता जुलता है। वे कला को किसी बन्धन में नहीं बाँधना चाहते हैं। चाहे भाषा का बन्धन हो, अथवा छन्द का, कोई भी बन्धन उन्हें पसन्द नहीं है। वे भाव-प्रकाशन के लिए नवीन ढंग के प्रेमी हैं। भाव और शैली के लिए हम अपने प्राचीन कवियों को न देखें। वर्तमान समय के अथवा अन्य भाषाओं के कवियों से जो चाहे ले लें। यह बात निराला जी के लेख "पन्त जी और पल्लव" से भी प्रकट है। पंतजी ने 'पल्लव' की भूमिका में यद्यपि ब्रजभाषा और उसके काव्य के विपक्ष में बहुत कुछ कहा है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा का सा लालित्य भरने वाले पन्त जी ही हैं। उन्हें काव्य के सौन्दर्य की परख है और पकड़ है। खड़ी बोली के खड़ेपन को उन्होंने इसी शक्ति-द्वारा लचक और मधुर बनाया है। कला-सम्बन्धी इस सूझ के उदाहरण स्वरूप उनके कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं। खड़ी बोली की कविता में क्रियायें काफी बाधा डालती हैं, उनके विषय में पन्त जी कहते हैं—

'खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलता पूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर ( Expression ) शिथिल पड़ जाता है, और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। "है" को तो जहाँ तक हो सके निकाल देना चाहिए। इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है। इस दो सींग वाले हरिण को "आश्रम मृग" समझ कर, इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं लगता, यह "कनकमृग" है, इसे कविता की पंचवटी के पास फटकने देना अच्छा नहीं लगता। समास का काम तो व्यर्थ बढ़कर इधर उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट छाँटकर उन्हें सुन्दर आकार प्रकार देने तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुए भावों के पुष्पों को व्यक्त करके देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठ तथा श्रीहीन हो जाती है।'[1]

इस प्रकार कला की सूक्ष्म अनुभूति रखते हुए भी पन्त जी ने 'कला' पर सूक्ष्म दृष्टि तथा व्यापक और सार्वभौम रूप पर विचार प्रकट नहीं किया है। भाव को उसी रूप में व्यक्त करना कला का काम है, पर कला के रूपों और उपकरणों का अनुकरण, युग की आवश्यकतानुसार काव्य-सृष्टि और उसके प्रभाव में घातक होता है। अत. कला का युग-युग में भी जितना ही स्वच्छन्द स्वरूप बन सके उतना ही अच्छा है। ऐसा पन्त जी का मत है।

---

१. पल्लव का प्रवेश पृ० २६।

अन्तिम विचार प्रगतिवादी लेखकों के दृष्टिकोण से भी मेल खाता है। प्रगतिवादी कवि कला को अधिक स्वाभाविक और सरल बनाना चाहते हैं। कला ऐसी हो जो कृति को प्रभावशाली बना दे। ऐसी न हो कि विद्वानों और विशेषज्ञों के मस्तिष्क ही उसमें उलझे रहें। यह कविता को उपयोगिता से सम्बन्धित करने के विचार का ही एक पक्ष है। उपयोगी कविता, उद्देश्य पूर्ण है, जीवन पर प्रभाव डालने वाली है अतः उसमें सूक्ष्म कला पर उतना ज़ोर नहीं दिया जा सकता जितना स्वाभाविक प्रकाशन पर जो कि युग के अनुरूप बदलता रहता है। "पूँजीवाद, समाजवाद और कविता" शीर्षक लेख में श्री प्रकाशचन्द गुप्त ने प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रकट करते हुए कहा है।

"कला का मनुष्य से सीधा सम्बन्ध है और जैसे मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध समाजव्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदलेंगे, कला नए सम्बन्धों को व्यक्त करेगी। प्रेम और प्राकृतिक सौन्दर्य को हम नई दृष्टि से देखेंगे और हमारे कवि, मनुष्य और प्रकृति के प्रति अपने बदलते भावों को वेग और शक्ति से स्वर देंगे।"[1]

कला के अन्तर्गत वेग और शक्ति आवश्यक है, ऐसी कला की सूक्ष्मता जिसमें वेग और शक्ति न हो व्यर्थ ही होती है, क्योंकि उसका प्रभाव नहीं पड़ता और प्रगतिशील क्या, सभी व्यक्ति इस बात को मानते हैं कि जो रचना, साहित्यिक और उच्च होने पर भी जितनी अधिक पढ़ी जाय वह उतनी ही सुफल है। केवल विद्वानों द्वारा ही समादृत होना, उत्तम कसौटी नहीं है। अतः कला सूक्ष्म चाहे उतनी न हो उसका व्यापक और प्रभावकारी होना आवश्यक है। इस विषय में 'दिनकर' जी का मत है :—

"जो बात मौलिकता के विषय में है वही कला की सूक्ष्मता के सम्बन्ध में भी। कला की विशेषता वाच्यद्रव्य को भली भाँति प्रकट करने में है और जहाँ द्रव्य है वहाँ शैली की भी शोभा है। कुछ नहीं, कहने का ढंग कभी भी आकर्षक नहीं हो सकता। सूक्ष्मता की उपासना के प्रयास में कविता जैसी अशक्त होती जा रही है वह साहित्य के लिए दुर्भाग्य की बात है, श्रोताओं की काफी बड़ी संख्या के बिना कोई भी काव्य शायद ही जीवित रह सकता है और आज के साहित्य में कवियों और पाठकों के बीच एक खाईं सी बनती जा रही है। ...... इस अवांछनीय अवस्था का बहुत बड़ा दायित्व काव्यकला के विशिष्टीकरण के प्रयास पर है।"[2]

---

१. 'पूँजीवाद, समाजवाद और कविता' लेख, हंस का कविताङ्क पृ० ३०, वर्ष १२।
२. रसवती की भूमिका, 'दिनकर'।

इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य का व्याकरण उतना आवश्यक नहीं जितना काव्य का स्वाभाविक उल्लास और जीवन प्रति स्वस्थ ध्येय। कहने के लिए कुछ होता है तो कहने की कला अपने आप ही आ जाती है और कहने के लिये कुछ नहीं है तो केवल कला या ज्ञान व्यर्थ है। काव्य के सम्बन्ध में तो कम से कम यह कहा ही जा सकता है आस पास के जीवन का ज्ञान और अनुभव, भावुकता और भाषा पर अधिकार की प्राप्ति, कवि को सदैव कविता की स्वाभाविक कला से सम्पन्न बनाती रहती है।

## कविता के तत्व और उपकरण

*कविता के तत्व*

कविता के तत्वों में हम उन वस्तुओं को ले सकते हैं जो कि कविता का बीज रूप अथवा उसकी उत्पत्ति का कारण होती हैं जिनकी उपस्थिति के बिना कोई लेख कविता नहीं हो सकता। विद्वानों ने रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है, पर इनसे कविता की उत्पत्ति नहीं होती है, कविता के प्रणयन में इनसे सहायता नहीं मिलती, ये कविता के सौन्दर्य हैं निर्माण-तत्व नहीं। शरीर के तत्व पंचभूत हैं, पर मानव शरीर की शोभा या गुण ये नहीं, शोभा या गुणों के अन्तर्गत, सुशीलता, शौर्य, दया, उदारता, छवि आदि बातें आती हैं। ऐसे ही कविता के तत्व भी काव्य सौन्दर्य के उपकरणों से भिन्न हैं। कविता के तत्व दो हैं :—

१. कल्पना और २ भाव। इन दोनों की उपस्थिति कविता की सृष्टि करती है वे बीज रूप हैं जो साधनों और उपकरणों से संयुक्त होकर कविता को अंकुरित एवं पल्लवित करते हैं।

कल्पना तत्व को हम अधिकांश कविता में पाते हैं, जहाँ भाव का प्रभाव नहीं वहाँ भी कल्पना का आकर्षण रहता है। कल्पना-तत्व को हम दो रूपों में पाते हैं। एक तो सूझ के रूप में और दूसरे स्मृति के रूप में। इसको हम प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित प्रतिभा के रूप में भी ले सकते हैं। सूझ के रूप में कल्पना, नवीन उद्भावना, रूप-योजना, चित्रण और अलंकार उपस्थित करती है और स्मृति के रूप में कल्पना हमारे देखे सुने दृश्यों को सामने लाती है, जिनमें अधिकांश के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध रहता है। जो हमारे देखे दृश्य हैं उन्हीं को जब कवि हमारे सामने उपस्थित करता है, तो हमें बड़ा ही आनन्द मिलता है। दोनों प्रकार की कल्पनाओं का आनन्द भिन्न भिन्न होता है और कविता में हम कल्पना-तत्व की उपस्थिति दोनों रूपों में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, महादेवी वर्मा के नीचे के गीत में हम सूझ अधिक देखते हैं।

विहंगम, मधुर स्वर तेरे मदिर हर तार है मेरा।
रही लय रूप छलकाती, चली सुधि रंग ढुलकाती,
तुझे पथ स्वर्ण रेखा, चित्रमय संसार है मेरा॥ १॥
गगन का तू अमर किन्नर, धरा का अजर गायक, उर,
मुखर हैं शून्य तुझसे, लय भरा यह क्षार है मेरा।
तुझे पा बज उठे कण कण, मुझे छू लासमय क्षण क्षण,
किरण तेरा मिलन झंकार सा अभिसार है मेरा।
उड़ा तू छन्द बरसाता, चला मन स्वप्न बिखराता,
अमिट छवि की परिधि तेरा अचल रस पार है मेरा।
धरा से व्योम का अन्तर, रहे हम स्पन्दनों से भर,
निकट तृण नीड़ तेरा, धूलि का आगार है मेरा।
बिछी नभ में कथा झीनी, घुली भू में व्यथा भीनी,
तड़ित उपहार तेरा बादलों सा प्यार है मेरा।
न कलरव मूल्य तू लेता, हृदय साँसें लुटा देता,
सजा तू लहर सा खग, दीप सा श्रृंगार है मेरा।
चुने तूने विरल तिनके गिने मैंने तरल मनके,
तुझे व्यवसाय गति है, प्राण का व्यापार है मेरा।[1]

ऊपर के गीत में पूरा साम्य, सूझ के बल पर ही चलता है। खग के जीवन से अपने जीवन का साम्य अनेक बातों में दिखाना सूझ का ही काम है। शब्द-साम्य, भाव-साम्य के साथ दोनों का चित्र उपस्थित किया गया है। ऐसी कविता में अलंकारों का आधिक्य रहता है।

इसके विपरीत नीचे के छन्द में 'स्मृति' का प्राधान्य है :—

"आँखों में ही घूमा करता, वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो गया, जवानी में ही मारा।
बिका दिया घर द्वार महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह, कुर्क हुई बरधों की जोड़ी।
उजरी उसके सिवा किसे कब, पास दुहाने आने देती,
वह आँखों में नाचा करती, उजड़ गई जो सुख की खेती।

---

१. दीपशिखा, ११ वाँ गीत।

बिना दवा दरपन के गृहिनी स्वर्ग चली आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुही, बिटिया दो दिन बाद गयी मर।

— — — —

पिछले सुख की स्मृति आँखों में क्षण भर एक चमक है लाती,
तुरत शून्य में गड़ वह चितवन तीखी नोक सदृश बन जाती।[1]

ऊपर की रचना में भाव और स्मृति दोनों ही एक साथ चलते हैं, किन्तु स्मृति अधिक व्यापक है। आँखों के सामने इस प्रकार के दृश्य आजाते हैं। आजकल की अनेक कवितायें इसी ढंग पर हैं।

कल्पना के इन दोनों तत्वों से संयुक्त होकर कविता अपना प्रभाव डालती है। कवि के भीतर कविता जाग्रत होती है, पाठक के भीतर भी कल्पना का आनन्द जगाती है। अतः कल्पनातत्व कविता का एक प्रधान और बलशाली तत्व है।

"भाव" कल्पना से भी सबल तत्व है। भावावेश की दशा में प्रत्येक वाक्य कविता होता है और प्रत्येक शब्द प्रभावपूर्ण। भाव की दशा पूर्ण स्पन्दन की दशा है, एवं ज्योति की दशा है, तन्मयता की दशा है, हिलोर और आनन्द की दशा है, "भाव" का प्रकाशन मधुर लगता है और भावपूर्ण अवस्था में मौन भी कम मधुर नहीं। प्रकाशन के साथ ही भाव की तीव्रता और बढ़ती है और जब तक उसका आवेश रहता है, बराबर बनी रहती है। भाव की सबलता को ध्यान में रखते हुए भी पंडित विश्वनाथ ने 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' कहा है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भाव कविता का तत्व है और रस उसका गुण है। 'भाव' कविता का बीज है और रस उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त पूर्ण आनन्द या शोभा। रस कार्य है, भाव कारण है। इसलिए कविता का तत्व, रस नहीं वरन् भाव ही हो सकता है। इन दोनों तत्वों को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि आजकल का कवि कल्पना पर अधिक निर्भर रहता है, भाव-तत्व का बहुत कुछ अभाव ही रहता है।

*कविता के उपकरण*

कविता के उपकरणों में भाषा, छन्द और अलंकार हैं। भाषा तो कविता का अनिवार्य अंग है, पर काव्य के उपकरण के रूप में भाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए, यह प्रश्न वर्तमान दृष्टिकोण से विचारणीय है। छन्द और अलंकार कविता के अनिवार्य

१. हस का 'कविता अंक', अक्टूबर १९३१, में पन्त की "के साथ" शीर्षक कविता।

अंग नहीं है, फिर भी कविता के लिए आवश्यक अवश्य हैं, दोनों ही यदि कविता के तत्वों के साथ सामंजस्य रखते हुए आते हैं, तो बड़े ही महत्व के हैं। इनमें से प्रत्येक पर वर्तमान कवियों के नवीन विचार मिलते हैं, आगे की पंक्तियों में प्रत्येक पर अलग अलग विचार किया जायेगा।

भाषा

भाषा कविता का शरीर है। बिना भाषा के भाव निराकार हैं और उनका व्यापक प्रभाव नहीं है। मनुष्य को भाषा की विशेषता ने ही अन्य प्राणियों से अधिक भावुक सभ्य और ज्ञानवान् बनाया है। किसी भी प्रकार के विचार या भाव के प्रकाशन के लिए भाषा आवश्यक है। भाषा भावों को प्रकट करने वाली भी होती है और भावों को जगाने और उत्तेजित करने वाली भी। किसी भाव में भरे बैठे रहो तो कुछ नहीं, पर जैसे ही उसको भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न करो कि भाव पूरी सबलता के साथ जग पड़ता है।

कविता का प्राण भाव है अवश्य, पर उसकी देह भाषा ही है। अतः कविता में भाषा का महत्व है। यह उसका प्रमुख उपकरण है और अंग भी। आज कल कविता की भाषा के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि कविता की भाषा कैसी हो। इस प्रश्न पर मतभेद है। कुछ लोग कविता की भाषा को जन-साधारण की भाषा से भिन्न मानते हैं। कुछ लोग उसको भाषा बोलचाल की और सरल बनाना चाहते हैं, तो कुछ उसे क्लिष्ट और संस्कृत शब्दावली प्रधान। परन्तु भाव के सम्बन्ध में सरलता और कठिनाई का प्रश्न नहीं उठता। निश्चय रूप से यदि पूछा जाय तो उचित यही है कि भाषा भाव को पूर्ण रीति से व्यक्त करने वाली हो। भावानुकूल उसमें मधुरता और व्यापकता होनी चाहिए। भाषा की सर्वजन सुलभता एक ऐसी विशेषता है जो कविता को अधिक सर्व प्रिय बना देती है। तुलसी के अनुसार भणिति, सुरसरि के समान सबका हित करने वाली होनी चाहिये। सर्व हितकारी वस्तु के लिए सभी के द्वारा सहज ग्राह्यता का गुण भी आवश्यक है। किन्तु कवि का यह प्रयत्न अपेक्षित नहीं कि वह भाषा को बरबश सरल बनावे। अनुभूत भावों को स्पष्टता और मिठास के साथ प्रकट करने के प्रयत्न में भाषा अपने आप ही अनुकूल हो जाती है। सरल या क्लिष्ट बनाने का प्रयत्न भाषा को अस्वाभाविक बना देता है। 'निराला' जी का मत भाषा की व्यापकता के विषय में निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है —

"ग़ैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना। उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। ब्रजभाषा, साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। उसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गए हैं, जिससे अधिक कोमलता आ नहीं सकती। ब्रजभाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के कायल हैं। बगला, गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में उसकी छाप मिलती है।"[१]

निराला, ब्रजभाषा को साहित्य की मान्य भाषा मानते हैं। और एसी ही साधना खड़ी बोली के लिए भी करने की सम्मति देते हैं पर ब्रजभाषा को साहित्य-सुलभ बनाने के लिए विशद और व्यापक भाव भरने के अतिरिक्त उसे मधुर बनाने का भी प्रयत्न किया गया है, वैसे तो वह स्वभाव से मधुर है ही। केवल व्यापक भाव भरने से भाषा सर्वजन सुलभ न होगी। मधुरता के लिए प्रयत्न अवश्य करना पड़ेगा। मधुरता भाषा को काव्य का रूप देती है। मधुरता उसे ग्राह्य और रुचिकर बनाती है। मधुरता, रस के अनुकूल होनी है। वीर में ओज गुण भाषा को मधुरता और रुचि प्रदान करता है और करुणा में मृदुलता, कोमलता भाषा को भावानुकूल बनाती है अतः दोनों प्रकार प्रयत्न आवश्यक हैं। और इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता के लिए भाव और भाषा का सामंजस्य होना आवश्यक है।

भाव और भाषा का सामंजस्य, यदि उसमें कोई भी भाव है, तो रमणीय कविता का उद्‌गम है। पन्त जी ने भाव और भाषा के सामंजस्य पर अधिक जोर दिया है उनका कथन है कि जहाँ भाव और भाषा की मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'वटु समुदाय' ही दादुरों की तरह इधर उधर कूदते, तथा साम‌ध्वनि करते हुए सुनाई देते हैं।[२] इसी भाव और भाषा के सामंजस्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वे कवि की भाषा के लिए चित्र भाषा होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है :—

"कविता के लिये चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों। सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने

१. देखिए निराला जी का प्रबन्ध पद्म पृष्ठ १४।

२. पल्लव का प्रवेश पृ० २७।

चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सूँघते ही सांसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जावे,———"[१]

भाव और भाषा का सामञ्जस्य जिन कवियों की कविता में अधिक मिलता है उनकी ही कविता की ख्याति अधिक होती है। भाव और भाषा के सामञ्जस्य की विशेषता के साथ यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भाव की अनुभूति जो कवि को होती है उसे ही पूर्णतया स्पष्ट करने की सामर्थ्य काव्य भाषा की विशेषता है। अतः भाव और भाषा के सामञ्जस्य के साथ भाषा का समर्थ होना भी आवश्यक है। समर्थ शब्द पर विचार करके देखें तो यह भी इसी सामञ्जस्य की ओर संकेत करता है। सम्यक् अर्थ जिसमें है वही समर्थ भाषा है अतः भाषा भावानुकूल समर्थ और मधुर होनी चाहिए।

अन्त में हमें भाषा के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा सदैव एक ही नहीं रहती है। उसकी शैलियाँ, उसका शब्द भंडार निरन्तर विकास को प्राप्त हुआ करते हैं। जिस प्रकार युग-युग में भाव बदलते हैं उसी प्रकार भाषा और शैली भी, फिर भी उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे बरबस बदलने का प्रयत्न किया जाय। भाषा के लिए स्वाभाविकता का गुण उसका प्रमुख सौन्दर्य है, कृत्रिमता, भाषा के सौन्दर्य को भोंडा और अग्राह्य कर देती है।

### छन्द

जिस प्रकार भाषा के सम्बन्ध कुछ लोगों में का यह विचार है कि कविता की भी भाषा जनसाधारण की भाषा होनी चाहिए, उसी प्रकार उनका यह भी विचार है कि छन्द कविता के लिए आवश्यक नहीं है। छन्द और गति से स्वतन्त्र होकर कविता अधिक स्वाभाविक होगी। बहुतेरे यह भी समझते हैं कि कवि को, छन्द के नियम-बद्ध होकर, स्वाभाविकता पूर्ण सहज भावप्रकाशन में बाधा और कठिनाई पड़ती है। अतः उसे छन्द की पूर्ति के लिए कुछ शब्द भरती के लाने पड़ते हैं जिससे कि कविता अस्वाभाविक हो जाती है और इस प्रकार गद्य और पद्य की भाषा में छन्द की दृष्टि से भी कोई भेद नहीं होना चाहिए।

ऐसे प्रयत्न भी किये गए हैं जिसमें कविता को बिल्कुल गद्य के समान ही व्यक्त किया गया है। पर उनमें भी गति है, नियम है, छन्द है, बन्धन है, हाँ, वह वैसा दृढ़तर नहीं

---

१, पल्लव का प्रवेश पृ० २६।

जैसा पुराने छन्दों का। हम उन कविताओं को ध्यान से देखें तो उनमें शब्द क्रम, गद्य के शब्द क्रम से भिन्न हैं, कुछ वाक्य अधूरे हैं, इसीलिए कि उनमें भी गति है, नियम है और उस नियम के कारण इस क्रम बदलना पड़ा है। छन्द का जीवन उन कविताओं से पूर्णतया बहिष्कृत नहीं हो गया। हाँ, मान्य बात तो यह है कि प्रत्येक भाषा के अपने उपयुक्त छन्द होते हैं और समय और परिस्थितियों के अनुसार भी पुराने छन्द बदलते रहते हैं और नवीन छन्दों का प्रचार भी होता है। भावों के परिवर्तन के अनुसार ही भाषा और छन्दों में भी परिवर्तन उपस्थित होता है। अत हिन्दी के पुराने छन्द, पुरानी गति, पुरानी तुक आजकल के लिए उपयुक्त भले ही न हों, वे आजकल अस्वाभाविक हों, पर इसका यह निष्कर्ष नहीं हो सकता कविता बिना छन्द, बिना गति और बिना नियम के ही पनप सकेगी। वर्तमान भावना का यही तात्पर्य है कि हिन्दी के लिए नवीन उपयुक्त छन्दों की आवश्यकता है और उनका आविष्कार कविगण ही भावानुकूल करेंगे। किन्तु यह मूल सत्य कि कविता के लिए छन्द और गति की आवश्यकता है, अब भी निर्विकार और अपरिवर्तित एवं सिद्ध है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने पल्लव के 'प्रवेश' लेख में छन्द और कविता का सम्बन्ध स्पष्ट किया है। वे छन्दों के नियमों में परिवर्तन चाहते हैं पर छन्दों की कविता में आवश्यकता भी समझते हैं। उनका कथन है :—

"कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है छन्द हृत्कम्पन कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं जिनके बिना वह अपनी बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन, तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। ——— ———छन्द बद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोह चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (magnetic field) तैयार कर लेते हैं"[1]
इस विश्वास के साथ-साथ श्री पन्त जी मुक्त काव्य एवं मुक्त छन्द के पक्षपाती हैं। वे छन्दों को भावा के अनुकूल बनाना चाहते हैं। उनका कथन है कि मुक्त छन्द में भाव तथा भाषा का सामंजस्य, पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है।[2] प्राचीन छन्द जहाँ पर भाव के विकास

१ पल्लव का प्रवेश पृष्ठ ३०,३१।
२. „ „ „ ४८।

एवं स्पष्टता में बाधा डालते हैं वहाँ पर जो स्वाभाविक छन्द हो उसका प्रयोग किया जा सकता है। पन्त ने पल्लव में ऐसा किया भी है। 'उच्छ्वास', 'परिवर्तन' उनकी अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें एक छन्द में कुछ पंक्तियाँ चलकर फिर भाव परिवर्तन के अनुकूल कुछ पंक्तियों की मात्रायें बदल जाती हैं। जैसे :—

"धँस गये धरा में समय शाल
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल
यों जलद यान में विचर विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल।
वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर।

उच्छ्वास से ( पल्लव )

प्रथम चार पंक्तियों में १६ मात्रायें हैं पर अन्त की पंक्तियों में जहाँ कवि भाव को विराम देना चाहता है २४ मात्राओं की पंक्ति रखी है। इसी प्रकार :—

एक वीणा की मृदु झंकार
कहाँ है सुन्दरता का भार
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमार
दिखाऊँ मैं साकार—आँसू से (पल्लव)

में प्रथम तीन में १६ मात्रायें हैं और अंतिम भाव को मोड़ने के अवसर पर १२ मात्राओं की पंक्ति है। अतः छन्दों को भावानुकूल बनाना ही कवि का कर्त्तव्य है। भाव और छन्द का जहाँ पर मेल खा जाय वहाँ पर स्वाभाविकता रहती है। और जहाँ पर बरबस एक छन्द लेकर भाव भरने की दक्षता दिखाई दी जाय वहाँ पर अस्वाभाविकता आ सकती है। अंग्रेजी के लिए अंग्रेजी के ही छन्द उपयुक्त हैं और यों तो उसमें भी दोहे और सोरठे लिखे जा सकते हैं, पर वह खिलवाड़ है, कविता नहीं हो सकती। जयशंकर प्रसाद ने भी कविता का छन्द और संगीत से आवश्यक सम्बन्ध माना है। संगीत आनन्ददायी है और कविता का भाव संगीतमय शब्दों का सहारा पाकर और भी[1] बढ़ जाता है। किन्तु वे भी भावानुकूल ही छन्द का प्रयोग उत्तम मानते हैं।

निराला जी स्वच्छन्द और मुक्त छन्दों तथा मुक्त गीतों के प्रचारक हैं, पर वे भी इस बात को नहीं मानते कि कविता छन्द से विहीन भी हो सकती है। उनके सम्पूर्ण प्रयोग

१ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध (प्रसाद) पृष्ठ २०, २१।

नवीन छन्दों और स्वाभाविक वृत्तों की खोज के लिये हैं, छन्द विहीन कविता की स्थापना के लिए नहीं। अपने मुक्त छन्दों के प्रयास के विषय में उन्होंने लिखा है—"भावों की मुक्ति, छन्द की भी मुक्ति चाहती है यहाँ, भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतन्त्र हैं। इसका फल जीवन में क्या होता है, हिन्दी में समझदार होते तो अब तक व्यापक रूप से मालूम कर चुके होते। ——मैंने पढ़ने और गाने, दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं। पहला वर्णवृत्त में है, दूसरा मात्रा वृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप छन्द जा नहीं सकता।"[२] अतः स्पष्ट है कि उनके मुक्त छन्द भी छन्द ही हैं। छन्दों से कविता की मुक्ति नहीं है। वे और लिखते हैं :—

"हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णन वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहीं जा सकती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खण्ड में इस तरह की रचनाएँ हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रा वृत्तवाली रचनाएँ 'परिमल' के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गाई जा सकती हैं। पर संगीत अंग्रेजी ढंग का है। इस गति को मैं "मुक्तगीत" कहता हूँ। "बादल राग" शीर्षक से छः रचनाएँ इसी मुक्त गीत में हैं।"[१] इस प्रकार निराला जी के प्रयत्न ने एक स्वच्छन्द छन्द की दिशा खोल दी, यह ठीक है। वह छन्द अधिक बन्धन युक्त नहीं, पर हैं वे छन्द ही। छन्द कविता का आवश्यक उपकरण है, यह सर्वथा सिद्ध है।

*अलंकार*

भाषा और छन्द की भाँति अलंकार, कविता का अनिवार्य उपकरण नहीं है। इसका उद्देश्य काव्य की शोभा बढ़ाना ही है जैसा कि आचार्य दंडी ने लिखा है "काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते," किन्तु भाषा और छन्दों का विकास जिस प्रकार युग युग में आवश्यक होता है इसी प्रकार अलंकारों के प्रयोग में भी परिवर्तन और नवीनता कविता के लिए उत्तम होती है। अलंकार कथन की रोचक, सुन्दर और प्रभाव पूर्ण प्रणाली है। और इस दृष्टि से अलंकारों का प्रयोग, केवल अलंकारों के अर्थ न होकर भाव के अर्थ होते हैं। अतः भावोत्कर्ष में अथवा भावप्रकाशन में सहायक होकर

१. मेरे गीत और कला, 'प्रबन्ध प्रतिमा' पृष्ठ २७०।
२. मेरे गीत और कला, 'प्रबन्ध प्रतिमा' (निराला), पृष्ठ २६६।

जो अलकार आते हैं उन्हीं का कविता के साथ शाश्वत् सम्बन्ध है। अन्य जो केवल रूढ़िवश या परवश प्रयुक्त किये जाते हैं उनका महत्व नहीं रह जाता। आजकल जब कि कविता के अन्तर्गत स्वाभाविकता पर सबसे अधिक जोर दिया जा रहा है, भाषा और छन्द भी स्वाभाविकता को छोड़ कर कविता में शोभा नहीं पाते, तब अलकार भी स्वाभाविक रीति से ही कविता को सुशोभित कर सकते हैं। वर्तमान कविता म अलकारों का केवल चमत्कार या अलकार सम्बन्धी ज्ञान प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है, पर स्वाभाविक रीति से कविता में कुछ अलकार भावानुसार औरों से अधिक प्रयुक्त किये जाते हैं। उन अलकारों का निर्देश आगे किया जायगा।

जयशकर प्रसाद ने अलकार अथवा कथन-चमत्कार का महत्त्व भाव पर ही आधारित किया है। उनका कहना है कि अनुभूति की तीव्रता, तन्मयता और आनन्द की मात्रा के अनुसार ही कथन का सौष्ठव भी होता है। अलकार, अभिव्यजना, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का समावेश भावानुभूति के अनुपात से ही रहता है।[1] अतः भाव से सामजस्य स्थापित करना अलकारों का ध्येय होना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान भावना इसी बात पर दृढ जान पड़ती है कि अलकार की भरमार कविता में न हो, वरन् उनका प्रयोग स्वाभाविक ढग पर ही किया जावे। केशव की भाँति वे यह विश्वास नहीं करते कि "भूषण बिना न सोहहीं कविता, बनिता, मित्र।" कविता और वनिता दोनों के ही अनलकृत और स्वाभाविक सौन्दर्य की वृद्धि पर ही आजकल सभी का लक्ष्य जान पड़ता है। अलकारों के अस्वाभाविक प्रयोग की निन्दा और स्वाभाविक प्रयोग की प्रशसा करते हुए अलकारों का महत्त्व प० सुमित्रानन्दन पन्त ने निम्न-लिखित पक्तियों में स्पष्ट किया है—

"अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलकारों के चौखट म फिट करने के लिये बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता म बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[2] आगे चलकर उन्होंने इसी भाव को और

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ २१।

२ पल्लव का प्रवेश, पृ० २२।

अधिक स्पष्ट किया है। जहाँ अलकार भाव के लिये न आकर अलकार के लिये आते हैं, जहाँ उपमा के लिए, अनुप्रास के लिए, श्लेष, गूढ़ोक्ति आदि अपने अपने लिए आते हैं और साधन न रहकर साध्य हो जाते हैं, वहाँ पर अराजकता फैल जाती है और कविता अलकारो से बोझिल हो भावहीन होकर स्वाभाविक सौंदर्य खो देती है।[१] इस प्रकार अलकारों के विषय में यही मत है कि उनका प्रयोग स्वाभाविकता के साथ भाव के अनुसार होना चाहिए। आजकल की विकास शील कविता मे सभी अलकारों का प्रयोग हो भी नहीं रहा है। यमक, अनुप्रास आदि तो बहुत कम हो गये हैं, परिसख्या, श्लेष आदि की भी धूम नहीं है। हाँ, कुछ अलकार कविता मे विशेष स्थान और विकास पाते हुए दिखलाई देते हैं। उसका कारण यह है कि उनका भाव-प्रकाशन की स्वाभाविक अथवा परिस्थिति जन्य प्रणाली से सीधा सम्बन्ध है। कुछ के नाम ये हैं—अन्योक्ति, विरोधाभास, रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, सन्देह, उल्लेख। अनुप्रासो का प्रयोग स्वाभाविक ध्वनि के अनुकरण निमित्त विशेष रूप से हुआ है, जैसा कि कुछ ध्वनि या शब्द सगीत के उदाहरण हैं—

"भेरी भररर, भरर दमामें,
घोर नकारों की है चोप।
कड़ कड़ कड़ सन् सन् बन्दूकें,
थररर थररर थररर तोप।
धूम धूम है भीम रणस्थल,
शत शत ज्वाला मुखियाँ घोर।
आग उगलती दहक दहक दह,
काँप रहे भू नभ के छोर।" अनामिका, (निराला)।

इसी प्रकार का ध्वनि सौंदर्य परिमल के बादल राग मे भी हम मिलता है। यहाँ पर भाव और दृश्य के अनुकूल शब्द है। ध्वनि के अनुकरण मे वर्णों का प्रयोग है, अलकारों की शौक म नहीं। उल्लेख, अलकार का प्रयोग भी ऐसे स्थलों मे जहाँ पर कवि किसी की प्रशसा में उसे सबोधन करके अथवा वैसे ही वर्णन करता है, अधिक हुआ है। प्रकृति के पदार्थों के भी किसी की प्रशसा मे उस सम्बोधन करके, उत्प्रेक्षा पूर्ण वर्णनों में भी इसका आभास है। 'अनामिका' के (ज्येष्ठ) और पल्लव की (छाया) इन दो प्रकारों के उदाहरण हैं। अन्योक्ति का प्रयोग तो, आध्यात्मिक, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक,

---

१. पल्लव का प्रवेश पृष्ठ २६।

सभी प्रकार के जीवन के चित्रण को लेकर किया गया है। निराला के 'वन बेला' 'ठूँठ' तथा अनेक छायावादी गीत, महादेवी वर्मा के 'कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो' अथवा अन्य अनेक गीतों में इसकी लहर है। सन्देह अलंकार भी कल्पनात्मक वर्णनों में बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक कवि ने इसका उपयोग किया है। एक उदाहरण देखिए :—

"अश्रु—छवि"

> कैसे कहूँ आंसुओं की छवि ? दृग पल्लव के फूल कहूँ।
> प्रेम वारुणी भरे दृगों के कहो छलकते फूल कहूँ।
> क्या आँखों के अन्तरिक्ष से, सजल टपकते इन्दु कहूँ ?
> या धरनी की वल्लरियों पर तरल तुहिन के बिन्दु कहूँ ?

अतः हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त अलंकारों का प्रयोग ही आधुनिक कविता में विशेष रूप से हुआ है। महादेवी वर्मा में अलंकार का बड़ा विकास पाया जाता है। पर आज कल सबसे अधिक प्रयुक्त अलंकार है "विरोधाभास"। विरोधाभास का प्रभाव पड़ता है। उसे लोग स्मरण करते हैं क्योंकि विरोध दीखते हुए भी उसमें सत्यता होती है। विरोधाभास का अधिक प्रयोग नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

१. "दे रही हूँ अलख, अविकल को सजीला रूप तिल तिल।
आज वर दो मुक्ति आवे, बन्धनों की कामना ले।
—महादेवी वर्मा

२. शून्य मेरा जन्म था, अवसान है मुझको सवेरा ॥ ६० ॥ दीप० ॥
—(महादेवी वर्मा)

लक्षणा के आधार पर विरोधाभास देखिए :—

३. "नासिका रन्ध्र ही देख सके जिसको ऐसा है धूम्र चीर।
—मिट्टी और फूल
—(नरेन्द्र)।

४. कल बूँदा बांदी से भीगी, सोंधी सुगंध वाली धरती मेरे नीचे।
ऊपर सुकुमार क्यारियों से सौ चँवर डुलाता नीम, और मैं लेटा हूँ नीचे।
—नरेन्द्र

५. "सान्त दीपों में जगी नभ की समाधि अनंत,
बन गए प्रहरी पहन आलोक तिमिर, दिगन्त ॥ ४ ॥ दीपशिखा
—( महादेवी वर्मा )

६. कर प्रकाश बन्दी, दीपक में तम में तुमने किया उजाला।
जैसे धन को वैसे मन को फिर ईश्वर भी खोज निकाला।
सृजनहार के सृजनहार तुम ही प्रतिपालक बन्दी ॥
—प्रभात फेरी, (नरेन्द्र) ॥

७. विश्व का उपहार मेरा।
पा जिन्हें धनपति अकिंचन,
खो जिन्हें सम्राट निर्धन
भावनाओं से भरा है आज भी भंडार मेरा ॥ विश्व ॥
—( बच्चन )

इसी विवेचन से स्पष्ट है कि कविता के तत्व, साधन एवं उपकरण जो प्राचीन काल से ही चले आते हैं आजकल भी वैसे ही हैं और अधिक स्पष्ट हो गये हैं। उनमें से जो अधिक स्वाभाविक है उनको ही अपनाया गया है और जो जटिल और पाण्डित्य-प्रदर्शन कर सकते हैं उनको त्याग दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजकल की कविता में काव्यशास्त्र सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन और विकास देखने को अवश्य मिलता है। यह परिवर्तन काव्य शास्त्र के अंगों में इस प्रकार देख सकते हैं। एक समय था जब कि अलंकार ही काव्य का मुख्य अंग समझा जाता था। धीरे धीरे उसका स्थान वक्रोक्ति ने लिया। किसी वस्तु का वर्णन एक विशेष ढंग पर करना ही कविता की सफलता थी। संस्कृत के आचार्यों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के रीति-काल में भी काव्य की मुख्य धारणा यही रही। केशव और उनके अनुयायी किसी वस्तु का साधारण और यथातथ्य वर्णन कविता के अन्तर्गत नहीं मानते थे। वरन् कवि की कल्पना द्वारा जो उस वस्तु का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता और जो सर्व साधारण की सामान्य दृष्टि में न आ सकता वही कविता समझी जाती थी। केशव की यह धारणा उनकी रामचन्द्रिका के "देखे मुख भावै अन देखे ही कमल चन्द ताते मुख मुखै सखी कमलो न चन्द री।" से प्रकट होती है जिसमें वे संसार की वस्तुओं के साधारण रूप में कोई सौन्दर्य नहीं देखते वरन् कल्पनागत रूप ही उनके विचार से सुन्दर है।

इसके पश्चात् रस सिद्धान्त का जोर बढ़ा। भाव-व्यंजना और रस निरूपण काव्य के मुख्य अंग समझे गये और उसी के साथ-साथ ध्वनि की भी पूरी धूम रही। किसी समय कविता में विभाव, अनुभाव, संचारी भावों-द्वारा स्थायी का प्रस्फुटन आवश्यक समझा गया। पर इसके पश्चात् इन सभी काव्यशास्त्रीय प्रणालियों से मुक्त होकर कविता चली। यह नहीं कहा जा सकता कि कविता किसी भी समय, अलंकार, रस, वक्रोक्ति आदि से रहित हो सकती है, वरन् विचारणीय बात यह है कि कवि या काव्य-रसिक उसमें किस बात का समावेश करना चाहते हैं अथवा क्या खोजते हैं? इस दृष्टि से स्वच्छन्द कविता के अन्तर्गत भाव व्यंजना और कर्तव्य-निरूपण को भी कुछ दिनों स्थान मिला। उपदेशात्मकता, कर्तव्य, देश प्रेम, प्राचीन गौरव-गान आदि विषयों को लेकर चलने वाली कविता में भाव का ही बोल बाला रहा और हम कह सकते हैं कि यह भी रस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही है। चमत्कार और विशेष कर वर्ण-चमत्कार का आदर न रह गया। अतः इस समय यह कहा जा सकता है कि कवि या पाठक कविता में केवल भाव प्रकाशन चाहता था, दूर की कौड़ी, खोजना नहीं। विशेषोक्ति का वहीं तक आदर था जहाँ तक वह हमारी वासना या भाव को उकसाने में सहायक हो।

उसके पश्चात् 'छायावाद का मलयानिल' बहने पर काव्य का वातावरण बहुत प्रभावित हुआ। यह विशेषोक्ति और व्यंजना का नवजागरण आवश्यक था, पर इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत कविता के भीतर मुख्य वस्तु आत्मविश्लेषण रही। कवि को जीवन के सम्बन्ध में और जगत की वस्तुओं के सम्बन्ध में जो अनुभूति हुई उसी का प्रकाशन कविता में आवश्यक बन गया। प्रायः निराशा, वेदना या अशान्ति की भावना प्रधान रही। सुन्दर वस्तुओं को विशेष दुलार मिला। और जड़ प्रकृति की मनोहारी वस्तुओं को अधिक गौरवान्वित करके उन्हीं के माध्यम-द्वारा कवि ने अपने आनन्द या सौन्दर्य के आदर्श का प्रकाशन किया। कवि का मुख्य कर्म सौन्दर्य दर्शन था, और उसे वह अपनी अनुभूति और मनोवैज्ञानिक आत्म विश्लेषण द्वारा प्रकट करता था। वस्तु-वर्णन का यथातथ्य रूप न आकर काल्पनिक रूप आया जो चमत्कारवादी कवियों के सिद्धान्त से इस बात में भिन्नता रखता था कि इनका वर्णन बहुत कुछ अलंकारों पर आधारित न रहकर काल्पनिक अनुभूति के रूप में था। काल्पनिक अनुभूति छायावादी कविता की विशेषता है। इसमें वक्रोक्ति या अलंकारवाद के समान प्रकाशन का बाँकपन नहीं है, वरन् अनुभूति की ही असामान्यता है। कल्पना अनुभूति की ही है, वस्तु की नहीं। अतः इस कल्पनात्मक अनुभूति का अधिक अंश होने का कारण उसमें सूक्ष्मता और अस्पष्टता

अधिक रही। स्थूल स्पष्टता, साकारता पर प्रकाशन का बाँकपन जहाँ पर हमारे काव्य शास्त्र का उद्देश्य था वहाँ पर अब, आकार और भाव की अस्पष्टता के साथ साथ प्रकाशन का सीधापन इसकी विशेषता रही। अतः इस प्रकार के कवि को विशेष अभ्यास की आवश्यकता न रही और सभी कवि बनने लगे। कवि के लिए प्रौढ़ता जैसी कोई वस्तु आवश्यक न समझी गई, क्योंकि जब विचार और भावों में स्पष्टता नहीं, प्रकाशन के लिए कोई विशेष प्रयत्न या अभ्यास अपेक्षित नहीं, तब तो एक बालक भी कविता प्रारम्भ कर सकता है। यही हुआ।

यह स्वच्छन्दता आगे और आगे बढ़ी और धीरे धीरे छन्दों का बन्धन भी छूट गया, क्योंकि अभ्यासी और अप्रौढ़ कवि को छन्दों की गति विधि को ठीक रखने के लिए कुछ सीखने की आवश्यकता होती है। अत. यह अड़चन भी दूर हो गई। अत. अब कविता की कोई गहरी अपील, व्यापक और स्थायी प्रभाव तथा उसके लिए एक तीखी तृष्णा और ललक न रह गई। ऐसी दशा में कविता की मृत्यु सम्भव थी। अत. समय पर प्रगतिवादी आन्दोलन आया, जिसने उसके प्रभाव को फिर से जाग्रत करना चाहा। उद्देश्य उपयुक्त होने पर भी साधन और साधना प्रगतिवाद की ठीक न हो पायी। गद्य प्रकाशन का माध्यम होने पर, वैज्ञानिक, शास्त्रीय, राजनीतिक तथ्य कविता के क्षेत्र से हटे ही हैं। अत जीवन के यथातथ्य चित्रण को कविता में स्थान मिला।

पर इस कार्य के लिये कहानी अधिक उपयुक्त और स्वच्छन्द है। अतः काव्यान्तर्गत यथातथ्य चित्रण जो छन्दों से स्वछन्द और विशेषोक्ति से हीन है, कोई विशेष आकर्षण नहीं रख पा रहा है। इसलिये प्रगतिवाद फिर धीरे धीरे रसवाद की ओर आ रहा है, जिसमें भावों का प्रभावपूर्ण निरूपण काव्य की सफलता होगी। हाँ, ये भाव चाहे नव रसों के अन्तर्गत न रहकर अपने अन्य नये नाम धारण करें। छन्दों से स्वतन्त्रता प्राप्त कर भी कविता ने उससे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा क्योंकि इस प्रकार यदि उसके सभी अंग घुल गये तो कविता का स्थान गद्य-साहित्य ही ले लेगा, और धीरे धीरे उनका भेद मिटता ही रहा है। अत' अलंकार, शब्द-योजना, छन्द, भावव्यंजना, विशेषोक्ति सदा से ही कविता के अंग रही हैं और जब तक कविता नाम की कोई वस्तु रहेगी, तब तक बराबर रहेंगी।

———

# षष्ठ अध्याय

१

# ६

## १. काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्यायें

पिछले अध्यायों में हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास और उसकी वर्तमान स्थिति के अध्ययन के उपरान्त अब हम काव्यशास्त्र-सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं की ओर सकेत करते हुए, इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि आजकल प्रचलित साहित्यिकवाद कहाँ तक काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं, और उनका अपना स्वरूप क्या है, इसके साथ ही साथ इस बात पर भी थोडा बहुत विचार उपस्थित करना आवश्यक है कि काव्यशास्त्र की, काव्य की प्रगति में क्या और किस रूप मे आवश्यकता है, और उसके न होने से काव्य को क्या हानि लाभ हुआ करते हैं ? ये सभी बातें प्रस्तुत निबन्ध के उपसहार के रूप में हैं।

### आवश्यकता

आजकल सामान्य धारणा यह हो चुकी है कि काव्यशास्त्र के विकास ने कविता को हानि पहुँचाई है। अतः कवि को काव्यशास्त्र से दूर रहकर ही कविता करना चाहिए। उसके ज्ञान से कविता की प्रगति को हानि होने की सम्भावना है और काव्य शास्त्र को लेकर चलने वाला कवि मौलिक और नवीन पथ निर्माण नहीं कर सकता है। पर यदि विचार कर देखें तो यह धारणा व्यर्थ, भ्रमपूर्ण तथा असत्य जान पडती है। काव्यशास्त्र का विकास कविता के विकास को रोकने वाला नहीं है, उसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा। कविता और जनरुचि दोनों ही इसके विकास से पनपती हैं। कविता के अन्तर्गत दोषहीनता, कला, प्रभाव तथा जीवन का सफल चित्रण, काव्य शास्त्र के सम्यक् ज्ञान से ही आते हैं और काव्यशास्त्र के प्रचार से कविता का मर्म भी

समझा जा सकता है। हानि तो तभी होती है, जब उसका यथार्थ विकास और प्रचार नहीं होता। अथवा उसका अधूरा ज्ञान और रूढ़िगत प्रयोग होता है। जिस प्रकार हम अन्य सामाजिक शास्त्रों का ज्ञान समाज के विकास, और समृद्धि के लिए आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार काव्य की उन्नति के लिए काव्यशास्त्र की आवश्यकता है। काव्य शास्त्र को समझने के उपरान्त ही हम काव्य की उपयोगी और समर्थ शैलियाँ निकाल सकते हैं। अतः इसके यथार्थ ज्ञान और प्रचार से कभी भी काव्य को हानि नहीं हो सकती। हाँ, जब कवि या लेखक स्वयं काव्यशास्त्र का यथार्थ अध्ययन या ज्ञान न करके, केवल पारिभाषिक शब्दों, वादों, सम्प्रदायों या रूढ़ियों के चक्कर में फँस जाते हैं, और जीवन का यथार्थ ज्ञान छोड़कर अस्वाभाविक रीति से उनके पीछे चलते हैं, जब उन्हें जीवन और समाज के लिए कुछ कहना नहीं होता, अथवा कहने की सामर्थ्य नहीं होती, तभी कवि और कविता का सम्मान घटता है, काव्यशास्त्र के कारण नहीं। काव्यशास्त्र तो कविता की रचना और उसके आस्वादन दोनों ही को गंभीर और मधुर बनाता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की अवश्य रहती है कि जीवन और समाज की परिवर्तित प्रवृत्तियों अथवा आवश्यक आदर्शों के अनुसार कवि और शास्त्रकार उसको अपनावें और उसी के अनुकूल उसकी व्याख्या करें। समयानुसार शास्त्र के नवीन विकास की भी आवश्यकता रहती है, और इसके पूर्व रूप की नवीन व्याख्या भी अभिप्रेत होती है। काव्यशास्त्र की अवहेला करके भी चलने वाला कवि, उसके क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकता। अलंकारों की निन्दा करता हुआ भी कवि अपनी कविता में अलंकारों का बहिष्कार नहीं कर सकता अतः उसका सम्यक् अध्ययन और सम्यक ज्ञान करके उसका आवश्यक उपयोग कवि का कर्तव्य है।

' समय और परिस्थितियों के अनुसार काव्यशास्त्र की समस्यायें बदला करती हैं। पुरानी समस्यायें काव्य में भी इसी प्रकार तिरोहित होकर नवीन समस्याओं को जन्म दिया करती हैं जैसे जीवन में। एक युग था जब काव्य में यही समस्या प्रधान थी कि काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है, और उसका समाधान भामह और दंडी के समय म अलंकारों को सर्वोपरि मानकर किया गया था, दूसरा युग आया जब काव्य में रस को सर्वोपरि माना गया और अलंकार, गुण आदि की इसी प्रकार व्याख्या की गई कि इनका रस से क्या सम्बन्ध है। इसी प्रकार हमें विचार करना है कि हमारे काव्यशास्त्र की वर्तमान क्या समस्या है? और आजकल का कवि समाज या शास्त्र उसका समाधान किस प्रकार करना चाहता है। उसके इस सुझाव तत्व का क्या मान

है, और काव्यशास्त्र ने पूर्व प्राप्त तत्वों से उसका क्या सम्बन्ध है? वह कोई नवीन तत्व है या प्राचीन ही, तथा उसकी केवल व्याख्या और रूप ही नवीन है। इन अनेक रूपों म हम आजकल काव्य और काव्यशास्त्र की समस्याओं पर भी थोडा विचार करना है। काव्य की अधिकाश मूलभूत समस्यायें काव्यशास्त्र की भी समस्यायें होती हैं, अत वे दोनो लगभग एक ही मानकर हम आगे चल रहे हैं।

जब हम वर्तमान काव्यशास्त्र की समस्याओ पर गहराई के साथ विचार करते हैं, तब हम विदित होता है कि हमार सामने प्रश्न और समस्याये लगभग वही हैं जो प्राचीन समय म थीं, थोडा बहुत परिवर्तन चाहे मिल जाय। और यह भी हम देख सके हैं कि कुछ एक आध को छोड कर समस्यायें मूलत. वही रही हैं, उनका दृष्टिकोण और सुलझाव का ढग विशेष बदला करता है। यही बात हम आजकल भी पाते हैं। और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आजकल हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि कविता क्या है, उसका लक्षण हम जानना या बताना नहीं चाहते, पर यही समस्या इस रूप म प्रमुखत हमारे सामने है कि कविता का तत्व क्या है? कौनसी वस्तु है जो आजकल का कवि या साहित्यसेवी कविता के लिए अनिवार्य समझता है? पिछले युगों ने कविता की आत्मा पर विचार किया है, किसी ने काव्य की आत्मा को रस, किसी ने वक्रोक्ति, किसी ने रीति और किसी ने ध्वनि माना है, पर आज का कवि काव्य की आत्मा क्या मानता है, आजकल के कवि की दृष्टि से कविता का तत्व क्या है, आजकल का पाठक कविता के भीतर क्या पाना चाहता है? यह सर्वप्रथम और मुख्य समस्या हमारे सामने है।

## काव्य की आत्मा

हम कह सकते हैं कि आज का कवि कविता के अन्तर्गत अलंकार अनिवार्य नहीं मानता, वह वक्रोक्ति या ध्वनि लाने का भी प्रयत्न नहीं करता। इनको उद्देश्य बनाकर चलने वाले पुरानी परिपाटी के कवि ही हों, तो हों। रीति और गुण भी आज के कवि का लक्ष्य नहीं है। और हम अन्त म यह भी कह सकते हैं कि रस का भी वर्णन उस रूप म कवि का ध्येय नहीं रहता जिस रूप में कि रस सिद्धान्त के अन्तर्गत उसकी व्याख्या की गई है और जिस रूप में रसवादी सम्प्रदाय के कवियों ने रस सम्बन्धी ग्रन्थों में उसका वर्णन किया है। वह प्रबन्ध काव्यों का सा भी रस और भाव चित्रण नहीं करना चाहता। अत हम कह सकते हैं कि रस को भी अपने प्रतिष्ठित रूप में आज का कवि कविता का अनिवार्य अंग नहीं मानता। तो फिर कविता का अनिवार्य अग आज का कवि मानता क्या है? और यदि इनसे कुछ भिन्न वस्तु को वह कविता का तत्व मानता है तो हमार प्राचीन काव्याचार्यों

ने काव्य की आत्मा को ढूँढने में सफलता नहीं प्राप्त की, यह बात भी विचारणीय है। आजकल की कविताओं का अध्ययन करने पर हम कवि की दृष्टि से काव्य के तत्व या आत्मा की खोज कर सकते हैं। आजकल का कवि अनुभूति, कविता का अनिवार्य अंग मानता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि कवि की स्वानुभूति ही कविता की आत्मा है, उसी को वह कविता में प्रकट करना चाहता है। इतना जानने पर अब हम प्राचीन सिद्धान्त पर विचार करें, तो हम देख सकते हैं कि यह स्वानुभूति जो आजकल कविता की आत्मा है, भाव या रस-सम्प्रदाय की ही वस्तु है, पर सीधे ढंग से हम उसे सम्बन्धित नहीं कर सकते। रस सिद्धान्त में भाव चित्रण प्राय: आत्मानुभव के रूप में नहीं आता, उसमें तो कवि किसी दूसरे का भाव तटस्थ रूप में चित्रित करता है, पर आज का कवि तो अपने भाव को अपने ही रूप में प्रस्तुत करता है इसीलिए हम कहते हैं कि 'स्वानुभूति' ही कवि की कविता की आत्मा है।

## कारण

अब कवि की इस 'स्वानुभूति' को जाग्रत और तीव्र करने के लिए अनेक बातों की आवश्यकता है और जाग्रत होने पर उनको सफल रूप में चित्रित करने के लिए भी कुछ उपादानों का होना अनिवार्य है। अतः दूसरी समस्या यह है कि (काव्य के कारण और प्रेरणायें क्या हैं? काव्य के साधन और उपकरण क्या हैं? और आज का कवि उनका कहाँ तक उपयोग करता है? कारण और प्रेरणाओं के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि कवि का जीवन में अनुभव, निरीक्षण और अध्ययन काव्य के कारण हैं—जीवन के सुख, दुःख, विषमतायें, अत्याचार, आनन्द, उल्लास, सौन्दर्य आदि कवि की अनुभूति और प्रतिभा से टकराकर काव्य का रूप ग्रहण करती हैं। अतः अपनी अनुभूति को तीव्र करने के हेतु कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन और जगत् का व्यापक और सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करे। जीवन के यथार्थ अनुभव के बिना कवि की अनुभूति सार्वजनीन और चित्रण प्रभावशाली नहीं हो सकते।

यह सब काव्य की आत्मा, स्वानुभूति को जाग्रत और तीव्र करने के कारण और साधन हुए। आत्मा कभी नग्न रूप में नहीं आती। उसके आधार के लिए, देह, आवरण या स्थान आवश्यक है। अपनी अनुभूति को आधार देने के लिए कवि जिन बातों का उपयोग करता है, वे काव्य के बाह्य अंग या उपकरण हैं और इनके अन्तर्गत, भाषा, छन्द और अलंकार आते हैं।

## उपकरण

इसके पूर्व कि हम इन बातों पर विचार करें, यह बता देना चाहते हैं कि 'स्वानुभूति' तो प्राचीन काव्य शास्त्र की खोजों से कुछ भिन्नता अवश्य रखती है, पर काव्य के कारण और प्रेरणा में अब भी वही मानना पड़ेगा जो प्राचीन आचार्य मानते आए हैं।[१] और जिन्हें उन्होंने शक्ति, निपुणता, व्युत्पत्ति आदि के रूप में प्रकट किया है। यह बात अवश्य है आजकल का कवि इन कारणरूप वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न उतना नहीं करता जितना अभिप्रेत है।

### *भाषा, छन्द, अलंकार*

काव्य की भाषा कैसी होनी चाहिये, यह आजकल की समस्या है, पर काव्यशास्त्र इस विषय में कोई भी कठोर नियम नहीं बना सकता। अपनी अनुभूति के प्रकाशन के लिये उपयुक्त भाषा कवि स्वयं चुन सकता है। साहित्यिक भाषा के रूप में जब कवि या लेखक नितांत रूढ़ और जीवनहीन भाषा को ग्रहण करके चलता है, तब भी काव्य की बड़ी हानि होती है और जब कोई एकदम नवीनता के फेर में पड़कर साहित्य द्वारा अर्जित भाषा के भंडार को ठुकरा ही देना चाहता है, तब भी बड़ी कठिनाई पड़ती है। अतः कवि के लिये परम्परा का विकास आवश्यक है। भाषा को सजीव और जोरदार बनाने के लिए आवश्यकतानुसार नवीन शब्दों, मुहावरों प्रयोगों, लोकोक्तियों का निर्माण कभी भी बन्द नहीं होना चाहिये। पर हमें प्राचीन प्रयोगों को भी एकदम तिलाजलि न देना चाहिये, क्योंकि उसके अन्तर्गत हमें भाषा की मँजी हुई और परिष्कृत सामग्री मिलती है। भाषा के दो पक्ष होते हैं एक तो शब्द का, दूसरा वाक्य या मुहाविरों का। हमारे आधुनिक कवियों ने शब्दों के प्रयोग में तो काफी ध्यान दिया है, पर क्रिया पदों, मुहाविरों और वाक्यों के प्रयोग में सफलता नहीं प्राप्त कर सके। इस पक्ष में उनका कार्य नगण्य है। यह बात ठीक नहीं है। बिना क्रिया-पद के शब्द खिलता नहीं है, अतः क्रिया-पद के नवीन प्रयोग, उनमें लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों को भरने का प्रयत्न

---

१. "एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह,
शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ १ ॥ ३ ॥

—मम्मटकृत काव्यप्रकाश।

बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यक है। भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन हिन्दी कविता ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। उसमें ऐसे-ऐसे ललित और भावव्यंजक शब्द मिलते हैं और ऐसे ऐसे प्रयोग और मुहाविरे कि मन यही चाहता है कि पद की केवल शब्द और मुहाविरों के लिये याद कर लिया जाय। इस स्मरण करने के आकर्षण को बढ़ाने में छन्दों का भी अपना हाथ रहता है। अतः छन्दों की काव्य में आवश्यकता पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी है।

कविता की परिभाषा करना कठिन है क्योंकि कविता के स्वरूप ने सदैव लक्षणकारों को चुनौती दी है, अतः कविता-विषयक, व्यक्तिगत अनुभूति और धारणा ही हमें इसका स्वरूप समझने में सहायता देती है। अनेक विचारकों और विवेचकों के कथनों के अनुसार यही कहा जा सकता है कि कविता का स्थान साहित्य में सर्वोच्च रहा है। यदि विचार कर देखें तो स्मरणीयता कविता की मुख्य विशेषता है। स्मरणीय भावपूर्ण कथन कविता की कोटि को प्राप्त करते हैं। कहानी का अनुभव लोक का अनुभव होता है, पर कविता का अनुभव अपना ऐसा अनुभव है जो लोकानुभव पर आश्रित होता हुआ भी नवीन होता है। यह नवीनता स्मरण करने की प्रेरणा और आकर्षण कविता में भरती है; और कविता के शब्द उसे स्मरण करने की सुगमता प्रदान करते हैं। इस स्मरणीयता में सहायक तत्व छन्द है, अतः छन्द का कविता के भीतर सदा महत्व रहेगा। यहाँ पर काव्य और कविता का भेद भी समझ लेना चाहिए। काव्य चाहे गद्यमय हो चाहे पद्यमय पर कविता पद्यबद्ध काव्य ही है। अतः कविता के लिए छन्द की आवश्यकता अनिवार्य है।

छन्द हमारे भाव की गति को स्पष्ट करता है। छन्द का तात्पर्य यही नहीं है कि पिंगलशास्त्र के आचार्यों ने जिन छन्दों को बताया है उन्हीं का प्रयोग हो। छन्द का क्षेत्र आकाश सा व्यापक और उसका रूप लहरिया सा जटिल है। उसके किसी भी रूप का प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक कविता में जहाँ हम छन्द-मुक्त कविता करने का दावा करते हैं, वहाँ पर वास्तव में छन्द के स्वाभाविक और नवीन रूप का ही प्रयोग है। इन नवीन छन्दों के लक्षण, लक्षणकारों का तैयार करते हैं। जहाँ भी कविता की गति बँधती है, वहाँ पर छन्द अवश्य होता है। गति कविता का प्राण है अतः कविता छन्द को छोड़ नहीं सकती। कविता की स्मरणीयता सम्बन्धी विशेषता के विषय में इतना और कहा जा सकता है कि लक्षण ग्रन्थों में आये और पूर्ववर्ती कविता में प्रयुक्त छन्दों में आजकल नवीन छन्दों की अपेक्षा स्मरणीयता का गुण अधिक है।

## कविता की गति और छन्द

स्मरणीयता कविता की विशेषता है और प्रभाव उसका गुण ; और ये दोनों ही बातें कविता की गति पर अवलम्बित हैं। गति की सुगमता और रमणीयता शब्दों के चुनाव और उनके क्रम पर निर्भर है। शब्द जितने ही भाव के अनुकूल और उच्चारण में उपयुक्त होंगे, उतनी ही गति सुगम होगी, और क्रम जितना ही अर्थ को ओजस्वी, विशद और स्मरणीय बनाने वाला तथा नाद सौन्दर्य को भरने वाला होगा, उतनी ही मात्रा में उसकी रोचकता और स्मरणीयता बढ़ेगी। यदि हम कविता के अन्तर्गत आने वाले वर्णों या शब्दों के क्रम तथा गद्य में आने वाले वर्णों या शब्दों के क्रम का विश्लेषण करके देखें, तो हमें पता चलता है कि गद्य में आनेवाला शब्द-क्रम नितान्त साधारण है और उसके ग्रहण और व्यवहार में प्रत्येक सामान्य व्यक्ति भी समर्थ होता है, पर कविता के अन्तर्गत आनेवाला वर्णों या शब्दों का क्रम असाधारण है। वह रोचक, प्रभावशाली और स्मरणीय है, पर प्रयोग में सर्वजन सुलभ नहीं। उसके प्रयोग के लिए एक विशेष प्रतिभा की या विशेष स्फूर्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रतिभा या स्फूर्ति के होने पर व्यक्ति कविता करने में समर्थ होता है। शब्दों के क्रम की यही विशेषता ही कविता को गति प्रदान करती है। यह गति प्राचीन रूढ़ छन्दों में बद्ध कविता में ही हो, ऐसी बात नहीं है। आज कल की स्वच्छन्द और मुक्तछन्द कविता में भी यही गति है, क्योंकि उसमें वर्ण या शब्द-क्रम की असाधारणता विद्यमान है। उदाहरण के लिए हम निराला का एक मुक्तछन्द लेते हैं।

> **दिवसावसान का समय,**
> **मेघमय आसमान से उतर रही है**
> **वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी**
> **धीरे धीरे धीरे,**
>
> —सन्ध्या सुन्दरी।[1]

इसका साधारण क्रम यों होगा "दिवसावसान का समय ( है ) मेघमय आसमान से वह परी सी संध्यासुन्दरी धीरे धीरे उतर रही है।" इससे यह स्पष्ट है कि जो गति उपर्युक्त कविता में है वह इस सामान्य क्रम में नहीं। यही गति कविता का प्राण है। निराला जी के छन्द में गति की स्वच्छन्दता है अर्थात् एक गति सभी चरणों में नहीं है।

---

१. परिमल पृष्ठ १६५।

प्राचीन काव्य म सभी चरणों म एक गति करके उसे अधिक संयमित और स्मरणीय कर देते थे। यही कारण है कि जितनी शीघ्र कवित्त, सवैया, चौपाई तथा आजकल के गीत आदि याद हो जाते हैं, उतनी शीघ्र निराला जी के स्वच्छन्द छन्द नहीं। अभी तक किसी के मुख से उनके पूरे के पूरे छन्द नहीं सुने गए, उस प्रभाव के साथ जैसे कि अन्य नियमित छन्द सुने जाते हैं। अत. गति का चमत्कार स्पष्ट है। ऊपर की कविता को यदि और अधिक निश्चित गतिधारा कर दिया जाय तो वह इस प्रकार की हो सकती है :—

"दिवावसान का समय
परी सी वह संध्या सुन्दरी,
रही है धीरे धीरे उतर
मेघमय आसमान को छोड़।

इसमें प्रथम चरण को छोड़कर जिसमें १३ मात्रायें हैं, अन्य तीन चरणों में सोलह सोलह मात्राओं के कर देने से गति बँध जाती है। इससे निश्चय है कि गति का ही महत्व कविता में है और गति का संयम और नियम ही छन्द है। प्रत्येक प्रवाह में या गति में कुछ नियम अवश्य होता है। कभी नियम और प्रतिबन्ध अधिक कड़े होते हैं और पहले अधिक पुरानी छन्दबद्ध कविता में गति के नियम कड़े थे, पर आजकल उतने कड़े नहीं। स्वच्छन्द छन्द म तो प्रवाह है पर नियम स्पष्ट नहीं। प्रवाह या गति के साथ छन्द का सम्बन्ध है। गति देने का कार्य छन्द को है। वैदिक काल म काव्य म प्रवाह और गति है, अत. छन्द का भी वेदांगों में स्थान है। कविता में छन्द का स्थान सदा रहेगा। निराला ने भी परिमल की भूमिका म इसी बात को स्पष्ट किया है —

"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि म रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खंड म जितनी कविताएँ हैं, सब इसी प्रकार की हैं। इनमें कोई नियम नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का सा जान पड़ता है। कहीं कहीं आठ अक्षर आप ही आप आजाते हैं। मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम राहित्य उसकी मुक्ति।"[१]

प्रवाह या गति ही कविता का प्राण है, यह सर्वमान्य नियम है। इस गति के नियम के अनुसार छन्दों के तीन भेद हो सकते हैं, मुक्तछन्द, मात्रिक और वर्णिक छन्द। यह नियम के आधार पर इस प्रकार है —

---

१. परिमल की भूमिका पृष्ठ २१।

मुक्तछन्द—वह है जिसमें प्रवाह ही प्रधान रहता है, मात्रा, वर्ण या तुक का कोई नियम नहीं रहता।

मात्रिक छन्द—वह है जिसमें मात्राओं का नियम रहता है, पर सभी वर्णों के लघु गुरु होने का नियम नहीं।

वर्णिक छन्द—वह है जिसमें सभी वर्णों का नियम रहता है और ये छन्द, गति में उससे अधिक बँधे रहते हैं।

मात्रिक और वर्णिक छन्द निश्चित चरणों के और अतुकान्त अथवा तुकान्त होते हैं। हिन्दी के मात्रिक छन्दों में प्रायः तुकान्त होने का नियम प्रचलित रहा है। मुक्त छन्द के न चरण निश्चित होते हैं, और न तुक और साथ ही प्रत्येक चरण के वर्ण या मात्रायें भी निश्चित नहीं होती। उसमें इनका नियम यद्यपि नहीं होता, पर एक प्रवाह या गति अवश्य होती है। अतः उसका कोई व्यापक नियम भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि गति भंग का दोष मुक्तछन्दों में भी कानों में खटकता है। मुक्तछन्द का पहचानना तो सरल है, उसमें एक पंक्ति के प्रवाह और दूसरी पंक्ति के प्रवाह में बड़ा वैषम्य होता है; पर मात्रिक और वर्णिक छन्दों को देखकर सहसा पहचान नहीं होती। छन्द को देखकर अचानक यह नहीं कहा जा सकता कि यह मात्रिक है अथवा वर्णिक। उसकी पहचान के लिए नीचे लिखा लहर चित्र सहायक होगा।

इस प्रकार के चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि छन्द मात्रिक है अथवा वर्णिक। मात्रिक छन्द में वर्ण बराबर नहीं होते, मात्राएँ ही बराबर होती हैं और लहर का प्रत्येक

झुकाव प्रति चरण में एक सा नहीं होता पर वर्णिक छन्द के चरणों में गणों की गणना के कारण प्रत्येक चरण की लहर का झुकाव एकसा ही होता है। इस प्रकार लहरचित्र-द्वारा मात्रिक और वर्णिक छन्दों की पहचान सहज में ही हो सकती है। इसमें ऊपर की रेखा को गुरु और नीचे की रेखा को लघु मानना चाहिए। प्रत्येक गुरु वर्ण ऊपर के कोष्टक या झुकाव द्वारा और प्रत्येक लघु वर्ण नीचे के कोष्टक या झुकाव द्वारा चिन्हित होना है। इन लहर-चित्रों के द्वारा गणों को समझने में भी सरलता होगी। आठों गणों लहर-चित्र ये होंगे :—

**मगण** ---------------- गुरु / लघु

**नगण** ---------------- गुरु / लघु

**भगण** ---------------- गुरु / लघु

**जगण** ---------------- गुरु / लघु

**सगण** ---------------- गुरु / लघु

**यगण** ---------------- गुरु / लघु

**रगण** ---------------- गुरु / लघु

**तगण** ---------------- गुरु / लघु

गुरु और लघु की यही लहरियाँ छन्दों की गति का निश्चय करती हैं। वर्णों के उच्चारण स्थान में जो नाद निकलता है, उसके आधार पर ही गुण, वृत्ति तथा अनुप्रास की रचना हुई है। इस प्रकार वर्णों के स्वर और व्यंजन के आधार पर बने हुए छन्द और उनकी गति का प्रभाव बड़ा विलक्षण होता है। कविता के अन्तर्गत छन्दों का स्थान आदि काल से महत्वपूर्ण है और अनन्तकाल तक चला जायेगा। छन्द चाहे मात्रिक हों, वर्णिक हों और चाहे मुक्त या स्वच्छन्द छन्द।

## अलंकार

अब विचारणीय प्रश्न सामने यह है कि आधुनिक दृष्टि से काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है? आधुनिक विचारों के अनुसार अलंकार काव्य में अनिवार्य नहीं है, और न काव्य के लिए अलंकार साध्य ही है। यह विचार सत्य है पर आजकल की जो भावना अलंकारों के प्रति घृणा करने की है, वह अस्वाभाविक है। किसी की कविता में यदि आपने उसके अन्तर्निष्ट चमत्कार या सौष्ठव के विश्लेषण में उपमा, रूपक या भ्रान्ति अलंकार का नाम ले दिया तो कवि या रसिक समाज नाक भौं सिकोड़े, यह उचित नहीं। यह मानने पर भी कि अलंकार, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं, कोई भी पूर्ण कविता अलंकारों से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकती। कारण, कि अलंकार, काव्य-सौष्ठव का सुन्दर और स्वाभाविक साधन है। इतना स्थान अलंकार का मूलभूत है। अलंकार, वर्णन की सुन्दर और चमत्कार पूर्ण प्रणाली है और वे हमारी भावानुभूति के प्रकाशन को उत्कर्ष प्रदान करने वाले हैं अतः अलंकार का काव्य में आदर सदैव रहा है और रहेगा। हाँ, जब किसी कवि के लिए कविता लिखने का उद्देश्य ही अलंकार लाना हो जाता है, तब वह अपनी यथार्थ सीमा का उल्लंघन करता है। अलंकार, साधन है, साध्य नहीं, और साधन के रूप में अलंकार अनजाने ही हमारी नित्यप्रति की बोलचाल तक में आता है काव्य के लिए कुछ कहना तो दूर की बात है। काव्य तो उसका क्षेत्र ही है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इस सम्बन्ध में आवश्यक एक बात यह है कि अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रीति पर करना चाहिए, किसी भी कविता को अलंकारों से लादना नहीं चाहिए। जिस प्रकार अलंकारों से लदी हुई स्त्री अपना स्वाभाविक सौन्दर्य भी खो देती है, उसी प्रकार बहुत अधिक अलंकारों के प्रयोग से कविता का भी अपना स्वाभाविक सौन्दर्य दब जाता है। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर और अलंकार की यथार्थ परिभाषा को हृदयंगम करके हमें अपने अलंकार-सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों का भी परिष्कार करना आवश्यक है। अलंकारों की संख्या में जो इतनी अस्वाभाविक वृद्धि हो गई है वह न आवश्यक ही है और न न्याय संगत ही। अनेक अलंकार ग्रन्थों में कुछ तो अलंकार-बाह्य पदार्थ भी भरे हुए हैं। हम जैसा कह चुके हैं कि अलंकार किसी वर्णन के चमत्कार पूर्ण सुन्दर ढंग को कहते हैं, किसी वस्तु या भाव-वर्णन को नहीं। वस्तु या भाव वर्णन में अलंकार हो सकते हैं, पर तभी जबकि उस वर्णन में कुछ चमत्कार हो। इस दृष्टि से रसवदादि अलंकार नहीं हो सकते, जो कि भाव का ही वर्णनमात्र है और वे अलंकार भी जो वस्तु से पृथक् नहीं, जिनमें वस्तु

स्वयं चमत्कार-पूर्ण है, इस चमत्कार पूर्ण नहीं, अलंकार नहीं हो सकते, जैसे प्रयुक्त या प्रचलित परिभाषाओं के अनुसार असम, अधिक, तिरस्कार, निश्चय, विरोध हेतु, भ्रम आदि अलंकार। इन अलंकारों से किसी वस्तु या भाव का केवल बोध मात्र होता है। अलंकारों का यह उद्देश्य नहीं, वे तो किसी भी वस्तु या भाव के वर्णन को उत्कर्ष और बोध को तीव्रता-प्रदान करने के लिए होते हैं। जो ऐसा न कर सकें, वे अलंकार नहीं हैं। इस दृष्टिकोण से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अपन्हुति, विभावना आदि अलंकार, काव्य में सदैव उचित और सम्मान्य स्थान प्राप्त करेंगे। ये काव्य की शोभा बढ़ायेंगे, उसका बोझ नहीं बनेंगे। ऐसे अलंकारों का प्रयोग कवि के लिए सदा ही आवश्यक है और आजकल की भी कोई कविता अलंकारों से हीन नहीं है।

अन्त में हमारे सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य का प्रयोजन और उद्देश्य क्या है और हिन्दी में काव्य के कितने रूप हैं? इनमें से हम प्रथम भाग को लेते हैं। आजकल समाज में यह एक समस्या सी है कि काव्य का, (कविता विशेष रूप से) समाज में क्या स्थान है, उसकी क्या उपयोगिता है? काव्य की उपयोगिता पर तो अधिक सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि का प्रचार आजकल खूब है और उससे लोगों का मनोरंजन भी होता है। समाज का, व्यक्ति का, देश का और युग का ज्ञान भी होता है तथा सुधार भी। अतः उनके लिए तो कहा जा सकता है कि इस प्रकार का काव्य जीवन का परिष्कार और सुधार करता है और मनोरंजन प्रदान करता है। परंतु कविता का क्या उद्देश्य है, क्या प्रयोजन है? यह प्रश्न अधिक विचारणीय है। यथार्थ में कविता का महत्व, कला और प्रभाव दोनों की दृष्टि से उपर्युक्त काव्यांगों से अधिक है। अन्य रचनाओं को पढ़कर हम उनको भुला सकते हैं, पर कविता का आघात भुलाया नहीं जा सकता। कहानी, उपन्यास आदि को हम एक बार पढ़कर तृप्ति पा जाते हैं क्योंकि उसका कथानक हमारी जिज्ञासा को शान्त कर देता है, पर कविता को एक बार नहीं बार-बार पढ़ने पर भी हम नहीं अघाते। उसे जैसा ही पढ़ें वैसा ही आनन्द आता है। पाठक की सम्पूर्ण मनोवृत्तियाँ तन्मय हो जाती हैं, कविता के भाव के अनुसार उनमें विकास और उत्कर्ष भी होता है। यहाँ तक कि उत्तम कविता किसी भी व्यक्ति को अभिमत कार्य के लिये प्रेरित कर सकती है। अतः कला और प्रभाव की दृष्टि से कविता का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। समाज और व्यक्ति दोनों के मनोरंजन और हित के लिए यथार्थ कविता का सृजन, पठन, पाठन और मनन आवश्यक है। इससे आदर्श बनता है। हम अधिक संस्कृत होते हैं, भावनाएँ विकास और परिष्कार पाती

हैं। मन को आनन्द मिलना एक दूसरा उस होता है। आत्मा सरल रस ही है। पर कविता करना, और पढ़ना या सुनना दोनों ही काम सरल नहीं हैं उसके लिये हम एक विशेष रुचि रखनी पड़ती है, कवि को भी कविता करने के लिए विशेष परिस्थिति का निर्माण करना पड़ता है, उसे, भाषा और शब्दों पर अधिकार करना पड़ता है, उसे अनुभूति को कोमल और कल्पना को सूक्ष्म बनाना पड़ता है, तभी उत्तम कविता की सृष्टि सम्भव है। अत इन दोनों के अभाव म ही आजकल कविता की ओर से ही हमारी आस्था सी हट रही है। पर इसमें कविता का दोष नहीं। हां, एक बात अवश्य है कि कविता, जीवन की समस्याओं से कुछ अधिक निश्चितता चाहती है। जिस युग या जिस समाज म कवि और समाज दोनों ही संघर्ष में पिस रहे हों, वहाँ पर कविता का पनपना कठिन है, कम स कम एक का निश्चित होना आवश्यक है। अत कविता का प्रयोजन और उद्देश्य स्वत सिद्ध है।

## वर्गीकरण

अब हम हिन्दी काव्य के विविध रूपों या काव्य के वर्गीकरण पर विचार करेंगे। इसके पूर्व कि प्रत्येक का अलग अलग स्वरूप स्पष्ट किया जाय वर्गीकरण सम्बन्धी निम्नांकित वृक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यह साहित्य वृक्ष है और हिन्दी म प्रस्तुत लगभग सभी रचनाओं को इसके अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया गया है।
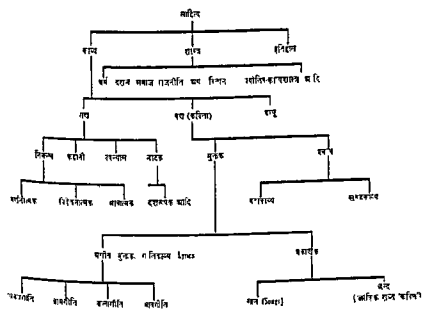
साहित्य के काव्य, इतिहास और शास्त्र तीन ही वर्ग आवश्यक जान पड़ते हैं क्योंकि अन्य सब इन्हीं क अन्तर्गत आ सकते हैं, भूगोल अधिकांश शास्त्र के भीतर आ जाता

है, कुछ भाग इतिहास के भीतर हो सकता है। शास्त्र के अनेक वर्ग आज कल हमारे सामने हैं जिनके विवरण देना हमारे विषय से बाहर की बात है। यहाँ काव्य के वर्गीकरण पर विचार करना ही हमारा ध्येय है।

काव्य. रमणीय अर्थ प्रदान करने वाला शब्द या वाक्य, काव्य है, यह पंडितराज जगन्नाथ जी की दी हुई परिभाषा के अनुसार है जो उत्तम जान पड़ती है। विश्वनाथ की, वाक्य रसात्मक काव्य, का भी उद्देश्य यही है। काव्य के तीन भेद हैं, गद्य, पद्य और चम्पू।

गद्य. (काव्य) वह काव्य है जिसमें छन्द-बद्ध रचना न लेकर, बोलचाल की शुद्ध व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग किया जाता है।

पद्य. (काव्य) वह काव्य है जिसमें छन्द-बद्ध भाषा का ही प्रयोग किया जाता है, हिन्दी में यह पद्यकाव्य ही कविता के नाम से प्रचलित है, और इसी का अधिक प्रचार रहा है। गद्य काव्य तो आधुनिक युग की देन है।

चम्पू. (काव्य) जिसमें गद्य और पद्य दोनों ही मिश्रित रहते हैं। यह अधिक प्रचलित नहीं हुआ।

गद्य के चार भेद देखने में आते हैं, निबन्ध, कहानी, उपन्यास और नाटक।

निबन्ध वह गद्य है, जिसमें कथानक से मुक्त होकर किसी विषय पर रोचक ढंग से शृंखला-बद्ध निजी भाव या विचार उपस्थित किये जाते हैं। इसमें शैली का विशेष स्थान होता है।

कहानी. वह गद्य काव्य है जिसमें जीवन की किसी घटना या घटनाओं को लेकर रोचक ढंग से वर्णन, वार्तालाप अथवा दोनों के द्वारा, किसी चरित्र, भाव या घटना की झाँकी इस प्रकार से उपस्थित की जाय कि वह पूर्ण ज्ञात हो।

उपन्यास. वह गद्य काव्य है जिसमें किसी व्यक्ति के जीवन की विविध घटनाओं के सहारे, वर्णन और वार्तालाप के द्वारा व्यक्ति, वर्ग या समाज का पूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है।

नाटक. वह गद्य काव्य है जिसमें एक या अधिक अंकों में केवल अभिनय और वार्तालाप के द्वारा किसी व्यक्ति की जीवन घटनाओं या समाज का चित्रण किया जाता है। संस्कृत में इसे रूपक कहते हैं और इसके दश भेद दिये गये हैं, पर आज कल हिन्दी में नाटक, प्रहसन और एकांकी नाटक ही विशेष प्रचलित और प्रसिद्ध हैं।

कविता. (पद्यकाव्य) के दो भेद हैं, प्रबन्ध और मुक्तक।

प्रबन्ध. यह कविता है जिसमें कोई कथानक रहता है, इसके दो प्रकार हैं.—महाकाव्य और खंडकाव्य।

महाकाव्य. यह प्रबन्ध काव्य है जिसमें किसी प्रसिद्ध महापुरुष का पूर्ण जीवन, आठ या अधिक सर्गों में प्राकृतिक दृश्यों और कथानक की सुशृंखलित धारा के साथ, किसी एक रस को प्रधान रूप में और अन्य रसों को गौण रूप में अपना कर, प्राय. एक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग करके वर्णित किया जाता है। यह महाकाव्य की प्राचीन धारणा है आधुनिक काल में सर्गों की सख्या और छन्द सम्बन्धी कोई कठोर नियम नहीं है। कथानक मे विविधता, विस्तार, पूर्णता और सुसगठन होना चाहिये।

खंडकाव्य. यह प्रबन्ध काव्य है जिसमें किसी भी पुरुष के जीवन का कोई अंश ही वर्णित होता है, पूरी जीवन-गाथा नहीं। इसमें महाकाव्य के सभी अग न न रहकर एकाध अंग ही रहते हैं।

मुक्तक. यह पद्यकाव्य है, जिसमें कोई कथा धारा प्रवाह रूप मे नहीं चलती और जिसका प्रत्येक पद स्वच्छन्द और पूर्ण होता है।
मुक्तक के दो रूप देखने को मिलते हैं, प्रगीत मुक्तक ( Lyrics ) और प्रकीर्णक।

प्रगीत मुक्तक. वे रचनाएँ हैं जिनमे गीतों या गेय पदों म अपने किसी मुख्य भाव या अनुभूति का, स्वाभाविक एव सीधे ढग पर तीव्र प्रभाव के साथ, प्रकाशन किया जाता है। आज कल इनके तीन भेद देखने मे आते हैं, विनय गीति, ग्रामगीति, भावगीति। इसका दूसरा नाम गीति काव्य भी है।

प्रकीर्णक. वे रचनाएँ हैं जिनमें कवि, वस्तु वर्णन या भाव वर्णन निजी रूप मे न करके दर्शक के रूप मे करता है। ये गेय भी होते हैं और केवल छन्द-बद्ध भी। छन्द-बद्ध, अगेय प्रकीर्णकों का लौकिक और प्रचलित नाम कवित्त है, जिसमे सवैया, मनहरण, दोहा, छप्पय आदि सभी छन्द आते हैं। ग्रामगीतों के भी कुछ गीत जिनमे कवि दर्शक के रूप मे चित्रण उपस्थित करता है, प्रकीर्णकों के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं।

ऊपर संक्षेप में काव्य के विभिन्न भेदों का परिचय दिया गया है। ये भेद हिंदी काव्य मे देखने को मिलते हैं, पर सभी भेदों का यथोचित और पूर्ण विकास अभी नहीं हुआ है।

## २. काव्य में प्रचलित आधुनिक वाद और काव्यशास्त्र

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अनेक वादों की धूम रही है, जिसका कुछ संकेत हम पीछे भी कर आये हैं। आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रगतिवाद आदि हिन्दी काव्य पर अपना अपना रंग जमा चुके हैं। इन वादों का पूर्ण विवरण उपस्थित करना साहित्य के इतिहासकारों का काम है, फिर भी इनका यहाँ संक्षेप परिचय देना इसलिये आवश्यक है कि जिससे हम इनका आवश्यक ज्ञान करके यह समझ सकें कि इनका काव्यशास्त्र से कहाँ तक सम्बन्ध है और इस दृष्टि से इनके द्वारा हिन्दी काव्यशास्त्र को कहाँ तक विकास एवं विस्तार प्राप्त हुआ है। अतः इनका वैज्ञानिक विश्लेषण ही अधिक आवश्यक है, काव्य के भीतर आया हुआ पूर्ण विवरण नहीं।

### आदर्शवाद और यथार्थवाद

सबसे पहले हम आदर्शवाद और यथार्थवाद को लेते हैं। वह धारणा, जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार ऐसे चरित्र अथवा ऐसी परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव-समाज के लिए अनुकरणीय हैं (यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप में लोक में देखी और सुनी जायँ), साहित्य में आदर्शवाद कहलाती है। और वह धारणा, जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार नित्यप्रति देखे-सुने, भले-बुरे चरित्रों और परिस्थितियों का चित्रण करता है, वह अनिवार्यतः यह ध्यान नहीं रखता कि ये चरित्र या परिस्थितियाँ मानव समाज की भलाई करेंगी या बुराई, साहित्य में यथार्थवाद कहलाती है। एक साहित्यकार आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही हो सकता है, और सत्य बात तो यह है कि किसी भी सफल काव्यकार के लिए दोनों ही वादों को लेकर चलना आवश्यक है, क्योंकि साहित्य यदि कोरे आदर्शवाद को लेकर चलता है, तो लोक की आस्था उस पर नहीं जमती, वह केवल स्वप्न लोक या स्वर्ग की बात हो जाती है; मनुष्य उस तक पहुँचने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाता। अतः उसको छोड़ बैठता है। इसी प्रकार यदि कोई साहित्यकार कोरे यथार्थवाद का ही चित्रण करता है, तो मनुष्य के मङ्गल और उन्नति की प्रवृत्ति तथा सद्भावना को प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी आत्मा को संतोष नहीं प्राप्त होता और समाज की अनेक समस्याओं का सुलझाव भी नहीं होता, अतः वह लोक का अधिक कल्याण नहीं कर सकता। इससे आवश्यक यही है कि साहित्य, आदर्श और यथार्थवाद दोनों ही को लेकर चले। साहित्य का भवन यथार्थवाद की नींव पर खड़ा हो, पर उसके विकास, प्रसार

और ऊँचाई के लिए आदर्शवाद का विस्तृत और उन्मुक्त आकाश रहे। ऐसा साहित्य ही सर्वजनसुलभ, सर्वमान्य तथा सर्वहितकारी हो सकता है।

अब हम देखें कि काव्यशास्त्र का इन वादों से कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं, काव्यशास्त्र, काव्य की आत्मा, उसके स्वरूप तथा काव्य के अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है, यह उसका मुख्य कार्य है, अतः इसके अन्तर्गत इन वादों का कोई स्थान नहीं है। हाँ, कवि-शिक्षा और काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करना भी इसका कार्य है, पर वह मुख्य नहीं गौण है। इन प्रवृत्तियों के अन्तर्गत उपर्युक्त वादों का अध्ययन हो सकता है, कवि शिक्षा के अन्तर्गत भी संस्कृत तथा हिन्दी के ग्रन्थों में वस्तु और चरित्रों का वर्णन कैसा होना चाहिए, यह बताया जाता है। वहाँ भी हम यथार्थवादी और आदर्शवादी दो दृष्टिकोणों का अध्ययन कर सकते हैं। पर ये काव्य शास्त्र के मुख्य और प्रधान विषय नहीं हैं। अतः काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की भाँति इनका अध्ययन नहीं हो सकता।

## रहस्यवाद

वह भावना, जो काव्य के अन्तर्गत, मानव और उसकी परिस्थितियों अथवा जगत् को निराकार और सर्वव्यापी ईश्वर के घनिष्ट सम्बन्ध में चित्रित करने की प्रेरणा देती है, रहस्यवाद कहलाती है। मनुष्य का व्यक्तिरूप में अथवा जगत के विभिन्न पदार्थों का ईश्वर के साथ मधुर, स्निग्ध अथवा प्रबल सम्बन्ध प्रकट करने वाले रमणीय वाक्य रहस्यवादी काव्य का नाम ग्रहण करते हैं। अतः रहस्यवाद भी जीवन की एक प्रवृत्ति दृष्टिकोण अथवा धारणा है, जिस प्रकार कि यथार्थवाद या आदर्शवाद। यथार्थवाद या आदर्शवाद जहाँ पर लोक-जीवन के सामान्य अनुभव को लेकर चलते हैं, वहाँ रहस्यवाद असाधारण आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करता है। रहस्यवादी भावना के भीतर ईश्वर का साकार रूप उतना नहीं बन पड़ता, जितना निराकार रूप। अतः निराकार या निर्गुण के उपासक जितने भी कवि हैं उनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावना के दर्शन हमें स्वभावतः होते हैं। हिन्दी काव्य में यह भावना बहुत प्राचीन है। प्राचीन हिन्दी के अन्तर्गत सिद्धों का साहित्य रहस्यवाद से पूर्ण है। इसी प्रकार हिन्दी के प्रारम्भिक युग में कबीर, दादू आदि तथा प्रेममार्गी सूफी जायसी, कुतुबन, मझन आदि की कविता में रहस्यवादी भावना का ही प्रमुख सौन्दर्य और स्थायी विशेषता है। रहस्य-भावना, बड़ी मधुर और उच्च भावना है। इसके साथ ऐसी दृष्टि प्राप्त होती है जिसके द्वारा सभी

जीव ईश्वर के सम्बन्ध में ही देख पड़ते हैं। वह भी हमें अपना सगा जान पड़ता है। कभी वह हमारे प्रेमपात्र के रूप में आता है और कभी पति के रूप में। कभी सर्व शक्तिमान के रूप में और कभी अणु अणु में व्याप्त मानव-सुलभ भावों के द्वारा व्यक्त किन्तु सर्वान्तर्यामी के रूप में। इन सभी रूपों में द्रष्टा से उसका घनिष्ट सम्बन्ध रहता है अतः रहस्य भावना आनन्द की भावना है और बड़ी साधना के बाद प्राप्त होती है। जिस प्रकार तुलसी, काव्य का साफल्य राम के गुण गान में ही मानते हैं, उसी प्रकार जयशङ्कर प्रसाद, काव्य की प्रधान धारा को रहस्यवादी ही मानते हैं। इसका पूरा विवरण उन्होंने 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' में 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत दिया है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रसाद के विचार से 'रहस्यवाद' ही काव्य की मुख्य प्रवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु यह सर्वमान्य और यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं है। यह आदर्शवादी विचार है, क्योंकि हमें विश्व के काव्य का अधिकांश रहस्यवादी प्रवृत्ति से इतर प्रवृत्तियों का चित्रण करता हुआ दिखलाई देता है। अतः रहस्यवाद काव्य का अनिवार्य अंग या सभी काव्यों में पाया जाने वाला अंग, या अधिकांश में पाया जाने वाला तत्व नहीं कहा जा सकता। इसलिए हम ध्वनि, रस, रीति, अलंकार आदि की भाँति इसे काव्यशास्त्र का प्रमुख अंग नहीं मान सकते। रहस्यवाद को एक प्रकार का प्रवृत्ति विशेष ही मानना आवश्यक और समीचीन है।

## छायावाद

छायावाद की भी आधुनिक हिन्दी कविता में बड़ी धूम रही है। हिन्दी में प्रारम्भ में छायावाद और रहस्यवाद एक ही समझे गये। पर धीरे धीरे उनका अन्तर स्पष्ट हो गया। आधुनिक कविताओं के देखने से ज्ञात होता है कि रहस्यवाद एक भावना या प्रवृत्ति है। इसका सम्बन्ध विषय से है और आन्तरिक भावना से, परन्तु छायावाद शैली ही अधिक है, आन्तरिक प्रवृत्ति नहीं। इसका सम्बन्ध आन्तरिक भावना से अधिक नहीं है, वरन् अभिव्यक्ति के ढंग से है। आन्तरिक भावना से छायावाद का थोड़ा बहुत सम्बन्ध जो दीख पड़ता है, वह रहस्यवाद के सम्पर्क के कारण। उसके कारण इसमें दो विशेषतायें आ गई हैं, एक तो जड़ जगत् को प्राणमय और अनुभूतिमय समझना और उसके भीतर अपने भावों को व्यक्त देखना, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करना, दूसरे अपने अन्तस् की सूक्ष्म अनुभूतियों अथवा काल्पनिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना। इन दोनों को अपनाकर चलने के कारण आधुनिक रहस्यवादी कविताओं में भी छाया वादी शैली देखने को मिलती है, और कुछ छायावादी कवितायें भी ऐसी जान पड़ती हैं

जसे रहस्यवादी हैं। छायावाद की अपनी व्यक्तिगत विशेषता दो रूपों में व्यक्त हुई है। प्रथम, सूक्ष्म और काल्पनिक अनुभूति के प्रकाशन मे, द्वितीय लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली के प्रयोग में। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता का वह शैली है जिसमे सूक्ष्म अथवा काल्पनिक स्वानुभूति को लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक ढग पर प्रकाशित करते हैं। उसमे आलम्बन प्राय अस्पष्ट रहता है।

जन-साधारण में कुछ समय तक तो छायावाद, अस्पष्टवाद के रूप मे प्रसिद्ध रहा। जिसमें कवि के स्वय विचार स्पष्ट न हों, और जो अस्पष्ट और अपूर्ण वाक्यों में कही गयी हो, ऐसी ही कविता छायावाद के नाम से प्रख्यात थी। यह अस्पष्टता, छायावादी कविताओं में सूक्ष्म अनुभूति और शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग के कारण ही आई थी। पर यह कहा जा सकता है, कि कुछ नौसिखुये कवियों में वह यथार्थ ही विश्वास को सत्य सिद्ध करती थी। जयशकर प्रसाद[१] का विचार है कि रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से, जिसमे बाह्य वर्णन की प्रधानता थी, इस प्रकार की कविता में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा, बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के प्रकाशन में व्यवहार में प्रचलित पद योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। अत आभ्यन्तर सूक्ष्म भावनाओं को आभामयी शैली, में प्रकाशन प्राप्त हुआ। यही प्रसाद जी के विचार से छायावाद है। वे छाया को अभिव्यक्ति की विशेषता या कथन सौष्ठव के रूप म लेते हैं। छाया, अनुभूति या अभिव्यक्ति की भगिमा पर निर्भर करती है। उनके ही शब्दों में 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद अनुभूति या अभिव्यक्ति भगिमा को लेता है और प्रकाशन-सौष्ठव से उसका सम्बन्ध है। यह कविता की आत्मा को सूक्ष्म स्वानुभूति और अभिव्यक्ति सौष्ठव के अन्तर्गत मानकर चलता है। अत काव्यशास्त्र से इसका

---

१. शुक्ल जी के छायावाद पर विचार हम पीछे दे चुके हैं।

२ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १४१।

छायावाद पर लेख।

सम्बन्ध है। यह काव्य की आत्मा और स्वरूप दोनों पर प्रकाश डालता है। सूक्ष्म अनुभूति, काव्य की आत्मा है और उसकी आभामय अभिव्यक्ति काव्य का रूप है। ये मान्यताएँ काव्यशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। अब देखना यह है कि इनमें कोई नवीनता है, या प्राचीन सिद्धांत ही नए रूप में उपस्थित किये गए हैं। छायावाद को काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आवश्यक और महत्वपूर्ण स्थान न मिल सका। इसका एक कारण तो यह है कि छायावाद की मान्यताओं को लेकर किसी विद्वान् ने काव्यशास्त्रीय ढंग पर इसकी व्याख्या और विवेचना उपस्थित नहीं की, और इसको नवीन सिद्धांत का रूप नहीं दिया गया, दूसरा कारण यह है कि विचार करने पर इसमें नवीन सिद्धांत के योग्य कोई नवीन मान्यता भी नहीं है। अतः काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने की योग्यता रखते हुए भी उसमें इसे स्थान नहीं मिला। आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टिकोणों से छायावाद काव्यशास्त्र के प्राचीन सिद्धांतों को ही अपनाये हैं। प्रथम तो छायावाद सूक्ष्म स्वानुभूति पर जोर देता है, अनुभूति का प्रकाशन, रस सिद्धांत के अन्तर्गत आ जाता है, वह चाहे स्वानुभूति हो चाहे परानुभूति। हाँ, स्वानुभूति पर जोर देना इसकी विशेषता अवश्य है, पर इस पर अंग्रेजी के गीति काव्य (Lyrics) का प्रभाव पड़ा है। अभिव्यक्ति-सौष्ठव, स्पष्टतया ध्वनि, वक्रोक्ति और अलंकार सिद्धांतों के अन्तर्गत हैं, जिनके बिना काव्य के अन्तर्गत अभिव्यक्ति-सौष्ठव आ ही नहीं सकता अतः छायावाद इस युग की नवीन शैली होते हुए भी प्राचीन सिद्धांतों के बल पर ही खड़ा है।

छायावाद का विकास अधिक नहीं हुआ। इसका प्रारम्भ भी स्वस्थ वायुमंडल में नहीं हुआ। और प्रारम्भ के समय इस 'वाद' का स्पष्टीकरण भी नहीं हो पाया, अतः जन साधारण और पाठकों की सहानुभूति तथा विद्वानों का सहयोग भी इसे नहीं मिला, इसी कारण से काव्य सिद्धांतों की उत्कृष्ट बातें अपनाता हुआ भी छायावाद छाया का ही पौधा रहा जो अधिक पनप न सका। अनुभूति के रूप में रस को अपनाकर तथा अभिव्यक्ति के रूप में ध्वनि ग्रहण करके छायावाद के पनपने में कोई सन्देह न था, पर लेखकों की स्वयं अस्पष्टता और संकीर्णता के कारण उसका पूर्ण उपयोग न हो सका। अन्यथा छायावाद हिन्दी कविता को और अधिक उत्कृष्ट वस्तुयें प्रदान करने में सक्षम था।

## अभिव्यञ्जनावाद

अभिव्यञ्जनावाद को छायावाद का ही एक रूप और इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए। यों तो अभिव्यंजनावाद का सिद्धांत काव्य का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत अभिव्यंजना को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अभिव्यंजना, भद्रवाणी

पन और भावप्रकाशन दोनों में ही समर्थ होती है। इसे वक्रोक्ति सिद्धान्त का ही समकक्ष समझना चाहिए पर हिन्दी में अभिव्यंजनावाद स्वतंत्र रूप में नहीं आया। यह छायावाद के अन्तर्गत अपना विस्तार और प्रभाव दिखाता रहा है। कम से कम उसकी व्याख्या उसी के अन्तर्गत की जा सकी है, अतः इसकी तो चर्चा ही चर्चा रही। यह नितान्त पश्चिमीय सिद्धान्त है और नाम भी वहीं से लिया गया है। क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' की ही हमारे यहाँ भी चर्चा छिड़ी, पर उसका कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व जम नहीं पाया। अतः उस पर अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है।

## प्रगतिवाद

छायावाद की प्रतिक्रिया और समाजवाद के प्रभाव ने प्रगतिवाद को जन्म दिया है। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों की प्रेरणाओं में अन्तर यह है कि छायावाद को कवियों और कलाकारों ने जन्म दिया है। छायावादी कविता प्रथम प्रचुर मात्रा में हुई और उसके छायावाद नाम एवं विशेषताएँ बाद को निर्धारित हुई, जब कि प्रगतिवाद कविता के अन्तर्गत प्रथम नहीं आया, वरन् प्रचारकों की जिह्वा और लेखनी में अधिक रहा। छायावादी रचनाओं से असन्तुष्ट और समाजवाद से प्रभावित साहित्यिक समुदाय में प्रगतिवाद की चर्चा जागी और अपने राजनीतिक आदर्शों को साहित्यिक माध्यम में प्रकट करने का प्रयत्न हुआ। इस प्रकार प्रगतिवाद एक 'वाद' के रूप में आया। 'वाद' और सम्प्रदाय के रूप में साहित्य के लिए सभी वाद बुरे हैं, क्योंकि वे रचना को रूढ़ि और कवि को संकीर्ण कर देते हैं, अतः किसी भी 'वाद' को लिए बिना ही विद्वानों और रसिकों को प्रचलित कविता की स्वच्छ और सत्य आलोचना करनी चाहिए। यह बात अच्छी नहीं है कि यदि किसी एक सम्प्रदाय का व्यक्ति, किसी 'वाद' विशेष पर आस्था रखने वाला व्यक्ति जो भी लिखे, ठीक है और अन्य लेखक दोषी और प्रतिभाहीन। यह बात सदा ही वादों और सम्प्रदायों के साथ न केवल साहित्य में वरन् धर्म, राजनीति और समाज में भी चला करती है और यथार्थ प्रगति में बाधा पहुँचती है। अतः 'वाद' के रूप में प्रगति चाहने वालों को अभीप्सित परिणाम प्राप्त होना कठिन है। इस विषय में 'अज्ञेय' जी ने 'संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्यायें' शीर्षक निबन्ध में लिखा है।

"इस साहित्य से प्रगति पैदा हुई, इसलिये यह प्रगति-शील साहित्य है, यह कहना एक बात है और यह प्रगति-शील साहित्य है इसलिये प्रगति पैदा करेगा, यह बिल्कुल दूसरी। परिणाम को परख कर उसकी चेष्टा का आरोप बीज पर कर देना भूल है। प्रगतिशीलता, साहित्य पर निर्णय करने बैठकर स्वयं एक नैतिक विधान बन जाती है,

प्रगति का 'वाद' बन कर स्वयं एक रूढ़ि हो जाती है। साहित्य के लिये तैयार किये गये बन्धनों में वह स्वयं बँध जाती है।"[१]

अतः यह मानना पड़ेगा कि 'वाद' के फेर में पड़कर प्रगतिशीलता का यथार्थ उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है, और वह स्वयं उन्हीं वादों का एक अंग हो जाती है जिनके विरोध में वह खड़ी हुई है। प्रगतिवाद, साहित्यकार या कवि का पथ प्रदर्शन नहीं कर सकता। वह एक कार्य वह कर सकता है कि सच्चे आलोचक पैदा करे जो कि कुरुचि पूर्ण, दोष भरे और संकीर्ण साहित्य का विरोध और सुन्दर, सत्साहित्य को प्रोत्साहन प्रदान करें।

विचार पूर्वक देखें तो प्रगतिवाद का उद्देश्य बड़ा ही भला, ऊँचा और उपयोगी है। उसका उद्देश्य है कि साहित्यकार ऐसा साहित्य उत्पन्न करे जो मानव-जीवन और समाज को प्रगति दे सके, उसे पतन की ओर न ले जावे साथ ही साथ वह सर्व-जन सुलभ हो, सरल भाषा में लिखा हुआ है और यथार्थ जीवन को लेकर चलने वाला हो। संक्षेप में प्रगतिवाद के मूल में यही बातें हैं। यह बातें हमारी साहित्यिक गति में परिवर्तन उपस्थित करने के लिए हैं, साहित्य के लिए एकदम नई बातें नहीं हैं, क्योंकि हमारी साहित्यिक धारा में पहले भी इस प्रकार का उद्देश्य देखने को मिलता है। तुलसीदास जी ने काव्य की, प्रगतिवाद के अनुकूल ही व्याख्या की है जब उन्होंने कहा है कि—

"सरल कवित कीरति विमल, जेहि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥"

—रामचरितमानस, बालकांड।

अतः प्रगतिशीलता काव्य के लिए कोई नई वस्तु नहीं। प्रगतिशीलता युग युग में बदल भी सकती है। एक युग के लिये जो प्रगतिशीलता हो दूसरे युग के लिये वही अगति हो सकती है, जैसा कि किसी समय राजनीतिक क्षेत्र में 'राजतंत्रवाद' (एकछत्रत्व) राष्ट्र-संगठन के लिए आवश्यक हो सकता है, और दूसरे शान्तिमय युग में प्रजातंत्रवाद। किसी युग में जब जनता अशिक्षित है, सरल भाषा में, सीधे ढंग पर काव्य लिखना आवश्यक है, पर दूसरे युग में जब सभी शिक्षित, काल्पनिक और विद्वान् हों, तब भाषा और भाव का सारल्य काव्य का गुण नहीं वरन् अवगुण होगा, जैसा कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में हम देख सकते हैं। अतः प्रगतिशीलता, विचार और प्रकाशन

१. त्रिशंकु ( लेखक 'अज्ञेय' ) पृ० ७५

की स्वच्छन्दता पर ही निर्भर करती है। जब लेखक और पाठक दोनों की बुद्धि विकसित और मस्तिष्क खुला हो, तभी प्रगतिशीलता आ सकती है।

इस प्रकार प्रगतिवाद काव्य के उद्देश्य की ओर संकेत करता है, यह कवि शिक्षा के अन्तर्गत अपना स्थान रख सकता है, पर काव्यशास्त्र के लिए नवीन सिद्धांत उपस्थित नहीं करता। प्रगतिवाद, यह धारणा है कि काव्य या साहित्य को सर्वजन-सुलभ, उपयोगी और उन्नति के पथ पर ले जाने वाला होना चाहिए। अतः इसके अन्तर्गत जो बातें हैं, वे हमारे काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के प्रयोजन मे पहले से ही व्यक्त हो चुकी हैं और वे उसके उद्देश्य की ही ओर संकेत करती हैं। इस कारण से इसे काव्य का कोई नवीन सिद्धांत नहीं माना जा सकता और काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इसका कोई महत्वपूर्ण या आवश्यक स्थान नहीं हो सकता है।

## उपसंहार

हम ऊपर देख चुके है कि आधुनिक युग में जो अनेक साहित्यिक वाद फैले हुए हैं, उनका काव्यशास्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है, और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि इन 'वादों' में कोई भी वाद आधुनिक काव्य के लिए आवश्यक या उपयोगी नवीन सिद्धांत प्रदान करने में समर्थ नहीं है। इनके अन्तर्गत काव्य की पूर्ण व्यवस्था भी नहीं है अतः ये काव्शास्त्र का स्थान नहीं ले सकते। हम भ्रमवश ही यह विश्वास सा करते रहे हैं कि ये काव्य सिद्धान्त हैं और आधुनिक काव्य का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। पर इस भ्रम को हमें अब दूर करके हिन्दी काव्य के लिए उपयोग ऐसे शास्त्र का निर्माण करना आवश्यक है जो हिन्दी कविता और साहित्य को यथार्थ में प्रोत्साहन और सुगति प्रदान कर सके। और जिसमे प्रेरणा पाकर कवि ऐसी कविता रचे कि सुनने वाला या पढ़ने वाला यथार्थ आनन्द पावे और अपने जीवन के वे क्षण उपयोगी और कृत-कार्य समझे जिनमें उसे इस प्रकार का आनन्द प्राप्त हुआ। वह शास्त्र साधारण पाठक और समालोचक के हाथ म ऐसा मापदंड दे सके जिससे कि कविता के भीतर का दूध और पानी अलग अलग किया जा सके। इसके परिणाम स्वरूप ही सत्काव्य को प्रोत्साहन तथा दोषपूर्ण एव कुरुचि-युक्त काव्य का निराकरण हो सकेगा। तभी ऐसा काव्य भी रचा जायेगा जिसकी रचना से कवि को सन्तोष हो, समाज और देश को गौरव हो और जो पाठक के लिये भी अमूल्य निधि बन सके।

उपर्युक्त काव्यादर्शों के लिए दो बातें विचारणीय हैं.—प्रथम तो यह कि क्या कोई नवीन सिद्धान्त ढूँढ़े जा सकते हैं, जो आधुनिक काव्य को नवीन मूल्य प्रदान कर सकें। दूसरी बात यह है कि नवीन सिद्धान्तों के अभाव में क्या प्राचीन काव्य सिद्धान्त उपयोगी नहीं है। इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में हम यह सकते हैं कि विचार पूर्वक देखने से सिद्धांत एकदम नवीन कभी नहीं निकला करते। जो नवीन सिद्धान्तों के रूप में युग युग में हमारे सामने उपस्थित हुआ करते हैं, वे यथार्थतः प्राचीन सिद्धान्तों की युग के अनुकूल आवश्यक और नवीन व्याख्यायें हैं। इस दृष्टि से हम काव्य के पथ प्रदर्शन के लिए जिस काव्य-शास्त्र का निर्माण करें उसमें यह आवश्यक है कि उपयोगी प्राचीन काव्यादर्शों का व्यवहार करते हुए उनकी हम नवीन दृष्टिकोण से आधुनिक युग के लिए उपयोगी व्याख्या उपस्थित करें। इस प्रकार हम न केवल काव्य के लिये आदर्श रख सकेंगे, वरन् हम प्राचीन सिद्धांतों को भी एक कदम और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, उनका भी परिष्कार करेंगे। परम्परा से घृणा, उसका बहिष्कार या त्याग कभी भी जीवन के लिए आवश्यक नहीं, आवश्यक है उसका विकास और परिवर्तन। इसी विचार को सामने रखकर हमें काव्यशास्त्र के आवश्यक सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या उपस्थित करनी चाहिये जिससे उनका युगोपयोगी विकास हो सके।

इतना कर लेने के बाद हम कहेंगे कि आधुनिक काव्य की उन्हीं नवीन सिद्धान्तों के अनुसार खरी व्याख्या होनी चाहिये। कवि स्वतन्त्र होता है, यह हम मानते हैं, पर उसकी स्वतन्त्रता और मौलिकता, उसकी ऊँचाई और सार्थकता में ही होती है, पतन और अवनति में नहीं, अधोगमन के लिये कवि को भी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहिये। इसके लिये आवश्यकता है, जनता की साहित्यिक शिक्षा की। प्रत्येक व्यक्ति को सत्काव्य का पारखी होना चाहिए। दूषित वस्तु को सहन करना, जनता की रुचि के प्रतिकूल होना चाहिए। यदि हमारा काव्यशास्त्र ऐसा कर सके तो उसकी भारी सफलता है। साहित्य की एक एक पंक्ति, एक एक शब्द की जाँच होनी चाहिए और जहाँ भी दोष या गुण हों उनका दिग्दर्शन समालोचक का या काव्यशास्त्री का कर्तव्य है।

जहाँ हम जनता को इस प्रकार शिक्षित करने की बात कहते हैं वहाँ पर कवि की भी शिक्षा का प्रश्न आता है। कवि भी जनता का ही एक अंग है। उसमें भी अनभिज्ञता, अशिक्षा और सुरुचि के अभाव में बुराई आ सकती है, अत उसकी स्वतन्त्रता का ध्यान रखते हुए भी 'कवि शिक्षा' की बातों को निर्धारित करना आवश्यक है। ये बातें

हम प्रचलित और सुरुचि पूर्ण साहित्य के भीतर से ही खोज कर निकाल सकते हैं। कवि को, विषय और वर्णन-शैली का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसके अन्तर्गत शब्दचयन और भाव प्रकाशन की सामर्थ्य होनी चाहिए। बिना, लोक का ज्ञान या प्रमाण आदि के कवि की प्रतिभा विकसित नहीं हो सकती। कवि की वर्णन शैली के विविध ढंगों का निदर्शन ,काव्यशास्त्र के अन्तर्गत कवि शिक्षा' में होना चाहिए। कवि स्वयं जो कुछ कहे या लिखे उसका उसे स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। अपने विषय के प्रति उसकी दृढ़ धारणा हो। भूलभुलैयाँ उपस्थित करना कवि का काम नहीं। उसे स्मरणीय, उपयोगी, तथ्यपूर्ण साहित्य की रचना करके लोक के बीच प्रतिष्ठित और सम्मान्य स्थान स्वयं बनाना चाहिए।

गुणों और दोषों की रूढ़ि और एकदम शास्त्रीय व्याख्या छोड़ कर नवीन व्याख्या और नवीन नाम भी आवश्यक हैं। गुणों और दोषों के ही ज्ञान से सुन्दर साहित्य विकास पाता है। अब वह दिन तो हैं नहीं कि जब हिन्दी में लिखने वाले ढूँढने से मिलते थे। आज हिन्दी लेखकों की कमी नहीं है अतः हमें उनके सम्मुख समय पर काव्यादर्श उपस्थित कर उनकी प्रतिभा के विकास में सहयोग देना चाहिए।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के ग्रन्थ जिनमें विषय विवेचन पूर्ण और नवीन ढंग पर हो, जिसमें नवीन रचनाओं को लेकर भली भाँति विचार किया गया हो, जिसमें युग-परिवर्तन के साथ साथ आवश्यक व्याख्या उपस्थित हो, साहित्य सेवी और कवि दोनों के सामने आना आवश्यक हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों के अभाव में न आलोचक को कोई नियम या मापदण्ड मिलता है और न कवि को कोई मार्ग-प्रदर्शक। यदि आलोचक पुराने सिद्धान्तों को लेकर उनके आधार पर आलोचना करता है तो उसकी खिल्ली उड़ाई जाती है और उसका रूढ़िवादी या पुरनिया कह कर अनादर किया जाता है। और यदि उन सिद्धान्तों को एकदम तिलाजलि दे दी जाय तो आलोचक की आलोचना में कोई तथ्य नहीं आ पाता। कवि भी नवीनता के फेर में पड़कर ऐसी राहों में भटकता रहता है जो निर्दिष्ट से दूर बीहड़ की ओर ले जाती है और उसकी प्रतिभा का सदुपयोग नहीं हो पाता। कभी कभी तो 'पराई पतरी के भात' के समान हमें बिराने चमकीले आदर्श इतने लुभावने लगते हैं कि उनकी चकाचौंध में चौंधिया कर हम अपनी वस्तु और बहिष्कार और तिरस्कार करने लगते हैं और एक समय ऐसा आता है जब कि हमें अपनी बातें भी विदेशीय विद्वानों के द्वारा पढ़नी पड़ती हैं। ऐसा अवसर बड़ा ही अमंगलकारी होता है। हमें अपने को पूर्ण रीति से पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए और अपने को पहले पहचान कर तभी दूसरे को पहचानने का प्रय न करना चाहिए।

आज यह समय फिर आया है जब हमें अपनी प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति का मूल्य फिर से आँकना है, नवीन प्रकाश में उसका तत्त्व समझना है। और प्राचीन काव्य और शास्त्र की परम्परा को फिर से जाग्रत करना है। प्रस्तुत काव्यशास्त्र के इतिहास में सभी सूचनायें उपयोगी चाहे न हों पर उनकी जानकारी हमें आवश्यक है, उनके यथार्थ ज्ञान के बिना हम अपनी विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें नहीं समझ सकते, अतः इस ग्रन्थ की जहाँ पर इस दृष्टि से आवश्यकता थी कि हमारे प्राचीन, मध्य कालीन और अर्वाचीन काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों की सूचना सुरक्षित रहे, वहाँ दूसरी दृष्टि से भी इसका महत्त्व है, क्योंकि पूर्व कथित ग्रन्थों की सीमा और अपूर्णता को समझ कर ही हम आवश्यक अभाव को दूर करने का प्रयत्न कर सकेंगे।

---

# परिशिष्ट

## सहायकग्रन्थ—सूची

## १. संस्कृत के ग्रन्थ

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| १. अमर देव | काव्यकल्पलतावृत्ति |
| २. आनन्दवर्द्धन | ध्वन्यालोक |
| ३. केशव मिश्र | अलंकारशेखर |
| ४. जयदेव | चन्द्रालोक |
| ५. दंडी | काव्यादर्श |
| ६. पंडितराज जगन्नाथ | रसगंगाधर |
| ७ विश्वनाथ | साहित्यदर्पण |
| ८. भरतमुनि | नाट्यशास्त्र ( अभिनव भारती ) |
| ९. भानुदत्त | रस मंजरी, रस तरंगिणी |
| १०. भामह | काव्यालंकार |
| ११. मम्मट | काव्यप्रकाश |
| १२. राजशेखर | काव्यमीमांसा |
| १३ क्षेमेन्द्र | कविकण्ठाभरण |

## २. हिन्दी ग्रन्थ

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| १. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' | रसकलस |
| २. अर्जुनदास केडिया | भारती भूषण |
| ३. उमाशंकर शुक्ल | नन्ददास ग्रन्थावली |
| ४. कन्हैयालाल पोद्दार | काव्यकल्पद्रुम भाग १ |
| ५ ,, ,, | ,, भाग २ |
| ६ गुणपति मिश्र | रस रहस्य |
| ७. कृष्णबिहारी मिश्र | मतिराम ग्रन्थावली |

| | लेखक | | ग्रन्थ |
|---|---|---|---|
| ८. | कृष्णशंकर मिश्र | ... | केशव की काव्यकला |
| ९. | केसरीनारायण शुक्ल | ... | आधुनिक काव्यधारा |
| १०. | केशवदास | ... | कविप्रिया |
| ११. | ,, | ... | रसिकप्रिया |
| १२. | गुलाबराय | ... | नवरस |
| १३. | गंगाप्रसाद पाडेय | ... | महादेवी पर विवेचनात्मक गद्य |
| १४. | चन्दबरदायी | ... | पृथ्वीराज रासो |
| १५. | चिन्तामणि त्रिपाठी | ... | कविकुलकल्पतरु |
| १६. | चिन्तामणि त्रिपाठी | ... | शृंगार मंजरी |
| १७. | जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' | ... | काव्यप्रभाकर |
| १८. | जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' | ... | नायिका भेद-शंकावली |
| १९. | जयशंकर प्रसाद | ... | कामायनी |
| २०. | जयशंकर प्रसाद | ... | काव्यकला तथा अन्य निबन्ध |
| २१. | ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' | ... | नवयुगकाव्य-विमर्श |
| २२. | जसवन्त सिंह | ... | भाषा भूषण |
| २३. | तुलसीदास | ... | रामचरितमानस |
| २४. | दूलह | ... | कविकुल-कण्ठाभरण |
| २५. | देवदत्त | ... | भावविलास, भवानीविलास, रसविलास, काव्यरसायन, प्रेमचन्द्रिका |
| २६. | धीरेन्द्र वर्मा | ... | विचार धारा |
| २७ | नन्ददुलारे वाजपेयी | ... | बीसवीं शताब्दी |
| २८. | नागरी प्रचारिणी सभा | ... | हिन्दी-सर्च रिपोर्ट्स |
| २९. | पद्माकर | ... | पद्माभरण, जगद्विनोद |
| ३०. | प्रतापनारायण मिश्र, और शुकदेवबिहारी मिश्र | ... | साहित्य पारिजात |
| ३१. | प्रतापनारायण सिंह | ... | रसकुसुमाकर |
| ३२. | बड़थ्वाल ( डा० पीताम्बर दत्त ) | | गोरखबाणी |

| लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|
| ३३. ब्रजरत्नदास | भारतेन्दु ग्रन्थावली |
| ३४. बेनी ( प्रवीण ) | नवरसतरग |
| ३५. भगवती प्रसाद वाजपेयी | युगारम्भ |
| ३६. भगवादीन 'दीन' | अलकार मजूषा |
| ३७. भिखारीदास | काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय |
| ३८. भूषण | शिवराजभूषण |
| ३९. महादेवी वर्मा | दीपशिखा, यामा, अधुनिक कवि भाग १ |
| ४०. महावीरप्रसाद द्विवेदी | रसज्ञरजन, साहित्यालाप, साहित्यसंदर्भ |
| ४१. माताप्रसाद गुप्त ( डाक्टर ) | हिन्दी पुस्तक साहित्य |
| ४२. मिश्रबन्धु | मिश्रबन्धु विनोद भाग १, २, ३, ४ |
| " | हिन्दी नवरत्न |
| ४३. मुरारिदान | जसवन्त भूषण |
| ४४. मोतीलाल मेनारिया | डिंगल में वीररस |
| " | राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा |
| ४५. रामकुमार वर्मा | आधुनिक कवि भाग ३ |
| " | हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास |
| ४६. रामचन्द्र शुक्ल | चिन्तामणि भाग १ |
| " | चिन्तामणि भाग २ |
| " | इन्दौर का भाषण |
| " | जायसी ग्रन्थावली |
| " | हिन्दी काव्य में रहस्यवाद |
| " | हिन्दी साहित्य का इतिहास |
| ४७. रामधारीसिंह 'दिनकर' | रेणुका |
| " | हुकार, रसवन्ती । |
| ४८. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (डाक्टर) | अलकार पीयूष (पूर्वार्द्ध) |

| | लेखक | ग्रन्थ |
|---|---|---|
| | रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (डाक्टर) – | अलंकार पीयूष (उत्तरार्द्ध) |
| ४६. | राहुल सांकृत्यायन – | हिन्दी काव्यधारा |
| ५०. | लछिराम – | रावणेश्वर कल्पतरु और महेश्वर विलास |
| ५१. | लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' – | काव्य में अभिव्यंजनावाद |
| | ,, – | जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त |
| ५२. | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डाक्टर) – | आधुनिक हिन्दी काव्य का इतिहास |
| ५३. | विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – | पद्माकर पंचामृत, वाङ्मय विमर्श |
| ५४. | वेतथरिया – | हिन्दी में नवरस |
| ५५. | श्यामसुन्दर दास (डाक्टर) – | साहित्यालोचन |
| ५६. | श्रीकृष्णलाल (डाक्टर) – | आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास |
| ५७. | शान्तिप्रिय द्विवेदी – | युग और साहित्य, सामयिकी, साहित्यकी |
| ५८. | शिवसिंह सेंगर – | शिवसिंह सरोज |
| ५९. | सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' | त्रिशंकु |
| ६०. | सीताराम शास्त्री | साहित्य सिद्धान्त |
| ६१. | सुखदेव मिश्र – | रसार्णव |
| ६२. | सुन्दर दास – | सुन्दर विलास |
| ६३. | सुमित्रानन्दन पन्त – | पल्लव, ग्राम्या, युगवाणी, युगान्तर |
| | – | आधुनिक कवि भाग २ |
| ६४. | सूरदास – | सूरसागर |
| | ,, – | साहित्य लहरी |
| ६५. | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – | परिमल |
| | ,, – | प्रबन्ध पद्म |
| | ,, – | प्रबन्ध प्रतिमा |
| | ,, – | गीतिका, अनामिका |
| ६६. | सेनापति – | कवित्तरत्नाकर |
| ६७. | हजारी प्रसाद द्विवेदी – | हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर |
| ६८. | हरिवंश राय 'बच्चन' – | निशानिमंत्रण |

## ३. हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ.

क—'याज्ञिक-संग्रहालय' में डा० भवानी शंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त

| लेखक | | ग्रन्थ |
|---|---|---|
| १. अमृत कवि | — | चित्रविलास |
| २. उनियारे | | रस चन्द्रिका, युगुल प्रकाश |
| ३. कालिदास | — | वधूविनोद |
| ४. कृष्णभट्ट देवऋषि | — | शृंगाररस माधुरी |
| ५. ग्वाल कवि | — | रसरंग |
| ६. जनराज | — | कवितारसविनोद |
| ७. देव | | रसविलास, सुखसागर तरंग |
| ८. नाजर सद्दजराम | — | सद्दजराम चन्द्रिका |
| ९. भोलानाथ | — | सुमन प्रकाश |
| १०. रसिक सुमति | — | अलंकार चन्द्रोदय |
| ११. रूपसाहि | — | रूपविलास |
| ११. रंग खां | — | नायिका भेद |
| १२. लाल कलानिधि | | वृत्त चन्द्रिका |
| १४. शोम कवि | | नवलरसचन्द्रोदय |
| १५. सोमनाथ | | रसपीयूषनिधि |

ख—'प० कृष्णविहारी मिश्र गंधौली के पुस्तकालय' से श्री ब्रजकिशोर मिश्र के सौजन्य से प्राप्त ।

| | | |
|---|---|---|
| १. चन्दन | | काव्याभरण |
| २. जगतसिंह | — | साहित्य सुधानिधि |

| लेखक | | ग्रन्थ |
|---|---|---|
| ३. यशवन्तसिंह | .. | शृंगारशिरोमणि |
| ४. लछिराम | ... | रामरोश्वर कल्पतरु |
| ५. घेरीमाल | .. | भाषाभरण |
| ६. श्रीपति | | काव्य सरोज |

ग—दतिया-राज पुस्तकालय से प्राप्त।

| | | |
|---|---|---|
| १. अज्ञात | ... | कांताभूषण |
| २. कालिदास | ... | वधूविनोद |
| ३. गोप कवि | ... | रामचन्द्र भूषण |
| ४ चिंतामणि त्रिपाठी | .. | शृंगारमंजरी |
| ५. याकूब खां | ... | रसभूषण |
| ६. रामसिंह | ... | रसनिवास, अलंकार दर्पण |
| ७. शिव प्रसाद | ... | रसभूषण |
| ८. सुकवि प्रताप | .. | व्यंग्यार्थ कौमुदी |
| ९. सुकवि रतनेश | ... | अलंकार दर्पण |

घ—'सवाई महेन्द्र पुस्तकालय ओरछा' (टीकमगढ) से प्राप्त

| | | |
|---|---|---|
| १. अज्ञात | ... | काव्याभरण |
| २. उदयनाथ कवीन्द्र | ... | रसचन्द्रोदय |
| ३. कुमारमणि | ... | रसिकरसाल |
| ४. गोप | ... | रामचन्द्र भूषण, रामचन्द्राभरण |
| ५. दामोदर देव | ... | अर्थालंकार मंजरी |
| ६. देव | ... | काव्य रसायन |

| | | |
|---|---|---|
| ७. | नवलसिंह कायस्थ | रसिकरंजनी |
| ८ | परमानन्द | रसतरंग |
| ९. | रसलीन | रसप्रबोध |
| १०. | रामदास | कविकल्पद्रुम |
| ११. | लछिराम | महेश्वर विलास |
| १२. | श्रीमन्नृपति रणधीरसिंह | काव्यरत्नाकर |
| १३. | सूरति | काव्यसिद्धान्त |

## ४—पत्र-पत्रिकायें

१. खोज-रिपोर्टें, नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा सम्पादित
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
३. ब्रज भारती
४. विशाल भारत
५. 'वीर' दिगम्बर-जैन सम्प्रदाय का साप्ताहिक
६. सरस्वती
७. साहित्य समालोचक
८. साहित्य सन्देश
९. साहित्य सम्मेलन पत्रिका
१०. हिन्दी प्रदीप
११. हिन्दुस्तानी

## ४—अंग्रेज़ी-ग्रन्थ

AESTHETICS by Benedetto Croce
A HISTORY of AESTHETICS by Bosanquet
A HISTORY OF CRITICISM by Saintsbury
ANATOMY OF POETRY by William Ellis
A NEW STUDY OF ENGLISH POETRY by Henry Newbolt
AN INTRODUCTION TO THE STUDY OF LITERATURE by W. H Hudson
EVOLUTION OF HINDI POETICS by R S Rasal (Typed copy)
GREEK VIEW OF POETRY by E E Sikes
INTRODUCTION TO SAHITYA DARPAN by P. V. Kane.
KAVYA PRAKASH OF MAMMAT by A. A Gajendra Gadkar.
LOCI CRITIC by G. Saintsbury.
METHODS AND MATERIALS OF LITERARY CRITICISM by C M Gayley.
MODERN POETRY by Louis Macneice
PHILOSOPHY OF FINE ART Volume IV by Hegel
PRINCIPLES OF CRITICISM by W Worsfold
PRINCIPLES OF LITERARY CRITICISM by I A Richards
RUDIMENTS OF CRITICISM by Lamborn
STUDIES IN THE HISTORY OF SANSKRIT POETICS by S K De
THE CHAMBER'S TWENTIETH CENTURY DICTIONARY
THE ENCYCLOPÆDIA BRITANICA
THE INTERNATIONAL DICTIONARY by Webster.
THEORY OF POETRY by L Abercrombie
THE OXFORD DICTIONARY.

# अनुक्रमणिका

## १—ग्रन्थ

ग्रथ — पृष्ठ

'अ'

### 'आ'



### 'इ'



### 'उ'



### 'ए'

'ड'



'ण'



'त'



'द'

ग्रंथ | पृष्ठ

## 'म'



## 'य'



## 'र'

२—लेखक